DCEEC-103 (N)
लोकवित्त तथा रोजगार का सिद्धान्त

परामर्श–समिति

प्रोफेसर सत्यकाम	**कुलपति–अध्यक्ष**
प्रो. सत्यपाल तिवारी	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा कार्यक्रम संयोजक
श्री विनय कुमार	कुलसचिव–सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो. सत्यपाल तिवारी	**अध्यक्ष**	उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
डॉ अनिल कुमार यादव	**संयोजक**	उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो.किरन सिंह		इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो. एम.के. सिंह		एम.जे.पी. रूहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली
डॉ. विश्वनाथ कुमार		एस.बी. पी.जी. कालेज, बड़ागाँव, वाराणसी
डॉ. अनूप कुमार		इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. अनिल कुमार यादव सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 (डॉ.) प्रहलाद कुमार पूर्व डीन एवं विभागाध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो0 (डॉ.) चन्द्र प्रकाश राय सह आचार्य, अर्थशास्त्र, डी.सी.एस.के पी.जी कालेज, मऊ

परिमापक

डॉ. अनिल कुमार यादव सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज

लेखक मण्डल

लेखक

डॉ. अनिल कुमार यादव **खण्ड–4** इकाई–01
सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र, उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त वि.वि., प्रयागराज
प्रो. (डॉ.) बृजेन्द्र सिंह बौद्ध, प्रोफेसर अर्थशास्त्र विभाग, बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी

खण्ड–1 इकाई–01,02,03,04,05,06,07,
खण्ड–2 इकाई–01,02,03,04
खण्ड–3 इकाई–01,02,03,04
खण्ड–4 इकाई– 02,03
खण्ड–5 इकाई–01,02,03,04,05
खण्ड–6 इकाई–01,02,03,04,05

मुद्रित– (माह), (वर्ष)

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – (वर्ष)

ISBN-

सर्वाधिक सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से श्री विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, (माह) (वर्ष), (मुद्रक का नाम व पता)

DCEEC-103 (N)
लोकवित्त तथा रोजगार का सिद्धान्त

खण्ड 1 – लोकवित्त की अवधारणा एवं सार्वजनिक व्यय

1. लोकवित्त का आशय तथा विषयवस्तु
2. लोकवित्त तथा व्यक्तिगत वित्त, सार्वजनिक वस्तु, मेरिट वस्तु, व्यक्तिगत वस्तु,
3. अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त
4. राजकोषीय नीति एवं मौद्रिक नीति का संबन्ध
5. सार्वजनिक व्यय आशय, वर्गीकरण, नियम तथा प्रभाव
6. वैगनर का बढ़ती हुयी राजकीय क्रियाओं का सिद्धान्त
7. सार्वजनिक व्यय एवं आर्थिक विकास

खण्ड 2 – सार्वजनिक आय

1. सार्वजनिक आय : आशय एवं महत्व
2. कर : आशय, वर्गीकरण
3. करारोपण के सिद्धान्त तथा करभार, करों के प्रभाव
4. चालू घाटा, वित्तीय घाटा, एवं मौद्रिक घाटा

खण्ड 3 – सार्वजनिक ऋण

1. सार्वजनिक ऋण का आशय, वर्गीकरण तथा स्रोत
2. सार्वजनिक ऋण के प्रभाव, सार्वजनिक ऋण के भुगतान की विधियाँ एवं आर्थिक विकास
3. भारत में सार्वजनिक ऋण का विकास
4. भारत में युद्ध वित्तपोषण की प्रवृत्तियाँ

खण्ड 4 – राजकोषीय नीति एवं बजट

1. राजकोषीय नीति अर्थ तथा उद्देश्य
2. सार्वजनिक बजट, राजस्व, पूँजी बजट तथा भारत में बजट प्रक्रिया
3. घाटे की वित्त व्यवस्था

खण्ड 5 – रोजगार सिद्धान्त

1. रोजगार का क्लासिकल सिद्धान्त : बाजार का नियम
2. विनियोग तथा बचत विश्लेषण तथा कीन्स का रोजगार सिद्धान्त
3. आय का निर्धारण कीन्स का रोजगार सिद्धान्त
4. गुणक तथा त्वरक सिद्धान्त
5. कीन्स के सिद्धात की अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिए प्रासंगिकता

खण्ड 6 – व्यापार चक्र

1. व्यापार चक्र आशय तथा व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाएँ
2. व्यापार चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त
3. हेयक का सिद्धान्त
4. कीन्स एवं हिक्स का सिद्धान्त
5. वैश्विक वित्त संकट

खंड 01
लोकवित्त की अवधारणा (Concept of Public Finance)

इकाई–01

लोकवित्त का आशय तथा विषय–वस्तु (Concept of Public Finance and subject matter)

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 राजस्व की अवधारणा
1.3 राजस्व की परिभाषा
1.4 राजस्व की विषय सामग्री या क्षेत्र
1.5 राजस्व–विज्ञान या कला
1.6 राजस्व का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध
1.7 राजस्व का महत्व
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.11 अभ्यास प्रश्न
1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :-

मनुष्य के जीवन में कुछ चीजों का उपयोग करना नितान्त आवश्यक हैं। उनमें से कुछ वस्तुओं एवं सेवाओं की एक विशेष मात्रा को उपयोग उत्तरजीविका (Survival) के लिए नितांत आवश्यक (Essential) है, जैसे–आहार, जल, आवास, कपड़े इत्यादि। सामान्य जनता को इन वस्तुओं एवं सेवाओं की प्राप्ति कैसे हो, इसे अर्थशास्त्र की प्रथम चुनौती माना जाता है। वस्तुओं एवं सेवाओं का सृजन करना और सामान्य जनों तक पहुँचानें के लिए वितरण/आपूर्ति करना ही प्रथम लक्ष्य हैं। इन वस्तुओं एवं सेवाओं का सृजनकारी/उत्पादनकारी परिसंपत्तियों की स्थापना करना आवश्यक हैं, जिसके लिए सर्वप्रथम पूँजी लगाने की आवश्यकता है, जिसे हम निवेश के रूप में जानते है। लेकिन अब निवेश 'किसके' द्वारा और 'क्यों' किया जाएगा? इस कारण से विश्व में अलग–अलग आर्थिक प्रणालियों का विकास हुआ। यदि हम देखें तो प्राचीनकाल में भी आर्थिक क्षेत्र में किसी न किसी रूप में राजकीय हस्तक्षेप रहा है। जब मनुष्य कबीलों में जीवन व्यतीत करता था, तब भी कबीले का एक मुखिया अपने कबीले की सुरक्षा करता था। कबीले की सुख–शांति हेतु कबीलें के लोगों से वस्तुओं तथा पदार्थों का संग्रह करवाता था, जो तत्कालीन आवश्यकता थी। प्राचीन धारणाओं के अनुसार, सबसे अच्छी सरकार वह है जो कम से कम कर लगाये और कम से कम खर्च करे। इससे स्पष्ट होता हैं कि सरकार को आर्थिक क्षेत्र में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। आर्थिक हस्तक्षेप, जैसे व्यापार आदि के संचालन के लिए सरकार को अयोग्य समझा जाता था। एडम स्मिथ इसी विचारधारा के समर्थक थे। प्राचीनकाल में बचत के बजट को सबसे अच्छा समझा जाता था, साथ ही प्राचीनकाल में सरकारी आय के साधन सीमित थे, और सरकारी व्यय में कमी की जाती थी। वर्ष 1500 तक कर आय का साधन नहीं था, परन्तु उसी समय जर्मनी में आय व सम्पत्ति आदि पर कर लगायें जाते थे। वर्ष 1776 में एडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' (Wealth of Nation) का प्रकाशन हुआ। एडम स्मिथ के विचारों से प्रभावित होकर व्यक्ति मुक्त अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर होने लगे। एडम स्मिथ ने कहा कि–''व्यक्तिगत व्यवसायियों के उद्योगों का निरीक्षण करने तथा उनको सामाजिक हित के लिए सबसे उपयुक्त मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित करने के कार्य से शासक (राजा) को पूर्णतया मुक्त कर दिया जाना चाहिए, जिसको पूर्ण करने के प्रयत्न में उसे सदा अनेक क्रान्तियों का सहारा लेना पड़ता है और जिसको उचित रीति से पूर्ण करने के लिए कभी मानव का विवेक ज्ञान पर्याप्त नहीं हो सकता।'' एडम

स्मिथ के मुक्त अर्थव्यवस्था संबंधी विचारों का बोलवाला हो गया। एक लम्बे अन्तराल के बाद बुराई आ गई क्योंकि एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करने लगा, 'हजूर' व 'मजूर' की भावना पनपने लगी। धन बचाने की लालसा इस प्रकार बढ़ी कि श्रमिकों में महिला व बच्चों से मनमाना काम लिया जाने लगा। यूरोप में श्रमिकों का जीवन–स्तर धीरे–धीरे गिरने लगा। इस प्रकार विश्व की 75 प्रतिशत जनसंख्या अभाव व गरीबी का जीवन व्यतीत करने लगी। ऐसी स्थिति में नई विचारधारा जन्म लेने लगी। परम्परावादियों की अबन्ध आर्थिक नीति (Laissez Faire and Laissez Passer)' के स्थान पर हस्तक्षेप नीति का समर्थन किया जाने लगा। यहाँ सरकारी हस्तक्षेप का आशय आर्थिक हस्तक्षेप से था। इसके बाद समाजवादी विचारकों के द्वारा सरकारी हस्तक्षेप को उचित बताया गया था। समाजवादी विचारकों में जे0एस0मिल0, रॉबर्ट ओवेन, सेन्ट सिमोनियन्स, सिसमांडी व कार्ल मार्क्स ने सरकारी हस्तक्षेप को उचित बताया था। अब प्रश्न उठता है कि आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप होना चाहिए या नहीं। सामान्यता नागरिक प्रशासन में राज्य की भूमिका प्रधान रहती है। उसी प्रकार आर्थिक प्रशासन में राज्य की भूमिका होनी चाहिए। सामाजिक कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि सरकार जिनका प्रतिनिधित्व करती है, उनके प्रति उत्तरदायी हो। इस संबंध में लास्की ने कहा था कि–'' राज्य समाज की मेहराब की आधारशिला है, जो उन अनेक मानव – जीवन–जीवनों के रूप और स्वभाव को साँचे में ढालता है जिनके भाग्यों के संरक्षण का दायित्व उस पर है।'' इससे स्पष्ट होता है कि राज्य एक सार्वजनिक संस्था है और नागरिक एक अंग है। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों के कल्याण में सहयोग एवं रक्षा करें। इस संबंध में स्टीनर (Stainer) कहते है कि ''सरकार की शक्ति आजकल प्रत्येक घर, प्रत्येक कारखाने तथा प्रत्येक खेत में अनुभव की जाती है। यह अपने अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को समेट लेती है, उनका मार्गदर्शन , निर्देशन और नियंत्रण करती हैं। आर्थिक संस्थाऐं सरकारी कार्यवाही अथवा सरकारी हस्तक्षेप के सचेत अभाव के आधार पर कार्य करती है। आर्थिक जीवन का कोई भी कोना सरकार के हाथ से मुक्त नहीं है। कभी स्पर्श हल्का होता है और कभी भारी, कभी उपयोगी तो कभी रूकावट उत्पन्न करने वाला, यह मन के अनुकूल भी हो सकता है अथवा मनमाना भी और लाभप्रद अथवा आकांक्षायुक्त भी । किन्तु किसी एक स्थान पर , चाहे जो भी उसका चरित्र हो, सरकार की शक्ति हमारे आर्थिक जीवन को निकट से प्रभावित करती है। सरकारी नियम सभी आर्थिक क्रियाओं का मूक सहभागी है, और अधिकतर आर्थिक क्रिया की खुली सहयोगी भी। अधिकांश लोगों का विचार है कि तीसरी दुनिया के देशों को अपने आर्थिक स्तर को उन्नत करने हेतु उन राष्ट्र की सरकारों की आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। यदि विकासशील देशों में आर्थिक विकास हेतु मुक्त अर्थव्यवस्था को स्वीकार कर लिया जाता तो एशिया के अधिकतर देश आज भी रोजी व रोटी के मोहताज होते रहते। स्वतः क्रमिक विकास के विचार गले से नीचे नहीं उतरते है। इस संबंध में लिस्ट (List) के विचार उल्लेखनीय है। लिस्ट ने कहा कि–''अनुभव सत्य ही बताता है कि हवाएँ बीजों को उड़ाकर दूर–दूर ले जाती हैं, और उन बीजों के कारण बंजर भूमि पर सघन वन उग आते हैं, परन्तु क्या इस रूपान्तरण के लिए हवाओं की प्रतीक्षा करना बुद्धिमता होगी। विकासशील देशों को विकसित देशों से प्रतियोगिता करने में अनेक समस्यायें है। ऐसी स्थिति राज्य सहयोग न करें तो इन देशों की अर्थव्यवस्था में सुधार नहीं हो सकता है। राज्य के साथ व्यक्तियों की समस्याएँ है, जैसे रोटी, कपड़ा , मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि, जिनका समाधान व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता है। अपितु यहाँ पर सरकार ही सहयोग एवं सहायता करती है। इससे स्पष्ट होता है कि इन समस्याओं के निदान हेतु राज्य का हस्तक्षेप अतिआवश्यक है। औद्योगिक क्राँन्ति के साथ देशों में आर्थिक असमानता बहुत तीव्र गति से पनप रही है। अर्थव्यवस्था पर पूर्णतः उद्योगपतियों का एकाधिकार हो गया। इस कारण नये विनियोगकर्ता व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश पाने से वंचित रह गये।

यदि मुक्त अर्थव्यवस्था को प्रतिस्थापित कर दिया जाए तो पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कुछ ही नामी–गिनामी उद्योगपतियों का आधिपत्य स्थापित हो जाता है और साधनहीन एवं उत्साही विनियोगकर्ता ऐसी स्थिति में टिक नहीं पाता। कुछ गिने चुने उद्योगपतियों से बचाने तथा उपभोक्ताओं व उत्पादकों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की महती आवश्यकता का उचित समझा जाने लगा। इस संबंध में आर्थर लेविस ने कहा कि–'' कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार के सक्रिय प्रोत्साहन के बिना आर्थिक विकास नहीं कर सकता। विकासशील देश में आर्थिक विकास को निजी क्षेत्र के हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता है, क्योंकि निजी लाभ–भावना सामाजिक व राष्ट्रीय लाभ भावना के लिए घातक बन जाती है। इस संबंध में डॉ0बी0आर0 आंबेडकर के विचार महत्वपूर्ण है, जिन्होंने अपने लेख 'स्मॉल होल्डिंग इन इंडिया एंड रेमेडीज 1917, में बताया कि–'' कृषि का राष्ट्रीयकरण'' किया जाना चाहिए। औद्योगिक विकास पर डॉ0 आंबेडकर का विचार था कि–''देश का गतिशील विकास औद्योगिक

विकास के बिना संभव नहीं है। तेजी से होने वाला औद्योगिक विकास रोजगार बढ़ाएगा , साथ ही विदेशी पूँजी की भी बचत करेगा। सरकार को सामाजिक व राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने को, इसके लिए आगे आना चाहिए। बीमा एवं वाहन व्यवहार का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि डॉ आंबेडकर निजीकरण की जगह सरकारीकरण (राष्ट्रीयकरण) चाहते थे। इसलिए आर्थिक जीवन में राज्य की भूमिका होनी अतिआवश्यक है।

1.1 उद्देश्य : (Objectives)

- राजस्व की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- राजस्व की संकल्पनाओं की परिभाषा और उदाहरण दे सकेगें।
- राजस्व की विषय वस्तु को समझ सकेंगे।
- राजस्व के महत्व को समझ सकेंगे।
- राजस्व – विज्ञान या कला अर्थात दोनों पर विश्लेषण कर सकेगें।
- राजस्व का अन्य विषयों के सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

1.2 राजस्व की अवधारणा (Concept of Public Finance)

संस्कृत में राजस्व दो शब्दों से मिलकर बना है। 'राजन्+स्व' अर्थात राजा का धन होता है। राजनीतिक दृष्टि से राजा तत्समय समाज का मुखिया माना जाता था तो अर्थ लगाया जा सकता है कि मुखिया के धन से होगा। इस प्रकार राजस्व में राजा के धन का अध्ययन करते हैं। राजा के धन को कहाँ से किस प्रकार लाया जाता है और धन को किस प्रकार व्यय किया जाता है, इसे लोकवित्त कहा जाता है। लोकवित्त दो शब्दों से मिलकर बना है, लोक+वित्त से। लोक से तात्पर्य है–जनसमूह; वित्त से तात्पर्य है–मुद्रा। इस संबंध में डाल्टन का मत है कि–''राजस्व उन विषयों में से एक है जो अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के मध्य एक सीमा रेखा की भांति है। इसका संबंध सार्वजनिक संस्थाओं की आय एवं व्यय तथा एक दूसरे से समायोजन के साथ होता है। सरकार को आर्थिक गतिविधियों के लिए वित्त की व्यवस्था करनी पड़ती है। वित्त के कई स्त्रोत होते है। विशेषकर उन स्त्रोतों के परिवर्तशील होने की वजह से उनकी एक निश्चित सूची बना पाना एक कठिन कार्य है। महत्व की दृष्टि से कर–राजस्व, उधार से प्राप्तियाँ, पुराने दिए गए उधारों की मूल राशियों और उन पर ब्याज की वसूलियाँ, करेंसी के सृजन से आय, सरकारी उद्यमों से आय फीसें, जुर्माने तथा उपहार आदि की गिनती मुख्य स्त्रोतों में की जाती है। इस सन्दर्भ में डॉल्टन के विचार उल्लेखनीय है–''हमें सार्वजनिक प्राप्तियों और सार्वजनिक राजस्व के अर्थों में भेद करना चाहिए। सार्वजनिक प्राप्तियों के शब्द को एक विस्तृत अर्थ प्रदान करते हुए, इसमें राज्य को सभी स्त्रोतों से होने वाली प्राप्तियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए; जबकि इसके विपरीत सार्वजनिक राजस्व की अवधारणा को काफी सीमित अर्थों में लेते हुए उसमें सार्वजनिक ऋणों, सार्वजनिक संपत्ति के विक्रय तथा नोट छपाई से होने वाली प्राप्तियाँ को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

1.3 राजस्व की परिभाषा :–

इस संबंध में प्रमुख अर्थशास्त्रिओं के विचार निम्नवत् है–

- प्रो0 फिण्डेल शिराज (Findlay Shirras) के अनुसार –''लोक–वित्त उन सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनके अनुसार सार्वजनिक अधिकारी व्यय करते हैं तथा अपनी आय एकत्रित करते है।''
- सी0एफ0बेस्टेबिल (C.F Bastable) के अनुसार –'' समस्त राज्यों में चाहे वे विकसित हों या अविकसित, किसी न किसी प्रकार का प्रावधान होना आवश्यक है, अतः राज्य साधनों की पूर्ति एवं उपयोग एक ऐसे अध्ययन की विषय सामग्री है, जो अंगेजी में राजस्व के नाम से पुकारा जाता है।''
- एच0एल0लुट्ज (H.L Lutz) के अनुसार –'' सार्वजनिक या शासकीय कार्यों को पूर्ण करने के लिए आवश्यक साधनों का प्रावधान, संरक्षण एवं व्यय करने का अध्ययन ही राजस्व का विषय है।''
- प्लेहन (Plehn) के अनुसार –'' राजस्व वह विज्ञान है जो राजनीतिज्ञ की उन क्रियाओं का वर्णन करता है जिन्हें राजस्व के उचित कार्यों के लिए मौद्रिक साधनों को प्राप्त करने एवं प्रयोग करने में उपयोग किया जाता है।''
- यू0के0हिक्स (U.K Hicks) के अनुसार –'' राजस्व का मुख्य विषय ऐसी विधियों का अध्ययन व परीक्षण करता है जिनके द्वारा शासन संस्था मांग की सामूहिक सन्तुष्टि की

व्यवस्था करती है तथा इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए आवश्यक कोष प्राप्त करती है।''

- मेहता एवं अग्रवाल के अनुसार –'' राजस्व में सरकार के मौद्रिक एवं साख साधनों के अध्ययनों को सम्मिलित किया जाता है।''

  उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अर्थशात्रियाओं के विचारों में मूलभूत रूप से अन्तर नहीं है। आज लोक–वित्त में प्रमुख रूप से सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण और राजकोषीय व्यवस्था एवं वित्तीय प्रशासन को सम्मिलित किया गया है। वर्तमान में सभी लेखकों के द्वारा लोक–वित्त की विषय–सामग्री को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है।
- डाल्टन के अनुसार , '' राजस्व के अन्तर्गत सार्वजनिक सत्ताओं के आय–व्यय एवं एक – दूसरे से उनके समायोजन का अध्ययन किया जाता है। राजस्व के सिद्धान्त ऐसे सामान्य सिद्धान्त हैं, जिन्हें इन विषयों से सम्बन्धित किया जाता है।''
- उर्सला हिक्स के अनुसार , ''दूसरा समूह उन सेवाओं की व्यवस्था करने में लगा रहता है कि जिनका क्षेत्र तथा जिनकी विभिन्ता उपभोक्ताओं की प्रत्यक्ष इच्छा द्वारा निर्धारित नहीं की जाती है , वरन् सरकारी संस्थाओं के निर्णय द्वारा निर्धारित होती है; अर्थात् प्रजातन्त्र में नागरिकों के प्रतिनिधियों द्वारा लोक वित्त में हम केवल दूसरे समूह की क्रियाओं का ही अध्ययन करते हैं
- हैरोल्ड एम. ग्रोव्स के अनुसार, ''लोक वित्त अन्वेषण का वह क्षेत्र है जिसमें सरकार (केन्द्रीय, राज्यीय एवं स्थानीय) की आय एवं व्यय का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक समय में इसके चार प्रमुख अंग हैं : लोक राजस्व, लोक व्यय, लोक ऋण तथा राजकोषीय व्यवस्था की कुछ समस्याएं यथा, राजकोषीय प्रशासन एवं राजकोषीय नीति।''

1.4 राजस्व की विषय–सामग्री या क्षेत्र (Subject Matter and Scope of Public Finance) :–

डाल्टन के अनुसार '' राजस्व में मुख्य विभाजन सार्वजनिक आय एवं सार्वजनिक व्यय के मध्य है जो कि विषय की दो समान शाखाओ का निर्माण करता है। सार्वजनिक ऋण को एक पृथक शाखा के रूप में माना जाता है क्योंकि वे अनेक विशेष समस्याओं को जन्म देते है।'' वर्तमान समय में जब से लोक–कल्याणकारी राज्यों का विकास हुआ है, तब से निश्चित रूप से यह नहीं बताया जा सकता है कि लोक–वित्त के क्षेत्र के अन्तर्गत किन–किन कार्यों को सम्मिलित किया जाय, क्योंकि आज तो सारी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन राजस्व में ही किया जाता है। हैरोल्ड ग्रीब्ज के अनुसार, ''राजस्व खोज की वह शाखा है जो सरकारों की आय तथा व्यय से संबंधित है। आधुनिक समय में उसके चार बड़े–बड़े भाग हैं– राजकीय आय, राजकीय व्यय, राजकीय ऋण और राजकोषीय व्यवस्था की कुछ समस्याएँ, जैसे राजकोषीय प्रबंध और राजकोषीय नीति।'' वर्तमान समय में राजस्व के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया जाता है सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक आय, सार्वजनिक ऋण, वित्तीय प्रशासन, राजकोषीय नीति।

1. सार्वजनिक आय (Public Revenue):-

इस संबंध में उन स्त्रोतों का अध्ययन आता है जिनसे सरकार को धन प्राप्ति होती है। इसमें विभिन्न प्रकार के कर–राजस्व तथा कर–भिन्न राजस्वों के स्त्रोतो, उनकी परस्पर निर्भरता और लाभ–हानियों का सर्वेक्षण रहता है। साथ ही उन सिद्धान्तों का अध्ययन भी किया जाता है जिनके आधार पर सरकार को राजस्व जुटाना चाहिए। राजस्व के विभिन्न स्त्रोतों में मुख्य रूप से कराधान, सार्वजनिक ऋण तथा मुद्रा निर्माण विशेष रूप से वर्णनीय है। वर्तमान में सार्वजनिक आय का मुख्य स्त्रोत 'कर' है, इसलिए कराधान के अध्ययन में विभिन्न करों के चयन से संबंधित सैद्धांतिक नियम, कर–भार की समस्याऐं तथा कराधान के अर्थव्यवस्था पर प्रभाव सम्मिलित है। कर का निर्धारण करते समय सरकार यह ध्यान रखती है कि करों का भार लोगों पर कम से कम पड़े और सरलता से आय प्राप्त हो जाए। करों के अतिरिक्त सार्वजनिक आय के स्त्रोत है जैसे लोक उद्यमों से लाभ , आय और लाभांश, अनुदान, शुल्क, जुर्माने, ब्याज, अर्थदण्ड की प्राप्तियाँ आदि। इसके साथ ही मुद्रा का निर्माण भी सरकार के लिए एक राजस्व स्त्रोत हो सकता है। इस स्त्रोत से राजस्व प्राप्ति बहुत सीमा तक सरकार द्वारा लिए जाने वाले निवल उधार पर निर्भर करती है।

2- सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) :-

राजकीय व्यय में सरकारी व्यय का वर्गीकरण तथा व्यय करने की नीतियों का अध्ययन किया जाता है। व्यय करने हेतु यह ध्यान रखा जाता है कि व्यय किन–किन मदों में तथा कितनी मात्रा में किया जाये और इसका प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर कैसा पड़ेगा। सार्वजनिक व्यय के अपव्यय रोकने हेतु उपाय किये जाते है। लोक बजट से कई प्रकार की वित्तीय राशियों की अदायगी की जाती है। इनमें सरकार द्वारा व्यय की गई राशियों के अतिरिक्त निवेशित राशियाँ, नए दिये जाने वाले उधार तथा अनुदान आदि भी सम्मिलित रहते हैं। सार्वजनिक व्यय अपने आकार–प्रकार तथा अपनी विविधता के कारण अर्थव्यवस्था के वित्तीय प्रवाहों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से प्रभावित करता है। इसके परिणामस्वरूप मांग–पूर्ति के ढांचे भी प्रभावित होते है। सरकार सार्वजनिक व्यय को विभिन्न कुशल नीतियों–अस्त्रों के रूप में भी प्रयोग करती है। इन कुशल नीतियों में जनकल्याण, विकास आर्थिक स्थिरता, रोजगार संवर्धन, तथा कीमतों पर नियंत्रण आदि सम्मिलित हो सकते है।

3- सार्वजनिक ऋण (Public Debt) :-

जब सार्वजनिक आय की तुलना में सार्वजनिक व्यय अधिक होता है तब इस व्यय की पूर्ति, ऋण लेकर की जाती है। एक समय था कि जब लोक ऋण को सरकारी बजट की अल्पावधिक वित्तीय आवश्यकता से निपटने का साधन मात्र माना जाता था। परन्तु वर्तमान में, एक आधुनिक सरकार का स्थाई रूप से ऋण ग्रस्त रहना और लोक ऋण का एक नीति औजार के रूप में प्रयोग किया जाना, आर्थिक चिन्तन के सर्वस्वीकार्य अंग बन चुके है। लोक ऋण के आकार, घटक, स्वामित्व ढाँचे तथा अन्य आयामों के नियमन का अर्थव्यवस्था की मौद्रिक आवश्यकताओं की संतुलित पूर्ति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही सरकार स्वयं उधार देती है। वर्तमान में कई देशों में स्थिति इतनी गंभीर हो गई है कि सरकार द्वारा ब्याज का भुगतान तथा ब्याज की वसूली के ऑकड़े को लोक बजट की महत्वपूर्ण मदें बन गए है। अर्थव्यवस्था की स्थिरता और संतुलित विकास के सन्दर्भ में, लोक ऋण ने एक प्रभावी नीति–औजार का स्थान प्राप्त कर लिया है। आधुनिक सरकारों में लोक ऋण द्वारा संसाधन जुटाने की प्रवृत्ति काफी सक्षम हो गई है। लेकिन लोक ऋण का प्रभाव इसके सरकार द्वारा प्रयोग करने तक सीमित न होकर, ब्याज की अदायगी और मूलधन को लौटाने पर भी निर्भर करता है। ये अदायगियाँ सार्वजनिक बजट से ही की जाती है और राजकोषीय नीति का एक महत्वपूर्ण भाग बन गई हैं। यह भी स्पष्ट है कि ऋण संबंधी नीतियों व ऋण प्राप्त करने के तरीकों एवं ऋण की राशि को खर्च करने की मदों आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें राजकीय ऋण के भुगतान की समस्याओं व विधियों का भी अध्ययन किया जाता है।

4- वित्तीय प्रशासन (Financial Administration):-

सरकार की समस्त आय–व्यय से संबंधित गतिविधियाँ वित्तीय प्रशासन से जुड़ी रहती है, जैसे–लोक बजट बनाना, अपनाना, तथा कार्यान्वित किया जाना भी वित्तीय प्रशासन के महत्वपूर्ण अंग हैं। अतः इसकी सुदृढ़ता प्रदान किए बिना सरकार अपने वित्तीय साधनों के अपव्ययों की रोकथाम करने में सफल नहीं हो सकती है। साधारणतः आय–व्यय के प्रबंध को ही वित्तीय प्रशासन माना जाता है। केन्द्र व राज्य में बजट विभाग होता है, जो बजटों का मूल्यांकन करता है और आगामी बजटों में रूपरेखा का भी प्रस्तुतीकरण करता है। वित्त–प्रशासन सम्पूर्ण लेखों का मूल्यांकन एवं हिसाब भी रखता है। वित्तीय प्रशासन लोक–वित्त का प्राचीन अंग है, इसके बिना लोकवित्त्त व्यवहारिक नही हो सकता है। इस संबंध में बेस्टेबिल कहते है कि–''हमें केवल विधियों का अध्ययन ही अपेक्षिपत नहीं है वरन् उन सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण भी आवश्यक है जिनके अनुसार वे विधियाँ अपनायी जाती है। वित्त की कोई भी पुस्तक तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि यह वित्तीय शासन और बजट की समस्याओं का अध्ययन नहीं करती।''[3]

5- सार्वजनिक उद्यम (Public Enter prises):-

सरकारें सार्वजनिक उद्यमों को एक नीति के अन्तर्गत प्रयोग करना चाहती है। इस प्रकार किसी भी देश में प्रचलित चिन्तन के अनुरूप सार्वजनिक उद्यमों को प्रदान की गई भूमिका में परिवर्तन होता रहा है। भारत में भी बलदते चिन्तन की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। जबकि स्वतंत्रता के उपरान्त सरकार का विचार था कि सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए सार्वजनिक उद्यमों का होना आवश्यक है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक ढांचा और भारतीय अर्थव्यवस्था को नियोजित किया जा सके। लेकिन व्यावहारिक स्तर पर यह सोच कई प्रकार से दोषयुक्त थी। इसके साथ इस सोच को भी विश्व व्यापी स्तर पर स्वीकार किया जाने लगा कि बाजार व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक विकास की दर बढ़ जाती है। इस

सोच को अपनाते हुए, भारत में भी सार्वजनिक उद्यमों की भूमिका को कम करने के साथ–साथ निजी–क्षेत्र को बढ़ावा दिया जा रहा है। इस विचार धारा के कारण सार्वजनिक उद्यम अर्थव्यवस्था और सरकार के लिए वित्तीय कमजोरी के नहीं बल्कि वित्तीय क्षमता के स्त्रोत होने चाहिए।

6- आर्थिक स्थायित्वीकरण (Economic stabilization):-

राजस्व के अन्तर्गत इस विभाग का जन्म बहुत बाद में हुआ, क्योंकि 1930 की विश्वव्यापी मंदी के बाद यह प्रतीत हुआ कि आर्थिक स्थायित्वीकरण हेतु एक अलग नीति होनी चाहिए। उसके उपरान्त 'राजकोषीय नीति' (Fiscal Policy) का जन्म हुआ। राजकोषीय नीति के माध्यम से अर्थव्यवस्था में आ रहे उतार–चढ़ाव को रोका जा सकता है अर्थात् अर्थव्यवस्था में समानता लाने व न्यायोचित वितरण व्यवस्था के तहत देश में उत्पादन स्तर को बढ़ाने तथा एकाधिकारी व्यवस्था में सुधार लाने के लिए राजकोषीय नीति का उपयोग किया जाता है। वर्तमान की सरकारें अपनी आर्थिक नीति में राजकोषीय नीति के माध्यम से आर्थिक विकास की ऊँची दर, ऊँचे स्तरों पर आय और रोजगार की स्थिरता तथा वितरणीय असमानताओं में कमी लाने का पूरा प्रयास करती है। इस कारण राजकोषीय नीति के प्रभावों के अध्ययन लोक–वित्त में महत्वपूर्ण स्थान है।

7- संघीय वित्त (Federal Finance) :-

भारत में सामाजिक आर्थिक विविधता के कारण अधिकतर राज्यों में बहुस्तरीय सरकारें है। केन्द्र सरकार के साथ राज्य की सरकारें और स्थानीय निकाय भी है। बहुस्तरीय सरकारें होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि सरकारी–कार्यों को विभिन्न स्तरों में आवंटन संबंधी नियम, विनियम, अधिनियम की संरचना की जाए जिससे आवंटन से संबंधित समस्याओं का अध्ययन किया जाए और अर्थव्यवस्था को विकास की ओर ले जाने के लिए समुचित समाधानों की खोज की जाए। बहुस्तरीय सरकार होने के कारण राज्य स्तरीय वित्तीय प्रवाहों को विकसित होने की जरूरत है। इससे संबंधित कई प्रकार की समस्याओं एवं प्रश्न हैं, जिनका अध्ययन वर्तमान में लोक–वित्त का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है।

8- बजटीय वर्गीकरण (Budgetary classification):-

आम बजट के प्रभाव का आंकलन हेतु बजट प्रस्तुति के कई नए प्रकारों की संरचना की जाती है, जैसे–भारत सरकार की बजटीय प्राप्तियाँ और बजटीय वितरण की तीन निधियाँ है–पहली भारत की समेकित निधि, दूसरी भारत का लोक खाता और तीसरी आकस्मिकता निधि। इसके साथ ही देश की समस्त प्राप्तियों और वितरणों को लोक–वित्त और पूँजी खातों में वर्गीकृत किया जाता है। भारत सरकार की अब तक की वजट नीति में मिश्रित प्रभाव देखने को मिलते है। भारत की बजट नीति आर्थिक विकास के साधनों को गतिशीलता बनाने का ध्यान रखा जाता है। भले ही आय की असमानता व मूल्यों में निरंतर वृद्धि जारी रही है, फिर भी सरकार का यह प्रयास होता है कि एकाधिकार एवं आर्थिक केन्द्रीकरण कम से कम हो। प्रत्येक बजट में यह प्रयास होता है भारत में बेरोजगारी समस्या हल हो सके और आर्थिक विकास को गति मिले। इसके लिए विभिन्न विकास कार्यक्रमों एवं योजनाओं पर व्यय किया जाता है। उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि लोक वित्त के अन्तर्गत उपर्युक्त विभागों का आपस में सह–सम्बन्ध है, अर्थात एक–दूसरे से संबंधित है। इनका अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं है। ये विभाग एक–दूसरे के पूरक की भूमिका में है। इन सभी विभागों के सामंजस्य से अधिकतम सामाजिक लाभ एवं सामाजिक न्याय की प्राप्ति सम्भव है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक समय में लोकवित्त की विषय–वस्तु तथा क्षेत्र दोनों का बहुत विस्तार हुआ है। आगे सारिणी में इन तथ्यों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है–

लोक वित्त की विषय वस्तु	लोक वित्त का पारम्परिक क्षेत्र	लोक वित्त के क्षेत्र में विस्तार (आधुनिक समय में)
(क) करारोपण	कर के सिद्धान्त, करों का वर्गीकरण, करारोपण में न्याय की समस्या, कर–भार एवं कर विवर्तन, करों के आर्थिक प्रभाव, करदान क्षमता।	न्यायोचित वितरण के उपयुक्त कर प्रणाली, स्थिरीकरण के उपयुक्त कर प्रणाली, कर गुणक, अनुकूलतम करारोपण, अनुकूलतम बजट, कर–भार आंशिक एवं सामान्य सन्तुलन विश्लेषण, कर संरचना का सिद्धान्त , कर

		डिजाइन, सब्सिडी की प्रकृति एवं परिणाम
(ख) लोक व्यय	लोक व्यय के सिद्धान्त, लोक व्यय में वृद्धि के कारण, लोक व्यय का वर्गीकरण, लोक व्यय के प्रभाव, आदि	सामाजिक वस्तु का सिद्धान्त, लोक व्यय की उच्चतम सीमा, लोक व्यय एवं निजी व्यय का सापेक्ष आकार, लोक व्यय की उच्चतम सीमा के निर्धारण में मतदान की राजनीतिक प्रक्रिया का महत्व, न्यायोचित वितरण के सन्दर्भ में लोक व्यय का स्वरूप, स्थिरीकरण के लिए लोक व्यय का महत्व, लोक व्यय गुणक, लागत–लाभ विश्लेषण, आदि।
(ग) लोक ऋण	उत्पादक लोक कार्यों के लिए लोक ऋण का औचित्य, लोक ऋण की वसूली के उपाय, लोक ऋण का भार।	स्थिरीकरण एवं आर्थिक विकास के सम्बन्ध में लोक ऋण की भूमिका, लोक ऋण का भार (भावी पीढ़ी के सन्दर्भ में), लोक ऋण का प्रबन्ध तथा मौद्रिक नीति के साथ सम्बन्ध, लोक ऋण एवं शोध क्षमता।
(घ) बहुस्तरीय अर्थात् संघीय वित्त	संघीय वित्त के सिद्धान्त, विभिन्न स्तरों की सरकार के मध्य करों का आवंटन।	केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों के वित्त की समस्या, आवंटन, वितरण एवं स्थिरीकरण के सन्दर्भ में संघीय वित्त के सिद्धान्त।
(ड.) वित्तीय प्रशासन	पारम्परिक बजट का निर्माण, सन्तुलित बजट	आधुनिक बजट, बजट नवपरिवर्तन, बजट एवं आयोजन का सम्बन्ध, निष्पादन बजट, प्रोग्राम बजट, शून्य बजट आदि।
(च) राजकोषीय नीति	–	स्थिरीकरण के सन्दर्भ में विभिन्न राजकोषीय गुणक, आर्थिक विकास एवं विकास वित्त।
(छ) अन्तर्राष्ट्रीय राजकोषीय समन्वयन	–	कर समन्वयन, लोक व्यय समन्वयन, स्थिरीकरण नीति का समन्वयन

1.5 राजस्व–विज्ञान या कला : (Public Finance-Science or Art):

अर्थशास्त्र के संबंध में भी यही प्रश्न बनता है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों। इसी प्रकार राजस्व पर भी यही प्रश्न है। परन्तु राजस्व को कला अथवा विज्ञान कहना इतना सरल नहीं है, इसे सिद्ध करना आवश्यक है। प्लेहन लोकवित्त को विज्ञान मानते हुये कहते है कि–लोक अर्थशास्त्र में तथ्यों व सिद्धान्तों का नियमित एवं क्रमबद्ध संग्रह किया जाता है और सार्वजनिक वित्त के अध्ययन में उन वैज्ञानिक विधियों व अन्वेषणों का सहारा लिया जाता है , जो इसे विज्ञान की सीमा में पहुँचाते है। सामान्य अर्थों में, विज्ञान क्या है तो कहा जा सकता है कि–''विज्ञान किसी वस्तु के पूर्ण मान को आंकता है और इसका आधार सतर्क प्रयोग, ध्यानपूर्वक निरीक्षण एवं ठीक–ठीक विश्लेषण करता है। राजस्व द्वारा किसी भी प्रकार की वस्तुस्थिति के संबंध में निश्चित विवेचन करके उसके संबंध में पूर्व अनुमान लगा सकते है। इससे स्पष्ट होता है कि राजस्व विज्ञान है। राजस्व को कला के रूप में स्वीकार किया जाता है। कला किसी कार्य को करने के ढंग को बताता है। सही दिशा की ओर की प्रवृत्ति होती है। कला ही बतलाती है कि आदर्श स्थिति कैसे प्राप्त की जाती है। लोकवित्त में कला का पक्ष स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतम सामाजिक लाभ कैसे प्राप्त किया जा सकता है। सरकार का

प्रयास होता है कि कर लगाते समय आम जनता का कल्याण हो और सरकार की आय भी प्राप्त हो जाए। यही कला के पक्ष को उजागर करता है।

1.6 राजस्व का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध (Relation of Public Finance with other Sciences) :– राजस्व विज्ञान की प्रकृति अपने आप तक सीमित रहने की नहीं है। इसका सम्बन्ध अन्य विषयों से भी है। जिसकी व्याख्या निम्नवत् हैः

1. **राजस्व एवं राजनीतिशास्त्र :–** राजनीति विज्ञान नियमों के आधार पर राजस्व के नियमों का निर्धारण किया जाता है। उदाहरण के लिए, किसी देश की प्रशुल्क नीति, तब तक व्यावहारिक नहीं हो सकती है जब तक उस राष्ट्र की राजनीतिक स्थिति का अध्ययन न कर लिया जाय। प्रजातान्त्रिक, सामन्तवादी, समाजवादी व साम्यवादी शासन–व्यवस्था वाले देशों के लिए उन्हीं के अनुरूप राजस्व के नियमों व सिद्धान्तों की रचना करनी होती है।
2. **राजस्व एवं अर्थशास्त्र :–** अर्थशास्त्र का अध्ययन तब तक पूरा नहीं हो सकता है, जब तक उसमें राजस्व का अध्ययन न हो। अर्थशास्त्र एक व्यापक विषय है और उसी के एक अंग के रूप में राजस्व है। दोनों में आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिसके कारण इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, अर्थशास्त्र यह बतायेगा कि करारोपण के क्या परिणाम होते है; यदि परिणाम हितकर हुए तो कर लगाये जायेंगे अन्यथा नहीं। सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सावर्जनिक आय प्राप्त करने से पूर्व उसके आर्थिक परिणामों की जानकारी प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए, एक वित्त–मन्त्री को जब तक मांग की लोच की जानकारी नहीं होगी तब तक उसके कर अनुमान सही नहीं होंगे।
3. **राजस्व एवं इतिहास :–** इतिहास के आधार पर भूतकाल घटनाओं का अध्ययन करके भविष्य सम्बन्धी योजनाएं बनायी जाती हैं, योजनाओं का निर्माण किया जाता है। इतिहास के आधार पर हम उन प्राचीन घटनाओं को जान सकते हैं जो लोक–वित्त के कारण घटी है। यदि प्राचीन घटनाएं लाभप्रद रही हों तो उनका अनुसरण किया जाता है, अन्यथा उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जाती है। विभिन्न राष्ट्रों के इतिहास के अध्ययन के आधार पर ही वहां के राजस्व के विभिन्न सिद्धान्तों की सफलताओं और असफलताओं की जानकारी सरलता से ज्ञात की जा सकती है, तथा उसी के अनुरूप राजस्व की नीति में आवश्यक परिवर्तन लाये जा सकते हैं।
4. **राजस्व एवं सांख्यिकी :–** राजस्व एवं सांख्यिकी का आपस में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। सांख्यिकी की सहायता से राजस्व सम्बन्धी आय–व्यय के आँकड़े तैयार किये जाते हैं। राजस्व के द्वारा निर्णय प्राप्त करने में सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है जो किसी भी देश के लिए आवश्यक पूंजी–निर्माण की दर, करदेय–क्षमता, कर–भार, बजट, आय–व्यय आदि की जानकारी सांख्यिकी से ही की जाती है। इस प्रकार राजस्व सांख्यिकी के बिना अपूर्ण है, अतः सांख्यिकी व राजस्व का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

1.7 राजस्व का महत्व (Important of Public Finance)

प्राचीन विचारधारा के अनुसार राजस्व के क्षेत्र को बहुत संकुचित कर दिया गया था। प्राचीन अर्थशास्त्री सरकारी हस्तक्षेप को बुरा मानते थे तथा आर्थिक विकास के लिए निजी क्षेत्र को महत्व दिया गया था। यह भी सम्भव है कि परिस्थितिजन्य ही अर्थशास्त्रियों के विचार रहे होगें। तत्कालीन सामान्य जन का विचार था कि प्रत्येक 'कर' एक बुराई है और प्रत्येक सरकारी व्यय अनुत्पादक है। एडम स्मिथ पूर्णरूप से स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के समर्थक थे। एडम स्मिथ के विचारों से सहमत होते हुए रिकार्डों ने कहा था कि–''यदि तुम शान्तिपूर्ण सरकार चाहते हो तो तुम कों बजट को घटाना होगा।'' रिकोर्डों के विचारों पर सहमत होते हुये जे0बी0 से (J.B. Say) ने कहा था कि–'' वित्त की सबसे अच्छी योजना यह है कि खर्च कम करो और सबसे अच्छा 'कर' वह है जो मात्रा में सबसे कम हो।'' रिकार्डो एवं जे0बी से के विचारों पर ही 'सर हेनरी पारनेल (Sir Parnell) ने कहा था कि–''व्यवसाय को बनाये रखने तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा के लिए जो अनिवार्य व्यय है उसके अतिरिक्त व्यय का प्रत्येक अंश अपव्यय तथा अन्यायपूर्ण है तथा जनता पर अन्यायपूर्ण कर है।'' इनके विचारों से स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत व्यय उत्पादक होता है और सार्वजनिक व्यय अनुत्पादक है। प्राचीनकाल की विचारधारा वर्तमान समय में अप्रासंगिक है क्योंकि वर्तमान समय के अर्थशास्त्री व सरकारें प्राचीन विचारधारा को उचित नहीं मानती है। परिस्थितियाँ बदल चुकी है। सरकार के द्वारा शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता अर्थात् सामाजिक कल्याण हेतु सार्वजनिक व्यय किया जा रहा है, जिससे सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो रही

है। वर्तमान समय में निजी व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला व्यय विलासिता, नशीली वस्तुओं का उपभोग, व भोग–विलास की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने वाला है। इससे स्पष्ट होता है कि यह व्यय लोक–कल्याणकारी नहीं हो सकता है। 1980 के दशक में राजस्व का विकास हुआ और विकासशील देशों में राजकोषीय संकट के कारण, विकास व समायोजन की चुनौती ने ही राजस्व को केन्द्र बिन्दु में ला दिया। 1930 की विश्वव्यापी मंदी के बाद राजस्व के अध्ययन का महत्व अत्यधिक आवश्यक हो गया। इस संबंध में जेम्स विल्सन का विचार उल्लेखनीय है। कि–'' वित्त केवल अंकगणित नहीं है, वित्त एक महान नीति है। बिना अच्छे वित्त के अच्छी सरकार सम्भव नहीं और बिना अच्छी सरकार के अच्छा वित्त सम्भव नहीं है।'' भारत जैसे विकाशील देश में आर्थिक असमानता कम करने के लिए अनेक प्रकार के राजकोषीय उपाय करने का प्रयत्न किया जाता है, जैसे– निम्नतम आय में वृद्धि, गरीब मजदूर के लिए धन व्यय में वृद्धि, अमीरों पर प्रगतिशील कर लगाना, अत्यधिक आय एवं सम्पत्ति में कमी हेतु सरकारी कार्य किये जा सकते है। इस कारण भी राजस्व का महत्व बढ़ जाता है। भारत में सबसे बड़ी समस्या रोजगार सृजन की है। राजस्व रोजगार में वृद्धि कर सकता है। रोजगार हेतु प्रभावपूर्ण मांग को बढ़ाने हेतु सरकार सार्वजनिक आय में वृद्धि, करों में कमी कर, रोजगार के अवसर उत्पन्न किये जा सकते है। भारत की जनता की भावनाएँ पूँजीवाद से समाजवाद की ओर है। इस संबंध में फिण्डले शिराज का कथन उल्लेखनीय है कि–''राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं के लिए आर्थिक वित्त की आवश्यकता होती है। और इस वित्त को भी विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं पर सतर्कता से व्यय करना होता है। यह लोक वित्त के सिद्धान्तों की सहायता से ही किया जा सकता है।''

राजस्व के कार्यों में करारोपण के बुरे प्रभाव सार्वजनिक व्यय के अच्छे प्रभावों से दूर किये जा सकते है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक सरकारी व्यय बुरा नहीं है, उसी प्रकार प्रत्येक कर एक बुराई नहीं है, जैस–शराब व ताड़ी अफीम पर लगाया गया कर बुरा नहीं हो सकता है, क्योंकि इससे सामाजिक बुराइयाँ पर अंकुश लगाया जाता है। यह भी सूच्य है कि प्रत्येक प्रकार का कर समाज के लिए लाभदायक ही है। बहुत से करों का उत्पादन व बचत पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। ऐसे करों को अच्छा नहीं माना जा सकता है। इसी तरह के सार्वजनिक व्ययों को भी उचित नही माना जा सकता है, जैसे–राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाने वाला व्यय अपव्ययपूर्ण ही है। इससे स्पष्ट होता है कि राजस्व इसीलिए महत्वपूर्ण है कि अधिकतम सामाजिक लाभ अर्थात् कल्याण हो।

1.8 सारांश (Summary)

मनुष्य के जीवन में कुछ वस्तुओं का उपयोग करना आवश्यक है जिससे जीवन–चक्र चलता रहता है। जीवन का चक्र एक कड़ी से दूसरे कड़ी से बंधा है। आर्थिक क्रियायें भी एक कड़ी से दूसरी कड़ी के संयोजन से पूरी होती हैं। हमने जीवन के सामान्य क्रियाकलापों के अध्ययन के रूप में विभिन्न राजकोषीय प्रणालियाँ में राज्य की आर्थिक क्रियाओं को समझा है। निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इनकी बुनियादें काफी गहरी हैं जिनमें सरकार के कार्य–उददेश्य, मुद्रा, रोजगार का सृजन, करारोषण का अधिकार तथा उधार लेने की बेहतर स्थिति आदि सम्मिलित है। लोकवित्त के अध्ययन को यथार्थता के स्तर पर लाने के लिए यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि सरकारी क्षेत्र अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग होता है तथा निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की गतिविधियों में वर्तमान में पारस्परिक गहरी निर्भरता रहती है। अर्थव्यवस्था के कार्य–कलापों से संबद्ध वित्तीय प्रवाहों को सरकार अपनी नीतियों आदि से प्रभावित करती है। वर्तमान समय में समाजवादी विचार–धारा के प्रभाव से कल्याणकारी भावनाओं का विकास होने लगा है। यह भी सत्य है कि सार्वजनिक व्यय से कल्याणकारी कार्यों एवं सामाजिक सुरक्षा पर कार्य किये जाते है जबकि निजी व्यय में अधिकांश कार्य विलासिता, नशीली व भोग–विलास की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने वाला होता है। आर्थिक विषमता के निराकण में सरकारी हस्तक्षेप होना अति आवश्यक है। वर्तमान में शिक्षा, स्वास्थ्य, वृद्धावस्था पेंशन अर्थात सामाजिक कल्याण आदि पर सरकार के द्वारा बड़े पैमाने पर व्यय किया जाता है। साथ ही बेरोजगारी की समस्या व आर्थिक असमानता पर सरकार ही कदम उठाती है इस प्रकार कहा जा सकता है कि निजी व्यय की अपेक्षा सरकारी व्यय अधिक महत्वपूर्ण है। लोकवित्त का संबंध राजकोषीय नीतियों से है, जो देश की आर्थिक नीतियों तथा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती हैं। सभी सरकारों का लक्ष्य एक न्यायोचित वित्त व्यवस्था द्वारा सामाजिक न्याय लाना होता है। लोकवित्त की अवधारणा एवं विषय–वस्तु में सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण, करारोपण, राजकोषीय नीति, आर्थिक स्थायित्वकरण, संघीय वित्त, बजटीयकरण, वित्तीय प्रशासन, सार्वजनिक उद्यम आते हैं जो लोक वित्त की आधारशिला हैं।

1.9 शब्दावली (Keywords)

1. उत्तरजीविका (Survival)
2. नितान्त आवश्यक (Essential)
3. अबन्ध आर्थिक नीति (Laissez Faire and Laissez Passer)
4. विषय सामग्री (Subject Matter)
5. सार्वजनिक आय (Public Revenue)
6. सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)
7. सार्वजनिक ऋण (Public Debt)
8. वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)
9. सार्वजनिक उद्यम (Public Enterprises)
10. आर्थिक स्थायित्वकरण (Economic Stabilisation)
11. संघीय वित्त (Federal Finance)
12. बजटीय वर्गीकरण (Budgetary Classification)

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

1. राजस्व जे0सी0पन्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा
2. राजस्व, डॉ0 जे,सी0 वार्ष्णेय, डॉ0 प्रेममोहन श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0 आगरा
3. लोकवित्त, एच0एल0 भाटिया, विकास पब्लिसिंग हाऊस प्रा0लि0 नई दिल्ली।
4. Bastable, C.F , Public finance 8.7
5. H.L. Lutz, Public Finance , 8.7Application,- Centrey, New Delhi, 1936
6. Plehn, Public Finance . Biblio Life
7. U.K Hicks, Public fiancé P.1
8. लोकवित्त, के सिद्धान्त, डॉ0 एस0 के सिंह, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

1.11 अभ्यास प्रश्न (Practice Question)

1. राजस्व के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
2. राजस्व के विषय वस्तु की विवेचना कीजिए।
3. लोकवित्त का अर्थ लिखिए।
4. लोकवित्त की अवधारणा से आप क्या समझते है?
5. राजस्व की परिभाषाओं को स्पष्ट कीजिए।
6. क्या लोकवित्त एक आदर्श या वास्तविक विज्ञान है?
7. लोकवित्त को विज्ञान एवं कला के रूप में समझाइए।
8. आर्थिक और सामाजिक उपकरण के रूप में लोक वित्त के महत्व को समझाइए।
9. प्रो0 डाल्टन द्वारा लोकवित्त की दी गई परिभाषा को संक्षेप में समझाइए।
10. लोक वित्त आर्थिक विकास एवं मूल्य–स्थिरता में किस प्रकार सहायता कर सकता है।
11. ''प्रत्येक सरकारी व्यय बुरा नहीं है, उसी प्रकार प्रत्येक 'कर' एक बुराई नहीं है।'' इस कथन को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

1. राजस्व के कौन–से चार विभाग है?

क. सरकारी आय, सरकारी व्यय, सरकारी ऋण, राजकोषीय नीति
ख. राष्ट्रीय आय, व्यक्तिगत आय, उपभोग , वितरण
ग. उपभोग, विनिमय, राजस्व, वितरण
घ. भूमि, श्रम, संगठन, साहस
(उत्तर क)

2. ''वित्त की सबसे अच्छी योजना यह है कि खर्च कम करो और सबसे अच्छा कर वह है जो मात्रा में सबसे कम हो।'' यह कथन किसका है?

क. मार्शल ख. जे0वी0से ग. पीगू घ. हिवस

(उत्तर ख)

3. ''राज्य समाज की मेहराब की आधारशिला है, जो उन अनेक मानव–जीवनों के रूप और स्वभाव को साँचे में ढालता है जिनके भाग्यों के संरक्षण का दायित्व उस पर है।'' यह कथन किसका है?

क. एडम स्मिथ ख. लास्की ग. कार्ल मार्क्स घ. जे.एस.मिल

(उत्तर ख)

4. भारत के लोकवित्त के सन्दर्भ में निम्नलिखित कथनों पर विचार कीजिएः

क. केन्द्रीय बजट में दर्शाए गए विदेशी ऋण ऐतिहासिक विनिमय दरों पर निर्भर होते है।

ख. निरंतर अधि ऋण ने अर्थव्यवस्था में वास्तविक ब्याज दरों को ऊँचा।

ग. हाल ही के वर्षों में राजकोषीय घाटे और सकल घरेलू उत्पाद के बीच बढ़ते अनुपात का निजी निवेशों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

घ. ब्याज की अदायगी केन्द्र सरकार के योजनात्तर राजस्व व्यय का अकेला सबसे बड़ा घटक है।

उपरोक्त कथनों में से कौन सा/से कथन सत्य है?

अ. 1,2 और 3 ब. 1 और 4 स. 2,3 और 4 घ. ये सभी

(उत्तर ग)

इकाई–02

लोक वित्त तथा व्यक्तिगत वित्त, सार्वजनिक वस्तु , मेरिट वस्तु, व्यक्तिगत वस्तुएं,

Public and Private Finance, Public, Private, Merit Goods

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 सार्वजनिक वित्त व निजी वित्त की तुलना
1.3 निजी वस्तुएं व सार्वजनिक वस्तुएं संक्षेप में अन्तर
1.4 सामाजिक वस्तु की अवधारणा
1.5 जनहितकारी/उत्कृष्ट वस्तुएं
1.6 सार्वजनिक वस्तुएं
1.7 निजी वस्तुएं
1.8 सार्वजनिक वस्तुओं एवं निजी वस्तुओं की तुलना
1.9 वस्तुएं
1.10 उत्पादक वस्तुएं
1.11 स्थानापन्न वस्तुएं
1.12 पूरक वस्तुएं
1.13 स्वतंत्र वस्तुएं
1.14 निजी व सामाजिक वस्तुओं में अन्तर
1.15 अविभाज्य वस्तुएं
1.16 विभाज्य वस्तुएं
1.17 मिश्रित लाभ वाली वस्तुएं
1.18 मिश्रित वस्तुएं और हाइमैन
1.19 सारांश
1.20 शब्दावली
1.21 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.22 अभ्यास प्रश्न
1.23 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

बजट नीति के आंबटन कार्यों का विश्लेषण हेतु सामाजिक वस्तुएँ व उससे संबंधित सिद्धान्त एक आधार प्रस्तुत करता है। यह भी सूच्य है कि यह विश्लेषण कठिनाइयों से घिरा हुआ है, जिसे मापा जाना सम्भव नहीं है। सार्वजनिक क्षेत्र के अर्थशास्त्र में सामाजिक वस्तु का महत्व है, जितना निजी क्षेत्र के अर्थशास्त्र में उपभोक्ता एवं फर्म के सिद्धान्त का महत्व है। वस्तुऐं वास्तविक उपभोग योग्य उत्पाद, सामग्री और माल को संदर्भित करती हैं। वस्तुओं की भौतिक विशेषताएं जैसे कि आकार, रूप, परिमाण, वजन आदि होते है। कुछ वस्तुओं को उपभोक्ता द्वारा एक बार उपयोग के लिए बनाया जाता है, जबकि कुछ का उपयोग बार–बार किया जा सकता है। वस्तुओं का बाजार में व्यापार किया जाता है। वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और खपत में समय अन्तर होता है। जब खरीदार वस्तु खरीदता है और कीमत चुकाता है, तो वस्तु का स्वामित्व विक्रेता से खरीदार के पास चला जाता है। वस्तुएँ समूह में निर्मित होती हैं तथा पूरे समूह में वस्तुएँ एक जैसी होती है। इस तरह, कम्पनी द्वारा पेश की गई एक विशेष वस्तु में, पूरे बाजार में, सामान्य विशेषताएँ होंगी, जैसे कि–किताबें, पेन, बोतलें, बैग आदि सम्मिलित है। पूँजीवाद के जोर पकड़ने से पहले राज्य समाज की गतिविधियों में रूचि लिया करते थे। इसकी मूल वजह यह थी कि आम जनता को बाजर–व्यवस्था से अपेक्षित लाभों की जानकारी नहीं थी। पूँजीवाद के विकास के साथ–साथ सरकारी हस्तक्षेप की हानियों की जानकारी में भी वृद्धि होती गई। इससे यह

स्पष्ट हो गया कि हस्तक्षेप से अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को ठेस पहुँचती है। इसके फलस्वरूप यह स्वीकार किया जाने लगा कि राज्य की गतिविधियों को सीमित करना ही उचित होगा। इस प्रकार वस्तुओं एवं सेवाओं की उपलब्धता हेतु राज्य का न होकर, निजी क्षेत्र का होना चाहिए। इस विचार धारा के प्रतिपादक एडम स्मिथ को माना जाता है। एडम स्मिथ ने राज्य के द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति को एक सैद्धांतिक स्तर प्रदान किया एवं बाजार अर्थव्यवस्था को अनियन्त्रित रखने का समर्थन किया था। साथ ही एडम स्मिथ के अनुसार कुछ सेवाएँ अर्थात् गतिविधियाँ तथा वस्तुएँ ऐसी होती है जो अर्थव्यवस्था के लिए अति आवश्यक होते हुए भी निजी क्षेत्र की क्षमता से परे होती है। इन वस्तुओं एवं सेवाओं का नियंत्रण सरकार ही कर सकती है। एडम स्मिथ के मत में समयानुसार संशोधन होते–होते, सरकारी गतिविधियों की सीमाओं में अनेक प्रकार से विस्तार के औचित्य को मान्यता मिली। आर्थिक विचारकों में इस धारणा को संशोधित करते हुये राज्य को हस्तक्षेप की आवश्यकता महसूस की गई। कम से कम राज्य किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं अर्थात् समस्त समाज के कल्याण के लिए होना चाहिए। राज्य से यह आशा की जाने लगी कि वह समाज के अधिकतम समूह के लिये सर्वाधिक संभव कल्याण प्राप्ति के लिए प्रयत्न करेगा। वर्तमान स्थिति यह है कि बाजार व्यवस्था एवं अहस्तक्षेप की नीति की समर्थक सरकारें भी सामाजिक कल्याणकारी नीतियों के औचित्य को मान रही है। अद्यतन यह कल्याणकारी नीतियाँ हर सरकार के कार्यक्षेत्र का एक अभिन्न अंग बन चुकी है। सरकार का यह प्रयास रहता है कि अर्थव्यवस्था में आय, रोजगार, मुद्रास्फीति, विषमता से संबंधित समस्यायें न हो। सरकार की आर्थिक गतिविधियों में सामाजिक वस्तुओं अर्थात् सेंवाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता जा रहा है। अनेक राष्ट्रों में इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु उद्योगों और सेवाओं के राष्ट्रीयकरण का मार्ग भी अपनाया गया है। समय के साथ–साथ सरकारी क्षेत्र की सीमाओं के निर्धारण संबंधी आर्थिक और राजनीतिक विचार धाराओं में परिवर्तन होता रहा है। वर्तमान में सर्वस्वीकृत विचार यह है कि सरकार को अपनी क्षमतानुसार उन नीतियों को अपनाना चाहिए जिनका उद्देश्य समाज का अधिकतम कल्याण हो। वर्तमान में सरकार का अब कर्तव्य बन गया है कि वह अर्थव्यवस्था में उच्चावचन को रोकें तथा आय–रोजगार, गरीबी, मुद्रास्फीति, असमानता आदि की समस्याओं पर विचार करते हुये स्थायी समाधान करें।

आवश्यकताओं की संतुष्टि मनुष्य की इच्छाऐं असीमित होती है। आवश्यताओं की संतुष्टि होने पर नई आवश्यकताएं फिर से जन्म ले लेती है। ऐसी सभी चीजें जो हमारी आवश्यकता को संतुष्ट करती हैं, वह वस्तु कहलाती है। जैसे–भूख लगने पर भोजन, बीमार पड़ने पर दवाईयां, गर्मी के लिए कूलर, पंखा, समाचार हेतु पत्र पोस्ट कार्ड आदि। कुछ आवश्यकतायें ऐसी भी होती है, जिन्हें वस्तुओं से संतुष्ट नहीं किया जा सकता है। जैसे अध्यापक का ज्ञान, नर्तक की नृत्यकला, एडवोकेट, चिकित्सक की योग्यता सेवा द्वारा ही कुछ आवश्यकताओं में संतुष्ट किया जा सकता है, इन्हें सेवाऐं कहते है। मनुष्य की सन्तुष्टि की पूर्ति वस्तु एवं सेवाओं से होती हैं। मिश्रित वस्तुओं को समझने के लिए आवश्यक निजी वस्तुएं तथा सामाजिक वस्तुएं के अन्तर को समझना जरूरी है।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :-

1. सामाजिक वस्तुएँ से संबंधित सिद्धान्त बजट नीति के आबंटन कार्य विश्लेषण के लिए एक आधार को प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।
2. सार्वजनिक क्षेत्र के अर्थशास्त्र में सामाजिक वस्तु के सिद्धान्त की महती आवश्यकता है।
3. समाज का सामाजिक हित हेतु सामाजिक वस्तुएँ के सिद्धान्त की महती आवश्यकता है।

1.2 सार्वजनिक वित्त व निजी वित्त की तुलना (Comparison between public and private finance)

1. **आय तथा व्यय में अन्तर :–** सार्वजनिक वित्त व व्यक्तिगत वित्त में पहला अन्तर यह है कि राज्य अपने व्यय को देखकर आय प्राप्त करता है, जबकि व्यक्ति अपनी आय के अनुसार व्यय करता है। राज्य हमेशा यह अनुमान लगाता है कि उसके खर्चे क्या–क्या होंगे और फिर उन खर्चों को पूरा करने के लिए आय के साधनों की खोज की जाती है, जबकि एक व्यक्ति , इसके विपरीत आय के अनुसार व्यय करता है। बेस्टेबिल के शब्दों में, ''व्यक्ति यह कहता है कि मैं इतना खर्च कर सकता हूँ, वित्त मन्त्री यह कहता है कि मुझे इतना धन प्राप्त करना है।'' व्यक्ति हमेशा ''तेते पाँव पसारिये जेती लंबी सौर'' के सिद्धान्त को मानकर अपना व्यय करता है। उसका यही प्रयत्न रहता है कि आय से अधिक व्यय न हो या आय के अनुसार ही व्यय हो ; जबकि सरकार व्यय के आधार पर आय के स्त्रोतों की खोज करती है।

व्यक्ति व सरकार के सम्बन्ध में उपर्युक्त बात लागू तो होती है, परन्तु व्यक्ति के सामने कभी ऐसी समस्या आ जाती है कि वह अपनी आय से अधिक व्यय कर लेता है। उदाहरण के लिए, बच्चों की शिक्षा–दीक्षा व स्वास्थ्य पर किया जाने वाला व्यय आय से प्रभावित नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि बच्चों को पढ़ाने–लिखाने के बाद ही परिवार का भविष्य उज्जवल होगा। ऐसी स्थिति में व्यक्ति भी सरकार के ही समान घाटे का बजट बनाता है और उसकी पूर्ति के लिए आय के नये–नये स्त्रोत ढूँढ़ता है। दूसरी ओर, सरकार भी हमेशा व्यय के अनुसार आय के स्त्रोतों को नहीं ढूँढ़ती है बल्कि कभी–कभी उसे आय के अनुसार ही व्यय करना पड़ता है। युद्ध के समय ऐसी स्थिति होती है।

2. **आय की प्रकृति में अन्तर :–** व्यक्ति व सरकार के आय–स्त्रोतों में अन्तर है। सरकारी आय प्राप्त करने के एक नहीं अनेक साधन हैं, जबकि व्यक्ति के साधन सीमित होते है। संकट के समय सरकार करों की दर में वृद्धि करके अपनी आय बढ़ाती है। वह अनिवार्य रूप से नये–नये करों को लगा सकती है और आमदनी के नये स्त्रोतों को ढूंढ सकती है। परन्तु व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता है।

राज्य एक प्रभुता सम्पन्न संस्था है जिसके आदेशों की अवहेलना कानूनन दण्डनीय है। आस्टिन के "Province of Jurisprudence determined" के प्रकाशित होने के बाद से यह समझा जाने लगा कि सब व्यक्तियों की सम्पत्ति पर अन्तिम अधिकार राज्य का है और वह जब चाहे उनसे वह सम्पत्ति ले सकता है। इसलिए सरकार किसी भी व्यक्ति को कर देने के लिए बाध्य कर सकती है और वह मना नहीं कर सकता है। एक व्यक्ति राज्य के समान अधिकार–सम्पन्न नहीं होता है।

उपर्युक्त अन्तर में जहां तक राज्य की आय प्राप्त करने की सीमा के बारे में बताया गया है, यह एक सैद्धान्तिक बात है, क्योंकि वर्तमान प्रजातान्त्रिक शासन–व्यवस्था में सरकारें मनमाने ढंग से आय प्रापत करने में सफल नहीं हो सकती हैं। जहां तक कर लगाने का प्रश्न है उसकी भी एक सीमा होती है, मनमाना करारोपण जन–आक्रोश को बढ़ाने वाला होता है।

3. **उद्देश्यों का अन्तर :–** व्यक्तिगत वित्त व सार्वजनिक वित्त में सबसे बड़ा अन्तर उद्देश्य का है। व्यक्ति हमेशा अपने लाभ को ध्यान में रखते हुए आय–व्यय का समायोजन करता है, परन्तु सरकार का निजी लाभ कुछ भी नहीं होता है। वह समाज व राष्ट्र के कल्याण को ध्यान में रखकर कार्य करती है। प्रत्येक व्यक्ति का यही उद्देश्य रहता है कि उसका आय की अपेक्षा व्यय कम हो तथा अधिक बचत हो। इसके विपरीत, सरकारें ऐसा नहीं करती है। सरकारें लोक – कल्याणकारी कार्यों में आय से अधिक खर्च करती है जिसके कारण सरकार का बजट घाटे का होता है । व्यक्ति की कुशलता बचत में व सरकार की कुशलता घाटे मे मानी जाती है, बशर्ते सरकार फिजूलखर्जी न कर रही हो।

4. **ऋण की प्रकृति में अन्तर :–** व्यक्ति व सरकार के द्वारा लिये जाने वाले ऋणों की प्रकृति में भी अन्तर है। सरकार आनतरिक व बाह्य दोनों प्रकार के ऋण ले सकती है। वह आन्तरिक ऋणों को अनिवार्य कर सकती है। व्यक्ति किसी को बाध्य करके ऋण प्राप्त नहीं कर सकता है। सरकार कभी भी दिवालिया नहीं होती है। व्यक्ति की अपेक्षा सरकार की साख सुदृढ़ होती है। सरकार को व्यक्ति की अपेक्षा आसानी से ऋण प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति को केवल आन्तरिक ऋण ही मिल पाता है, वह स्वयं से ऋण नहीं ले सकता और न ही विदेशों से।

उपर्युक्त अन्तर के सन्दर्भ में हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति व सरकार के ऋण लेने में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। हाँ, सरकार की ऋण लेने की सीमा व्यक्ति के ऋण लेने की सीमा से अधिक आवश्यक है, परन्तु जिस प्रकार एक व्यक्ति ऋण प्राप्त करने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति पर दबाव नहीं डाल सकता है, ठीक उसी प्रकार सरकार भी एक सीमा के बाद देश के नागरिकों पर ऋण देने के लिए दबाव नहीं डाल सकती है।

5. **गोपनीयता का अन्तर :–** सार्वजनिक वित्त व व्यक्तिगत वित्त में गोपनीयता का अन्तर है। सरकार अपने देश के नागरिकों के प्रति उत्तदारयी है, उस प्रत्येक बात का उत्तर देना होता है, जबकि व्यक्ति अपने व अपने परिवार के प्रति उत्तरदायी है। दोनों की प्रकृति में अन्तर आ जाने से दोनों के वित्त–प्रबन्ध में अन्तर है। सरकार की अपेक्षा व्यक्ति अपनी मौद्रिक गतिविधियों को हमेशा गुप्त रखता है, वह अपनी वास्तविक स्थिति को किसी के सामने प्रकट नहीं होने देता है। व्यक्ति इस बात में विश्वास रखता है कि 'ढका हो तो महंगा हो' या 'बन्द मुट्ठी लाख की, खुली मुट्ठी खाक की'। जहाँ तक सार्वजनिक वित्त का प्रश्न है, सरकार व्यक्तियों के आय–व्यय के संरक्षक के रूप में कार्य करती है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सार्वजनिक वित्त की गतिविधियों को गोपनीय न

रखे। इसलिए स्थानीय संस्थाओं, विधानसभाओं व संसद में इस पर विचार–विमर्श किया जाता है, आँकड़ें प्रकाशित किये जाते है। तथा सरकारी हिसाब–किताब का परीक्षण व मूल्यांकन किया जाता है। सरकार समय–समय पर अपनी अर्थव्यवस्था सम्बन्धी नीतियों व कार्य–प्रणालियों का प्रचार व प्रसार करती रहती है।

6. **घाटे व बचत सम्बन्धी अन्तर :–** व्यक्ति हमेश बचत के बजट बनाने का प्रयत्न करता है तथा उसे इसमें सफलता भी मिल जाती है ; जबकि सरकार इसके विपरीत कार्य करती है। सरकार आय की तुलना में व्यय अधिक करती है जिसके कारण उसका बजट घाटे का होता है। इस प्रकार व्यक्ति बचत का व सरकार घाटे का बजट बनाती है।
7. **राजकीय आय की लोचता :–** यह सच है कि व्यक्तिगत आय की तुलना में राजकीय आय की लोच बहुत अधिक है। राज्य अपनी आय तथा व्यय के साधनों में सरलता से परिवर्तन कर सकता है, परन्तु व्यक्ति के लिए ऐसा करना कठिन है। इस प्रकार व्यक्तिगत वित्त की तुलना में सार्वजनिक वित्त अधिक लोचपूर्ण है।
8. **वर्तमान व भविष्य सम्बन्धी अन्तर :–** कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि व्यक्तिगत वित्त व सार्वजनिक वित्त को अलग–अलग रूप में प्रस्तुत करने के लिए भी भविष्य सम्बन्धी अन्तर भी है, क्योंकि व्यक्ति का जीवन–काल सरकार के जीवन–काल से छोटा होता है। व्यक्ति प्रत्येक कार्य को अपने जीवन में करना चाहता है, जबकि सरकार निरन्तर चलती रहती है। प्रत्येक सरकार अपने व्यय को दीर्घकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करती है। वह वर्तमान की अपेक्षा भविष्य को अधिक महत्व देती हैं, जबकि व्यक्ति अपने कार्य का लाभ अपने ही जीवनकाल में ले लेना चाहता है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि सार्वजनिक वित्त व व्यक्तिगत वित्त में बहुत बड़ा अन्तर न होकर आंशिक अन्तर ही है।

1.3निजी वस्तुएं व सार्वजनिक वस्तुएं संक्षेप में अन्तर :–

निजी वस्तुएं	सार्वजनिक वस्तुएं
1. निजी लागत एवं लाभ	**वाह्य लागत एवं लाभ**
2. उपभोग में प्रतिद्वन्तिता ज्ञान	**उपभोग में प्रतिद्वन्दिता की अनुपस्थिति**
3. ज्ञान	**अज्ञानता**
4. भुगतान एवं लाभ साथ–साथ	**भुगतान क्या लाभ साथ–साथ नहीं**
5. लाभ स्पष्ट	**लाभ अस्पष्ट**
6. भुगतान करने वाला तथा लाभ पाने वाला अभिन्न	**भुगतान करने वाले तथा लाभ पाने वाला अभिन्न नहीं**

1.4 सामाजिक वस्तु की अवधारणा (Concept of Social Goods):-

सामाजिक वस्तुओं वह वस्तुऐं मानी जाती हैं जिनके उत्पादन होने से वाह्य लाभ का सृजन होता है, और जिसका उपयोग समाज के प्रत्येक व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है। सामाजिक वस्तुओं का उत्पादन एक व्यक्ति के द्वारा किया जाने लगे, तो इसके लाभ बिखर जायेंगे। ऐसे विखराव प्रभाव द्वारा, उत्पादनकर्ता द्वारा बाहय लाभ प्रदान करने में संपत्ति का अधिकार स्थापित नहीं हो सकता है। ऐसे लाभ का विभाजन सम्भव नहीं है, और इसके लिए मूल्य नहीं लिया जा सकता लेकिन जो व्यक्ति मूल्य नहीं देते है, उन्हें भी इसके उपयोग से वंचित नहीं किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि किसी वस्तु के उत्पादन में बाहय लाभ न होकर बाहय हानि हो जाती है, तो उसे सामाजिक हानि कहा जाता है। सामाजिक हानि उन समस्त आर्थिक क्रियाओं को कहा जा सकता है, जिनके उत्पादन से समस्त बाहय लागतों का सृजन हो और जो जनसंख्या के बड़े भाग को प्रभावित करती हों।

1.5 जनहितकारी/उत्कृष्ट वस्तुएँ (Merit Goods):-

जनहितकारी वस्तुएँ वह कहलाती हैं, जिनसे प्राप्त लाभ आन्तरिक या बाह्य होते हैं। लेकिन इनके उत्पादन की मात्रा का निर्धारण व्यक्ति के स्थान पर सरकार द्वारा किया जाता हैं। इन वस्तुओं की विशेषता यह है कि इनके उपभोग से न केवल उपभोक्ता, अपितु गैर–उपभोक्ता भी लाभान्वित होते है, जैसे– शिक्षा, स्वास्थ्य, सुविधाएँ, प्रदूषण रहित एवं स्वच्छ वातावरण, शुद्ध खाद्य पदार्थ और पीने का साफ–सुथरा पानी आदि। इससे स्पष्ट है कि इन वस्तुओं की उपलब्धि समाज के सभी वर्गों के लिए पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए। परन्तु कठिनाई यह है कि यदि इनकी आपूर्ति का कार्यभार केवल बाजार–व्यवस्था पर छोड़ दिया जाए, तो इस लक्ष्य को प्राप्त करने की संभावना बहुत कम हो जाती है।

ऐसा होने के कारण यह है कि बाजार–व्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं की उत्पादन मात्राएँ उनकी अनुमानित कीमतों और उनसे अपेक्षित लाभ–आय के आधार पर तय की जाती है। लेकिन समाज के वे सभी वर्ग के सदस्य जिन्हें इस वस्तुओं की जरूरत है, वह बाजार भाव नहीं चुका सकते या चुकाना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में सरकार उनकी उत्पादन लागत का एक भाग वहन करें या निजी स्त्रोतों से होने वाली आपूर्ति के अतिरिक्त स्वयं भी उनके उत्पादन तथा उपलब्धि में सक्रिय भाग ले। इसके साथ ही सरकार को जनहितकारी वस्तुओं की जरूरी मात्राओं को उपलब्ध कराने की संपूर्ण जिम्मेदारी अपने ऊपर लेना चाहिए।

1.6 सार्वजनिक वस्तुएँ (Pubic Goods):-

सार्वजनिक वस्तुएं समाज में सभी की आवश्यकताओं को सामूहिक रूप से पूरा करती हैं, जैसे–सामाजिक सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा, समाज की शक्ति, परिवहन, संचार, देश की सुरक्षा जैसी अवसंरचनात्मक सुविधाएँ सामूहिक जरूरतों को पूरा करती है। सामूहिक जरूरतों को पूरा करने के उद्देश्य से उत्पादित वस्तुएँ और सेवाएँ सार्वजनिक वस्तुएँ कहलाती है। इनकी पूर्ति समाज कल्याण के उद्देश्य से देश के सभी नागरिकों के लिए होती है। यह निजी वस्तुएं से भिन्न है क्योंकि इनका लाभ सभी लोगों को सामूहिक रूप से मिलता है। साथ ही इन पर अपवर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। इन पर कीमत प्रक्रिया भी लागू नहीं होती है। आम जन को इनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लाभ होता है, एवं इनकी उत्पादन लागत का भार भी संपूर्ण समाज पर पड़ता है। इनके उपभोग की कोई निश्चित कीमत नहीं होती है, लेकिन इनके लिए सभी को अनिवार्य भुगतान करना पड़ता है। इनकी सीमान्त लागत सामान्यतः शून्य अथवा शून्य के आस–पास होती है, जैसे– एक पुल अथवा सड़क से यदि एक और मोटर वाहन निकलती है तो उस अतिरिक्त इकाई की कोई अतिरिक्त लागत नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि विकास की दृष्टि से और नई सड़कों एवं पुल का निर्माण करना जरूरी हो सकता है। सीमान्त लागत शून्य होने पर औसत लागत गिरती है। सार्वजनिक वस्तुएं वा उपभोग जितना अधिक लोगों द्वारा किया जायेग, उनकी औसत लागत उतनी ही कम होगी। इनके उत्पादन पर ह्रास मान लागत नियम लागू होता है। इस प्रकार सार्वजनिक वस्तुएं का उपभोग देश में सभी लोग करते हैं। इनके उपभोग से कोई भी वंचित नहीं रहता, लेकिन इनके उपभोग के लिए प्रत्यक्ष रूप में कीमत नहीं चुकानी पड़ती है। कीमत प्रक्रिया उत्पादन और उपभोग के बीच संबंध स्थापित नहीं करती है, इसलिए सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन निजी क्षेत्र द्वारा नहीं किया जाता है। इसीलिए सरकार के द्वारा किया जाता है।

सार्वजनिक वस्तुओं के उत्पादन के संबंध में दो बातें मूल रूप से हैं – पहली सरकार द्वारा इनका कितना उत्पादन किया जाय; दूसरा इनकी उत्पादन लागत चुकाने में प्रत्येक उपभोक्ता का कितना अंशदान हो? इनमें से दूसरी बात का उत्तर अधिक जटिल है, क्योंकि यह निश्चित नहीं हो पाता है कि प्रत्येक व्यक्ति का इनके उपभोग में हिस्सा कितना है। इसके अतिरिक्त देश की सुरक्षा के लिए सरकार द्वारा किये गये व्यय से किसी एक व्यक्ति को कितना लाभ हुआ, इसका अनुमान लगाना असम्भव है। लोकवित्त के अन्तर्गत सरकार निजी वस्तुओं तथा सार्वजनिक वस्तुओं के बीच साधनों को इस प्रकार आवंटन करेगी, जिससे समाज को अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति हो। एक स्वतंत्र बाजार में साधनों का अनुकूलतम आवंटन कीमत प्रक्रिया से होता है। एक विकसित पूंजीवादी व्यवस्था में तो यह विचार किया जा सकता है, लेकिन एक देश में जहाँ लोगों के निजी साधन सीमित हैं, वहाँ सरकार का दायित्व होगा कि समाज की जरूरत के हिसाब से आपूर्ति के लिए आवश्यक उपाय करें।

1.7 निजी वस्तुएँ (Private Goods):-

निजी वस्तुओं से आशय उन सभी वस्तुऐं एवं सेंवाओं से है, जिनका उपभोग लोगों द्वारा अपनी निजी अथवा व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है, जैसे–खाद्य पदार्थ, कपड़ा, मकान, संचार, मनोरंजन आदि के साधन ही निजी वस्तुएं हैं। इन वस्तुओं की कीमतें बाजर में उनकी उत्पादन लागत तथा उनकी मांग के स्वरूप से आधार पर निर्धारित होती है। जो व्यक्ति बाजार की कीमत पर खरीदना चाहते है, वह खरीद सकते है,साथ ही व्यक्ति में खरीदने की क्षमता होती है। जिन लोगों में खरीदने की क्षमता नहीं होती है, वह इनके उपभोग से वंचित हो जाते है। साधारणतः कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन्हें खरीदना अनिवार्य नहीं है। इन वस्तुओं का लोगों के बीच वितरण इनके लिए प्रभावपूर्ण–मांग तथा बाजार कीमतों पर निर्भर करता है। इस प्रकार कीमत प्रक्रिया लोगों को दो भागों में बांट देती है; एक वे जो इनका उपभोग करते है, दो वह जो उपभोग नहीं करते है। इस प्रकार इन वस्तुओं पर अपवर्जन का सिद्धान्त (Principle of exclusion) प्रभावी होता है। कीमत प्रक्रिया समाज में कुछ लोगों को इनके उपभोग से वर्जित कर देती है। कीमत अथवा बाजार की प्रक्रिया

उस स्थिति में प्रभावपूर्ण नहीं होती, जब निजी वस्तुऐं के उत्पादन के साथ बाह्यतः (Externalities) की धारणा जुड़ी होती है, जो कि अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करती है। यहां पर कहना चाहूँगा कि एक पिछड़े क्षेत्र में कोई उद्योग विकसित होता है तो इसे बाह्यत के प्रभाव में आर्थिक लाभ मिलता है लेकिन यदि इस उद्योग की वजह से क्षेत्र में प्रदूषण बढ़ता है, तो इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। बाह्यतः के कारण उत्पन्न होने वाले लाभ हानि की बाजार में कीमत नहीं लगायी जा सकती है। और न ही यह निश्चित किया जा सकता है कि किसको कितना लाभ या हानि हुई।

1.8 सार्वजनिक वस्तुओं एवं निजी वस्तुओं की तुलना (Comparison Between Public Goods and Private Goods:-

1. सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन सरकार के द्वारा होता है, और इनका उत्पादन सामूहिक उपभोग के लिए होता है जिसमें वर्जन का सिद्धान्त लागू नहीं है। इसके विपरीत निजी वस्तुओं का उत्पादन निजी क्षेत्र के लोगों द्वारा किया जाता है और जिस पर वर्जन का सिद्धान्त लागू होता है।
2. यह कि सार्वजनिक वस्तुओं के संबंध में उपभोक्ता के अधिमान की अभिव्यक्ति स्वतः नही होती है जबकि निजी वस्तुओं के संबंध में यह अभिव्यक्ति स्वतः होती है।
3. यह कि सार्वजनिक वस्तुओं का उपयोग सार्वजनिक होता है जबकि निजी वस्तुओं का उपयोग सामूहिक नहीं होता है।
4. यह कि व्यक्ति निजी वस्तु का भुगतान नही कर पाता है, और वह उस वस्तु के उपयोग से वंचित हो जाता है, जबकि सार्वजनिक वस्तु का उपयोग सभी व्यक्तिओं को समान रूप मिलता है, साथ ही मूल्य न देने पर भी व्यक्ति सार्वजनिक वस्तु से वंचित नहीं होता है।
5. यह कि निजी वस्तुओं की मांग एक दिये गये मूल्य के क्षैतिज योग द्वारा प्राप्त होता है, जबकि सार्वजनिक वस्तुओं की मांग अनेक उपभोक्ताओं द्वारा मांगी गई मात्राओं के लम्बवत योग द्वारा ही प्राप्त होती है। इसे रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

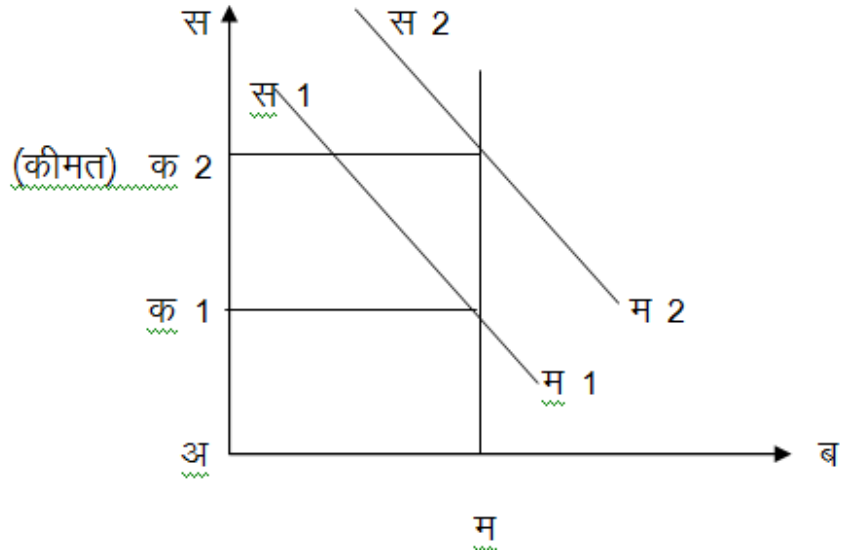

6.

(मात्रा)

(म= म 1 = म 2 = अ म)

उपर्युक्त रेखाचित्र में ब अक्ष पर मात्रा तथा स अक्ष पर कीमत को दर्शाया गया है। रेखाचित्र में निजी वस्तुओं व सार्वजनिक वस्तुओं की मांग को दर्शाया गया है। सार्वजनिक वस्तु की मात्रा अ म दोनों ही व्यक्तिओं को समान रूप से प्राप्त होती है, जबकि व्यक्ति (1), व्यक्ति (2) की तुलना में उसी वस्तु की कम कीमत (अ क1< अ क 2) देता है।

1.9 वस्तुएँ (Commodities):-

वस्तु का संबंध मानव की इच्छाओं को सन्तुष्ट करने वाले भौतिक तथा गैर–भौतिक पदार्थों (Material and Non-Material object) से है। लेकिन अर्थशास्त्र में वस्तु को संकीर्ण अर्थ (Narrow Sense) में प्रयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र में वस्तु केवल उन्हीं भौतिक पदार्थों से

संबंधित है, जिनमें यह विशेषता होती है कि जिन्हे एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित तथा वह वस्तु जिसे एक से दूसरे वस्तु से बदला हो सके, जिसे हम वस्तु तथा आर्थिक वस्तु कहा जा सकता है।

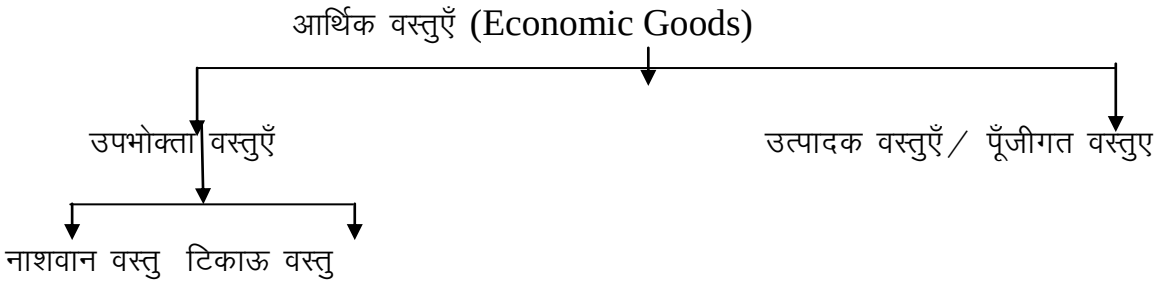

1.9 उपभोक्ता वस्तुएँ :–

उपभोक्ता वस्तुएं वह हैं जो प्रत्यक्ष रूप में मानवीय इच्छाओं को सनतुष्ट करती है, जैसे– अनाज, कपड़ा, जूता, आदि उपभोक्ता वस्तुओं के अन्तर्गत आती है। उपभोक्ता वस्तुएं दो तरह की हो सकती है। पहली नाशवान वस्तु (Perishable commodity) दूसरी टिकाऊ वस्तु (Durable) नाशवान वस्तु वह है जो उपभोग करने के बाद नष्ट हो जाती है, जैसे रोटी, कोयला, पेय पदार्थ आदि। टिकाऊ वस्तु वह वस्तु है जिसकी उपयोगिता दीर्घकालीन बनी रहती है और जिनका उपभोग एक लम्बी अवधि तक किया जा सकता है; जैसे–फर्नीचर, कपड़े, मकान, वाहन आदि।

1.10 उत्पादक वस्तुएं (Productive Goods):-

उत्पादक वस्तुएँ वह वस्तुएँ होती है जो उत्पादन प्रक्रिया में सहयोग देती हैं साथ ही जिनकी सहायता के बिना उत्पादन कार्य पूरा नहीं किया जा सकता है। उत्पादक वस्तुएँ को 'नाशवान वस्तु' एवं 'टिकाऊ वस्तु' में विभाजित किया जा सकता है।

इस प्रकार नाशवान वस्तुएँ वह है, जिनका प्रयोग उत्पादन में केवल एक बार ही किया जा सकता है; जैसे कोयला, कच्चा माल आदि। इसके विपरीत टिकाऊ वस्तुएं वह है जिनका उत्पादन में अनेक बार उपयोग किया जा सकता है; जैसे–पूंजीगत उपकरण, मशीनें , फर्नीचर आदि।

1.11 स्थानापन्न वस्तुएँ (Substitutes Goods)

स्थानापन्न वस्तुएं वह है, जो एक–दूसरे के बदले एक ही उद्देश्य के लिए प्रयोग की जाती है चाय–कॉफी। इस तरह की वस्तुओं जब एक वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है तब अन्य बातें समान रहने की दशा में (स्थानापन्न वस्तु की कीमत अपरिवर्तित रहने पर), स्थानापन्न वस्तु की मांग में वृद्धि हो जायेगी; जैसे–कॉफी की कीमत बढ़ने की दशा में चाय की मांग में वृद्धि होती है।

स–वस्तु की कीमत

ब–वस्तु की मांग

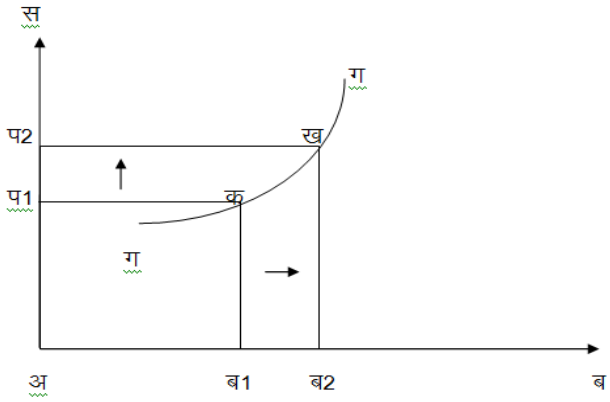

उपर्युक्त रेखाचित्र में ग ग वक्र स्थानापन्न वस्तु के मांग वक्र को प्रदर्शित करता है। वस्तु स की कीमत अ प1 होने पर स्थानापन्न वस्तु की मांग अ ब1 है। यदि स वस्तु की कीमत बढ़कर अ प2 हो जाती है तो अनेक उपभोक्ता स वस्तु का उपभोग त्याग कर स्थानापन्न वस्तु ब के उपभोग पर स्थानान्तरित हो जायेगें, जिससे ब वस्तु की मांग में वृद्धि हो जायेगी। (अ ब2> अ ब 1)।

1.12 पूरक वस्तुएँ (Complementery Goods):-

पूरक वस्तुएँ वह हैं जो किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए साथ प्रयोग की जाती है; जैसे–मोटरसाइकिल–पेट्रेल। यदि मोटरसाइकिल की कीमत में वृद्धि हो जाये तब मोटरसाइकिल की पूरक वस्तु पेट्रसेल की मांग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, जबकि पेट्रोल की कीमत में कोई परिवर्ततन नहीं होता है। इस प्रकार पूरक वस्तुओं की कीमत और खरीदी जाने वाली मात्रा में विपरीत संबंध पाया जाता है।

1.13 स्वतंत्र वस्तुएँ (Independent Goods):-

स्वतंत्र वस्तुएं वह है, जिनकी मांग और पूर्ति एक–दूसरे को प्रभावित नहीं करती और जिनका प्रयोग एक–दूसरे के बिना आसानी से और बिना किसी रूकावट के किया जा सकता है जैसे–पुस्तक और टेलीफोन आपस में स्वतन्त्र वस्तुएं हैं। स्वतन्त्र न तो स्थानापन्न वस्तुओं की श्रेणी में आती है और न ही पूरक वस्तुओं की श्रेणी में। यही कारण है कि स्वतन्त्र वस्तुओं के संबंध में मांग की आड़ी लोच (Cross Elasticity of Demand) शून्य होती है।

1.14 निजी व सामाजिक वस्तुओं में अन्तर (Difference Between Private and Social Goods):-

1. प्रकट अधिमान(Revealed Preference) :– साधारणतः प्रकट अधिमान बाजार की व्यवस्था अर्थात् नीलामी अर्थव्यवस्था पर निर्भर है। उपभोक्ता द्वारा वस्तु के लिए बोली लगायी जाती है और अधिक अधिमान वाले उपभोक्ता अधिक कीमत देने को तत्पर हो जाते हैं। उत्पादक भी उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनकी उपभोक्ता द्वारा मांग की जाती है। इसी उपभोक्ता की मांग के आधार पर बाजार तंत्र का निर्माण किया जाता है और बाजार व्यवस्था कार्य करती है।
2. वर्जन का सिद्धान्त (Exclusion Principle):- वर्जन सिद्धान्त के अन्तर्गत केवल वही व्यक्ति वस्तु का उपभोक्ता कर पाते हैं जो कि बाजार मूल्य का भुगतान करने को तत्पर रहते है; जैसे कि–यदि व्यक्ति 'अ' किसी वस्तु 'क' का उपभोग इस कारण करता हैं क्योंकि उसने उसकी कीमत दी है और दूसरा व्यक्ति 'ब' उस वस्तु के उपभोग से इस कारण वंचित रह जाता है कि उसने उसके लिए कीमत का भुगतान नहीं किया है। वर्जन के सिद्धान्त में यह आवश्यक है कि व्यक्ति को सम्पत्ति पर कानूनी अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के विश्लेषण के आधार पर बाजार में निजी वस्तुओं का निपुण प्रावधान किया जाता है। इन वस्तुओं का लाभ केवल उन्ही उपभोक्ताओं को मिलता है, जो इसके लिए मूल्य का भुगतान करते है। लाभ आन्तरिक होते हैं और उपभोग में प्रतियोगिता बनी रहती है। अधिकांशतः वस्तुओं की व्यवस्था बाजार तंत्र के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। लेकिन कुछ ऐसी वस्तुएँ होती है जिनका प्रावधान बाजार व्यवस्था द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है अर्थात वर्जन का सिद्धान्त उन पर लागू नहीं हो पाता और उपभोक्ता उन वस्तुओं के लिए अधिमान को प्रकट नहीं कर पाते है। इससे उपभोग में प्रतियोगिता भी नहीं पायी जाती है। इन वस्तुओं को सार्वजनिक वस्तुओं के वर्ग में रखा जाता है। इन सार्वजनिक वस्तुओं को सामाजिक एवं उत्कृष्ट दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

तालिका : वस्तुओं का विभाजन

उपभोग	वर्जन	
	सम्भव	सम्भव नहीं
(क) प्रतिद्वन्द्वी	1	2
(ख) प्रतिद्वन्द्वी नहीं	3	4

उपर्युक्त तालिका में प्रतियोगिता एवं वर्जन के आधार पर वस्तुओं को चार भागों में विभाजित किया गया है। स्थिति 1 में केवल निजी वस्तुएं आती है जहां पर उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता के साथ–साथ वर्जन भी लागू होता है। बाजारतंत्र द्वारा इन वस्तुओं की व्यवस्था कुशलता के आधार पर सम्भव की जाती है। शेष तीनों परिस्थितियों में बाजार तंत्र का उपयोग सही ढंग से सम्भव नहीं हो पाता है। स्थिति 2 में बाजार के टूटने का कारण वर्जन का सम्भव न होना, जबकि स्थिति 3 में प्रतिद्वन्द्विता की अनुपस्थिति के कारण होता है। स्थिति 4 में यह दोनों ही तत्व उपलब्ध है। स्थिति 3 व 4 में

सामाजिक वस्तुएं व स्थिति 2 में उत्कृष्ट वस्तुएं प्राप्त होती है। इस विभाजन पर मसग्रेव की यह मान्यता रही है कि सामाजिक वस्तुओं की आपूर्ति उपभोक्ता के अधिमान के आधार पर की जाती है।

कठिनाइयाँ/आलोचना :–

1. यह कि विशिष्ट वर्ग द्वारा उपभोक्ता पर कुछ सीमा तक अधिमान थोपा जा सकता है, क्योंकि यह वर्ग अधिक शिक्षित हो सकता है या इसका संबंध किसी विशेष दल के साथ सम्भव हो सकता है।
2. यह कि सरकारी बजट द्वारा निम्न लागत वाले मकान या बच्चों को दूध की आपूर्ति की जा सकती है, यद्यपि इनके उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता पाई जाती है तथा इन पर वर्जन के सिद्धान्त को भी लागू किया जा सकता है।
3. यह कि समाज द्वारा उपभोक्ता के स्वतंत्र अधिमान पर अपना अधिमान थोप दिया जाता है।

1.15 अविभाज्य वस्तुएँ (Non-Divisibille Goods):-

किसी वस्तु के अविभाज्य होने की प्रमुख विशेषता है कि उस पर समाज के हर उस सदस्य का भी बराबर का अधिकार बनता है जो उसके लिए अदायगी न करना चाहता हो अथवा न कर सकता हो। सामान्यतः कह सकते है कि समाज का प्रत्येक सदस्य इस वस्तु के उपभोग का समान अधिकारी होता है। इस वस्तु के उपभोग में किसी संभावित उपभोक्ता को लाभान्वित होने से रोकना संभव नहीं होता है। एक अविभाज्य वस्तु की दूसरी विशेषता यह है कि एक उपभोक्ता द्वारा उपभोग किए जाने पर अन्य उपभोक्ताओं के लिए इसकी उपलब्ध मात्रा में कमी नहीं आती ; जैसे– आक्रमण से देश की रक्षा, रेडियो एवं टी0वी0 प्रसारण, सड़क पर की गई रोशनी आदि। यह भी ध्यान रखना अनिवार्य नहीं है कि हर अविभाज्य वस्तुओं से सभी उपभोक्ता समान रूप से लाभान्वित हो ; जैसे कि– सभी व्यक्तिओं का समान अधिकार होते हुए भी किसी सार्वजनिक पार्क के पड़ोस में रहने वालों को उसकी शुद्ध वायु से अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसी प्रकार सामान्यतः देश की सीमा के पास तथा अन्य महत्वपूर्ण स्थानों के पास रहने वाले लोगों को विदेशी आक्रमण से होने वाली क्षति की संभावना अधिक होती है।

1.16 विभाज्य वस्तुयें (Divisibi'r Goods):-

विभाज्य वस्तुएं वह है जिनसे समाज के कुछ सदस्यों को लाभान्वित होने से रोका जा सकता है। सैद्धान्तिक रूप से इन वस्तुओं पर अपवर्जन नियम (Principle of exclusion) लागू होता है। बाजार–व्यवस्था में विभाज्य वस्तुएं मुफ्त न मिलकर कीमत पर मिलती हैं। इन्हें वही लोग खरीद सकते है, जिनमें कीमत चुकाने की क्षमता होती है, साथ ही इनको खरीदने के इच्छुक होते है। यदि सरकार या अन्य संस्थाओं इन वस्तुओं को निः शुल्क मुहैया करा रही हो तो किसी न किसी आधार पर उन उपभोक्ताओं की पहचान की जा सकती है, जिन्हें वंचित रखा गया है।

उपर्युक्त निजी एवं सार्वजनिक वस्तुओं के अन्तर से स्पष्ट होता है कि उन्हे धुव्रीय स्थिति (Polar Cases) कहा जा सकता है क्योंकि इस रूप में यह बताया जा सकता है कि निजी वस्तुओं के लाभ में पूर्ण प्रतिद्वन्द्वितता (Wholly rival) है जबकि सामाजिक वस्तुओं के लाभ में प्रतिद्वन्द्वितता का पूरा अभाव (Wholly Unrival) है। इस संबंध में कहा जाता है कि कोई सामाजिक वस्तु नहीं है और यदि है तो शायद केवल प्रतिरक्षा (Defence)। वास्तविकता यह है कि अधिकांश वस्तुओं से निजी लाभ के साथ–साथ विभिन्न डिग्री में वाहय लाभ भी मिलते है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इनमें निजी एवं सामाजिक दोनों प्रकार के वस्तुओं के गुण विद्यमान है। जैसे कि कोरोना वाइरस का टीका लगवाने से उस व्यक्ति को लाभ मिलता है जो टीका लगवाता है। यह व्यक्तिगत लाभ का उदाहरण है, जबकि टीका लगवाने के वाह्य लाभ भी हैं क्योंकि इससे छूत का भय कम हो जाता है। (टीका लगवाने से कोरोना नहीं होगा) इसलिए एक व्यक्ति से दूसरे के पास इस बीमारी के पहुंचने का भय नहीं रह जाता है। ऐसी वस्तुओं को मिश्रित वस्तुये कहा जाता है। सामाजिक वस्तुओं का प्रावधान बजट द्वारा होता है। किन्तु मिश्रित वस्तुओं के लिए बजट की सम्पूर्ण प्रावधान की आवश्यकता नहीं । निजी खरीद को सब्सिडी अर्थात आर्थिक सहायता देने से काम चल सकता है।

1.17 मिश्रित लाभ वाली वस्तुएं (Mixed Benefit Goods) :-

यहां पर ऐसी वस्तु की बात की जा रही है जिससे दो तरह के लाभप्राप्त हो रहे हैं। एक वह लाभ है, जो शुद्ध रूप से निजी है क्योकि इसका संबंध सिर्फ उपभोक्ता के स्वंय के उपभोग से है। इसका लाभ वह है जो पूर्णतः सामाजिक है और जो सभी उपभोक्तओं को समान रूप से मिल रहा है। उदाहरण के तौर पर शिक्षा को लेते है। कोई व्यक्ति अपनी शिक्षा से अधिक आय के उपार्जन के

रूप में लाभ प्राप्त करता है, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षित होने से समाज के सांस्कृतिक वातावरण में सुधार के कारण सभी को लाभ पहुंचता है। इससे स्पष्ट है कि लोगों को शिक्षित करने के लिए आर्थिक सहायता देना चाहिए तथा सुलभ शिक्षा होनी चाहिए। इस संबंध में सैम्युएलसन ने केवल दो ध्रुवीय स्थिति (शुद्ध निजी वस्तु तथा शुद्ध सामाजिक वस्तु) की विवेचना की है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में केवल शुद्ध निजी वस्तु की बात कही जाती है, जहां बाहयताएं अनुपस्थित रहती है। इसके विपरीत शुद्ध एकाधिकार वह स्थिति है जहां केवल सामाजिक वस्तु की बात उठती है क्योकि यहाँ केवल बाहयताएं ही रहती है, निजी पहलू अनुपस्थित रहता है। सैम्युएलसन इन दोनों वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं अर्थात मिश्रित वस्तुओं को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार बाजार यन्त्र के द्वारा शुद्ध निजी वस्तुओं की स्थिति में इष्टतम (Optimal) परिणाम निकलते है। शुद्ध सामाजिक वस्तुओं की स्थिति में स्वैच्छिक बाजार भुगतान पर कुछ भी छोड़ा नहीं जा सकता। इस संबंध में मसग्रेव का कहना है कि ''इन दो धुव्रीय स्थितियों के मध्य कई प्रकार की अपूर्णताएं हो सकती है, जिनके लिए विभिन्न अंशों में आर्थिक सहायता दी जा सकती है जबकि शुद्ध सामाजिक वस्तु को 100 प्रतिशत सब्सिडी की जरूरत है।

1.18 मिश्रित वस्तुओं और हाइमैन (Hyman : Mixed Goods):-

मिश्रित वस्तुओं को हाइमैन के द्वारा चार भोगों में विभक्त किया गया है,

1. शुद्ध निजी वस्तुएं (Pure Private Goods)
2. निजी वस्तुएं जो बाहृयताओं का सृजन करती है (Private Goods with externalities)
3. आंशिक सार्वजनिक वस्तुएं (Partially Public Goods, mixed cases)
4. शुद्ध सार्वजनिक वस्तुएं (Pure Public Goods)

1.19 सारांश (Summary) :-

मिश्रित वस्तुओं ऐसी वस्तु होती है कि निजी लाभ के साथ बाह्य लाभ भी प्राप्त होता है। साथ ही इनमें निजी एवं सामाजिक वस्तुओं के गुण विद्यमान होते हैं। इससे एक व्यक्ति के लाभ के साथ पूरे समाज को भी लाभ मिलता है। इस प्रकार की वस्तुओं को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया जाता है। इन वस्तुओं के उपयोग से दो तरह के लाभ प्राप्त होते है। एक उपभोक्ता के स्वंय उपयोग करने से दूसरा लाभ पूर्णतः सामाजिक रूप में सभी उपभोक्ताओं को समान रूप से मिलता है जैसे व्यक्ति के शिक्षित होने से समाज के सांस्कृतिक वातावरण में सुधार के कारण सभी लोगों को लाभ पहुंचता है।

जनहितकारी वस्तुओ की उपलब्धता में पर्याप्त बढ़ोतरी हेतु सरकार उनकी उत्पादन लागत का एक भाग वहन करने का उत्तरदायित्व उठाए एवं निजी स्त्रोतों से होने वाली आपूर्ति के अतिरिक्त स्वयं भी उनके उत्पादन तथा उपलब्धि में सक्रिय भाग ले। सरकार आवश्यक मात्राओं को मुहैया करने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ले। वस्तुओं की अविभाज्यता के कारण सार्वजनिक वस्तुओं का वित्त–पोषण बाजार–व्यवस्था द्वारा संचालित निजी क्षेत्र के अन्तर्गत सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है। निजी क्षेत्र के उत्पादकों को मुफ्तखोरों (Free riders) की समस्या का सामना करना पड़ता है। वे कीमत न चुकाने वाले उपभोक्ताओं को अपनी उत्पादित वस्तुओं से वंचित नहीं रख सकते है। अविभाज्य वस्तुओं का उत्पादन और वितरण निजी क्षेत्र के स्थान पर सरकारी क्षेत्र में होने चाहिए ताकि उनका वित्त–पोषण राज्य कोष से किया जा सके। निजी वस्तुओं के विभाज्य होने के कारण उनका उत्पादन तथा वितरण निजी क्षेत्र द्वारा ही उत्तम रहता है। इस निर्णय में कुछ अपवाद भी हो सकते है। वस्तुओं की उचित कीमत निर्धारण करने में कई प्रकार की नैतिक और अन्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है। लोक वस्तुओं को निजी क्षेत्र में रखने पर उत्पादनकर्ताओं द्वारा उपभोक्ताओं के शोषण के अवसर बढ़ जाते हैं। अतः ऐसी वस्तुओं का उत्पादन और उनका उपभोक्ताओं में विवरण सरकारी क्षेत्र में होना चाहिए। निजी क्षेत्र में रखे जाने पर उनके समुचित नियमन की प्रशासनिक व्यवस्था होनी चाहिए। वस्तुओं का वर्गीकरण उनकी विशेषताओं की प्रधानता के आधार पर ही किया जाता है। जिस वस्तु में शुद्ध लोक वस्तुओं की विशेषताओं की प्रधानता हो, उसे लोकवस्तु मान लिया जाता है एवं निजी वस्तुाओं की विशेषताओं की प्रधानता वाली वस्तुएं निजी वस्तुओं के तौर पर वर्गीकृत कर ली जाती है। विभिन्न गैर–आर्थिक आधार पर अपनाए गए अपवादों के साथ लोक विशेषता प्रधान वस्तुओं को सरकारी क्षेत्र और निजी विशेषता प्रधान वस्तु को निजी

क्षेत्र में रखना चाहिए। एडम स्मिथ ने इस आधार पर सरकार द्वारा अपना अस्तित्व बनाए रखने के अतिरिक्त, विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा–व्यवस्था, आंतरिक शांति एवं कानून बनाए रखना न्याय की व्यवस्था तथा अवसंरचनात्मक सुविधाओं को सरकारी कार्यक्षेत्र में रखने की सिफारिश की। समय के साथ–साथ सरकारी क्षेत्र की सीमाओं के निर्धारण संबंधी आर्थिक और राजनीतिक विचारधाराओं में परिवर्तन हो रहा है। वर्तमान में सर्वस्वीकृत चिन्तन यह है कि हर आधुनिक सरकार को अपनी क्षमतानुसार वे नीतियां अपनानी चाहिए जिनका ध्येय समाज को सर्वाधिक सम्भव कल्याण हो। इस कारण सरकार का कर्तव्य है कि वह अर्थव्यवस्था में आय, रोजगार, विकास, मुद्रास्फीति, क्षेत्रीय आर्थिक असमानताओं आदि की समस्याओं का समुचित समाधान करने का प्रयत्न करे।

1.20 शब्दावली (Keywords) :-

1. उत्कृष्ट वस्तुयें (Merit Goods)
2. सार्वजनिक/लोक वस्तुएं (Public /Social Goods)
3. अविभाज्यतां (Non-Divisibility)
4. निजी वस्तुएं (Private Goods)
5. नाशवान वस्तुएं (Perishable Commodit's)
6. टिकाऊ वस्तु (Durable Goods)
7. उत्पादक वस्तुएं (Productive Goods)
8. स्थापन्न वस्तुएं (Subtitutes Goods)
9. पूरक वस्तुएं (Complementry Goods)
10. स्वतंत्र वस्तुएं (Independent Goods)
11. अविभाज्य वस्तुएं (Non-Divisible Goods)
12. विभाज्य वस्तुएं (Divisible Goods)

1.21 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books):-

1. R.A Musgrane : The Theory of Public Finance
2. R.A Musgraue : Fiscal Systems
3. David N. Hyman : Public Finance : A Contemporary Application of Theory to Policy
4. R. W Houghton : Public Finance
5. Musgraue : Public Finance in a Democratic Society Vol- 1

6. लोकवित्त, एच0 एल0 भाटिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा लि0 नोयडा, उ0प्र0 वर्ष–2019
7. राजस्व, डॉ0 जे0 सी0 वार्ष्णेय एवं डॉ0 प्रेममोहन श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0 आगरा , वर्ष 2002–03
8. लोक अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण अग्रवल आगरा वर्ष – 2011
9. अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त एवं डॉ0 एस0सी0 जैन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा वर्ष – 2002
10. भारतीय अर्थव्यवस्था, रमेश सिंह, मैक ग्रा हिल (प्रा0) लि0 चेन्नई वर्ष 2021

1.22 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions):-

1. निजी वस्तुओं और सार्वजनिक वस्तुओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. मिश्रित वस्तुओं की विवेचना कीजिए।
3. मिश्रित लाभ वाली वस्तुओं को समझाइए।
4. मिश्रित वस्तुओं को हाईमैन ने कितने भागों में बांटा है?
5. सामाजिक वस्तुओं की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
6. निजी तथा सामाजिक वस्तुओं में अन्तर की विवेचना कीजिए।
7. सामाजिक वस्तुओं व निजी वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
8. निजी वस्तु से आप क्या समझते है?
9. सार्वजनिक वस्तु से आप क्या समझते है?

10.उत्कृष्ट वस्तुओं को समझाइऐ?
11.अविभाज्य वस्तु क्या होती हैं?
12.विभाज्य वस्तु क्या होती है?
13.उपभोक्ता वस्तुएं क्या हैं?
14.उत्पादक वस्तुएं क्या हैं?
15.स्थानापन्न वस्तुओं की अवधारणा को समझाइए।
16.पूरक वस्तु क्या है?
17.स्वतंत्र वस्तु से आप क्या समझते है?

1.23 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objectives Questions Answer):–

1. वह वस्तुयें जो आवश्यकता को संतुष्ट करती है–
क. भूख लगने पर भोजन ख. अध्यापक का ज्ञान
ग. दोनों क व ख घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)

2. वह वस्तुयें जो आवश्यकता को संतुष्टि नही करती है–
क. कूलर ख. ए0एसी0
ग. समाचार पत्र घ. अध्यापक का नाम
(उत्तर घ)

3. निजी वस्तुओं का सम्बन्ध है–
क. निजी लागत ख. निजी लाभ
ग. उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

4. सार्वजनिक सामाजिक वस्तुओं का सम्बन्ध है–
क. वाह्य लागत ख. उपभोग में प्रतिद्वन्द्विता की अनुपस्थिति
ग. दोनों क व ख घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

5. मिश्रित वस्तुऐं होती है–
क. निजी एवं सामाजिक दोनों प्रकार के वस्तुओं के गुण
ख. निजी प्रकार का गुण
ग. सामाजिक प्रकार का गुण
घ. न निजी एवं सामाजिक गुण
(उत्तर क)

6. कोरोंना वाइरस का टीका किस वस्तु का उदाहरण है–
क. निजी वस्तु ख. सामाजिक वस्तु
ग. मिश्रित वस्तु घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

7. चेचक का टीका किस वस्तु का उदाहरण है–
क. मिश्रित वस्तु ख. स्थानापन्न वस्तु
ग. पूरक वस्तु घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)

8. शिक्षा किस वस्तु का उदाहरण है–
क. निजी वस्तु ख. मिश्रित वस्तु
ग. स्थानापन्न वस्तु घ. इनमे से कोई नहीं
(उत्तर ख)

9. निजी वस्तुएं होती हैः
क. विभाज्य ख. अधूरी ग. कल्पित घ. वास्तविक
(उत्तर –क)

10.सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग होता हैः
क. सीमित ख. सामूहिक ग. निजी घ. अवास्तविक
(उत्तर– ख)

11. सार्वजनिक वस्तु का उत्पादन किया जाता हैः
क. निजी द्वारा ख. संस्था द्वारा ग. विदेश द्वारा घ. सरकार द्वारा
(उत्तर–घ)

12. उत्कृष्ट वस्तुएं होती हैः
क. निजी ख. मौलिक ग. सार्वजनिक घ. सार्वभौमिक
(उत्तर–ग)

13. सार्वजनिक वस्तुओं की व्यवस्था की जाती हैः
क. समाज हेतु ख. निजी हेतु ग. सरकार हेतु घ. विदेश हेतु
(उत्तर–क)

14. निजी वस्तुओं का उपभोग होता हैः
क. सामूहिक ख. व्यक्तिगत ग. क व ख दोनों घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर–ख)

15. सामाजिक वस्तुओं का उपभोग होता है–
क. सामूहिक ख. व्यक्तिगत ग. क व ख दोनों घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर–क)

16. अविभाज्य वस्तुएं होती है–
क. आक्रमण से देश की रक्षा ख. रेडियो व टी0वी0 प्रसारण ग. सड़क पर की गई रोशनी
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर–घ)

17. विभाज्य वस्तुएं होती है–
क. मुफ्त न मिलकर कीमत पर मिलती है
ख. समाज के कुछ सदस्यों को लाभान्वित होने से रोका जाता है।
ग. इन वस्तुओं पर अपवर्जन का सिद्धान्त लागू होता है।
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर–घ).

इकाई – 03

अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage)

इकाई की रूपरेखा

1.13 परिचय
1.14 उद्देश्य
1.15 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त
1.16 प्रो0 मसग्रेव के विचार
1.17 श्रीमती उर्सला हिक्स के विचार
1.18 अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की आलोचनाएं अथवा व्यवहारिक कठिनाइयां
1.19 सारांश
1.20 शब्दावली
1.21 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.22 अभ्यास प्रश्न
1.23 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :– वर्तमान समय में लोकवित्त का प्रमुख उद्देश्य 'अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना है। एक प्रसिद्ध कहावत भी है कि ''धन से ही गाड़ी चलती है'' (Money makes the mare go)। आधुनिक समय में कल्याणवादी एवं समाजवादी सिद्धान्तों के प्रसार के फलस्वरूप राज्य की क्रियाओं में वृद्धि हुई है। इसके साथ–साथ लोक–वित्त का महत्व भी निरन्तर बढ़ता गया है। आर्थिक विकास, रोजगार तथा वितरण तथा वितरण से संबंधित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार को अनिवार्य रूप से लोक–वित्त के सिद्धान्तों का प्रयोग करना पड़ता है। सरकार को कोई भी उपक्रम, कोई भी योजना और कैसा भी आयोजन–नियोजन तब तक प्रारम्भ और पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि वह सरकार आवश्यक अर्थ–कोष की व्यवस्था न कर ले और फिर उचित वित्त–व्यवस्था करके उसका समुचित रीति से व्यय न करे। प्रत्येक देश की सरकार अपनी वित्तीय नीति के द्वारा देश की आवश्यकता के अनुसार औद्योगिक संरचना का निर्माण करती है तथा पूर्ण रोजगार के स्तर तक पहुँचने का प्रयास करती है। धन के समान वितरण की व्यवस्था करना उतना ही आवश्यक है जितना धन के उत्पादन में वृद्धि करना। लोकवित्त के द्वारा आधुनिक सरकारें सामाजिक विषमता को कम करने तथा राष्ट्रीय धन का सन्तुलित वितरण करने का कार्य करती हैं। वर्तमान में लोक–वित्त को केवल राज्य की आय में वृद्धि का साधन–मात्रा ही नहीं माना जाता, वरन आज यह सामाजिक न्याय का एक शक्तिशाली अस्त्र बन गया है। लोकवित्त सरकार द्वारा लोक–कल्याण की एक कुंजी है, राष्ट्र के न्यायोचित विकास का मार्ग है और सरकार द्वारा उसके कर्तव्यों एवं दायित्वों को पूरा करने का एक सुगम साधन है। एक विकासशील देश में लोकवित्त का उद्देश्य और भी अधिक है क्योंकि उसे पूँजी–निर्माण, रोजगार, आय तथा उत्पादन में वृद्धि और नियोजित अर्थतन्त्र के संचालन के उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :-

1. आर्थिक कल्याण में वृद्धि
2. सुरक्षा एवं शान्ति
3. अधिकतम सामाजिक कल्याण का सिद्धान्त को जान सकेंगे।

1.2 अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage):-

लोकवित्त का उद्देश्य है कि समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। डाल्टन के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को 'अधिकतम सामाजिक सिद्धान्त कहा गया है। जबकि पीगू इस सिद्धान्त को 'अधिकतम कुल कल्याण का सिद्धान्त' कहते हैं। वर्तमान में दुनिया में ऐसा कोई देश नहीं है जिसका उद्देश्य समाज को अधिकतम सुख–सुविधाएँ पहुँचाने का न हों। ऐसी स्थिति में एक ऐसे सिद्धान्त की खोज करना आवश्यक होता है, जो कि लोकवित्त के दोनों क्षेत्रों पर लागू हो। यह नियम उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। धन की वृद्धि के साथ उसकी उपयोगिता घटती जाती है तथा धन की मात्रा कम होने पर उपयोगिता बढ़ती जाती है। डाल्टन के अनुसार–'' यह नियम राजस्व के मूल मे विद्यमान रहता है तथा राजस्व की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जिसमें राजकीय आय–व्यय संबंधी कार्यों के फलस्वरूप अधिकतम लाभ होता है।''[5]लोक वित्त की सभी क्रियाओं से क्रय–शक्ति का हस्तान्तरण है जिसके परिणामस्वरूप अधिक साधनों के उपयोग में भी परिवर्तन होता है। सरकार कर तथा अन्य रूप में प्रत्येक व्यक्ति से क्रय शक्ति लेती है और उसे पुनः लोक–व्यय के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को हस्तान्तरित कर देती है। राज्य जब प्रत्येक व्यक्तियों से कर लेता है तो उनको कुछ त्याग करना पड़ता है। इसके विपरीत, लोक–व्यय से प्रत्येक व्यक्ति को लाभ अथवा सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार सीमान्त सामाजिक त्याग की मात्रा सीमान्त सामाजिक सन्तुष्टि की मात्रा के बराबर होने पर अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

अतः राज्य को सार्वजनिक व्यय उसी सीमा तक बढ़ाने चाहिए जहाँ पर व्ययों से मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता करारोपण के सीमान्त त्याग के बराबर न हो जाए। अधिकतम सामाजिक लाभ को निम्नवत तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिक

कर व व्यय की इकाई	'कर' से होने वाला सामाजिक त्याग	'सार्वजनिक व्यय' से होने वाली सामाजिक उपयोगिता
1	10	55
2	15	45
3	20	35
4	**25**	**25**
5	30	15
6	35	5

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि जैसे–जैसे हर व्यक्ति पर कर–भार बढ़ता है वैसे–वैसे सामाजिक त्याग में वृद्धि होती हैं। उपयोगिता ह्रास नियम की प्रवृत्ति के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। तालिका के अनुसार अधिकतम सामाजिक लाभ चौथी इकाई पर है। साधारतणतः चौथी इकाई के बाद सरकार को 'कर' नहीं लगाना चाहिए। अगर सरकार इससे आगे 'कर' लगाये जायेगे तो सामाजिक त्याग 25 बढ़कर 30 तक पहुँच जायेगा और सामाजिक लाभ 25 से घटकर 15 हो जायेगा। इस चौथी इकाई पर लाभ और त्याग आपस में बराबर है। यह सूच्य है कि करारोपण की पहली, दूसरी, तीसरी इकाई के त्याग से व्यय की गई राशि से मिलने वाला लाभ अधिक है। इस प्रकार करारोपण उस बिन्दु तक किया जाए जहाँ पर त्याग और लाभ दोनों बराबर है। अतः इस बिन्दु तक कर लगाना सामाजिक हितों के अनुकूल होगा। इस सिद्धान्त की रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

उपयोगिता और अनुपयोगिता

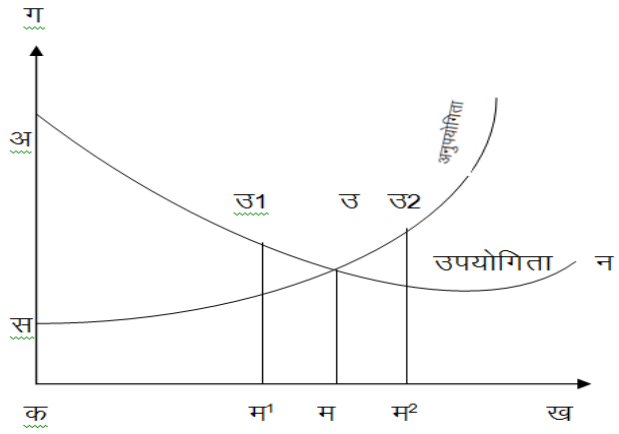

कर एवं व्यय अ, ब रेखा लोक व्यय की सीमान्त उपयोगिता को प्रकट करती है। तथा स, द रेखा करों की सीमान्त अनुपयोगिता को प्रकट करती है। इन रेखाओं की प्रवृत्ति से स्पष्ट होता है कि जैसे–जैसे लोक व्यय बढ़ता जाता है, उससे प्राप्त सामाजिक लाभ अथवा उपयोगिता घटती चली जाती है और करों की मात्रा बढ़ने के साथ–साथ उनसे हुई अनुपयोगिता बढ़ती चली जाती है। ये दोनों रेखाएँ उ बिन्दु पर मिलती है। इसी बिन्दु पर सामाजिक लाभ अधिकतम होगा। कर तथा व्यय इससे कम अथवा अधिक होने पर अनुपयोगिता अधिक तथा उपयोगिता कम होगी। अतः कर व व्यय की मात्राएँ उ, म के बराबर रखना ही अधिक उपयुक्त होगा। अधिकतम सामाजिक लाभ की प्राप्ति हेतु समसीमान्त उपयोगिता नियम का पालन करना आवश्यक है। राज्य द्वारा इस प्रकार व्यय किया जाना चाहिए जिससे प्रत्येक मद पर किये गये व्यय की अन्तिम इकाई से समान उपयोगिता मिले। विशेषकर सरकारों को यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी करों के लिए अलग–अलग सीमान्त त्याग समान हो। अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त इस बात को भी स्पष्ट करता है कि सरकार को किस सीमा तक आय व व्यय का संचालन करना चाहिए। सार्वजनिक व्यय की मदों को इस प्रकार विभाजित करना चाहिए कि मद पर व्यय की जा रही राशि, उससे मिलने वाला सामाजिक लाभ बराबर हो। आचरण समसीमान्त उपयोगिता नियमानुसार हो। तभी प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम लाभ मिलेगा। उदाहरण के तौर पर, यदि कोई राष्ट्र विकसित हो या विकासशील इनकी अपनी–अपनी समस्याएँ होती हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक समस्या से उसे समान उपयोगिता नही मिल सकती है। हो सकता है कि किसी देश में समस्याएँ युद्ध, शिक्षा, स्वास्थ्य की है। अब यदि सरकार युद्ध पर अधिक व्यय कर दे और शिक्षा, स्वास्थ्य पर कम व्यय करे, तो इससे समाज का अधिकतम कल्याण नहीं होगा। अतः सरकार तभी अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकती है जब वह सभी समस्याओं पर बराबर व्यय करें। इसके अतिरिक्त अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त यह भी व्याख्या करता है कि आय के विभिन्न स्त्रोतों में करों का निर्धारण किस प्रकार किया जाए कि सामाजिक त्याग न्यूनतम हो। किसी मद में करों के लगने सीमान्त त्याग दूसरे मद की अपेक्षा अधिक होता है, तो सरकार का यह दायित्व है कि वह पहली मद में कर–भार कम कर दूसरी मद में समायोजित कर दे। इस प्रकार से सामाजिक त्याग में अवश्य कमी आयेगी। सरकार यह भी कर सकती है कि धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धनों पर कर–भार कम कर देने से सामाजिक त्याग में बहुत कमी आयेगी।

डाल्टन का मत है कि ''एक समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि करने की दो शर्तें हैं– पहली उत्पादन में वृद्धि ; दूसरी, जो उत्पादित हुआ है, उसके वितरण में विकास करना।''[6]

उत्पत्ति में वृद्धि लाने के लिए जरूरी है कि–

1. उत्पादन शक्ति में वृद्धि लानी होगी, जिससे न्यूनतम प्रयासों के फलस्वरूप प्रति श्रमिक अधिक उत्पादन सम्भव हो सके;
2. उत्पादन संगठन में विकास करना, जिससे बेरोजगारी व अन्य कारणों आदि से आर्थिक साधनों क्षय को न्यूनतम किया जा सकें;
3. उत्पादन के ढाँचे या निर्माण में वृद्धि करना जिससे समाज की आवश्यकताओं को उत्तम ढंग से पूर्ण किया जा सके।

डाल्टन का मत है कि '' वितरण के विकास के संबंध में डाल्टन का विचार है कि–

1. सभ्य समाज में व्यक्तियों एवं परिवारों की आय के उच्चावचनों को कम करना होगा;
2. समाज के निर्धन वर्ग के व्यक्तियों विभिन्न समयावधि में आय के उच्चावचनों को कम करना होगा।

''वर्तमान में एक सुसंगठित समाज में सामन्यतया पूर्ण रोजगार को ही प्रथम आर्थिक उद्देश्य माना गया है।''[7] इससे उत्पादन में वृद्धि होती है। भविष्य पर समुचित ध्यान देना लोक–वित्त की क्रियाओं के लिए आवश्यक है। सरकारों को वर्तमान में कम लाभ की अपेक्षा भविष्य में अधिक लाभ को प्राथमिकता देने की महती आवश्यकता है। इस संबंध में श्रीमती उर्सला हिक्स का विचार है कि–'' लोक वित्त की नीति तथा कार्य दो बातों के आधार पर निश्चित किये जाने चाहिए– पहला, उत्पादन स्तर; तथा दूसरा, उपयोगिता – स्तर। इस प्रकार, लोक–वित्त का उद्देश्य न केवल उत्पादन को अधिकतम करना अपितु अधिकतम उपयोगिता अथवा सन्तुष्टि के आदर्श को प्राप्त करना भी होना चाहिए।''[8]

1.3 प्रो0 मसग्रेव के विचार (Views of Musgarave):-

डाल्टन ने बताया कि सरकारी आय व व्यय से सामूहिक परिणामस्वरूप समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार का अर्थव्यवस्था का प्रबन्धन ऐसा होना चाहिए, जिससे समाज को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। इस संबंध में पीगू का मत है कि–'' जहाँ तक राजनीतिक सिद्धान्त का संबंध है, अधिकतम समग्र कल्याण प्रत्येक स्थान पर हो, यही राज्य का सही उद्देश्य होना चाहिए।''[9] मसग्रेव के द्वारा डाल्टन एव पीगू के विचारों पर विचार प्रकट किये हैं। प्रो0 मसग्रेव का मत था कि ऐसी तकनीक का विकास किया जाए, जिससे व्यक्ति सामाजिक वस्तुओं के प्रति अपने अधिमान को प्रकट कर सकें। मसग्रेव के अनुसार –

1. साधनों को विभिन्न जन–उपयोग मे वितरित किया जाना चाहिए।
2. राजकीय व्यय को केवल उसी बिन्दु तक किया जाना चाहिए, जिस पर कि अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाला सीमान्त सामाजिक लाभ उस सीमान्त सामाजिक त्याग के बराबर हो जो कर के रूप में द्रव्य की अन्तिम इकाई देने में किया जाता है। मसग्रेव के विचार को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

सीमान्त उपयोगिता

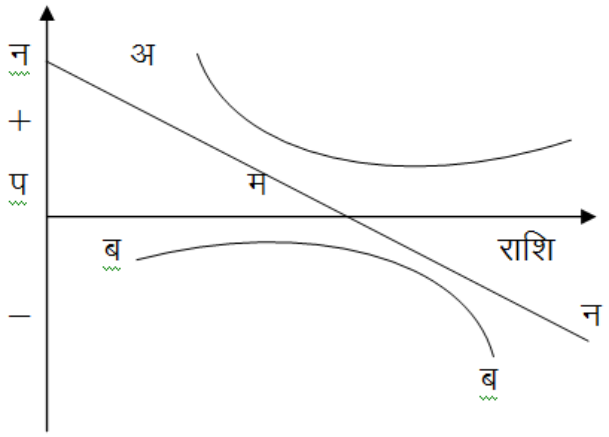

रेखाचित्र में सार्वजनिक व्यय अ, अ रेखा द्वारा दिखाया गया है। तथा करों के रूप में त्याग को ब,ब रेखा के द्वारा दिखाया गया है। इन दोनों ही स्थितियों में उपयोगिता क्रमशः कम होने से गिरती हुई रेखा बनायी गई है। न, न रेखा ब, ब में से अ, अ को घटाने से प्राप्त होती है जो शुद्ध बचत को दर्शाती है। बजट का अनुकूलतम आकार प, म पर निर्धारित होता है। जहाँ पर सीमान्त शुद्ध लाभ शून्य हो जाता है। करों के रूप में न्यूनतम त्याग का विचार सार्वजनिक व्यय के रूप में अधिकतम लाभ के विचार से मेल खाता है, और यह दोनों विचार बजट नियोजन के सामान्य सिद्धान्त में सम्मिलित हो

जाते है। व्यवहार में त्याग व उपयोगिता को मापने में कठिनाइयाँ आती है लेकिन उसे व्यक्तिगत अध्ययन के आधार पर दूर किया जा सकता है।

1.4 श्रीमती उर्सला हिक्स (Views of Mrs Ursila Hicks):-

श्रीमती हिक्स के अनुसार – राजस्व से संबंधित किसी नीति का निर्माण करते समय दो बातों को आधार बनना चाहिए– एक, उत्पादन स्तर व दूसरा, उपयोगिता स्तर।

1. उत्पादन स्तर :– श्रीमती हिक्स का कहना है कि प्रत्येक आर्थिक नीतियों का अन्तिम उद्देश्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करना है, जिसमें आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने के साधनों का अधिकतम उत्पादन किया जाए। इसी स्तर को 'उत्पादन स्तर' माना जाता है और यह उस समय प्राप्त किया जा सकता है जब उत्पादन के साधनों का विभाजन उपयुक्त ढंग से हो। यह भी सूच्य है कि अगर उत्पादन अधिक नहीं है तो वितरण व्यवस्था कितनी भी अच्छी क्यों न हो, लेकिन अधिकतम सामाजिक कल्याण में वृद्धि होना सम्भव नहीं है। श्रीमती हिक्स के शब्दों में–'' उत्पादन को अधिकतम करने की शर्त यह है कि उत्पन्न वस्तुओं के स्थिर रहने की दशा में, साधनों के वितरण में परिवर्तन करके दूसरी वस्तुओं का उत्पादन कम किये बिना एक वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करना असम्भव हो''[10] इससे स्पष्ट होता है कि उत्पादन को बढ़ाये बिना वितरण कितना भी न्यायोचित हो, पर समाज में अधिकतम सामाजिक कल्याण में वृद्धि होना सम्भव नहीं है।

2. उपयोगिता स्तर :– श्रीमती हिक्स के अनुसार –'' उपयोगिता उस समय अधिकतम होगी, जबकि एक व्यक्ति की संतुष्टि को दूसरे व्यक्ति की सन्तुष्टि को कम किये बिना ही बढ़ाना सम्भव हो, जबकि क्षतिपूर्ति हेतु पूर्ण व्यवस्था की जा चुकी हो।''[11] इससे स्पष्ट होता है कि वस्तुओं का वितरण ऐसा होना चाहिए कि एक व्यक्ति की सन्तुष्टि को प्रभावित किये बिना अन्य व्यक्तियों की अधिकतम सन्तुष्टि में वृद्धि हो , तो अधिकतम सामाजिक कल्याण को सम्भव बनाया जा सकता है। इस संबंध में श्रीमती हिक्स कहती है कि–''उत्पादन को अधिकतम करना 'उत्पादन अनुकूलतम' साधनों के आबंटन से संबंधित है, उत्पादन को अधिकतम करने की शर्तें यह हैं कि उत्पादन की दी हुई व्यवस्था के अन्तर्गत यह असम्भव रहेगा कि घटकों का पुनः आबंटन करके एक वस्तु के उत्पादन को दूसरी वस्तु को घटाये बिना बढ़ाया जाए।''[12] श्रीमती हिक्स के विचार में व्यावहारिकता छोड़कर सैद्धान्तिक दृष्टिकोण पर ही बल दिया गया है। इस विचार को व्यवहार मे लागू करने पर पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता होती है।

1.5 अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की आलोचनाएँ अथवा व्यावहारिक कठिनाइयाँ (Practical Difficulties or Criticism of Principle of Maximum Social Advantage):-

डाल्टन के अनुसार–''यह सिद्धान्त सरल है, स्पष्ट एवं शोधपूर्ण है परन्तु इसका व्यावहारिक दृष्टिकोण बहुत कठिन है।''[13] सिद्धान्त की कठिनाइयाँ निम्नवत है–

1. करों के द्वारा सीमान्त त्याग तथा सार्वजनिक व्यय द्वारा उत्पन्न सीमान्त उपयोगिता की माप करना तथा इनमें सन्तुलन बिन्दु प्राप्त करना व्यावहारिक रूप से अत्यधिक कठिन है। एक राष्ट्र के लोगों को प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता और सीमान्य अनुपयोगिता का आंकलन करना तथा इन दोनों में सन्तुलन स्थापित करना राज्य के लिए एक बहुत जटिल समस्या है। कर–वसूली तथा सार्वजनिक व्यय का कार्य सरकारों के द्वारा विभिन्न स्थानों एवं विभागों में किया जाता है। अतः राज्य के लिए यह असम्भव कार्य है कि वह अनुपयोगिता तथा उपयोगिता का पूरा–पूरा ब्यौरा तैयार कर उनमें संतुलन स्थापित करें।
2. करों से उत्पन्न होने वाली अनुपयोगिता तथा लोक–व्यय द्वारा प्राप्त होने वाली उपयोगिता का अनुमान लगाना सम्भव हो जाए तो भी यह जानना अत्यन्त कठिन होगा कि प्रत्येक कर का पृथक–पृथक रूप में कितना–कितना भार पड़ा और प्रत्येक मद पर किये गये व्यय से कितनी संतुष्टि प्राप्त हो सकी है।
3. लोक व्यय , भविष्य आधारित होता है जबकि करों के कारण त्याग तत्काल करना पड़ता है। भविष्यकालीन लाभ एवं वर्तमान त्याग के आधार पर अधिकतम सामाजिक लाभ का आंकलन करना अव्यवहारिक है। भविष्य की उपयोगिता का सही अनुमान लगाना असम्भव व कठिन है, साथ ही राज्य की क्रियाएँ आर्थिक एवं गैर–आर्थिक दोनों उद्देश्यों से प्रभावित होती है।
4. यह कि करों से उत्पन्न त्याग कभी–कभी समाज के लाभकारी भी होते हैं। नशीली वस्तुओं के प्रयोग पर कर लगाने से उनके उपयोग में कमी आती है और समाज को हानि की जगह लाभ होता है।

5. यह भी सूच्य है कि कर तथा सार्वजनिक व्यय का प्रभाव समाज के विभिन्न वर्गो पर अलग–अलग पड़ता है। यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि किस वर्ग पर कितना लाभ–हानि हुई होगी।

1.7 सारांश (Summary) :–

अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता कर–भार के त्याग के बराबर होना चाहिए। साथ ही विभिन्न साधनों पर लगाये गये कर भार से उत्पन्न सीमान्त त्याग बराबर होना चाहिए तथा विभिन्न उपयोगों पर सार्वजनिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता बराबर होना चाहिए। हम कह सकते हैं कि इस सिद्धान्त में दिये गये सुझाव उपयोगी होने के बावजूद सरलता से नहीं अपनाये जा सकते हैं। सैद्धांतिक और मात्रीकरण दोनों स्तरों पर त्रुटियाँ विद्यमान है। फिर भी सरकार की अपनी बजटीय नीतियों का मूल उद्देश्य समाज के कल्याण में विशुद्ध लाभ बढ़ोतरी ही होना चाहिए और इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु व्यावहारिक स्तर पर कुछ कसौटियाँ की खोज हमेशा जारी रखी जाना चाहिए। सरकार को सर्वप्रथम विभिन्न बजटीय नीतियों और गतिविधियों के समाज और अर्थव्यवस्था पर होने वाले प्रभावों की जानकारी प्राप्त कर, अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन संभावनाओं पर भी विचार करना चाहिए। इस तरह से पूरी तथ्यात्मक जानकारी के बाद, बजटीय नीतियों को समाजपयोगी बनाया जा सकता है। बजटीय प्रक्रिया में करों के चयन, कुल राजस्व का कर, कर भिन्न घटकों में वितरण आदि सभी प्रकार के प्रश्नों पर विस्तारपूर्वक विचार के पश्चात उसमें संशोधन किये जा सकते है। जिससे सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो सकें। बजट के विभिन्न कारकों का विश्लेषणात्मक अध्ययन की सहायता से बजटीय निर्धारण, कार्यान्वयन, मूल्यांकन में कई प्रकार के सुधारों द्वारा अधिकतम सामाजिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है। सार्वजनिक बजट का आकार अनेक आर्थिक और गैर–आर्थिक कारकों पर निर्भर करता है। बजट को अधिक कल्याणकारी बनाने हेतु सरकार की अपनी प्रशासनिक क्षमता, समाज का संस्थागत ढाँचा, बजटीय उद्देश्य एवं उनकी व्यावहारिकता आदि का योगदान होता है। व्यावहारिकता की दृष्टि से बजटीय राजस्व और व्यय की प्रत्येक मद के सभी आयामों पर अध्ययन कर यह तय किया जाना चाहिए कि बजट का आकार और औचित्य कितना होना चाहिए, जिससे समाज का अधिकतम कल्याण सुनिश्चित किया जा सके। वर्तमान समय में देश के आर्थिक ढाँचे में लोकवित्त का महत्व बढ़ गया है। राजकीय व्यवस्था की सर्वोत्तम प्रणाली वही है जो देश के उत्पादन में उन्नति करके उसके वितरण में भी सुधार करे। डाल्टन ने यूनानी में कहा–''सरल चीजें नहीं, वरन कठिन चींजे ही सुन्दर हुआ करती हैं।''उस संबंध में कॉलरिज ने कहा कि– ''सूरज नदियों, झीलो व समुद्रों आदि से पानी लेकर बगीचों, खेतों आदि काम के स्थानों पर वर्षा के रूप में डालता है, पर वह बगीचों, खेतों आदि नमी खींचकर समुद्रों, झीलों, नदियों आदि बेकार स्थानों पर भी डाल सकता है।''

1.8 शब्दावली (Key words) :–

विशुद्ध हित (Net Benefit), सिद्धान्त की कसौटियाँ (Tests of the Principle), आर्थिक कल्याण (Economic welfare), सामाजिक लाभ (Social Benefit), कार्यक्रम और निष्पादन बजट (Programme and performance budgeting), सीमान्त सामाजिक त्याग (Marginal Social Sacrifice), सीमान्त सामाजिक सन्तुष्टि (Marginal Social Satisfaction), अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage)

1.17 संदर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :–

1. Dalton, Principles of Public Finance, P-03
2. Financing Government, 5th edn. P.1
3. लोक अर्थशास्त्र, जे0सी0 पन्त, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, आगरा
4. मुद्रा, बैकिंग एवम लोक वित्त, डॉ0 टी0टी0सेठी, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा।
5. Dalton, Public Finance, PP-09-10
6. Dalton , op, cit.p.8
7. Dalton , op. cit. 8.9
8. मुद्रा बैकिंग एवं लोकवित्ता, डॉ0 टी0टी0 सेठी, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा।

9. लोक अर्थशास्त्र, जे0सी0पन्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
10. U.Hicks. Public Finance, P. 121.
11. राजस्व, वार्ष्णेय एवं श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्री ब्यूटर्स, आगरा।
12. U. Hicks Public Finance p-12
13. राजस्व, वार्ष्णेय एवं श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रब्यूटर्स, आगरा।

1.9 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

1. अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को समझाइये।
2. मसग्रेव के अधिकतम सामाजिक लाभ की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. श्रीमती उर्सला हिक्स के अधिकतम सामाजिक लाभ के विचार पर टिप्पणी कीजिए।
4. डाल्टन द्वारा प्रदत्त अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त को संक्षेप में बताइये।

1.10 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Question Answer) :-

1. अधिकतम सामाजिक कल्याण किस बिन्दु पर होता है?
क. सामाजिक त्याग और सामाजिक उपयोगिता के बराबर होने पर,
ख. सामाजिक उपयोगिता सामाजिक त्याग होने से अधिक होने पर,
ग. सामाजिक त्याग के सामाजिक उपयोगिता से अधिक होने पर,
घ. उपर्युक्त में कोई नहीं।
उत्तर – (क)

2. समाज को प्राप्त कुल उपयोगिता कुल त्याग से होती है।
क. समान ख. कम ग. अधिक घ. ऋणात्मक
उत्तर–(ग)

3. प्रत्येक कर की सीमान्त उपयोगिता विभिन्न स्तरों पर होनी चाहिए?
क. समान ख. असमान ग. अधिक घ. कम
उत्तर – (क)

4. उपयोगिता व त्याग को मापना हैः
क. असम्भव ख. सम्भव ग. सरल घ. अतुलकीय
उत्तर– (क)

5. अधिकतम सामाजिक लाभ का आधार हैः
क. आर्थिक कल्याण ख. उपभोग ग. विनिमय घ. पूँजी
उत्तर–(क)

6. श्रीमती हिक्स के विचार के मुख्य बातें हैः
क. शान्ति ख. सुरक्षा ग. पूँजी घ. उत्पादन व उपयोगिता
उत्तर– (घ)

7. श्रीमती हिक्त के अनुसार राजस्व की नीति को निर्मित करते समय किन दो बातों को आधार बनाना चाहिएः
क. उपभोग का स्तर, पूँजी का स्तर
ख. रोजगार का स्तर, आय का स्तर
ग. उत्पादन का स्तर, उपयोगिता का स्तर
घ. इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (ग)

8. लोक संस्थाओं से अभिप्राय हैः
क. केन्द्रीय सरकार ख. राज्य सरकारें ग. स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ घ. उपर्युक्त सभी
उत्तर (घ)

इकाई – 04

राजकोषीय नीति एवं मौद्रिक नीति का संबंध
Relation between Fiscal & Monetary Policy

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 मौद्रिक नीति
- 1.3 मुद्रास्फीति और आर्थिक वृद्धि के बीच संबंध
- 1.4 मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन
- 1.5 मौद्रिक नीति के उपकरण
- 1.6 मुद्राकी सीमांत लागत के आधार पर ऋण दर
- 1.7 एमसीएलआर सुधार
- 1.8 आधार दर
- 1.9 भारतीय रिर्जव बैंक
- 1.10 मुद्रा की आपूर्ति
- 1.11 भारत में मुद्रा आपूर्ति की गणना
- 1.12 आरक्षित मुद्रा की प्रासांगिकता
- 1.13 मुद्रा गुणक
- 1.14 राजकोषीय नीति
- 1.15 राजकोषीय नीति के उद्देश्य
- 1.16 विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य व भूमिका
- 1.17 आर्थिक स्थिरीकरण एवं राजकोषीय नीति के उपकरण
- 1.18 राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति में परस्पर संबंध
- 1.19 संक्षेप में राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति के बीच संबंध
- 1.20 सारांश
- 1.21 शब्दावली
- 1.22 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
- 1.23 अभ्यास प्रश्न
- 1.24 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय :–

मौद्रिक तथा राजकोषीय नीति के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से चर्चा करनी है कि दोनों पद्धतियों में कौन सी श्रेष्ठ है? क्या दोनों एक–दूसरे की प्रतिद्वन्दी है? क्या दोनों एक दूसरे की पूरक है? उपर्युक्त इकाई में इन्हीं प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा की गयी है– केंजवादी विचारकों के अनुसार राजकोषीय नीति मौद्रिक नीति से श्रेष्ठ है क्योंकि यह समग्र मांग को प्रभावित करती है। 1929 में जब मौद्रिक नीति अर्थव्यवस्था को मन्दी से उबारने में सफल नहीं रही, तब लोगों का विश्वास मौद्रिक नीति से उठ गया। इसी समय राजकोषीय नीति अर्थव्यवस्था के पुनरूत्थान में पूर्णतया सफल रही और अत्यन्त सरलता से मौद्रिक नीति को प्रतिस्थापित कर सकी।

यह कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व की अनेक अर्थव्यवस्थाओं में स्फीतिक दशाओं का अनुभव होने लगा और आज पूरे विश्व के सामने स्फीति एक बड़ी चुनौती बनकर सामने खड़ी है। जो राजकोषीय नीति मन्दी को नियंत्रित करने में पूर्णतया सफल रही, वही स्फीति के सम्बन्ध में पूर्णतया असफल है। मन्दीकाल में पूर्णतया असफल रही मौद्रिक नीति एक बार पुनः स्फीति को नियंत्रित करने के लिए नीति नियामकों को एकमात्र आशा की किरण दिखायी पड़ रही है। यह बात बड़े पैमाने पर प्रचलित है कि विश्वयुद्ध के दौरान तथा उसके बाद की अवधि में स्फीति को नियंत्रित करने में मौद्रिक नीति ने आश्चर्यजनक भूमिका निभाई है। अतः यह बात सिद्ध होती है कि मन्दी की अपेक्षा स्फीति को नियंत्रित

करने में मौद्रिक नीति अधिक कारगर है। यह कि मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति, आर्थिक नीति के दो महत्वपूर्ण घटक है। 1929 की विश्व्यापी मन्दी के दौरान बाजार की अर्पूणताओं तथा उपभोक्ताओं की प्रत्याशाओं की सक्रियता के कारण बाजार तन्त्र पूरी तरह असफल हो गया। ऐसे में अर्थव्यवस्था को पुनः पटरी पर लाने के लिए जॉन मेनार्ड केंज ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक General Theory of Employment, Interest and Money में राजकोषीय नीति को विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया। राजकोषीय नीति ने पहली बार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की प्रचलित विचारधारा कि 'वह सरकार सर्वोत्तम है जो न्यूनतम शासन करती है' पर जोरदार प्रहार किया और अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए सरकार की पूर्ण हस्तक्षेप नीति की जमकर वकालत की। संयोग बस केन्ज के सुझाये गये उपाय के सकारात्मक परिणाम प्राप्त हुए और तभी से राजकोषीय नीति एक महत्वपूर्ण वैकल्पिक यन्त्र के रूप में प्रयोग की जाने लगी है।

1.1 उद्देश्य :–

मौद्रिक नीति के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य है–

1. विनिमय स्थिरता (Exchange Stability)
2. मूल्य स्थिरता (Price Stability)
3. मुद्रा की तटस्थता (Neutrality of Money)
4. पूर्ण रोजगार (Full Emploment)
5. आर्थिक विकास (Economic Development)
6. मुद्रा के वितरण की असमानता दूर करना (Removal Inequality of Income Distribution)।
7. आर्थिक स्थिरता प्राप्त करना (Acheving Economic Statbility)।
8. विनियोग के स्तर को ऊँचा करना (Raising Investment Level)।
9. पूँजी निर्माण में वृद्धि (Increasing Capital Formation)

1.2 मौद्रिक नीति :–

मौद्रिक नीति (Monetary Policy) अर्थव्यवस्था में मुद्रा आपूर्ति (Money supply) से संबंधित नीति है। भारत मे, भारतीय रिजर्व बैंक मुद्रा की आपूर्ति का प्रबंमुद्राकरता है। मुद्रा आपूर्ति के प्रबंमुद्राके दौरान, आरबीआई मुख्य रूप से दो कारकों को ध्यान में रखता है : 1. मुद्रास्फीति और 2. आर्थिक वृद्धि।

मुद्रास्फीति अवांछनीय है, जबकि आर्थिक वृद्धि वांछनीय है। मुद्रास्फीति में कमी वांछनीय है, जबकि आर्थिक वृद्धि में कमी अवांछनीय है। आम तौर पर, ऐसा देखा जाता है कि दोनों मुद्रास्फीति और आर्थिक वृद्धि एक ही दिशा में आगे बढ़ते हैं।

1.3 मुद्रास्फीति और आर्थिक वृद्धि के बीच संबंध :–

मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि के साथ, व्यक्ति अधिक उत्पादों की मांग करते हैं क्योंकि उनके पास मुद्रा की मात्रा बढ़ जाती है। उत्पादों की अधिक मांग मुद्रास्फीति की ओर ले जाती है। साथ ही, मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि के कारण, लोग अधिक मुद्रानिवेश करते हैं, जिससे आर्थिक वृद्धि होती है।

यह कि मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि के समय, मुद्रास्फीति दर के साथ–साथ आर्थिक वृद्धि भी बढ़ती है। (एक अवांछनीय है, और दूसरा वांछनीय है)। इसके विपरीत, यदि मुद्रा आपूर्ति में कमी आती है, तो मुद्रास्फीति दर के साथ ही आर्थिक वृद्धि दर भी कम हो जाती है।

1.4 मौद्रिक नीति का कार्यान्वयन :–

जब अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति दर अधिक होती है, तो आरबीआई का केंद्र–बिन्दु मुद्रास्फीति को कम करना होता है और इस प्रकार , आर्थिक वृद्धि के उद्देश्य को कुछ समय के लिए नजर अंदाज कर दिया जाता है। मुद्रास्फीति में कमी को आर्थिक वृद्धि पर प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि मुद्रास्फीति अमीर और गरीब दोनों को प्रभावित करती है, जबकि आर्थिक वृद्धि मुख्य रूप से अमीरों को लाभ देती है। मुद्रास्फीति का सामना करने के लिए, मांग को कम करने की आवश्यकता होती है। इसलिए आरबीआई ऋण दर बढ़कर अर्थव्यवस्था में मुद्रा आपूर्ति को कम कर देता है। इस प्रकार, उच्च मुद्रास्फीति के समय, भारतीय रिजर्व बैंक महंगी मुद्रा नीति को अपनाता है।

1.5 मौद्रिक नीति के उपकरण :–

आरबीआई अर्थव्यवस्था में साख के प्रवाह (मुद्रा आपूर्ति) को नियंत्रित करने के लिए मात्रात्मक गुणात्मक उपायों का उपयोग करता है। मात्रात्मक या परिमाणात्मक उपकरण साख की कुल मात्रा को प्रभावित

करते है, जबकि गुणात्मक उपायों का उपयोग विभिन्न प्रकार के उधारकर्ताओं के बीच साख की उपलब्धता का प्रभावित करने के लिए किया जाता है।

(क) मात्रात्मक उपकरण :–

आरक्षित अनुपात :– आरक्षित अनुपात की गणना वाणिज्यिक बैंक द्वारा प्राप्त कुल जमा पर की जाती है। आरक्षित अनुपात दो प्रकार के है :

अ. आरक्षित नकदी निधि अनुपात :–

सभी वाणिज्यिक बैंको को प्राप्त जमा का एक निश्चित प्रतिशत भारतीय रिजर्व बैंक के पास अनिवार्यतः रखना पड़ता है, जिसे 'आरक्षित नकदी निधि अनुपात कहा जाता है। बैंकिंग विनियमन अधिनियम के अनुसार, सीआरआर की वर्तमान दर 4 प्रतिशत है। यह दर 3 प्रतिशत से कम नहीं हो सकती है। (आरबीआई द्वारा निर्धारित सीआरबीआई के पास सीआरआर की वर्तमान दर 4 प्रतिशत है।) सीआरआर दो उद्देश्यों को पूरा करता है। आरबीआई के पास सीआरआर के रूप में जमा राशि जमा कर्ताओं को आश्वासन के रूप में कार्य करती हैं कि उनका पैसा वापस कर दिया जाएगा। इसके अलावा, सीआरआर का उपयोग अर्थव्यवस्था में मुद्रा आपूर्ति और इस प्रकार मुद्रास्फीति के प्रबंमुद्राके लिए किया जा सकता है।

सीआरआर का उपयोग लंबे समय तक मुद्राआपूर्ति को समायोजित करने के लिए किया जाता है। आरबीआई सीआरआर में तब बदलाव करता है जब यह अपेक्षा करता है कि मुद्रास्फीति का स्तर लंबे समय तक बना रहेगा।

ब. सांविधिक तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio):–

सीआरआर की तरह, एसएलआर दो उद्देश्यों को पूरा करता है। चल आस्तियों के रूप में रखी गई राशि जमाकर्ताओं द्वारा पैसे की वापसी के लिए अचानक उच्च मांग को पूरा कर सकती है। इसके अलावा, एसएलआर का उपयोग अर्थव्यवस्था में मुद्रा और इस तरह मुद्रास्फीती के प्रबंमुद्राके लिए भी किया जा सकता है। यदि भारतीय रिर्जव बैंक एसएलआर बढ़ाता है, तो वाणिज्यिक के प्रबंमुद्राके लिए भी किया जा सकता है। वाणिज्यिक बैंक अर्थव्यवस्था में साख निर्माण को कम करते हैं और इस प्रकार मुद्रा की आपूर्ति कम हो जाती है, जिससे कीमतों में गिरावट आती है। यदि भारतीय रिजर्व बैंक एसएलआर कम करता है, तो अर्थव्यवस्था में मुद्रा आपूर्ति बढ़ जाती है, जिससे कीमतों में वृद्धि होती है। एसएलआर का उपयोग लंबे समय तक मुद्रा आपूर्ति को समायोजित करने के लिए किया जाता है। आरबीआई एसएलआर में उस समय बदलाव करता है जब यह अपेक्षा करता है कि मुद्रास्फीति का स्तर लंबे समय तक बना रहेगा।

1. ब्याज दर में परिवर्तन :–

ब्याज दर में परिवर्तनों का उपयोग निम्न तरीकों से मुद्रा आपूर्ति को समायोजित करने के लिए किया जाता है–

अ. बैंक दर (Bank Ratio) **:–**

यह आधिकारिक ब्याज दर को संदर्भित करता है जिस पर भारतीय रिजर्व बैंक अन्य बैंकों को ऋण प्रदान करता है, जिसमें वाणिज्यिक/सहकारी बैंक, विकास बैंक आदि सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में यह वह दर है जिस पर रिजर्व बैंक अपने सदस्य बैंको को ऋण प्रदान करता है अथवा उनके विनिमय विपत्री (Bills of exchange) की पुर्नकटौती (Rediscounting) करता है। इस प्रकार, बैंक दर को कटौती दर (Discount Rate) के रूप में भी जाना जाता है।

आरबीआई निर्णीत बैंक दर वाणिज्यिक बैंको के लिए ब्याज दर के स्तर के संकेत के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार इसे अर्थव्यवस्था का मानदण्ड ब्याज दर भी माना जाता है।

बैंक दर का महत्व :–

बैंक दर लंबी अवधि के ऋण के लिए आरबीआई द्वारा लगाई गई ब्याज दर है। यह एक मानदण्ड दर या केवल एक संकेतक दर के रूप में कार्य करता है। वाणिज्यिक बैंक लंबे समय तक आरबीआई से मुद्राउधार लेना पसंद नहीं करते है बल्कि आम लोगों से कम ब्याज जमा पंसद करते है।

ब. रेपो दर (Repo Rate) **:–**

जब वाणिज्यिक बैंक अपनी प्रतिभूतियां भारतीय रिजर्व बैंक को इस शर्त पर विक्रय करते हैं, कि वह रिजर्व बैंक से इन प्रतिभूतियों को अल्पकाल में पुनः खरीद लेंगे तो इसे रेपो कहा जाता है। जब वाणिज्यिक बैंक रिर्जव बैक को प्रतिभूतियां विक्रय करते हैं तो रिजर्व बैंक वाणिज्यिक बैंक को बदले में

मुद्राराशि देता है। इस धनराशि पर ब्याज की दर 'रेपो' दर कहलाती है। दूसरे शब्दों में, रेपो दर या पुर्नखरीद दर वह दर है जिस पर आरबीआई थोड़े समय के लिए बैंकों का मुद्राउधार देता है।

रेपो का उद्देश्य :–

वाणिज्यिक बैंक आरबीआई से रेपो के माध्यम से उधार लेते है। इस प्रकार , रेपों का उपयोग अर्थव्यवस्था में मुद्रा आपूर्ति के लिए किया जाता है। यदि भारतीय रिर्जव बैंक चलनिधि को कम करना चाहता है, तो रेपो दर में वृद्धि करता है। इसी प्रकार, यदि यह मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि करना चाहता है, तो यह रेपो दर को कम कर देता है।

स. रिवर्स रेपों दर(Reverse Repo Rate) :–

रिवर्स रेपों या रिवर्स पुनर्खरीद समझौते के तहत, भारतीय रिर्जव बैंक प्रतिभूतियों बेचकर वाणिज्यिक बैंको से मुद्राप्राप्त करता है तथा भविष्य में उन प्रतिभूतियों को पुनः वापस क्रय करता है। इस प्रकार वाणिज्यिक बैंक अपनी अतिरिक्त धनराशि आरबीआई के पास रख देता है। इस धनराशि पर आरबीआई वाणिज्यिक बैंक को ब्याज अदा करता है, जो रिवर्स रेपो दर कहलाती है।

रिवर्स रेपो का उद्देश्य :–

वाणिज्यिक बैंक रिवर्स रेपो के माध्यम से आरबीआई के पास अतिरिक्त धनराशि रखते है। इस प्रकार, रिवर्स रेपो प्रणाली से चलनिधि को कम किया जाता है। यदि भारतीय रिजर्व बैंक मुद्रा आपूर्ति को कम करना चाहता है, तो यह रिवर्स रेपो दर में वृद्धि करता है। इसी प्रकार, यदि यह मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि करना चाहता है, तो यह रिवर्स रेपों दर को कम कर देता है।

बैंक दर और रेपों दर के बीच अंतर :–

बैंक दर और रेपों दर समान प्रतीत होते है क्योंकि दोनों के माध्यम से आरबीआई बैंको को उधार देता है। हालांकि, रेपों दर एक अल्पकालीन उपकरण है। इसका उपयोग मुद्रा आपूर्ति में अस्थायी वृद्धि या कमी को समायोजित करने के लिए किया जाता है। दूसरी ओर, बैंक दर एक दीर्घकालीन उपकरण है।

चलनिधि समायोजन सुविधा :–

एल0 ए0 एफ0 एक मौद्रिक उपकरण है जो बैंको को पुनर्खरीद समझौतों के माध्यम से मुद्रा उधार लेने की सुविधा प्रदान करता है। इसका उपयोग चलनिधि में दिन–प्रतिदिन विसंगतियों को समयोजित करने के लिए किया जाता है। इसमें रेपों और रिवर्स रेपों शामिल है।

सीमांत स्थायी सुविधा :–

सीमांत स्थायी सुविधा बैंको के लिए भारतीय रिर्जवबैंक से आपात स्थिति में उधार लेने की एक सुविधा है जब अंतर–बैंक चलनिधि लगभग पूरी तरह से खत्म हो जाती है। सीमांत स्थायी सुविधा के तहत, वाणिज्यिक बैंक रेपो दर से अधिक दर पर केंद्रीय बैंक से उधार है। एमएसएफ दर रेपो दर से 100 आधार अंक या एक प्रतिशत बिन्दु अधिक होती है। एमएसएफ के तहत, बैंक अपनी शुद्ध मांग और समय देनदारियों का 1 प्रतिशत तक मुद्राउधार ले सकते है।

2. खुला बाजार परिचालन :–

आरबीआई द्वारा खुला बाजार परिचालन मुद्राआपूर्ति को समायोजित करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री या खरीद के माध्यम से किया जाता है। जब केन्द्रीय बैंक यह समझता है कि वाणिज्यिक बैंको के पास नकद कोष अधिक है तथा इसका प्रयोग साख निर्माण के लिए किया जा रहा है, तो साख निर्माण की मात्रा को कम करने के लिए केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियों का विक्रय करना प्रारम्भ कर देता है।

क. यह महत्वपूर्ण क्यों है?

तरलता प्रबंधन आवश्यक है ताकि बैंक और उनके उधारकर्ताओं को नकदी की कमी का सामना न करना पड़े । भारतीय रिर्जव बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदता है, अगर ऐसा लगता है कि तरलता को बढ़ावा देने की जरूरत है। अगर तरलता अधिक है, तो भारतीय रिर्जव बैंक प्रतिभूतियों को बेचता है। आरबीआई द्वारा खुला बाजार परिचालन सरकार के उधार कार्यक्रम में भी सहायता करता है क्योंकि सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री सरकार के उपयोग के लिए मुद्रा उत्पन्न करती है।

ख. अर्थव्यवस्था का स्टरलाइजेशन :–

स्टेरलाइजेशन उस प्रक्रिया को संदर्भित करता है जिसमें आरबीआई बैंक प्रणाली में प्रवेश हुई अतिरिक्त तरलता को सरकारी प्रतिभूतियां बेचकर सोखता है। आरबीआई बाजार से अमेरिकी डॉलर खरीदने का फैसला करता है। यदि आरबीआई डॉलर खरीदने के लिए बाजार में रूपये जारी करता है, तो बैंकिंग प्रणाली में तरलता बढ़ जाती है। इससे मुद्रास्फीति हो सकती है। आरबीआई सरकारी प्रतिभूतियां बेचकर चलनिधि को कम कर सकता है। इस प्रकार, स्टरलाइजेशन केवल उस सीमा तक किया जा सकता है,

जिस सीमा तक आरबीआई के पास सरकारी प्रतिभूतियां है। तरलता को कम करने के लिए सरकारी प्रतिभूतियां बेचने की यह प्रक्रिया आरबीआई के खुले बाजार परिचालन का हिस्सा है।

3. मुद्रा मुद्रण :–

मुद्रा मुद्रण आरबीआई द्वारा अर्थव्यवव्था में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिए नकदी की आवश्यकता के आधार पर की जाती है। मुद्रा मुद्रित करते समय, भारतीय रिजर्व बैंक व्यक्तियों के बीच प्लास्टिक पैसे की लोकप्रियता , व्यक्तियों की नकद रखने की प्रवृत्ति, अर्थव्यवस्था में पहले से उपलब्ध नकद आदि को ध्यान में रखता है।

अधिक मुद्रा मुदित के प्रभाव :–

अधिक मुद्रा मुद्रित होती है तो लोग अधिक वस्तुओं और सेवाओं की मांग करते है, लेकिन कम अवधि में वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति में वृद्धि नहीं हो सकती। नतीजतन, वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में वृद्धि मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में कीमतों में असाधारण वृद्धि हो सकती है।

ख. गुणात्मक उपकरण :–

1. सीमांत आवश्यकता :–

यह प्रस्तावित संपार्श्विक प्रतिभूतियों और बैंको से उधार राशि के बीच के अंतर को संदर्भित करता है। यदि आरबीआई बैंको को उच्च सीमांत आवश्यकता की मांग करने के लिए निर्देश देता है, तो संपार्श्विक प्रतिभूतियों पर दिए गए साख की मात्रा कम हो जाती है। आरबीआई विभिन्न आर्थिक गतिविधियों के लिए अलग–अलग सीमांत आवश्यकता निर्देशित कर सकता है।

2. उपभोक्ता साख विनियमन :–

आरबीआई न्यूनतम तत्काल अदायगी, किश्त ऋण की अधिकतम अवधि, ब्याज दर आदि को नियंत्रण करने के लिए नियम बना सकता है।

3. दिशानिर्देश :–

आरबीआई बैंको मौखिक तथा लिखित कथन, अनुरोध, दिशा–निर्देश और चेतावनी की अधिकतम अवधि, ब्याज दर आदि को नियंत्रण करने के लिए नियम बना सकता है। उदाहरण के लिए, आरबीआई वाणिज्यिक बैंको को अनुरोध करता है कि वह ब्याज दरों में कटौती का लाभ साख उपभोक्ताओं तक पहुंचाए।

साख का समभाजन :–

आरबीआई वाणिज्यिक बैंको द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में साख आवंटन को नियंत्रित करता है। उदाहरण के लिए, आरबीआई बैंको को प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र में अपने द्वारा निर्मित साख का 40 प्रतिशत आवंटित करने का आदेश देता है। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र अर्थव्यवस्था के उन क्षेत्रों को संदर्भित करता है, जिन्हें इस विशेष साख वितरण निर्देश की अनुपस्थिति में समय पर और पर्याप्त साख नहीं मिल पाता, लेकिन अर्थव्यवस्था के सम–विकास के लिए यह क्षेत्र महत्वपूर्ण है।

नैतिक अभिप्रेरण :–

नैतिक अभिप्रेरणा रणनीति को कहा जाता है जो आरबीआई द्वारा बैंकों पर प्रभाव और दबाव बनाने के लिए उपयोग की जाती है, लेकिन नीतियों का पालन करने के लिए बैंको को मजबूर नहीं किया जाता है। प्रेरणा रणनीति के उदाहरण – बैंक निदेशकों के साथ बैंठकें, निरीक्षण की गंभीरता में वृद्धि, सामुदायिक भावना के लिए अपील , आदि है।

प्रत्यक्ष कार्यवाही :–

यह कदम आरबीआई द्वारा उन बैंको के खिलाफ किया जाता है, जो शर्तों और आवश्यकताओं को पूरा नहीं करते है। आरबीआई अतिक्रेता बैंक को पुर्नकटौती की सुविधा बन्द कर सकता है या दंड के रूप में, बैंक दर पर अतिरिक्त ब्याज लगा सकता है।

1.6 मुद्रा की सीमांत लागत के आधार पर ऋण दर :–

आरबीआई ने वाणिज्यिक बैंको द्वारा उधार का दर निर्धारित करने की एक नई पद्धति अपनाई है जिसे मुद्रा की सीमांत लागत के आधार पर ऋण दर के नाम से जाना जाता है। इस पद्धति ने अप्रैल 2016 से मौजूदा आधार दर प्रणाली को उपांतरित किया है। नई पद्धति के अनुसार बैंकों द्वारा अतिरिक्त लागत या सीमांत लागत के आधार पर ब्याज दर लगाने की आवश्यकता है। सीमांत लागत वह लागत है जो बैंको को अतिरिक्त अथवा सीमांत मुद्राप्राप्त करने के लिए देनी पड़ रही है।

1.7 एमसीएलआर सुधार :–

वर्तमान में, आरबीआई द्वारा ब्याज दर में परिवर्तन पर बैंक अपनी ब्याज दर बदलने में बहुत समय लेते है। अल्पकालिक मुद्राप्राप्त करने के लिए वाणिज्यिक बैंक महत्वपूर्ण रूप से आरबीआई के

रेपों पर निर्भर करते है। लेकिन वे रेपों दर में आवधिक कटौंती के साथ अपनी व्यक्तिगत ऋण दरों को कम करने के लिए अनिच्छुक होते है।

1.8 आधार दर :–

आधार दर बैंक की न्यूनतम ब्याज दर है जिससे कम दर पर यह उधार नहीं दे सकता, आरबीआई द्वारा अनुमत मामलों को छोड़कर, आधार दर प्रणाली 1 जुलाई 2010 से आरंभ की गई थी। आधार दर में ऋण दरों के वह सभी तत्व शामिल है जो उधारकर्ताओं की सभी श्रेणियों के लिए समान होते है। प्रत्येक बैंक एक विशिष्ट अवधि के लिए अपनी आधार दर निर्धारित करता है जिसका पारदर्शी रूप से खुलासा किया जाता है।

1.9 भारतीय रिजर्व बैंक :–

भारतीय रिर्जव बैंक भारत का केंद्रीय बैंक है जिसने भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम , 1934 के प्रावधानों के अनुसार ब्रिटिश शासन के दौरान 1 अप्रैल , 1935 को अपना परिचालन शुरू किए । आरबीआई एक स्वतंत्र र्सवोच्च मौद्रिक प्राधिकरण है, जो बैंकों को भी नियंत्रित करता है और विदेशी वित्तीय भंडार भंडारण, साख की उपलब्धता, सरकार और बैंकों से जमा स्वीकार करने जैसी महत्वपूर्ण वित्तीय सेवाएं प्रदान करता है। विशेष रूप से , आरबीआई निम्न महत्वपूर्ण कार्य करता है–

भारतीय रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्य :–

1. बैंक नोट जारी करना :–

आरबीआई के पास वित्त मंत्रालय द्वारा जारी किए गए एक रूपये के नोट को छोड़कर मुद्रा नोट जारी करने का एकमात्र अधिकार है। आरबीआई के इस अधिकार के कई लाभ है–

क. यह नोटों के मुद्दे में एकरूपता लाता है।

ख. यह नोटों पर सरकार का पर्यवेक्षण संभावित करता है।

ग. नोटों का प्रबंमुद्रामुख्य तौर पर आरबीआई के अधीन है, अर्थव्यवस्था में आवश्यकताओं के अनुसार साख को नियंत्रित और विनियमित करना सरल होता है।

2. सरकार के बैंकर के रूप में :–

सरकार के बैंकर के रूप में, आरबीआई दोनों केन्द्र और राज्य सरकारों की बैंकिंग जरूरतों का प्रबंमुद्राकरता है। यह सरकार के जमा खातों को बनाए रखता है और संचालित करता है। यह सरकार की ओर से मुद्राकी प्राप्तियां एकत्र करता है और भुगतान करता है। यह सरकार की प्रतिभूतियों को जारी करता है तथा उनका प्रबंमुद्राकरता है। यह अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के सदस्य के रूप में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करता है।

3. वाणिज्यिक बैंको के नकद भंडार का संरक्षक :–

वाणिज्यिक बैंक अपने जमा, रिजर्व बैंक में रखते है, और इस प्रकार, रिजर्व बैंक वाणिज्यिक बैंको के नकद भंडार का संरक्षक है।

4. अंतिम ऋणदाता :–

वाणिज्यिक बैंक वित्तीय कठिनाइयों से जूझने के लिए आपातकाल के समय रिजर्व बैंक से संपर्क करते हैं, और रिजर्व बैंक उनके बचाव के लिए आता है, हालांकि यह ब्याज की उच्च दर ले सकता है।

5. बैंको के खाते निपटान :–

वाणिज्यिक बैंको के नकदी भंडार जमा, रिजर्व बैंक के पास होते हैं, रिर्जव बैंक की किताबों में प्रविष्टियों के माध्यम से इन बैंको का एक दूसरे से लेन–देन का निपदान किया जाता है। खाते–निपदान अब रिजर्व बैंक का एक आवश्यक कार्य बन गया है।

6. साख नियंत्रक :–

मौद्रिक नीति के माध्यम से आरबीआई साख निर्माण पर नियंत्रण रखता है। रिर्जव बैंक द्वारा सरकार की आर्थिक प्राथमिकताओं के अनुसार साख निर्माण पर नियंत्रण किया जाता है।

7. देश के विदेशी मुद्रा भंडार का संरक्षक :–

रिजर्व बैंक अंतरराष्ट्रीय मुद्रा के देश के भंडार का संरक्षक है और यह रिर्जवबैंक को भुगतान स्थिति के प्रतिकूल संतुलन से जुड़े संकट से निपटने में सक्षम बनाता है।

1.10 मुद्रा की आपूर्ति :–

जनता, आरबीआई और सरकार के साथ रखा हुआ सभी मुद्रा(मुद्रा या बैंक जमा के रूप में) कुल स्टॉक या मौद्रिक कुल कहलाता है। मुद्रा आपूर्ति इस मुद्राके कुल स्टॉक का वह हिस्सा है जो जनता के पास है। जनता में गृहस्थ, फर्म, स्थानीय प्राधिकरण, कंपनी, आदि शामिल है।

मुद्रा आपूर्ति में सरकार द्वारा रखा गया धन, आरबीआई द्वारा सीआरआर के रूप में गया, मुद्राऔर बैंको द्वारा एसएल आर के रूप में रखा गया, मुद्रा सम्मिलित नहीं होता है क्योंकि यह मुद्रापरिसंचरण से बाहर होता है। निष्कर्ष के लिए, मुद्रा आपूर्ति में निम्नलिखित तत्व सम्मिलित हैः

- मुद्रा नोट और सिक्के
- मांग पर वापस किए जाने वाले जमा जैसे बचत और चालू खाता जमा
- समय अवधि खत्म होने पर वापस किए जाने वाले जमा जैसे सावधि और आवर्ती जमा
- बैंको के पास नकद और बैंको के पास दूसरे बैंकों के जमा, आरबीआई के पास सीआरआर को छोड़कर ।

1.11 भारत में मुद्रा आपूर्ति की गणना :–

आरबीआई भारत में पांच प्रकार की मुद्रा आपूर्ति की गणना करता है–

एम 1 (संकीर्ण मुद्रा) (M1 (Narrow Money)): एम 1 के दो घटक होते हैः–

1. मुद्रा घटक (Currency component): इसमें परिसंचरण में सभी सिक्के और नोट सम्मिलित है।

2. मांग जमा घटक (Demand deposit component) : बैंको के साथ बचत और चालू खाता जमा के रूप में आम जनता का पैसा।

एम 1 को संकुचित मुद्रा भी कहा जाता है। यह मुद्रा आपूर्ति का सबसे तरल रूप है। निष्कर्ष के लिए,

एम 1 – जनता के साथ मुद्रा+ बैंकों में जनता की मांग जमा

एम 2 – जब डाकघर बचत जमा एम 1 में जोड़ा जाता है, तो यह एम 2 बन जाता है।

एम 2 – एम 1 + डाकघर बचत जमा

एम 3 – (व्यापक मुद्रा) (M3 (broad money)): जब हम संकीर्ण मुद्रा का योग निश्चित समय अवधि के लिए जमा (समय जमा) के साथ करते है, तो हमें व्यापक मुद्रा प्राप्त होती है, जिसे एम 3 कहा जाता है।

एम 3 – स्वचालित मुद्रा + बैंको के साथ निश्चित समय अवधि के लिए जमा।

संकीर्ण मुद्रा, मुद्राआपूर्ति का सबसे अधिक तरल हिस्सा है क्योंकि तत्काल नोटिस पर मांग जमा वापस लिया जा सकता है। दूसरी ओर, समय जमा में निश्चित परिपक्वता अवधि होती है और इसलिए इस अवधि की समाप्ति से पहले इसे वापस नहीं लिया जा सकता है। जब हम संकीर्ण मुद्रा में समय जमा जोड़ते है, तो हमें व्यापक मुद्रामिलता है।

एम 4 – जब हम डाकघर बचत जमा को एम 3 में जोड़ते है, तो यह एम 4 बन जाता है।

एम 4 = एम 3+ डाकघर बचत जमा

एम 2 और एम 4 दोनों में डाकघर बचत राशि सम्मिलित है। डाकघर बचत जमा कभी मुद्रा आपूर्ति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था, लेकिन अब यह कम प्रासंगिक हो गया है क्योंकि कुल बचत जमा में डाकघर बचत जमा के सापेक्ष हिस्से में काफी कमी आई है। वर्तमान में, संकीर्ण मुद्रा (एम 1) और व्यापक मुद्रा (एम 3) भारत में मुद्रा आपूर्ति के अत्यंत प्रासंगिक संकेतक है।

एम 0 (आरक्षित धन) (M0 (reserve money)) आरक्षित मुद्रा को ''आधारभूत धन'' या ''मौद्रिक आधार (High powered money) भी कहा जाता है। इसमें निम्न घटक हैः

- जनता के पास मुद्रा।
- बैंकों के सांविधिक आरक्षित भंडार।
- आरबीआई के पास रखे गए बैंकों के नकद भंडार
- आरबीआई के पास अन्य जमा।

1.12 आरक्षित मुद्रा की प्रासांगिकता :–

आरबीआई अर्थव्यवस्था में आरक्षित मुद्रा के माध्यम से मुद्रा आपूर्ति का प्रबंमुद्राकरता है। उदाहरण के लिए यदि आरबीआई आरक्षित मुद्रा कम कर देता है, तो अर्थव्यवस्था में मुद्रा आपूर्ति बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में , यदि आरबीआई अर्थव्यवस्था में आरक्षित मुद्राबढ़ा देता है, तो मुद्रा आपूर्ति कम हो जाती है। यह ध्यान दिए जाने योग्य है कि मुद्रा आपूर्ति में अधिकांश बदलाव आधारभूत मुद्रा में बदलाव के कारण आते है। इस प्रकार आरक्षित मुद्रा को ''मौद्रिक आधार'' भी कहा जाता है। इसके अलावा, आरक्षित मुद्रा में परिवर्तन का अर्थव्यवस्था पर बहुआयामी प्रभाव पड़ता है।

मुद्रागुणक :– मुद्रा गुणक संकुचित मुद्रा(एम 1) या व्यापक मुद्रा(एम 3) और आरक्षित मुद्रा का अनुपात है।

मुद्रा गुणक (m, एम) की गणना निम्नवत की जाती है–

$$\text{मुद्रा गुणक} = \frac{\text{संकीर्ण धन}}{\text{आरक्षित मुद्रा}}$$

इसकी गणना, $\text{मुद्रा गुणक} = \frac{\text{व्यापक मुद्रा}}{\text{व्यापक मुद्रा}}$ के रूप में भी की जाती है।

इस प्रकार , यह भी कहा जा सकता है कि मुद्रा आपूर्ति मुद्रा गुणक और आधारभूत मुद्रा या आरक्षित मुद्रा का गुणा है।

1.13 मुद्रा गुणक कैसे काम करता है? :–

मान लीजिए कि बैंक को जमा में 100 रूपये मिलते है। केंद्रीय बैंक द्वारा घोषित आरक्षित आवश्यक 20 प्रतिशत है। इस प्रकार, बैंक शेष 80 रूपये उधार के रूप में दे सकता है। यह 80 रूपये उधारकर्ता द्वारा दूसरे बैंक में जमा किया जाता है, जो बदले में 20 प्रतिशत या 16 रूपये आरक्षित रखता है, लेकिन शेष 64 रूपये दे सकता है।

यह चक्र जारी रहता है क्योंकि अधिकतर लोग पैसे बैंक में जमा करते है और अधिकतम बैंक उधार देना जारी रखते है।, जब तक कि 100 रूपये की प्रारंभिक जमा राशि से कुल 500 रूपये (100 / 0.2) का जमा नहीं हो जाते है। जमा की यह रचना गुणक प्रभाव के कारण होती है।

1.14 राजकोषीय नीति :–

राजकोषीय नीति के अन्तर्गत हम करारोपण, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण की उन क्रियाओं का विवेचन करते है जिनके द्वारा सरकार पूर्व निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति करती है। राजकोषीय नीति की प्रमुख परिभाषाएं है–

1. श्रीमती हिक्स के अनुसार , '' राजकोषीय नीति का सम्बन्ध उस पद्धति से है जिसमें लोकवित्त के विभिन्न अंग अपने प्राथमिक कर्तव्यों को पूरा करने हेतु सामूहिक रूप से आर्थिक नीति के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयोग में लाये जाते है।''
2. ऑर्थर स्मिथीज के अनुसार , '' राजकोषीय नीति वह नीति है जिससे सरकार अपने व्यय तथा आगम के कार्यक्रम को राष्ट्रीय आय, उत्पादन या रोजगार पर इच्छित प्रभाव डालने तथा अवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।''

1.15 राजकोषीय नीति के उद्देश्य :–

प्राचीन समय से ही राजकोषीय नीति के कर अंग का उद्देश्य आय प्राप्त करना तथा अंग का प्रधान उद्देश्य देश की सुरक्षा तथा देश की आन्तरिक शान्ति बनाये रखना था। आजकल इस नीति के व्यापक उद्देश्य है। राजकोषीय नीति का लक्ष्य अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की व्यवस्था व आर्थिक स्थिरता स्थापित करना आदि है। इस सन्दर्भ में मसग्रेव ने लिखा है कि '' राजकोषीय नीति का उद्देश्य उच्च रोजगार, कीमत में स्थिरता, विदेशी व्यापार में सन्तुलन व आर्थिक विकास में वृद्धि करना आदि है।''

प्रो0 कीन्स ने इस तथ्य की ओर अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया था कि विकसित देशों में धीरे–धीरे उपभोग और आय के बीच अन्तर बढ़ने लगता है जिससे मन्दी आने की संभावना बनी रहती है। फलतः विकसित देशों में सामन्यः व्यापार चक्र आते रहते है। अतः आर्थिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र में राजकोषीय नीति का प्रधान उद्देश्य पूर्ण रोजगार के स्तर पर देशों में आर्थिक स्थायित्व को स्थापित करना होता है, परन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में उत्पादन तथा रोजगार में चक्रीय उतार–चढ़ाव कम महत्व रखते है। ऐसी अर्थव्यवस्था में पूंजी और तकनीकी ज्ञान के अभाव के कारण आर्थिक सामुद्रानिष्क्रिय पड़े रहते है। इनके सामने दो प्रमुख समस्याएं है– 1. किस प्रकार अर्थव्यवस्था में व्याप्त अदृश्य बेरोजगारी की समस्या को दूर किया जाय। 2. किस प्रकार एक विशाल जनसंख्या की बेरोजगारी दूर की जाय, जो कि रोजगार के अवसर के अभाव में बेकार रहते है।

1.16 विकासशील देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य व भूमिका :–

यह विकासशील अर्थव्यवस्था में लोचदार भूमिका अदा करती है और स्थिरता के साथ विकास की समस्या का सामना करती है। संक्षेप में, विकासशील देशों में राजकोषीय नीति की प्रमुख भूमिका हैः

1. **पूंजी निर्माण में वृद्धि :–**

विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य पूंजी निर्माण की उच्चतम सम्भव दर को बढ़ाना है। विकासशील देश पूंजी की कमी के आधार पर निर्धनता के दुष्चक्र में फैंसे होते है। इसलिए इस दुष्चक्र को तोड़ने के लिए सन्तुलित विकास आवश्यक होता है और यह तभी सम्भव होता है, जब सार्वजनिक व्यय के द्वारा उच्च पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित किया जाय।

2. आर्थिक विकास में गति लाने के लिए :–

सरकार अपनी कर नीति, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण की नीति द्वारा बचत, विनियोग एवं रोजगार को प्रोत्साहन दे सकती है। इसके लिए निम्न उपाय किये जाने हैं–

1. विनियोग और साधनों के प्रवाह को अनुत्पादक प्रयोगों से हटाकर सामाजिक दृष्टि से वांछनीय क्रियाओं में प्रवाहित करना।
2. विनियोग क्रिया को गतिशील बनाने के दृष्टिकोण से उत्पादक वर्ग को करों में छूट, रियायत तथा सहायता प्रदान की जानी चाहिए। विनियोग अवसरों में वृद्धि द्वारा निश्चित रूप से आर्थिक विकास को बल मिलता है।
3. कर द्वारा प्राप्त आगम को उत्पादक और आर्थिक क्रियाओं से विनियोग करना चाहिए।
4. सार्वजनिक व्यय को सरकार को ऐसे कार्यों में लगाना चाहिए जिससे कि विकासात्मक कार्यों को प्रोत्साहन मिल सके।

3. साधनों के आवंटन में महत्व :–

साधनों का आवंटन उन निर्णयों से सम्बन्ध रखता है जो यह बताते है कि समाज की भूमि, श्रम व पूंजीगत वस्तुओं का किस प्रकार से प्रयोग किया जाय, किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाय और कितनी मात्रा में किया जाय इत्यादि। आधुनिक अर्थशास्त्र में इस तथ्य को स्वीकार किया जाने लगा कि आर्थिक साधनों के सर्वोत्तम उपयोग में राज्य की राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण स्थान है।

4. कीमत स्थिरता के साथ विकास :–

विकासशील देशों में स्थिरता की दृष्टि से समस्या कीमतों में वृद्धि की है। विकास की गति जब तेज करने के प्रयत्न किये जाते है तो कीमतों में वृद्धि होने लगती है।

5. **आय तथा धन की असमानता को कम करना** :–

विकासशील देशों में न केवल राष्ट्रीय आय की वृद्धि की समस्या है बल्कि आय तथा मुद्राके वितरण की असमानता को कम करने की भी समस्या है। आय व मुद्राकी विषमता को दूर करने के लिए उपाय हैं–

1. देश में प्रगतिशील कर लगाये जाने चाहिए, ताकि अमीर लोगों पर कर का भार अधिक रहे और इस प्रकार अनावश्यक उपभोग व्यय को कम से कम किया जा सके।
2. विलासिता वस्तुओं पर अप्रत्यक्ष कर अधिक दर से लगाया जाना चाहिए और उनसे प्राप्त राशि को अधिक उत्पादक कार्यों में लगाया जाय।
3. सार्वजनिक व्यय इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि गरीब वर्ग को अधिकाधिक लाभ हो।

1.17 आर्थिक स्थिरीकरण एवं राजकोषीय नीति के उपकरण :–

राजकोषीय नीति के अर्थ से स्पष्ट हो जाता है कि यह सरकार की आर्थिक नीति का वह भाग होता है जिसका सम्बन्ध सरकार की करारोपण, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण तथा घाटे की वित्त व्यवस्था सम्बन्धी नीतियों से होता है। राजकोषीय नीति के चार प्रमुख उपकरण हैः–

1. सार्वजनिक व्यय नीति
2. सार्वजनिक आय सम्बन्धी नीति
3. सावर्जनिक ऋण सम्बन्धी नीति
4. घाटे के बजट की नीति

1. सार्वजनिक व्यय नीति :–

सार्वजनिक व्यय नीति राजकोषीय नीति का सबसे महत्वपूर्ण अंग होता है। विकसित देशों में मन्दी एवं बेरोजगारी को दूर करने के लिए सरकार सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके लोगों को रोजगार प्रदान करती है। लोगों की प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि करती है तथा आर्थिक अस्थिरता को दूर करने का प्रयास करती है।

अ. समुद्दीपन व्यय :–

इससे आशय ऐसे सार्वजनिक व्यय से है जो आर्थिक क्रियाओं को प्रेरित और पुर्नजीवित करने के लिए किया जाता है, जिससे नई क्रय शक्ति उत्पन्न हो और निजी विनियोग को प्रोत्साहन मिले। इस

सम्बन्ध में मान्यता यह है कि प्रारम्भ में किया गया ऐसा सार्वजनिक व्यय मन्दी की दशा के निराकरण की एक निरन्तर प्रक्रिया जारी कर सकता है।

ब. क्षतिपूरक या प्रतिकारी व्यय :–

सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रतिकारी या क्षतिपूरक व्यय का अर्थ है कि जब गैर–सरकारी क्षेत्र अर्थात निजी क्षेत्र द्वारा किया जाने वाला व्यय पर्याप्त नहीं होता है तो सरकार उसकी पूर्ति के लिए स्वयं खर्च करती है।

1. सार्वजनिक निर्माण कार्यो : जैसे – सड़क निर्माण, पुल, नहरों आदि के निर्माण कार्यों पर व्यय।
2. सहायता उपायों : जैसे– पेन्शन, बेरोजगारी बीमा, अपाहिजों आदि को आर्थिक सहायता।

जब सरकार यह अनुभव करे कि निजी विनियोग में कमी हो रही है तो उसे तत्काल सार्वजनिक निर्माण कार्यों तथा सहायता उपायों में वृद्धि करनी चाहिए।

2.सार्वजनिक आगम नीति :–

राजकोषीय नीति के इस उपकरण के अन्तर्गत इन स्त्रोतों को सम्मिलित किया जाता है जिनसे सरकार को आय प्राप्त होती है। सार्वजनिक आय के विभिन्न स्त्रोतों का प्रयोग करते समय उनका उपभोग, उत्पाद, वितरण, बचत एवं विनियोग पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखना पड़ना है।

3.सार्वजनिक ऋण सम्बन्धी नीति :–

राजकोषीय नीति का तीसरा महत्वपूर्ण उपकरण सार्वजनिक ऋण की नीति होती है। सार्वजनिक ऋणों से आशय उन ऋणों से होता है जो कि सरकार देश की जनता से अथवा विदेश से प्राप्त करती है। सरकार जो ऋण प्राप्त करती है, उसकी वापसी ब्याज सहित एक निश्चित अवधि के पश्चात् करनी होती है।

4.घाटे के बजट की नीति :–

घाटे के बजट की नीति राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण उपकरण है। वर्तमान समय में राजकोषीय नीति के अन्तर्गत घाटे के बजट का विकसित एवं विकासशील दोनों प्रकार के देशों के द्वारा अत्यधिक उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार सरकार अपनी राजकोषीय नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक व्यय, करारोपण , सार्वजनिक ऋण एवं घाटे की वित्त व्यवस्था की नीतियों का प्रयोग करके आर्थिक विकास एवं आर्थिक स्थिरता के उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करती है।

1.18 राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति में परम्पर सम्बन्ध :–

1. मौद्रिक नीति एवं राजकोषीय नीति के सम्बन्ध में अतिवादी विचारधारा :–

मौद्रिक नीति एवं राजकोषीय नीति में कौन अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावपूर्ण है, इस सम्बन्ध में विवाद बहुत दिनों तक बना रहा। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मौद्रिक नीति को तथा कीन्सियन अर्थशास्त्री राजकोषीय नीति को अधिक महत्वपूर्ण मानते है परन्तु ये दोनों ही दृष्टिकोण अपूर्ण और एकपक्षीय हैं।

2. मौदिक एवं राजकोषीय नीति एक दूसरे की पूरक :–

दोनों अतिवादी दृष्टिकोण उचित नहीं है। वास्तव में, मौद्रिक नीति एवं राजकोषीय नीति एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों ही नीतियों का संयुक्त प्रयोग अर्थव्यवस्था में स्थिरता, आर्थिक विकास एवं रोजगार बढ़ाने में सहायक हो सकता है। राजकोषीय नीति जनता के हाथों में क्रयशक्ति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। अलग–अलग करों के द्वारा सभी वर्गों का प्रभावित किया जा सकता है। राजकोषीय नीति मांग पक्ष को प्रभावित करती है। इसके विपरीत, मौद्रिक नीति का प्रभाव लागत पर पड़ता है, क्योंकि ऋणों की लागत उत्पादन लागत का एक अंश होती है। बढ़ी हुई लागत को बढ़ी हुई कीमतों के रूप में उपभोक्ता पर विवर्तित किया जा सकता है।

अ. अर्थव्यवस्था का विस्तार एवं संकुचन :–

देश में मुद्रा स्फीति की दशा है तो ऐसी स्थिति में राजकोषीय नीति इस प्रकार बनायी जानी चाहिए जिससे करों की मात्रा में वृद्धि जो सार्वजनिक व्यय घटे और जनता से ऋण प्राप्त किये जाये। इसके विपरीत, मन्दी के समय में मौद्रिक नीति की अपेक्षा राजकोषीय नीति अधिक प्रभावकारी सिद्ध होती है, कारण यह है कि मन्दी की स्थिति में आर्थिक वातावरण निराशाजनक रहता है। इसलिए विनियोजक कम ब्याज की दर पर भी विनियोजन करने को तैयार नहीं होते। इनके द्वारा प्रभावशाली मांग में वृद्धि करना सम्भव होता है। मन्दी के समय घाटे की वित्त व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था से आर्थिक स्थिरता लाने के लिए दोनों नीतियों का संयुक्त उपयोग आवश्यक है।

ब. उपभोक्ता व्यय तथा विनियोग :–

राजकोषीय नीति का प्रत्यक्ष प्रभाव उपभोक्ता की आय पर पड़ता है जिससे कि उपभोक्ता की मांग प्रभावित होती है। यदि उपभोक्ता मांग में वृद्धि होती है तब उसकी पूर्ति में वृद्धि के प्रयास किये जाते है जिससे विनियोग तथा रोजगार स्तर में वृद्धि होती है दूसरी ओर, मौद्रिक नीति का प्रत्यक्ष प्रभाव विनियोग पर पड़ता है जिससे अन्ततः उपभोक्ता मांग प्रभावित होती है। इस प्रकार मांग तथा विनियोग, दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए दोनों ही नीतियों का मिश्रित प्रयोग आवश्यक है।

1. आय, मूल्य तथा रोजगार :–

इन तीनों पर राजकोषीय नीति का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और ये तत्व देश के भुगतान सन्तुलन को प्रभावित करते है इसके विपरीत , मौद्रिक नीति का प्रत्यक्ष प्रभाव देश के भुगतान पर पड़ता है क्योंकि विदेशी पूंजी का प्रभाव देश में प्रचलित ब्याज की दर पर निर्भर करता है। भुगतान सन्तुलन अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार के स्तर, आय तथा मूल्य को प्रभावित करता है।

2. पूंजी निर्माण :–

मौद्रिक और राजकोषीय नीति दोनों ही देश मे पूंजी निर्माण की दर बढ़ाने और आर्थिक विकास को तीव्र करने के लिए आवश्यक है। देश में पूंजी निर्माण की दर में वृद्धि के लिए मौद्रिक नीति द्वारा बचतों और विनियोगों को निम्न प्रकार से प्रोत्साहित किया जाता है :–

1. बचतों को प्रोत्साहन देने के लिए बैंकिंग सुविधाओं का विकास किया जाता है।
2. मौद्रिक अधिकारी साख पर नियन्त्रण द्वारा मुद्राको अनुत्पादक कार्यों से हटाकर उत्पादक कार्यों पर लगाते हैं।
3. उचित ब्याज नीति द्वारा बचत एवं विनियोग को प्रोत्साहन दिया जाता है।
4. किसी विशेष उद्योग में निवेश को बढ़ाने के लिए विभेदात्मक ब्याज दर को अपनाया जा सकता है।
5. मौद्रिक नीति मुद्रा की आवश्यक पूर्ति बनाये रखकर, कीमतों में स्थिरता लाई जा सकती है। इसके द्वारा :–

1. करों में राहत द्वारा बचत व निवेश के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है तथा भौगोलिक शर्तों को विकसित किया जाता है।
2. मुद्रा स्फीति को रोकने के लिए अधिक करों द्वारा क्रय शक्ति को वापस लिया जाता है तथा सार्वजनिक आय द्वारा गरीब वर्ग की सहायता की जाती है।
3. अनुत्पादक क्षेत्रों में पूंजी का प्रवाह उत्पादक क्षेत्रों को प्रोत्साहित किया जाता है।

1.19 संक्षेप में **राजकोषीय और मौद्रिक नीति के बीच सम्बन्ध**

	आधार	राजकोषीय नीति	मौद्रिक नीति
1	स्वतन्त्रता	राजकोषीय नीति के सम्बन्ध में सरकार कम स्वतन्त्र होती है क्योंकि प्रत्येक मद की राशि के सम्बन्ध में संसद की स्वीकृति आवश्यक होती है।	मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक पूर्ण स्वतन्त्र होता है क्योंकि इसके लिए उसे किसी से स्वीकृति नहीं लेनी पड़ती।
2	प्रभाव	राजकोषीय नीति का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है	मौद्रिक नीति का क्षेत्र सीमित होता है और प्रायः प्रत्येक क्षेत्र पर इसका परोक्ष प्रभाव पड़ता है।
3	राजनीतिक प्रभाव	राजकोषीय नीति प्रायः राजनीतिक प्रभावों से प्रभावित होती है।	मौद्रिक नीति राजनीतिक प्रभावों से मुक्त रहती है।
4	भार	सरकार विभिन्न वस्तुओं, विभिन्न वर्ग के लोगों तथा क्षेत्रों में कई प्रकार	मौद्रिक नीति को भार या प्रभाव देश के सभी भागों/ वर्गों पर प्रायः

		के करारोपण करती है। फलतः राजकोषीय नीति का भार सभी पर समान नहीं होता।	समान रूप से पड़ता है।
5	लोच	राजकोषीय नीति में कठोरता रहती है इस नीति में शीघ्र परिवर्तन नहीं किया जा सकता।	मौद्रिक नीति लचीली होती है। इस नीति में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

यह कि, राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति कोई भी अकेले आर्थिक विकास, पूर्ण रोजगार , कीमत स्थिरता, विनिमय दर में स्थिरता के लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकती । अतः समस्या का सर्वोत्तम समाधान दोनों नीतियों को स्वीकार करके उनके बीच पारस्परिक समन्वय करने में ही है।

1.20 सारांश (Summary) :–

सरकार केन्द्रीय बैंक से विचार विमर्श के बाद मौद्रिक नीति का निर्माण करती है परन्तु उसके क्रियान्वयन की जिम्मेदारी केन्द्रीय बैंक की होती है। अर्थशास्त्रियों का मत है कि विकसित देशों को पूर्ण रोजगार तथा विकासशील देशों को आर्थिक संवृद्धि के लक्ष्य को प्राथमिकता देना चाहिए। मौद्रिक नीति के उपकरणों को दो बड़े भागों परिमाणात्मक तथा गुणात्मक में विभाजित किया जाता है। परिमाणात्मक उपकरणों में बैंक दर नीति, न्यूनतम रक्षित अनुपात, वैधानिक तरलता अनुपात तथा खुले बाजार की क्रियाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। गुणात्मक उपकरणें की विस्तृत व्यवस्था की गई है। विकसित एवं विकासशील देशों की आधारभूत विशेषताओं में अन्तर होने के कारण राजकोषीय नीति की भूमिका दोनों देशों में अलग–अलग है। राजकोषीय यन्त्रों करारोपण, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण तथा बजट नीति का प्रयोग जहां विकसित देशों में स्थिरता को बनाये रखने तथा समाज में आय एवं मुद्राके वितरण की विषमता को दूर करने के लिए किया जाताहै वहीं विकासशील देशों में इसका उद्देश्य आर्थिक विकास है। आपने यह भी देखा कि कार्यात्मक वित्त, प्रोत्साहन व्यय तथा क्षतिपूरक व्यय की नीति राजकोषीय नीति के प्रगतिशील यन्त्र है। आप राजकोषीय नीति के विभिन्न यन्त्रों तथा उनका अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले उपयोगी तथा अनुपयोगी प्रभावों को विस्तार से समझ सके है।

1.21 शब्दावली (Keywords) :–

1. विनिमय स्थिरता (Exchange Stability)
2. मूल्य स्थिरता (Price stability)
3. मुद्रा की तटस्थता (Neutrality of Money)
4. पूर्ण रोजगार (Full Empoyment)
5. आर्थिक विकास (Economic Development)
6. मौद्रिक विपत्री (Bill of Exchange)
7. कटौती दर (Discount rate)
8. पुर्नकटौती (Rediscountings)

1.22 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :–

1. Tyagi , B.P – Public Finance Jail Prkash Nath & Co. Meerut.
2. Higgins, Benjamin- Economic Development (1957)
3. Tripathi, R.N – Public Fianace in Under Developmemnt Countries.
4. Hanse, A.H – Fiscal Policy and Business Cycles – 1941
5. सिंघई, जी0 सी0 एवं मिश्रा, जे0 पी0 समष्टि आर्थिक विश्लेषण,साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा ।
6. शर्मा हरिश्चन्द्र एवं सिंघई ,जी0सी0 (2000) मौद्रिक अर्थव्यवस्था, साहित्य भवन, आगरा।

1.23 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) :–

1. मौद्रिक नीति से आप क्या समझते हैं? मौद्रिक नीति के मुख्य उद्देश्यों की विवेचना कीजिए।
2. मौद्रिक नीति के विभिन्न उद्देश्य क्या हैं? क्या मौद्रिक नीति उन्हें अकेले प्राप्त कर सकती है?
3. मौद्रिक नीति के उपकरण के रूप में न्यूनतम रक्षित अनुपात तथा खुले बाजार की क्रियाओं में कौन श्रेष्ठ है? तर्क दीजिए।
4. मौद्रिक और राजकोषीय नीति पारस्परिक विरोधी नहीं वरन पूरक है व्याख्या कीजिए।

1.24 वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर (Objctive Question Answers:–

1. राजकोषीय नीति के उद्देश्य हैं:
क. पूर्ण रोजगार प्राप्त करना
ख. आर्थिक संवृद्धि
ग. आर्थिक असमानता को दूर करना
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

2. भारत में राजकोषीय नीति किसके द्वारा तैयार की जाती है
क. भारतीय रिजर्व बैंक ख. नीति आयोग
ग. वित्त मंत्रालय घ. भारतीय प्रतिभूमि और विनिमय बोर्ड
(उत्तर ग)

3. सरकार के निम्न कार्यों पर विचार कीजिए
क. कर दरों में कटौती करना
ख. सरकारी व्यय को बढ़ाना
ग. उपर्युक्त दोनों
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

4. भारत में आर्थिक सर्वेक्षण किसके द्वारा प्रकाशित किया जाता है
क. वित्त मंत्रालय भारत सरकार ख. उद्योग मंत्रालय भारत सरकार
ग. नीति आयोग घ. भारतीय रिर्जव बैंक
(उत्तर क)

5. मुद्रा नीति से आशय है
क. बैंक दर में वृद्धि ख. बैंक दर में कमी ग. बैंक दर में स्थिरता घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

6. राजकोषीय नीति का जनता पर प्रभाव पड़ता है:
क. प्रत्यक्ष ख. परोक्ष ग.वृद्धि होनी चाहिए घ. समान रहना चाहिए।
(उत्तर क)

सार्वजनिक व्यय का आशय, वर्गीकरण , नियम तथा प्रभाव
Concept of Public Expenditure, Classification , Laws & Effect

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 सार्वजनिक व्यय का आशय
1.3 सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण
1.4 सार्वजनिक व्यय के नियम अथवा सिद्धान्त
1.5 सार्वजनिक व्यय के नियंत्रण की विधियां
1.6 सार्वजनिक व्यय के प्रभाव
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.10 अभ्यास प्रश्न
1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction):–

एक राष्ट्र की सरकार के संवितरण (Disbursments) अर्थात व्यय कई भागों में दर्शाए जा सकते हैं। उदाहरण तौर पर रख–रखाव ,समाज, अर्थव्यवस्था तथा राज्य सरकारों की सहायता व अन्य सरकारों की सहायता को शामिल किया जाता है। इस सभी संवितरणों को सामाजिक तौर पर सार्वजनिक व्यय कहा जा सकता है। यह भी स्पष्ट है कि संवितरणो को निर्विवाद भागों में बांटना अत्यधिक कठिन है। अधिकतर देशो मे सार्वजनिक व्यय में सतत वृद्धि होती रहती है। कुछ आर्थिक सलाहकारों के द्वारा सरकार को अपनी आर्थिक क्रियाओं को सीमित रखने का सुझाव दिया जाता है। क्योंकि प्रत्येक आर्थिक इकाई न केवल अपना हित अच्छी प्रकार समझती है, पर साथ ही उसकी रक्षा करने को तत्पर भी रहती है। सरकारों को आर्थिक हितों की पहचान करना, व्यक्तिगत इकाइयों के लिए असंभव होता है। इस प्रकार अपनी व्यय नीतियों को अनेक अनुसार ढालने का औचित्य भी विवादास्पद माना जाता है। अगर सरकारें इस सुझाव को अपनी व्यय नीतियों में स्वीकार करती तो सार्वजनिक व्यय में इतनी जल्दी–जल्दी वृद्धि न हो पाती जितनी कि अभी है। आधुनिक समाज और अर्थव्यवस्था के समक्ष ऐसी बाधाएं उत्पन्न होती हैं, जिन्हें कोई सरकार अनदेखा नहीं कर सकती है। इस समाधान हेतु सरकार को प्रयत्न करने पड़ते हैं, और सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हो जाती है। इन बाधाओं में जैसे–श्रम शोषण, असमान वितरण, क्षेत्रीय असमानताऐं, इनके साथ इसी तरह की अनगिनत सामाजिक–आर्थिक होती हैं। सरकार का कर्तव्य है कि वह समाज के कल्याण तथा अधिकतम सामाजिक हित के लिए इन बाधाओं का निराकरण करने का प्रयत्न करें। इस प्रयत्न में सरकार की गतिविधियों में वृद्धि के साथ–साथ उसके व्यय में भी वृद्धि होना स्वाभाविक है। सार्वजनिक व्यय से संबंधित सिद्धान्त जैसे– अधिकतम सामाजिक हित का सिद्धान्त, व सरकारी सेवाओं की पूर्ति के सिद्धान्त तथा मूल्य और कीमतों के सामान्य सिद्धान्त, और इससे संबंधित गणितीय प्रतिरूपों आदि भी सार्वजनिक व्यय के आवंटन में इतने कारगर सिद्ध नहीं हो सके है।

1.1 उद्देश्य :–

1. सार्वजनिक व्यय पर प्रभावी नियंत्रण रखना , घोटालों व अपव्यय से बचना तथा अनावश्यक मदों पर व्यय किए जाने को रोकना।
2. सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था प्रदान करने हेतु।
3. राष्ट्र में शान्ति व्यवस्था का वातावरण निर्मित करना।
4. राष्ट्र के विकास को गति प्रदान करना।

1.2 सार्वजनिक व्यय से आशय (Concept of Public Expenditure):-

अर्थव्यवस्था में साधनों का निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में आवंटन काफी जटिल एवं व्यापक है। अब कैसे लोक व्यय पर निर्णय लिया जाए। एक तरफ बाजार व्यवस्था समाज की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को ठीक तरह से समझने में असमर्थ है। और दूसरी तरफ सार्वजनिक व्यय से संबद्ध निर्णयों में भी .त्रुटियां होती है। इस प्रकार व्यक्तियों का व्यय के जरिये बाजार व्यवस्था की गलतियों से छुटकारा पाने की आशा निर्रथक है। यह भी सत्य है कि बाजार व्यवस्था में गलतियाँ होने बावजूद सार्वजनिक व्यय की आवश्यकता में भी वृद्धि होती रहती है। समाज की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं का आंकलन ठीक कैसे किया जाए। इसका विश्लेषण हेतु मतदान प्रणाली अथवा प्रकट अधिमान सिद्धान्त को तवज्जो दी गई है। मतदाताओं के अपनी इच्छाओं को यथार्थ रूप से प्रकट किया है या नही, तथा किसी वस्तु की मांग प्रकट न होने के कारण, यह भी हो सकता है कि मतदाताओं में उस वस्तु की कीमत अदा करने की क्षमता न हो। लेकिन क्षमता न होने का अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति के पास उस वस्तु की आवश्यकता नहीं ; जैसे कि– इलाज के लिए पैसा न होते हुए भी गरीब आदमी को भी इलाज की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी कि एक धनवान व्यक्ति को। माना कि तीन आदमियों से यह प्रश्न पूछा जाय कि वे सार्वजनिक व्यय में तीन वस्तुओं अ, ब, स को दी जाने वाली प्राथमिकता पर अपना मत व्यक्त करें।

वस्तु की प्राथमिकता स्थान

		प्रथम	द्वितीय	तृतीय
1.	मतदाता	अ	ब	स
2.	मतदाता	ब	स	अ
3.	मतदाता	स	अ	ब

इस मतदान का परिणाम एकदम भ्रामक है। मतदाता यह कहें कि अ, ब, स किसी सार्वजनिक वस्तु की भी आवश्यकता नहीं है। तो क्या ऐसी स्थिति में सरकार का अस्तित्व ही समाप्त कर देना चाहिए? जैसे कि–समाज का प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत रूप से सोचे कि उसके मना करने पर भी सरकार देश में कानून और व्यवस्था बनाए रखेगी तथा इस सोच के आधार पर यह मत प्रकट करे कि सरकार को कानून और व्यवस्था बनाए रखने की कोई आवश्यकता नहीं है तो क्या सरकार अपने इस दायित्व का निर्वहन न करें ? इसके अतिरिक्त कानूनी तौर पर सरकार की कई बाध्य व्यय मदें भी होती है, जिनमें परिवर्तन करना संभव नहीं होता है। वर्तमान में सार्वजनिक क्रियाओं का ध्येय मुख्य रूप से सामाजिक कल्याण हेतु विस्तृत होता जा रहा है। इन आर्थिक क्रियाओं का संबंध आय एवं धन के वितरण, अधिकतम हित, नियोजित विकास, सामाजिक हित संबंधी वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि आदि से है। सार्वजनिक ऋण में वृद्धि भी सरकार की आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि का कारण बनी है। अगर देखा जाए तो प्राचीनकाल में अर्थशास्त्रिओं ने सार्वजनिक व्यय को उतनी तवज्जो नहीं दी थी, जितना कि वर्तमान में अर्थशास्त्री दे रहे है। प्रो रॉबर्ट पील का कथन है कि –''धन सरकार की अपेक्षा लोगों के हाथों में अधिक फलदायी सिद्ध हो सकता है।'' परिणामस्वरूप लोक–वित्त का क्षेत्र अधिक संकुचित हो गया था। प्रो0 पारनैल का कथन है कि प्रत्येक सरकारी व्यय अपव्ययपूर्ण है। प्राचीनकाल में इस तरह के कथन के कारण थे कि सरकार का कार्य क्षेत्र केवल न्याय, पुलिस और सेना तक ही सीमित थे। प्राचीनकाल के अर्थशास्त्रियों का कहना था कि प्रत्येक सार्वजनिक व्यय अनुत्पादक तथा अपव्यपूर्ण होता है, साथ ही धन का उपयोग सरकार की अपेक्षा व्यक्ति द्वारा अच्छे ढंग से हो सकता है। सार्वजनिक व्यय को अनावश्यक समझा गया क्योंकि सरकारी व्यय का विस्तार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कम कर देता था। 19 वीं सदी के बाद प्राचीनकालीन विचारधारा में परिवर्तन आया, और सरकारी हस्तक्षेप को वरीयता मिलना प्रारम्भ हुआ । समाजवादी विचारधारा, कल्याणकारी राज्यों की स्थापना व लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था के कारण सरकारी हस्तक्षेप और अधिक व्यापक होने लगा, जिसमें प्रमुख अर्थशास्त्रियों जैसे–वैगनर, फ्रेडरिक लिस्ट, कार्ल मार्क्स, तथा जे0एम0 कीन्स आदि हैं। वर्तमान में स्थिति यह है कि सरकारी हस्तक्षेप प्रगतिशील और कल्याणकारी राज्यों का पर्याय बन चुका है। आज राष्ट्र का प्रवेश आर्थिक क्षेत्र में हो चुका है, फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

1.3 सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure):- सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण में प्रमुख अर्थशास्त्रियों के विचार निम्नवत् हैं–

1. जर्मन अर्थशास्त्री कॉन एवं अमेरिकी अर्थशास्त्री प्लेहन का वर्गीकरण (Kahn & Plehn Clasification):- कॉन एवं प्लेहन ने लाभ के आधार पर सार्वजनिक व्यय को चार भागों में विभक्त किया गया है–

क. विशेष वर्ग को :– यह व्यय किसी विशेष की आवश्यकताओं व समस्याओं पर किया जाता है। अल्पकाल में सरकार को लाभ नहीं होता है बल्कि दीर्घकाल में इस वर्ग पर किया गया व्यय से लाभ प्राप्त होता है। इससे उनकी स्थिति में सुधार हो जाता है। इस प्रकार के व्यय के अन्तर्गत बीमारी–बीमा, बेरोजगारी भत्ता, वृद्धावस्था पेंशन तथा अपाहिजों व विकलांगो को दी जाने वाली सहायता आदि।
ख. विशेष व्यक्ति को :– ऐसे व्यय जो कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को लाभ को प्राप्त होता है। इसके साथ सम्पूर्ण समाज को इसका लाभ प्राप्त होता है, जैसे न्याय व्यवस्था पर व्यय, पुलिस पर किया जाना वाला व्यय आदि।
ग.समाज पर :– ऐसे व्यय का लाभ सम्पूर्ण रूप से समाज को मिलता है, जैसे–स्वास्थ्य कार्यों, शिक्षा, यातायात, सुरक्षा पर किया जाना बाला व्यय।
घ. संस्था पर :– ऐसे व्यय जो खास संस्थाओं को ही लाभ प्राप्त होता है, जैसे–सार्वजनिक उद्योगों पर किया जाने वाले व्यय आदि।

1. प्रो0 एडमस का वर्गीकरण (Adam's Classification):- राज्य में व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर व्यय वर्गीकरण किया गया है–

क. व्यापार व वाणिज्य कार्यः– ऐसे व्यय जो व्यापार एवं वाणिज्य के विकास के लिए किये जाते है , जैसे–सड़कें , डाक, रेल, अर्थात् परिवहन व यातायात आदि।

ख. रक्षा संबंधी कार्य :– ऐसे व्यय, जो राष्ट्र की सुरक्षा एवं नागरिकों की सुरक्षा हेतु किये जाते है, जैसे–न्यायालय, जेल खाना, पागलखाना, सेना, पुलिस आदि।

ग. विकास कार्यो पर :– ऐसे व्यय, जो राष्ट्र के नागरिकों की जान माल की सुरक्षा एवं न्याय, व्यापार के विकास अर्थात् यातायात, शिक्षा स्वास्थ्य व जन कल्याणकारी परियोजना पर किया जाने वाले व्यय आदि।

2. प्रो0 निकल्सन का वर्गीकरण (Nicholson's classification):- सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण का आधार सरकार के व्यय के बदले प्राप्त आय के अनुसार किया गया है।

क. अतिरिक्त आयः– ऐसे व्यय से सरकार का व्यय पूर्ण होने के साथ–साथ अतिरिक्त आय भी प्राप्त होती है, जैसे–रेल, डाकखाने, एवं सड़कों पर किया गया व्यय।

ख. अप्रत्यक्ष लाभ :– ऐसे सार्वजनिक व्यय जो सरकार को अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों की दक्षता एवं उत्पादन में वृद्धि से आय में वृद्धि होती है।

ग. अलाभकार व्यय :– ऐसे व्यय जो राज्य को किसी भी प्रकार से आय प्राप्त नहीं होती है, जैसे–युद्ध पर किया जाने वाला व्यय तथा निर्धनों पर दी जाने वाली सहायता, एवं बेरोजगारी भत्ता आदि।

द. आंशिक प्रत्यक्ष लाभ :– ऐसे सार्वजनिक व्यय जिससे राज्य को आंशिक रूप से आय प्राप्त होती है, जैसे–न्यायालय पर व्यय तथा शुल्क सहित शिक्षा। इससे सरकारी व्यय अधिक होता है जबकि इन सेवाओं से सरकार को व्यय की अपेक्षा शुल्क कम मिलता है।

इसका उपयोग बजट बनाते समय वित्त मंत्री इस वर्गीकरण की सहायता से यह अनुमान लगा सकते है कि किन–किन मदों से कितनी आय प्राप्त हो सकती है।

3. डाल्टन का वर्गीकरण (Dalton's Classification) :-

डाल्टन के अनुसार–''एक व्यक्ति जो सार्वजनिक द्रव्य या द्रव्य का लाभ प्राप्त करता है, सार्वजनिक अधिकारी को द्रव्य के बराबर उतना ही प्रतिदान भी दे सकता है, और नहीं भी। पहले उदाहरण में सार्वजनिक अधिकारी उसे क्रय करता है, दूसरे उदाहरण में उसको अनुदान देता है। यह अनुदान द्रव्य के रूप में हो सकता है या सेवा के रूप ; जैसे चिकित्सा की व्यवस्था या शिक्षा, सेना, पुलिस को प्राप्त सुरक्षा।'' इससे स्पष्ट होता है कि सरकार जनहित के कार्यों के लिए ठेकेदारों का भुगतान करती है, और राज्य कर्मचारियों को वेतन–भत्ता व पेंशन देती है। इसको क्रय–मूल्य संबंधी व्यय माना जाता है। दूसरी तरफ सामाजिक कल्याण हेतु वृद्धावस्था पेन्शन, बीमारी बीमा, गरीबी के निवारण हेतु अनेक योजनाओं का संचालन करती है। इसको अनुदान माना जा सकता है। तार्किक रूप में डाल्टन का वर्गीकरण उचित है। सरकार के द्वारा कितना अंश अनुदान व क्रय–मूल्य के रूप किया जाता है, इसका पता नहीं चल पाता है। डाल्टन, राजस्व क्रय–मूल्य माने जाते है। सार्वजनिक व्यय को कई भागों में विभाजित किया है–

1. यह कि कार्यकारिणी व विधानसभा के द्वारा किये गये व्यय अर्थात् नागरिक प्रशासन पर किये व्यय को प्रशासन व्यय कहा है।
2. यह कि राष्ट्र में न्यायालयों पर होने वाले व्यय को डाल्टन ने न्याय व्यय के रूप में माना है।

3. यह कि राष्ट्र के द्वारा शिक्षा व स्वास्थ्य एवं जन हेतु में किए गये व्यय को सामाजिक सुरक्षा व्यय माना है।

4. यह कि राष्ट्र में ऋण प्राप्त करने में जो व्यय किया जाता है, उसे डाल्टन ऋण संबंधी व्ययों में सम्मिलित करते है।

5. यह कि राष्ट्र में कृषि, उद्योग एवं वाणिज्य के विकास हेतु व्यय किया जाता है, उसे विकास व्यय माना है।

6. यह कि राष्ट्र की सुरक्षा व आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के लिए जो व्यय किये जाते है, उन्हें रक्षा संबंधी व्यय माना है।

7. यह कि राष्ट्र द्वारा विदेशों में कूटनीति हेतु दूतावास तथा अन्य प्रतिनिधियों को बनाऐ रखने में जो व्यय किया जाता है, उसे डाल्टन ने कूटनीति/दूतावास व्यय माना है।

4. जे0 के0 मेहता वर्गीकरण (J.K Mehta's Classification) :-

मेहता कहते है कि ''वर्गीकरण का आधार सार्वजनिक व्यय की प्रकृति है–यह व्यक्तियों के वर्गों के लिए है या व्यक्तियों के लिए, यह इस प्रकार का है कि लोग इसको नियन्त्रित कर सकते हैं या नहीं कर सकते। यह वित्तशास्त्री के द्रष्टिकोण से भी लाभदायक है, क्योंकि वह जानना चाहता है कि वह कहां तक अपने व्यय के अनुमान पर निर्भर रह सकती है और कहां तक व्यक्तियों के राज्य द्वारा प्रदान सेवाओं के उपयोग के निर्णय पर निर्भर करता है।'' जे0के0 मेहता ने सार्वजनिक व्यय के मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया है एक परिवर्तित व्यय दूसरा अपरिवर्तित व्यय। ऐसा व्यय जिन्हें घटाया एवं बढ़ाया जा सकता है अथवा उपभोग पर निर्भर करता है जैसे– शिक्षा, डाक सेवा आदि को परिवर्तित व्यय माना है जबकि सुरक्षा व्यय, प्रकाश स्तम्भ पर व्यय आदि आते हैं, जिनकी मात्रा में जनता के बढ़ने से भी कोई वृद्धि नहीं होती है, को अपरिवर्तित व्यय के अन्तर्गत आते है।

5. शिराज का वर्गीकरण (Shirras's classification) :-

शिराज ने सार्वजनिक व्यय को दो भागों में विभाजित किया है, एक प्राथमिक व्यय दूसरा गौण व्यय। शिराज कहते है कि–'' प्राथमिक व्ययों में वे समस्त व्यय सम्मिलित किये जाते हैं जो कि सरकार के नाम में करने आवश्यक होते हैं जैसे–सुरक्षा, कानून एवं ऋणों का भुगतान। गौण व्ययों में सामाजिक व्यय, सार्वजनिक उपक्रमों पर व्यय एवं अन्य विविध व्यय सम्मिलित किये जाते है।'' इस प्रकार कहा जा सकता है कि देश में सुरक्षा एवं शान्ति पर व्यय को प्राथमिक व्यय तथा सामाजिक कल्याण अर्थात् बेकारी व शिक्षा पर व्यय को गौण व्यय कहा जा सकता है।

6. अमरीकी वर्गीकरण (American Classification) :-

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में व्यय का क्रियात्मक वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। इस वर्गीकरण में व्यय को कई भागों में विभाजित किया गया है जैसे– राष्ट्रीय सुरक्षा, श्रम कल्याण, वाणिज्य एवं आवास, कृषि, ब्याज, आवश्यक सेवाएं, अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति, प्राकृतिक साधन और सामान्य प्रशासन की सम्मिलित किया गया है। अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रशासन पर अधिक बल देते है व सर्वोत्तम मानते हैं।

1.4 सार्वजनिक व्यय के नियम अथवा सिद्धान्त (Canons or Principles of Public Expenditure) :-

कर प्रणाली के नियमों की भांति अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय के नियमों की भी संरचना की है। इस नियमों को आधार मानकर सरकार व्यय पर निर्णय लेने में सहायता लेती है। यह नियम सार्वजनिक साधनों के विवेकपूर्ण उपयोग तथा कानूनी औचित्य को दर्शाते है। सरकार को आय प्राप्त करने व व्यय करने के संबंध में बहुत सोच–विचार कर कदम उठाना चाहिए। साथ ही सरकारी आय का उपयोग ठीक ढंग से हो। इस संबंध में ग्लेडस्टोन का मत है कि–'' आय प्राप्त करने से इसको व्यय करना अधिक कठिन है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से तो राज्य के लिए सबसे उत्तम सिद्धान्त यह है कि सामाजिक लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य को सामने रखकर व्यय करे। अर्थात विभिन्न मदों पर व्यय किए हुए धन के सीमान्त सामाजिक लाभ के बराबर रखने का प्रयत्न करें।'' इस संबंध में डाल्टन का मत है कि–'' राजकीय व्यय को उस सीमा तक ले जाना चाहिए जहां सभी दिशाओं में होने वाले व्ययों से उत्पन्न सीमान्त सामाजिक लाभ समान हों और उस सभी सीमान्त सामाजिक क्षति के बराबर हों, जो विभिन्न प्रकार से राज्य की आय के अतिरिक साधनों के जुटाने से उत्पन्न होती है..... राजकीय व्यय के सभी लाभ पूर्णतः अथवा अंशः आर्थिक नहीं हैं, तथापि उनमें से अधिकांश के प्रभाव आर्थिक होते है; और आर्थिक लागत सभी में होती है।'' इसलिए व्यावहारिकता के आधार पर, सार्वजनिक व्यय न्यायसंगत हेतु कुछ नियम दिये हैं। लोक–व्यय के सिद्धान्त को दो भागों विभाजित किया गया 1. फिण्डले शिराज के सिद्धान्त 2. अन्य सिद्धान्त।

1. फिण्डले शिराज के सिद्धान्त :–

क. मितव्ययिता का नियम (Canon of Economy):-

सरकारी आम जनता की आय का एक हिस्सा है। फिण्डले शिराज का मत है कि–'' पदाधिकारियों की लापरवाही, दूरदर्शिता का अभाव व कमजोर प्रशासन के कारण इस सिद्धान्त की अवहेलना की जाती है। परन्तु सरकार एक ट्रस्टी के समान है और उसका यह नैतिक कर्तव्य है कि वह जनता के धन का अपव्यय न होने दें। इस संबंध में लोक व्यय करते समय सरकार को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि एक उस व्यय से उत्पादन शक्ति में वृद्धि हों, दूसरा, व्यय के अन्तिम परिणाम अच्छे हों तीसरा किसी भी मद पर आवश्यकता से अधिक धन व्यय न हों और चौथा धन का कभी भी अपव्यय न हों।'' इससे स्पष्ट होता है कि जनता के पैसे का सही सदुपयोग हों और फिजूलखर्ची न हो, जिससे जनता में रोष पैदा हों।

(ख.) लाभ का सिद्धान्त (Canon of Benefit) :-

फिण्डले शिराज का मत है कि '' अन्य बातें समान रहने पर, सार्वजनिक व्यय इस प्रकार होना चाहिए इससे समाज को महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हों; जैसे उत्पादन में वृद्धि हों, सारा समाज विदेशी आक्रमण व आन्तरिक व्यवस्था से सुरक्षित रहे और जहां तक सम्भव हों आय की असमानताएं कम हों जायें। संक्षेप में, सार्वजनिक कोषों का उपयोग उन दिशाओं में किया जाना चाहिए जो सार्वजनिक हित के लिए अच्छी हो; अर्थात सार्वजनिक व्यय से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो।'' इस संबंध में बेन्थम का मत है कि –'' अधिकतर व्यक्तिओं को अधिकतम सुख मिले।''इसी क्रम में प्रो पीगू का मत है कि '' सभी दिशाओं में व्यय को उस बिन्दु तक बढ़ाया जाय जिस पर कि व्यय की गयी मुद्रा को अन्तिम इकाई से प्राप्त होने वाली सन्तुष्टियाँ इन अन्तिम इकाइयों की सन्तुष्टियों के बराबर हों जो सरकार सेवा प्रदान करने पर व्यय करती है।'' इससे स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक व्यय से व्यक्ति को लाभ न होकर समाज को लाभ मिले। अधिकतम सामाजिक कल्याण होना चाहिए । जैसे– आय तथा धन की वितरण असमानताओं में कमी, उत्पादन में वृद्धि, लोगों के रहन–सहन स्तर में सुधार हों। सरकार का चयन सबका हित हों के आधार व्यय करना उचित पथ है। इस संबंध में डाल्टन का मत है कि–'' लोक व्यय प्रत्येक दिशा में इस प्रकार होना चाहिए कि किसी एक दिशा में तनिक सी वृद्धि होने से समाज को प्राप्त होने वाला लाभ उस हानि के बराबर हो जाये, जो कर की मात्रा में तनिक सी वृद्धि के कारण होती है और अन्य किसी स्त्रोत से राजकीय आय भी होती है, यही लोक व्यय और लोक आय का आदर्श होना चाहिए।'' इससे स्पष्ट होता है कि समाज को प्राप्त होना वाला लाभ कर के रूप में मिलने वाली हानि के बराबर हो जाए। साथ ही कर हानि से, लाभ अधिक हो, तो उसे अच्छा माना जाता है।

(ग.) बचत का सिद्धान्त (Canon of Surplus) :- इस सम्बन्ध में फिण्डले शिराज का मत है–'' सार्वजनिक अधिकारियों को अपनी आय की प्राप्ति व उसका व्यय सामान्य नागरिकों के समान करना चाहिए। व्यक्तिगत व्यय के समान, सन्तुलित बजट की सामान्य नीति होनी चाहिए।'' इसी क्रम में ग्लैडस्टोन का मत है कि–'' जब सरकारें फिजूलखर्ची प्रारम्भ करती हैं तो आय एवं व्यय का संतुलन टूट जाता है और वित्त के क्षेत्र में अंधेरा छाकर राजद्रोह एवं बर्बादी को प्रोत्साहित करता है।'' वर्ष 1920 के ब्रुसेल्स अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन में कहा गया था कि–''जो देश घाटे को बजट नीति को अपानाते हैं, वे फिसलने वाले मार्ग पर चलकर अत्यधिक बर्बादी को प्रोत्साहित करते है और इससे बचने हेतु जो बलिदान किया जाए वह कम ही है।'' उससे स्पष्ट हो जाता है कि बचत का सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं है कि सरकार का व्यय आय से कम हों । वर्तमान स्वरूप में बजट में बचत के स्थान पर 'घाटे' का समर्थन किया जाता है। कहा जाता है कि मन्दी व युद्धकाल में घाटे के बजट तेजीकाल में बचत व सामान्यकाल में सन्तुलित बजट बनाना उपयोगी रहता है।

(द.) स्वीकृति का सिद्धान्त (Canon of Sanction):-

सार्वजनिक व्यय तब तक नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि उसके व्यय करने की स्वीकति नियमानुसार उच्चाधिकारी से प्राप्त नहीं हो जाती है। विस्तृत नियमों–अधिनियमों व शासनादेशों के अन्तर्गत अधिकृत धन–राशियों का व्यय करना चाहिए। लेखा–परीक्षण पद्धति (System of Auditing) तथा विधायी प्राधिकरण की परीक्षण समितियों द्वारा यह सुनिश्चित किया जाता है कि कहीं पर भी अपव्यय न हो सकें तथा कहीं पर भी वित्तीय नियमों को तोड़ा नहीं जाना चाहिए। साथ ही प्रत्येक अधिकारी को ध्यान रखना चाहिए कि जितना धन की स्वीकृति हो उतना ही व्यय करें। व्यय की दी गई राशि का व्यय उसी मद में करें तथा सरकार द्वारा व्यय की गई राशि का व्यौरा सही रखना और समय–समय लेखा परीक्षण कराया जाना चाहिए।

2. सार्वजनिक व्यय के अन्य सिद्धान्त :–

सार्वजनिक व्यय के अन्य सिद्धान्त जैसे– समान वितरण का सिद्धान्त, लोच का सिद्धान्त, समन्वय का सिद्धान्त, उत्पादकता का सिद्धान्त प्रमुख हैं। उत्पादकता के सिद्धान्त पर हैन्सन का मत है कि–'' कोई भी राष्ट्र देश में सामाजिक तथा लोक सेवाओं पर व्यय किये बिना जीवन–स्तर को ऊँचा नहीं कर सकता।'' साधारणतः यह विदित है कि सार्वजनिक व्यय पर उत्पादकता में वृद्धि होना चाहिए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सार्वजनिक व्यय का उचित या अनुचित होना इस बात पर निर्भर करता है कि उससे देश की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होती है या नहीं इससे स्पष्ट होता है कि देश में कार्यक्षमता में वृद्धि, रोजगार में वृद्धि तथा अधिक विकास होना, यह सिद्ध करता है कि सरकार के द्वारा किये गये व्यय उत्पादक कहे जायेगे। समान वितरण का सिद्धान्त अर्थात सार्वजनिक व्यय वितरण ऐसा होना चाहिए, जिससे देश में असमानता को दूर किया जा सके। सार्वजनिक व्यय का प्रमुख उद्देश्य धन के वितरण की असमानता को दूर करना ही है। अल्पविकसित देशों में एक वर्ग सतत् कार्य करते हुये पिछड़ रहा है, और दूसरा वर्ग बिना कार्य किए कमा रहा है। सार्वजनिक व्यय तभी न्यायोचित माना जा सकता है जब निर्धनों का आय–स्तर में वृद्धि हो । निर्धन वर्ग हेतु शिक्षा, चिकित्सा, आवास–सुविधाओं पर किया जाने वाला व्यय समान वितरण के सिद्धान्त के अनुकूल होगा। लोच का सिद्धान्त पर ब्यूहलर का मत है कि ''लोक व्यय के परिणामों का अनुमान लगाते समय हमें उन परिणामों की ओर भी ध्यान देना होगा, जो कि उस व्यय की पूर्ति करने के संबंध में करारोपण या आय के अन्य स्त्रोतों के परिणामस्वरूप सम्मुख आ सकते है।'' इससे स्पष्ट होता है कि अधिकतम सामाजिक लाभ के उद्देश्य के अनुसार व्यय करने में लचीलापन होना चाहिए। लोच के सिद्धान्त के अनुसार सार्वजनिक व्ययों को आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा किया जा सकता हों। समन्वय का सिद्धान्त अर्थात् जिन देशों में संघीय शासन व्यवस्था अर्थात केन्द्र सरकार, राज्य सरकारें, स्थानीय सरकारे पृथक रूप से अलग–अलग व्यय करती हैं वहां पर व्यय ऐसे तरीके से होना चाहिए कि पुर्नवृत्ति न हो। इस संबंध में ब्यूहलर का मत है कि–'' यद्यपि व्यय के सिद्धान्त करारोपण के सिद्धान्त की भांति पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुए है, तथापि कुछ स्पष्ट एवं मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन किया जा सकता है जो कि संसद एवं जनता का पथ–प्रदर्शन उस समय तक कर सकते है जब तक कि अच्छे व पर्याप्त सिद्धान्त का विकास न हो जाए।'' उससे स्पष्ट होता है कि केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच में समन्वय अच्छा होना चाहिए, जिससे एक ही मद पर व्ययों की पुर्नवृत्ति न हो सके।

1.5 सार्वजनिक व्यय के नियन्त्रण की विधियां
(Methods of Public Expenditure Control) :-

इस संबंध में लुट्स का मत है कि–'' लोक सेवाओं पर व्यय होने वाली राशि का विवेकपूर्ण निर्धारण करना ही व्यय नियंत्रण कहलाता है।'' लोक व्यय को नियन्त्रित करने का उद्देश्य सरकारी धन के दुरूपयोग को रोकना है इसके रोकने की विधियां निम्नवत् है–

क. क्रय प्रणाली :–

सरकारी व्यय में दुरूपयोग को रोकने का मितव्ययिता लाने की दृष्टिकोण से सरकार को स्वतः कामकाजी वस्तुओं व सामग्री का क्रय करना चाहिए जिससे मितव्ययिता के साथ भ्रष्टाचार को खत्म किया जा सके।

ख. पूर्ण निश्चित योजना :–

सार्वजनिक व्यय को पूर्ण निश्चित योजना के आधार पर नियोजित ढंग से नियंत्रित किया जा सकता है।

ग. सही बजट अनुमान :–

बजट सरकार का आय–व्यय का ब्यौरा होता है। बजट अनुमान जितने सही होने, वित्तीय नियन्त्रण उतना ही अच्छा होगा।

घ. अंकेक्षण व्यवस्था :–

सार्वजनिक व्यय के दुरूपयोग हेतु अंकेक्षण होता है। समस्त सरकारी व्ययों का लेखा उचित है या अनुचित, का पता अंकेक्षण से चलता है। अंकेक्षण के माध्यम से दुरूपयोग एवं अनियमितता को सरलता से रोककर, जनता का हित अच्छा हो सकता है।

ड. अन्य रीतियां :–

सार्वजनिक व्यय को नियंत्रित करने हेतु अन्य रीतियों का उपयोग किया जा सकता है जैसे– शक्तिशाली करदाता संघ की स्थापना, वित्तीय अनुसंधान की व्यवस्था, शिक्षा का समुचित प्रचार–प्रसार

करना, वित्तीय समंको का संग्रह करना, नागरिकों चेतना जाग्रत करना और राष्ट्रीय भावना का विकास करना आदि। इस प्रकार समग्र रूप से सारी प्रणालियां समन्वय के साथ प्रभावी ढंग से कार्यों का सम्पादन करेगी, तब जाकर व्यय नियंत्रित किया जा सकता है।

1.6 सार्वजनिक व्यय के प्रभाव (Effects of Public Expenditure):-

1. सार्वजनिक व्यय तथा आर्थिक स्थिरता (Public Expenditure and Economics stability) :-

अर्थव्यवस्था चाहे विकसित हो और जितनी अन्य अर्थव्यवस्था से विदेशी व्यापार आदि के माध्यम से जुड़ी हो , उतनी ही इसकी आर्थिक अस्थिरता से ग्रस्त होने की संभावना बढ़ जाती है। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने के कारण, निजी उपभोग व विनियोग भी प्रोत्साहित होते है जिससे समग्र प्रभावी मांग को बढ़ाने में सहायता मिलती है। सार्वजनिक व्यय हेतु वित्तीय साधन की आवश्यकता पड़ती है, तो घाटे का बजट एक कारगर विधि मानी जाती है।

(क.) केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर या अतिरिक्त मुद्रा के निर्माण और प्रयोग के द्वारा बाजार में प्रचलित मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जायेगीं। अन्य स्थितियां सामान्य रहने पर, प्रचलित मुद्रा में वृद्धि होने के कारण बाजार में प्रभावी मांग में वृद्धि हो जाती है। बैंक अतिरिक्त साख का सृजन कर सकते है तथा मंदी को दूर करने में सहायता मिलती है।

(ख.) सरकार बैंको से उधार लेती है तो उनके पास सरकारी वित्तीय प्रतिभूतियों (Fianancial securities) के भंडार में वृद्धि हो जाती है। आवश्यकतानुसार इन प्रतिभूतियों के विक्रय द्वारा अतिरिक्त मुद्रा का प्रबन्ध किया जा सकता है। इस प्रकार व्यापारियों और निर्माताओं को पहले से अधिक उधार देने तथा साख सृजन करने को तत्पर हो जाते है, जिससे मंदी को दूर करने में सहायता मिलती है।

(ग.) सरकार व्यक्तिओं, कुटुम्बों , व्यवसायों आदि से उधार लेती है तो इसका आर्थिक मंदी को दूर करने में योगदान अनिश्चित हो जाता है। सरकार के ऋणदाता अपने उपभोग में कमी न करें, साथ ही निजी क्षेत्र के निवेशकर्ता अपने निवेश में कमी न करे तो सकल व्यय प्रवाह में वृद्धि के द्वारा मंदी पर नियन्त्रण किया जा सकता है। यदि सरकार के ऋणदाता अपने उपभोग में कमी कर दें तथा निजी क्षेत्र के अपने निवेश में कमी कर दे ंतो सरकार द्वारा बढ़ाया गया व्यय इसी अंश तक प्रभावहीन हो जाएगा तथा समग्र प्रभावी मांग में अपेक्षाकृत वृद्धि न होने के कारण मंदी पर नियन्त्रण पाना कठिन हो जायेगा।

(घ.) सरकार अपने व्यय को कायम रखते हुए कर–राजस्व में कमी कर दे ंतो करदाताओं की आय में वृद्धि हो जायेगीं। ऐसी स्थिति में करदाता अपना उपभोग में वृद्धि करेंगे और मंदी पर काबू पाया जा सकेगा।

2. सार्वजनिक व्यय तथा उत्पादन (Public Expenditure and production) :-

अर्थव्यवस्था में उत्पादन में वृद्धि करने हेतु सार्वजनिक व्यय नीति उपयोगी हो सकती है। अल्पविकसित अर्थव्यवस्था संरचनात्मक और संस्थानिक दोषों से ग्रस्त होती है, जिसके कारण बचत और निवेश की दरें कम होती है। इसमें अवसंरचनात्मक सुविधाओं, पूंजी संयंत्रों और मशीनरी, तकनीकी प्रयुक्तियों तथा मानवीय पूंजी का अभाव होता है। अभाव के चलते उद्योगों का अस्तित्व तक नहीं होता है। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था में उत्पादन क्षमता वृद्धि एवं उपयोग करने के लिए दोषों को दूर करना जरूरी होता है। बचत और निवेश की दरों में वृद्धि हेतु सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के साथ नियोजन के उपयोग द्वारा पूंजी निर्माण और उत्पादन में वृद्धि नहीं की जा सकती है, इसके लिए आने वाले रूकावटें को भी दूर करना आवश्यक है। माना कि सरकार अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए विदेशी वस्तुओं की जगह स्वदेशी वस्तुओं को क्रय करती है तो लघु कुटीर उद्यमों के श्रम प्रधान होने के कारण उनके उत्पादन को क्रय करने पर रोजगार को बढ़ावा मिलेगा। भारत में प्रादेशिक आर्थिक असमानताएं एक समस्या है, सार्वजनिक व्यय का उपयोग करके इन समस्यायें के निराकरण से देश को लाभ मिल सकता है। लोक व्यय नीति में अनुसंधान तथा विकास खोजने को प्रोत्साहन देने की कहती रहती है। उत्पादन को बढ़ाने के लिए कुछ बातें निम्नवत् है–

1. यह कि कई परियोजनाएं एवं योजना, ऐसी होती है, जिनके प्रारम्भ में अनेक वर्ष लग जाते हैं। उन पर होने वाले व्यय के कारण मांग एवं कीमतों में अन्तर आ जाता है और मांग व पूर्ति में अंतराल होने के कारण, कीमतों में अनुचित वृद्धि न हो पाये।
2. यह कि योजनाओं को बनाने एवं क्रियान्वयन में त्रुटियाँ होने पर साधनों का अपव्यय होता है इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।
3. यह कि परियोजनाओं का चयन आर्थिक सामाजिक कल्याण के आधार पर किया जाना चाहिए। लागत–कल्याण का चरणबद्ध तरीके से विश्लेषण किया जाए तथा परिणामों की तुलना करने के पश्चात

ही अंतिम निर्णय लिया जाना चाहिए। परिणामों के पश्चात उच्च प्राथमिकता वाली परियोजनाओं का चयन सामाजिक–आर्थिक के केन्द्र बिन्दु के आधार पर किया जाना चाहिए।

4. यह कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में उत्पादन साधन बेकार की अवस्था में होते हैं परियोजनाओं के चयन के समय इस तथ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

3. सार्वजनिक व्यय और वितरण (Public Expenditure and distribution) :-

अर्थव्यवस्था में वितरण की असमानताएँ, बाजार व्यवस्था का एक शाप के रूप माना जाता है। वितरण की असमानताओं विकसित अर्थव्यवस्थाओं में कम कष्टकारी होती है जबकि अल्पविकसित देशों में अत्यधिक कष्टदायी होती है। अल्पविकसित देशों में कुल मिलाकर गरीबी की व्यापकता के अधिकतर गरीब लोग निर्धनता की रेखा से भी नीचे चले जाते है। वितरण की असमानता होने के कारण, सामाजिक–आर्थिक विकास का होना निरर्थक है। वितरण में असमानता के चलते कई प्रकार की सामाजिक एंव अन्य समस्याएं भी उत्पन्न होगी जैसे–गरीबी और निर्धनता स्वयं में भी मानवता के लिए कम खतरनाक नहीं है। इनसे छुटकारा पाने हेतु कुछ तथ्य निम्नवत् है–

1. सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य श्रम उत्पादकता में वृद्धि करना, इसके लिए श्रम कल्याण पर ध्यान देने की जरूरत है। इस संबंध में विचारणीय है कि गरीबी और निर्धरता के होते शिक्षण–प्रशिक्षण तो दूर बात है, श्रमिक वर्ग अपनी दैनिक जरूरतों को भी पूरा करने में असमर्थ होता है। ऐसी स्थिति में श्रम की उत्पादिकता के उच्च स्तर की होना पर प्रश्न चिन्ह है।
2. आय की असमानताओं को घटाने पर कई देशों में विकास प्रक्रिया पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है। असमानताअें को घटाने से सामाजिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता मिलती है। समग्र आर्थिक नीति का लक्ष्य अधिकतम सामाजिक कल्याण ही होना चाहिएं। सामान्य ज्ञान के आधार पर कहा जा सकता है कि आय की असमानताओं को घटाने की उपयुक्तता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।
3. अर्थव्यवस्था में तीन कारक हैं, जो वितरण की असमानताओं में वृद्धि करने में सहायक होते है, जैसे–कीमतों में वृद्धि, निजी संपत्ति की संस्था, उत्तराधिकारिता की संस्था (Increase in Prices, Institution or Private Property, Inheritance) इनका समाधान यह है कि सार्वजनिक व्यय नीति ऐसी होनी चाहिए कि यह इन तीनों कारकों को कमजोर करने में भूमिका अदा करें।
4. यह कि गरीब आदमी क्रय शक्ति के अभाव में बुनियादी जरूरत की वस्तुएं और सेवाओं को भी खरीद नहीं पाते है। ऐसी वस्तुओं एंव सेवाओं पर सरकार अनुदानों की व्यवस्था कर सकती है।
5. सरकार का कर्तव्य है कि अनावश्यक उपभोग मे कमी करके, रोजगार बढ़ाने वाले परियोजनाओं पर कार्य करें।
6. सरकार को चाहिए कि श्रम प्रधान लघु–कुटीर उद्योग, ग्रामीण उद्योगों को रियायत तथा प्राथमिकता दें।

1.7 सारांश (Summary):-

भारत में सम्पत्ति के वितरण को समान बनाने हेतु सार्वजनिक व्यय का इतना महत्व नहीं है, लेकिन विगत वर्षों से जो परिवर्तन हो रहे हैं उससे प्रदेश स्तर व क्षेत्रीय पुनर्वितरण में पर्याप्त प्रगति देखने को मिलती है। इससे पिछड़े क्षेत्रों को लाभ पहुंचने के साथ–साथ आय स्तर एवं उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो रही है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आवश्यकता इस बात की है कि सार्वजनिक व्यय मितव्ययिता पूर्ण होना चाहिए। सरकार का प्रयास अपव्यय को रोकने एवं प्रशासन में कार्यकुशलता व मित्तव्ययिता लाने का पूर्ण प्रयास है। इन सबका लाभ तब दिखाई देगा जब कर्मचारियों में ईमानदारी एवं सत्य निष्ठा की भावना का संचार हो और उनमें राष्ट्र निर्माण की भावना उत्पन्न हो। बजट का वर्गीकरण का उद्देश्य साधनों का वितरण अधिकतम सामाजिक कल्याण सिद्धान्त एवं सामाजिक न्याय सिद्धान्त के अनुसार हों सके। लेकिन बजट में अनेक तकनीकी का प्रयोग होने के बावजूद, सुधार की गुंजाइश नहीं रहती है। सरकार का यथासम्भव यह प्रयत्न रहता है कि मापनीय और निगरानीय, लक्षित परिणाम आयें।

1.8 शब्दावली (Key words):-

1. सावर्जनिक व्यय (Public Expenditure)
2. संवितरण (Disbursment)
3. प्रकट अधिमान (Revealed Preference)
4. लेखा परीक्षण (Auditing)
5. हस्तान्तरण व अहस्तान्तरण व्यय (Transfer & Non Transfer expenditure)

6. राजस्व एवं पूँजी व्यय (Revenue & Capital Expenditure)
7. उपभोग (Consumption)
8. नियोजित (Planed)
9. अनियोजित (Non-planned)
10. उत्पादक (Productive)
11. निवेश (Investment)
12. कार्यातमक वर्गीकरण (Functional Classification)
13. कार्यक्षमता (Efficiency)
14. गहनता (Intensity)
15. चरणबद्ध (Stepwise)
16. समायोजन (Adjustment)
17. मित्तव्ययिता (Economy)
18. लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee)
19. अनुमान समिति (Estimate Committe)
20. वित्तीय नियंत्रण (Financial Control)

1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books):-

1. R.A Musgrave and P.B Samusgrave :Public Finance in Theory and Practive (1989) chapter 08
2. Musgrave and Peacock : Classics in the Theory of Public Finance (1962) chapter 1
3. Alan Peacock : The Economic Analysis of Govt. and Other Related Themes (1980) chapter 7
4. R.A Musgrave : Fiscal Systems 1969
5. John C. Beyer : Budget Innovation in Development Countries: The Experiece of Napal, Praeger- 1973
6. लोकवित्त : डॉ0 एस0 के0 सिंह, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
7. लोक अर्थशास्त्र डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण पब्लिकेशन्स, आगरा
8. लोक वित्त : एच0एल0 भाटिया, विकास पब्लिसिंग हाऊस प्रा0 लि0, नोयडा भारत।
9. लोक वित्त : डॉ0 जे0सी0 वार्ष्णेय, एस0बी0टी0पी0 पब्लिसिंग, हाऊस, आगरा।

1.10 अभ्यास प्रश्न (Practive Questions):-

1. सार्वजनिक व्यय से क्या आशय है?
2. सार्वजनिक व्यय को वर्गीकरणों की व्याख्या कीजिए।
3. सावर्जनिक व्यय के नियम की व्याख्या कीजिए।
4. सार्वजनिक व्यय के नियंत्रण की विधियां बताइए।
5. सार्वजनिक व्यय और आर्थिक स्थिरता को समझाइए।
6. सावर्जनिक व्यय और उत्पादन पर प्रभाव बताइए।
7. सार्वजनिक व्यय और वितरण पर एक लघु टिप्पणी लिखिए।
8. सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।

1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective question Answer):-

1. सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का कौन सा कारण है?

क. बैकों की संख्या में वृद्धि ख. आय व्यय का समायोजन
ग. उद्योगों का राष्ट्रीयकरण घ. भूमि सुधार

(उत्तर ग)

2. व्यय के वर्गीकरण का आधार आय को किस अर्थशास्त्री ने माना है?
क. काहन ख. निकल्सन ग. डाल्टन घ. एडम
(उत्तर ख)

3. सार्वजनिक व्यय का महत्व के आधार पर वर्गीकरण किस अर्थशास्त्री द्वारा किया गया है?
क. डाल्टन ख. शिराज ग. रोशर घ. श्रीमती उर्सला हिक्स
(उत्तर ख)
4. कार्य करने व बचत करने की योग्यता का मुख्य संबंध होता है–
क. रोजगार का स्तर ख. कार्यक्षमता ग. निवेश घ. सार्वजनिक व्यय
(उत्तर क)
5. मन्दी के समय सार्वजनिक व्यय की प्रकृति क्या होनी चाहिए?
क. दीर्घकालीन ख. अल्पकालीन ग. मध्यकालीन घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर क)

6. विश्व में सर्वप्रथम आर्थिक मन्दी किस वर्ष आयी थी?
क. 1921 ख. 1932 ग. 1940 घ. 1930
(उत्तर घ)
7. सार्वजनिक व्यय के आदर्श हैः
क. अधिक रोजगार ख. अधिक आय ग. न्यूनतम व्यय
घ. अधिकतम सामाजिक लाभ
(उत्तर घ)
8.वर्तमान व्यय करने से व्यक्तिओं की आय में–
क. कमी आती है ख. वृद्धि होती है ग. आय शून्य हो जाती है। घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर ख)

वैगनर का बढ़ती हुई राजकीय कियाओं का सिद्धान्त (Wagner's Theory of Increasing State Actions)

इकाई की रूपरेखा

1.0परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 वैगनर का सिद्धान्त
1.3 सरकारी व्यय में वृद्धि के प्रमुख कारण
1.4 सार्वजनिक व्यय के नियमों की आवश्यकता
1.5 वैगनर नियम की व्याख्या
1.6 वैगनर नियम की समीक्षा
1.7 जैक वाईजमैन–पीकॉक का सिद्धान्त
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.11 अभ्यास प्रश्न
1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :-

19वीं शताब्दी के बाद सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने लगी। प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर ने 19वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में 'राजकीय क्रियाओं के कार्यकलाप में 'वृद्धि के नियम' का प्रतिपादन करते हुए लिखा था कि ''विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की व्यापक तुलनाओं से पता चलता है कि प्रगतिशील राष्ट्रों में केन्द्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों के कार्यकलापों में वृद्धि होती रहती है। यह वृद्धि विस्तृत और गहन दोनों प्रकार की है। केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें निरन्तर नये कार्य हाथ में लेती जाती हैं और पुराने कार्यों को अधिक कुशलता तथा पूर्णता के साथ करती हैं। इस प्रकार केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें जनता की आर्थिक आवश्यकताएं एक से अधिक परिमाण में और अधिक सन्तोषजनक ढंग से पूरा करती है।''

1.1 उददेश्य (Objectives):-

1. सार्वजनिक व्यय का वैगनर नियम को समझ सकते हैं एवं वर्तमान में प्रासांगिकता को समझ सकेंगे।
2. लोक व्यय के नियमों की आवश्यकता को समझ सकेंगे।
3. राजकीय व्यय में वृद्धि के कारणों को जान सकेंगे।

1.2 वैगनर का सिद्धान्त (Theory of Wagner's) :-

वैगनर के पूर्व ऐंजिल्स ने यह नियम प्रतिपादित किया था कि आय में वृद्धि के साथ खाद्यान्न पर आय की लोच गिर जाती है अर्थात् व्यक्ति की आय में वृद्धि के साथ–साथ खाद्यान्न पर होने वाला व्यय कम हो जाता है। व्यक्ति खाद्यान्न पर कम तथा आरामदायक व विलासिता की वस्तुओं पर खर्च करने लगता है। वैगनर कहते है कि सरकारी सेवाओं के लिए आय की लोच इकाई से भी अधिक होती है। आर्थिक विकास के कारण सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि होना स्वाभाविक है। वृद्धि का यह अनुपात व्ययों के रूप में परिवर्तित होने पर प्रति व्यक्ति उत्पादन दर को बढ़ा देता है। राष्ट्रीय अनुपात में वृद्धि से सार्वजनिक व्ययों में भी वृद्धि हो जाती है। सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि होने से जनता के आर्थिक जीवन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है और देश के विकास में वृद्धि होने लगती है। वैगनर के नियम लागू होने पर डाल्टन कहते है कि ''आधुनिक प्रगति के कारण राजकीय संस्थाओं की कार्यकुशलता निजी संस्थाओं की अपेक्षा अधिक हो गयी है, क्योंकि राजकीय संस्थायें अच्छी किस्म का माल उत्पादित करना व सार्वजनिक क्षेत्र को पूंजी सरलता से मिल जाती है, और बाजार में वस्तुओं की कमी नहीं हो पाती है। राजकीय व्यय द्वारा ऐसी वस्तुओं एवं सेवाओं को उत्पादित किया जाता है जिनका उपयोग सम्पूर्ण समाज करता है, जैसे–पार्क, स्कूल, लाइब्रेरी आदि। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं निजी व्यवसायों के द्वारा नहीं किये जाते है, जिन्हें राज्य उन कार्यों को करता है जिससे सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती है। वैगनर का मत

है कि–''अपने कार्यकलापों में वृद्धि करना हर सरकार की आंतरिक प्रवृत्ति होती है। आने वाले समय में विविध कारणों से उसके कार्यकलापों में फैलाव के साथ–साथ उनकी गहनता (Intensity) भी बढ़ती जाती है। राज्य के कार्यकलापों का अर्थव्यवस्था के विकास के साथ फलन अर्थात कार्यात्मक (Functional) संबंध इस प्रकार का होता है कि राज्य की गतिविधियों की विकास दर अर्थव्यवस्था की विकास दर से सदैव अधिक रहती है। सरकार के कार्यक्षेत्र में फैलाव अर्थात देश की सुरक्षा व्यवस्था पर व्यय लगातार बढ़ता जाता है। प्रशासनिक मशीनरी की गतिविधियों में वृद्धि के साथ–साथ उनकी गहनता के बढ़ने की प्रवृत्ति भी रहती है। समाज में प्रगति के साथ प्रशासनिक कार्यकुशलता हेतु कर्मचारियों की आवश्यकता होती है तथा महंगे उपकरणों का उपयोग करना पड़ता है। समाज और अर्थव्यवस्थाओं की जटिलताओं के कारण प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार भी अनिवार्य हो जाता है। साथ ही श्रम के शोषण से बचाने, लोगों के रहन–सहन के कल्याण हेतु, स्वास्थ्य, शिक्षा , और रोजगार व उत्पादन में वृद्धि लाने जैसे अनेक क्षेत्रों में उन्हें अपनी सक्रिय भूमिका अदा करना पड़ती है। अन्य कारक जैसे–जनसंख्या में लगातार वृद्धि, आर्थिक विकास के साथ शहरीकरण, कीमतों में वृद्धि, सेवाओं का विशिष्टीकरण, आदि के कारण लोक व्यय में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर का विचार जिसे हम प्रचलित शब्दों में वैगनर्स लॉ भी कहते हैं। यह बताता है कि सार्वजनिक व्यय आर्थिक विकास के साथ बढ़ता जाता है। वैगनर के अनुसार यह व्यय निम्न तीन प्रकार से प्रभाव होता है–

क. सार्वजनिक व्यय कुशलतापूर्वक कार्य करता है– इसका अभिप्राय यह है कि सार्वजनिक संस्थाएं कुशलतापूर्वक कार्य करते हुए अधिक और उत्तम प्रकार के उत्पादन में लगी रहती हैं। ये संस्थाएं वस्तु की मांग और पूर्ति में सामंजस्य स्थापित करती हैं साथ ही इनके पास पूंजी की पर्याप्तता भी होती है जिसके कारण ये संस्थाएं कार्य संचालन में निपुण होती है।

ख. सार्वजनिक व्यय लोक कल्याणकारी है– सार्वजनिक व्यय निजी व्यय के समान लाभ भावना को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता है, यह लोक कल्याणकारी कार्यों को महत्व देता है। इस व्यय से समाज का प्रत्येक वर्ग लाभान्वित होता है।

ग. वृहद् कार्यों का निष्पादन – सार्वजनिक व्यय उन बड़ी–बड़ी आधारभूत योजनाओं पर किया जाता है, जहां निजी विनियोगकर्ताओं की पहुंच नहीं होती है। वे लाभ भावना से प्रेरित होकर विनियोग करते है, जो सामाजिक लाभ की दृष्टि से न्यायोचित नहीं माना जा सकता है।

1.3 सरकारी व्यय में वृद्धि के प्रमुख कारण

1. **आर्थिक विकास में प्रत्यक्ष रूचि (Direct Interest in Economic Development) :–** आज प्रत्येक देश अपने आर्थिक विकास में तेजी से वृद्धि करना चाहता है। यह समस्या मुख्य रूप से विकासशील देशों के सामने है। इसलिए वहां की सरकारों ने पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन पर स्वयं निवेश करना प्रारम्भ कर दिया है। इसके अतिरिक्त कुछ योजनाएं ऐसी है जिनका संचालन बिना सरकारी संरक्षण के सम्भव नहीं है ; जैसे–सामाजिक सुरक्षा तथा विदेशी विनिमय–नियन्त्रण आदि।

2. **मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित कार्य (Work for the fulfillment of Human Requirements) :-** प्रजातान्त्रिक शासन–व्यवस्था में जनभावनाओं का आदर करना होता है। जनभावना अपनी समस्या का समाधान सरकार के माध्यम से करना चाहती है; विशेषकर सामूहिक योजनाएं ; जैसे–शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई, यातायात आदि के कार्य। इसके अतिरिक्त, आर्थिक शोषण के प्रति भी सरकार जागरूक रहती है, यह व्यवस्था की जाती है कि लोगों को उनकी सुविधा की वस्तुएं एवं सेवाएं आसानी से उपलब्ध हो सकें।

3. **जनहित के कार्यों का नियमन (Public Welfare Operation):-** वर्तमान समय में यह धारणा बल पकड़ती जा रही है कि व्यक्ति अपने सुख–दुख के लिए स्वयं उत्तरदायी नहीं है। यदि देश की अर्थव्यवस्था का विकास किया जा सके, तो लोग इससे लाभान्वित होंगे। अब सरकार ऐसे कार्य करने लगी है जिससे सामाजिक शोषण व भ्रष्टाचार मिटाया जा सके। वास्तव में राज्य ही ऐसा प्रयत्न करने में सक्षम है जिससे मानव विकास के लिए समुचित व्यवस्था की जा सके कि व्यक्ति के कष्टों में कमी हो और सुख में वृद्धि हो। इसके लिए सरकार समय–समय पर अर्थशास्त्रियों से सुझाव भी मांगती रहती है।

4. **सन्तुलित आर्थिक विकास का कार्य (Work for Balanced Development):-** संसार के अधिकांश देशों का सन्तुलित आर्थिक विकास नहीं हो पाया है और वे शक्तिशाली राष्ट्रों के उपनिवेश बने हुए है। ऐसे राष्ट्रों में अनेक प्रकार की विसंगतियां पायी जाती है। क्षेत्रीय असन्तुलन उन देशों में अनेक बुराइयां पैदा कर देता है। निजी उद्यमी अपने हाथों में उन्हीं कार्यों को लेते हैं जिनसे उन्हें

मनमाना लाभ मिलता है। इससे प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विकास नहीं हो पाता है और राष्ट्र की भी क्षति होती है। साथ ही, अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्र में समन्वय न होने के कारण आर्थिक उतार–चढ़ाव आते रहते है। इन सब बातों को व्यवस्थित करने के लिए सरकारी व्यय में वृद्धि होने लगी है।

5. आर्थिक विषमता को दूर करना और पूंजी का संचय करना (Removal of Economic disparity and Capital Formation) :- आर्थिक विषमता तथा पूंजी के संचय की समस्या विकासशील देशों की मुख्य विशेषता है। यदि ऐसे राष्ट्रों में सरकारी हस्तक्षेप को बढ़ावा न दिया गया, तो यह खाई और अधिक बढ़ेगी, क्योंकि अनियन्त्रित अर्थव्यवस्था में आर्थिक विषमता बढती है। विषमता को दूर करने के लिए सरकार रेलवे लाइनों, सड़कों व संचार के साधनों पर स्वयं व्यय करती है।

6. जनसंख्या में वृद्धि (Increase in Population) :- विकसित देशों की अपेक्षा विकासशील देशों में जनसंख्या की समस्या ने भयानक स्थिति उत्पन्न कर दी है। यहां जिस तेजी से जनसंख्या बढ़ रही है उस तेजी से साधनों का विकास नहीं हुआ है। इसलिए इन राष्ट्रों में एक विषम आर्थिक चक्र उत्पन्न हो चुका है। इन देशों के सामने मुख्य समस्या आर्थिक विकास की है। अधिकांश अर्थशास्त्री इस मत के हैं कि पर्याप्त मात्रा में विनियोग करके लोगों के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाकर जनसंख्या को नियन्त्रित किया जा सकता है। ऐसे राष्ट्रों में जब तक सरकारी प्रयत्नों के माध्यम से 'जबरदस्त धक्का' नहीं लगाया जायेगा तब तक इन राष्ट्रों की घिसी–पिटी परम्परागत दयनीय आर्थिक स्थिति यथावत् बनी रहेगी।

7. बेरोजगारी की समस्या का निदान (solution of Unemployment Problem) :- बेरोजगारी की समस्या के हल के लिए निजी क्षेत्र का योगदान ही काफी नहीं होता है। सरकार का उद्देश्य लाभ प्राप्त करना नहीं है, उसका मुख्य उद्देश्य तो देश में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या का हल खोजना है। इसलिए सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण–कार्यों में वृद्धि करके वह अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकती है।

8. युद्ध एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ (War and International Affairs) :- देश की सुरक्षा के लिए वर्तमान सरकारों को अधिक साधन जुटाने होते है, क्योंकि सुरक्षा का कार्य दिन–प्रतिदिन महंगा होता जा रहा है। देश की सुरक्षा तथा मैत्री–सम्बन्ध बनाये रखने के लिए राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित करने होते हैं। एक देश दूसरे देश में अपने दूतावास खोलता है, एक देश से दूसरे को शिष्टमण्डल आते–जाते रहते हैं, नागरिकों की शिक्षा व संस्कृति का आदान–प्रदान होता रहता है। इस प्रकार की व्यवस्था में सरकारी सहयोग वांछनीय हो जाता है।

9. आर्थिक नियोजन (Economic Planning) :- आर्थिक नियोजन सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का प्रमुख कारण बन गया है। विकासशील देश योजनाओं के द्वारा विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों को अपने हाथ में लेने लगे हैं जिसके कारण व्यय की राशि बढ़ने लगी है।

10. युद्ध (War) :- विश्व में अशान्ति युद्धों को जन्म देने लगी है। वर्तमान समय का युद्ध सर्वाधिक खर्चीला हो गया है। प्रत्येक देश सुरक्षा व्यवस्था को अपने हाथ में रखता है। सेना के रख–रखाव तथा गोला–बारूद पर होने वाला खर्चा सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का कारण बन चुका है।

1.4 सार्वजनिक व्यय के नियमों की आवश्यकता :–

अर्थव्यवस्था में लोक व्यय के लिए नियमों की आवश्यकता है या नहीं इस प्रश्न के उत्तर के लिए आपको दो बिन्दुओं पर गहराई से विचार करना होगा। प्रथमः अर्थव्यवस्था की प्रकृति क्या है अर्थात् अर्थव्यवस्था को संचालित करने वाली विभिन्न शक्तियाँ कौन–कौन सी हैं तथा वे लोक व्यय से किस प्रकार प्रभावित होती है। द्वितीयः लोक व्यय करने वाली सत्ता सरकार की स्थिति तथा उद्देश्य क्या हैं अर्थात् लोक व्यय करने वाली सत्ता का चयन या चुनाव किसके द्वारा किस प्रकार होता है तथा उसे चलाने वाले तत्व लोक व्यय द्वारा किस सीमा तक प्रभावित है। लोक सत्ताओं का उद्देश्य केवल सरकार चलाना है या विकास को अग्रसर कराना। सरकार को लोक आगम की अपेक्षा लोक व्यय के लिए बड़े ही सतर्कता के साथ कार्य करना होता है। इसके प्रभाव अत्यन्त ही गम्भीर तथा विस्तृत होते है। सरकार की प्रकृति से सम्बन्ध इस आधार पर लगाया जाता है कि लोक कल्याणकारी समाजवादी सरकारी तथा पूंजीवादी सरकारों के लोक व्यय के मार्ग अलग–अलग हैं। अतः इनके लिए अलग–अलग प्रकार के नियमों की आवश्यकता है ताकि पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकें। वही दूसरी ओर सरकार का चुनाव करने वालों के हितों की सुरक्षा या उन पर अनावश्यक अपव्यय आदि के लिए भी सरकार के सामने लोक व्यय सम्बन्धी अनेक प्रकार की समस्याएं आती है। लोक व्यय के नियमों की आवश्यकता इस बात पर जोर देती है कि बिना अपव्यय के लोक हितों को सुरक्षित किया जाय तथा

आर्थिक स्थिरता को प्राप्त किया जाय। लोक व्यय के नियम की उपयोगिता इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि लोक व्यय के लिए लोक आगम की नीतियों भी प्रभावित होती है।

1.5 वैगनर नियम की व्याख्या :–

लोक व्यय के क्षेत्र में जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर का नियम महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस नियम को राजस्व के कार्यकलाप में वृद्धि का नियम के नाम से जाना जाता है। इस नियम के अनुसार लोक व्यय में वृद्धि आर्थिक विकास के साथ–साथ बढ़ती जाती है अर्थात् लोक व्यय तथा आर्थिक विकास में धनात्मक व कार्यात्मक सहसम्बन्ध पाया जाता है। वैंगनर ने अपने इस नियम को स्पष्ट करते हुए लिखा कि–''विभिन्न देशों और विभिन्न कालों की व्यापक तुलनाओं से पता चलता है कि प्रगतिशील राष्ट्रों में केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों के कार्यकलापों में वृद्धि होती रहती है। यह वृद्धि विस्तृत और गहन दोनों प्रकार की है। केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें निरन्तर नये कार्य हाथ में लेती जाती हैं और पुराने कार्यों को अधिक कुशलता और पूर्णता के साथ करती हैं। इस प्रकार केन्द्रीय और स्थानीय सरकारें जनता की आर्थिक आवश्यकताएं एक से अधिक परिमाण में और अधिक संतोषजनक ढंग से पूरा करती है।''

लोक व्यय के वैंगनर के इस नियम का सम्बन्ध समाज कल्याण की प्राप्ति से होने के साथ लोक आगम के साथ भी स्थापित किया गया है। इन्होंने लोक वित्त को धन के पुनर्वितरण के साधन के रूप में माना जिसमें लोक व्यय की अपनी अलग अहम भूमिका बतायी गयी है।

वैगनर के अनुसार प्रस्तुत की गयी लोक व्यय में वृद्धि की संकल्पना अर्थव्यवस्था को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है। यह सार्वजनिक व्यय निम्न तीन प्रकार से अपने प्रभाव का प्रसारित करता है। लोक सत्ताओं के पास देश से सम्बन्धित अनेक प्रकार की आर्थिक तथा गैर आर्थिक मदें लोक व्यय के लिए मौजूद रहती है। इन मदों मे मध्य सरकार को मांग–पूर्ति सम्बन्धी संतुलन स्थापित करना होता है जिसके सम्बन्ध में सरकार को अपने कार्यो को कुशलता के साथ करना होता है एवं गहनता के साथ क्रिया–कलापों का निष्पादन करना होता है। सरकार के पास पूंजी की पर्याप्तता होती है, इसलिए विस्तृत एवं गहनता के साथ लोक राजस्व को व्यय करना आवश्यक होता है। अपव्यय तथा अनावश्यक व्यय सरकारों के लिए खतरनाक सिद्ध होती है। इसके साथ आपको यह भी ध्यान देना होगा कि सरकार लोक व्यय को व्यक्तिगत लाभ देने के आधार पर व्यय नहीं कर सकती है। समाज के सम्पूर्ण हितों के आधार पर लोक व्यय अत्यन्त उपयोगी एवं फलदायक होता है। अतः लोक व्यय कल्याणकारी होता है। अनेक कारणों से लोक कल्याण का क्षेत्र बढ़ता है जिससे लोक व्यय में वृद्धि होती है।

लोक कल्याण से ही जुड़ा एक अन्य पहलू यह भी है कि सरकार उन सभी समाज हित वाले कार्यों पर लोक व्यय आसानी से कर सकती है जिन पर व्यक्तिगत व्यय की सम्भावना नहीं है। व्यक्तिगत व्यय निजी लाभों से प्रेरित होता है। सामाजिक न्याय की दृष्टि से निजी व्यय या निवेश उपयोगी नहीं रह जाता है। सरकार उन सभी बृहद योजनाओं एवं परियोजनाओं पर भी लोक व्यय करती है जो निजी क्षेत्र द्वारा किये जाने वाले व्यय की सीमा से बाहर होती हैं। इससे पूर्व आपने पढ़ा होगा कि सरकारों की प्रकृति एवं अर्थव्यवस्था की प्रकृति के आधार पर भी लोक व्यय प्रभावित होता है। इसी आधार पर सरकार की लोकप्रियता एवं आर्थिक विकास की आवश्यकता के महत्व में सामंजस्य स्थापित करने में, लोक व्यय में विस्तृत एवं गहन दोनों स्तरों पर, उचित निर्माण लिये जाना अत्यन्त आवश्यक है।

डॉल्टन ने वैगनर के नियम को लागू होने के पीछे तीन मुख्य कारण स्पष्ट किये है–

1. आधुनिक आर्थिक विकास के कार्यों के कुछ क्षेत्र ऐसे होते है, जिनमें निजी संस्थाओं की तुलना में सरकारी संस्थाएं अधिक कुशलता के साथ कार्य कर सकती है। डाल्टन का कथन है कि निजी एजेंसियों की तुलना में सरकारी एजेंसियों का चयन बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकता है।
2. विकास की प्रक्रिया के कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं, जिसमें निजी क्षेत्र निवेश करने में रूचि नहीं दिखाते। इन क्षेत्रो में जो जनोपयोगी तथा आवश्यक होते है, सरकार को अनिवार्य रूप से व्यय करना पड़ता है। इसका एक उपयुक्त उदाहरण बडे नगरों में जन स्वास्थ्य सेवाओं से सम्बन्धित कार्य है।
3. लोक व्यय का सम्बन्ध मुख्यतः सामूहिक उपयोगी वस्तुओं एवं सेवाओं से होता है, जबकि निजी व्यय का सम्बन्ध वस्तुओं एवं सेवाओं के व्यक्तिगत उपयोग से सम्बन्धित होता है। पार्क, अजायबघर, सार्वजनिक पुस्तकालय आदि से जो सार्वजनिक उपयोग से सम्बन्धित है, पर व्यय सरकार द्वारा किया जाता है।

1.6 वैगनर नियम की समीक्षा :–

19वीं शताब्दी में बढ़ते लोक व्यय की प्रवृत्ति पर आधारित एडोल्फ वैगनर का नियम जर्मनी की अर्थव्यवस्था के साथ अन्य अर्थव्यवस्थाओं के लिए भी अत्यधिक प्रासंगिक रहा। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं की आन्तरिक तथा बाह्य विशेषताओं में अश्रितता के कारण इस नियम को अनेक दृष्टिकोणों से आलोचनओं का भी सामना करना पड़ा है। मसग्रेव ने अपने आनुभाविक अध्ययन के आधार पर स्पष्ट

किया कि लोक व्यय के हिस्से तथा प्रति व्यक्ति आय में सकारात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। प्रतिव्यक्ति आय बढ़ाने के साथ लोक व्यय में वृद्धि का जारी रहना आवश्यक नहीं है। इसके साथ वैगनर की समयावधि को लेकर भी आलोचना की गयी। लोक व्यय के विकास के मध्य सम्बन्धों में समय तत्व को स्थान नहीं दिया गया है। समय तत्व आर्थिक नियमों का महत्वपूर्ण घटक है। इसके साथ लोक व्यय में होने वाली वृद्धि की आन्तरिक वृद्धियों का जिक्र वैगनर के नियम में नहीं किया गया है। वर्तमान में वैश्विक अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निजीकरण के दौर में लोक व्यय तथा विकास के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। निजी क्षेत्र भी बड़ी–बड़ी परियोजनाओं तथा बृहद क्षेत्रों में भी निवेश किया जा रहा है तथा लोक व्यय में वृद्धि के कारणों में भी बहुदिशीय परिवर्तन नजर आ रहा है।

1.7 जैक वाईजमन (Jack Wiseman)–एलन टी पीकॉक (Allen T. Peacock) सिद्धान्त :–

वाईजमैन–पीकॉक ने 1961 के ब्रिटेन के 1890 से 1955 तक सार्वजनिक व्यय के आधार पर सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इस परिकल्पना के अनुसार सार्वजनिक व्यय में दीर्घकालीन वृद्धि अवश्य होती है, परन्तु यह सरल न होकर एक चरणबद्ध (Stepwise) तरीके से होती है अर्थात् इसमें वृद्धि लगातार और थोड़ी–थोड़ी न होकर बड़े झटकों में होती है। लोक व्यय में वृद्धि चरणबद्ध तरीके से गुजरती है। सामाजिक – राजनैतिक कारणों से सरकार को अपने व्यय में वृद्धि करने पर बाध्य होना पड़ता है। सरकार की राजस्व प्राप्तियां में वृद्धि हो जाने के कारण, वह अपने व्ययों में भी वृद्धि कर सकती है। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय एक नए स्तर पर पहुंच जाता है, और इसके आकार में स्थाई वृद्धि हो जाती है। वाईजमैन– पीकॉक का स्पष्ट मत है कि–'' सार्वजनिक व्यय में वृद्धि चरणबद्ध होती है परन्तु वास्तविकता यह है कि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि लगातार होती रहती है। प्रत्येक समाज और अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन आते रहते हैं, जिनके फलस्वरूप सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती रहती है। विशेषकर अल्पविकसित देशों में यह प्रक्रिया अधिक सक्षम होती है।''

1.8 सारांश (Summary) :-

लोक सत्ताओं द्वारा लोक व्यय को उचित तथा कुशलतापूर्ण बनाये रखने के लिए लोक व्यय के नियमों की अत्यन्त आवश्यकता है, ताकि लोक कल्याण के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकें। इसी सम्बन्ध में अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया है जिसमें वैगनर तथा वाइजमैन पीकॉक के नियम अपना अलग–अलग महत्वपूर्ण स्थान रखते है। वैगनर के नियम के अनुसार प्रगतिशील राष्ट्रों में केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों में विस्तृत तथा गहन स्तर पर लोक व्यय में वृद्धि करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। ये लोक व्यय में प्रवृत्ति अनेक प्रकार के परम्परागत तथा नवीन क्रियाकलापों द्वारा प्रभावित होती है। इसके साथ वैगनर के नियम में समयावधि की अपेक्षा की गयी है जो इस नियम को कमजोर बनाती है।

वाइजमैन–पीकॉक का नियम यू.के. में उनके अनुभवों पर आधारित था। इस नियम के अनुसार आपातकाल में लोक व्यय में वृद्धि स्थायी होने के साथ–साथ स्थिर न होकर पेढ़ीदार अर्थात् सीढ़ीनुमा होती है तथा यह लोक व्यय की प्रवृत्ति जनता पर लगने वाले कर की सहनशीलता द्वारा प्रभावित होती है। अर्थशास्त्रियों द्वारा वाइजमैन–पीकॉक के नियम की क्रियाशीलता में अनेक प्रकार के अन्य तत्वों जैसे शहरीकरण, औद्योगीकरण, बढ़ती जनसंख्या एवं उसकी आदतें आदि को सम्मिलित न करने की आलोचना की है।

1.9 शब्दावली (Keywords) :-

1. चरणबद्ध (Stepwise)
2. गहनता (Intensity)
3. कार्यातमक (Functional)
4. आर्थिक विषमता (Economic Disparity)
5. पूंजी निर्माण (Capital Formation)
6. मानवीय आवश्यकताओं (Human Requirements)
7. जनहित (Public Welfare)
8. अर्न्तराष्ट्रीय परिस्थितियाँ (International Affairs)

1.10 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference and books) :-

1. भाटिया, एच0एल0 (2006), लोक वित्त , विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा0 लि0, नई दिल्ली।
2. पंत, जे0सी0 (2005), राजस्व , लक्ष्मीनाराण अग्रवाल , पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता , अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
3. वार्ष्णेय, जे0सी0 (1997) राजस्व , साहित्य भवन पब्लिकेशन हास्पीटल रोड, आगरा।
4. सिंह, एस0 के (2013) लोक वित्त के सिद्धान्त तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
5. Peacock, Alan T, Wiseman, Jack (1961). De Growth of Public Expenditure in the United Kingdom, Princton uni. Press.

1.11 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) :-

1. वैगनर के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
2. सरकारी व्यय में वृद्धि के प्रमुख कारण बताइए।
3. सार्वजनिक व्यय के नियमों की आवश्यकता क्यों हैं?
4. वैगनर नियम की व्याख्या कीजिए।
5. वैगनर नियम की समीक्षा कीजिए।
6. जैक वाईजमेन–एलन टी पीकॉक के सिद्धान्त को बताइए।

1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

1. अर्थशास्त्री वैगनर का संबंध किस देश से है–

क. जर्मन ख. भारत ग. पाकिस्तान घ. ब्रिटेन

(उत्तर क)

2. वैगनर के अनुसार व्यय पर कितने प्रकार से प्रभाव पड़ता है–

क. 02 ख. 03 ग. 04 घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर ख)

3. सरकारी व्यय में वृद्धि के प्रमुख कारण है–

क. आर्थिक विकास में प्रत्यक्ष रूचि

ख. जनहित के कार्यों का नियमन

ग. जनसंख्या में वृद्धि

घ. उपर्युक्त सभी

(उत्तर घ)

4. डॉल्टन ने वैगनर के नियम को लागू होने के पीछे मुख्य कितने कारण कहे हैं?

क. 05 ख. 06 ग. 03 घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर ग)

5. वैगनर के अनुसार आर्थिक विकास के साथ–साथ लोक व्यय–

क. बढ़ती ख. घटती ग. स्थिर घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर क)

6. वैगनर के पूर्व किसके द्वारा यह नियम प्रतिपादित किया था।

क. कीन्स ख. मसग्रेव ग. डाल्टन घ. ऐंजिल्स

(उत्तर घ)

7. सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि होने से जनता के आर्थिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है–

क. सकारात्मक ख. नकारात्मक ग. उपर्युक्त दोनों

घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर क)

8. वैगनर के अनुसार सरकारी सेवाओं के लिए आय की लोच होती है–

क. इकाई से कम ख. इकाई से अधिक ग. इकाई के बराबर घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर ख)

9. वाइजमैन–पीकॉक के अनुसार लोक–व्यय में वृद्धि होती है–
क. चरणबद्ध तरीके से ख. एक मुश्त तरीके से ग. उपर्युक्त दोनों घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)
10. वैगनर के नियम की आलोचना मुख्यतः किस कारक के कारण की गई?
क. पूंजी ख. समयावधि ग. श्रम की क्रियाशीलता घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ख)

सार्वजनिक व्यय एवं आर्थिक विकास
Public Expenditure & Economic Development

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 आर्थिक विकास और सरकारी उपाय
1.3 लोक व्यय के विकास का सिद्धान्त
1.4 लोक व्यय के आर्थिक कारक
1.5 अनुबन्धक कारक
1.6 लोक व्यय के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारक
1.7 आर्थिक विकास तथा संवृद्धि में लोक व्यय का योगदान
1.8 आर्थिक विकास में लोक वित्त की भूमिका का पुर्नमूल्यांकन
1.9 सारांश
1.10 शब्दावली
1.11 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.12 अभ्यास प्रश्न
1.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :-

आर्थिक विकास में सार्वजनिक व्यय नीति एक उपयोगी भूमिका अदा कर सकती है। इसमें संरचना में परिवर्तन कर परिस्थितियों के अनुसार विवेकपूर्ण और संशोधनीय निर्णयों की जरूरत पड़ेगी। विकसित अर्थव्यवस्था में विकास की शक्तिओं के सृजन या सक्रिय करने की जरूरत नहीं होती है, वह केवल विकास पथ में आने वाली समस्याओं को दूर किया जाता है। सामान्यतः व्यापार चक्रों पर काबू पाना और निवेश व्यय को प्रोत्साहित करना। जबकि अल्पविकसित देशों में सार्वजनिक व्यय की भूमिका काफी जटिल और अर्थपूर्ण हो सकती है। सार्वजनिक व्यय का उपयोग सामाजिक अवसंरचनात्मक सुविधाओं, मानवीय पूंजी के निर्माण, बुनियादी, और मूल उद्योगों के विकास, अनुसंधान तथा निर्माण खोज आदि के लिए किया जा सकता है। सार्वजनिक व्यय नीति में ध्यान रखने की जरूरत रहती है क्योंकि लोगों के कार्य करने, बचत करने तथा निवेश करने की इच्छा और क्षमता अनेकों भावनाओं और तथ्यों द्वारा निर्मित होते हैं लोक व्यय नीति की प्रभावशीलता सरकार की प्रशासनिक क्षमता तथा अन्य संबंधित कारकों पर भी निर्भर करती है। आर्थिक विकास के लिए सार्वजनिक व्यय नीति के अपेक्षा निवेश की कुछ मदें वित्त–पोषण के अभाव के कारण न रूकें तथा निवेश साधन कुछ निर्दिष्ट मदों में हस्तांतरित हो सके। आर्थिक नीति के सभी अवयव, लक्ष्यों तथा कारकों को एक साथ निर्धारण करने पर तथा सार्वजनिक व्यय को उसमें उचित स्थान देने पर ही, उचित आर्थिक विकास किया जा सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास में सार्वजनिक व्यय की भूमिका सीमित होती है।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :-

1. आर्थिक विकास में लोक व्यय नीति को जान सकेंगे।
2. विकासशील अर्थव्यवस्था में लोक व्यय की भूमिका को समझ सकेंगे।
3. सार्वजनिक व्यय के उपयोग को जान सकेंगे।
4. लोक व्यय के विकास के सिद्धान्त को जान सकेंगे।

1.2 आर्थिक विकास और सरकारी उपाय (Government's Measures & Economic Development) :-

क. प्रत्यक्ष उपाय (Direct Measures):–

1. **उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता व पूर्ति में वृद्धि करना :–** यह व्यवस्था विकासशील देशों के लिए उपयुक्त होती है, क्योंकि इन राष्ट्रों में तकनीकी शिक्षा की कमी के साथ–साथ जोखिम झेलने वाले कुशल साहसियों की भी कमी होती है। इसके अतिरिक्त, इन राष्ट्रों में पूंजी की कमी व यातायात के साधनों का अभाव भी आर्थिक विकास में गतिरोध उत्पन्न कर देता है। मुख्य रूप से ये राष्ट्र कृषि प्रधान व परम्परावादी होते हैं, फलस्वरूप इन राष्ट्रो में स्वतः आर्थिक विकास की क्रिया लागू नहीं हो सकती है।

स्पष्ट है कि ऐसे देशों में विकास की सम्भावनाएँ बहुत अधिक है। विकासशील राष्ट्रों में प्राकृतिक साधनों के दोहन की समस्या भी मुख्य है। इसलिए सरकार देश के साहसियों को अनेक प्रकार का संरक्षण देकर देश के आर्थिक विकास में सहयोग लेती है। इसके अतिरिक्त, देश के साहसियों व श्रमिकों को विकसित देशों में भेजकर प्रशिक्षित किया जा सकता है। नये प्राकृतिक साधनों की खोज विनियोकर्ताओं को पूंजी की सुविधा, यातायात के साधनों का विकास आदि अनेक बातें ऐसी है जिससे धीरे–धीरे उत्पत्ति के साधनों में गतिशीलता उत्पन्न होगी और भविष्य में जहां से ये उपाय अपनाये जायेंगे वहां स्वतः ही स्फूर्तिदायक आर्थिक विकास होने लगेगा। यदि सम्भव हो तो कुछ शर्तों के साथ विदेशी विनियोगकर्ताओं को स्वदेश में आमन्त्रित कर उत्पत्ति के साधनों को गतिशील बनाया जा सकता है।

2. **आर्थिक एवं सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करना :–** इन सेवाओं के अन्तर्गत मुख्य रूप से शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह निर्माण तथा अन्य कल्याणकारी कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है, क्योंकि इन कार्यों का देश की अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक क्षेत्र को प्रभावित करने वाली योजनाओं के अन्तर्गत, जिन्हें 'आर्थिक प्रमुख पूंजी' कहा जाता है, परिवहन , संवादवाहन, शक्ति, सिंचाई , भूमि, नदी–घाटी योजना, तार–बेतार के कारखाने, खाद व सीमेंट के कारखानों को लिया जा सकता है। सरकार द्वारा इस प्रकार का प्रयास होना चाहिए कि इन सब साधनों से देश का आर्थिक विकास हो सके। बड़े पैमाने पर पूंजी का विनियोग करके इन सेवाओं के माध्यम से आर्थिक विकास में तेजी लायी जा सकती है।

अधिकांश विकासशील देशों में निजी विनियोगकर्ताओं द्वारा आर्थिक सेवाओं के विकास की उपेक्षा–सी कर दी गयी है, क्योंकि उनके पास इन सबका संचालन करने के लिए न तो पर्याप्त पूंजी है, और न ही वे ऐसा करने में रूचि रखते हैं। फलस्वरूप ऐसे राष्ट्रों की विकास–दर बहुत नीची होती है। इन राष्ट्रों की विदेशों पर निर्भरता बढ़ती ही जा रही है। बढ़ते हुए परावलम्बन के खतरे को देखकर इन देशों की सरकारों ने विनियोग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू कर दी है। एशिया के देश अपनी स्वतन्त्रता के बाद इस कार्य को महत्व देने लगे हैं। इन राष्ट्रों की देखादेखी सामन्तवादी देशो में भी जनक्रान्ति के माध्यम से सरकारी हस्तक्षेप बढ़ने लगा है।

3. **औद्योगीकरण में प्रत्यक्ष भाग लेना :–** सामाजिक न्याय की दृष्टि से आर्थिक विकास का अभिप्राय यह नहीं है कि देश में औद्योगिक क्रान्ति हो। सामाजिक न्याय की मांग है कि किसी भी देश में आर्थिक विकास तभी समझा जायेगा, जब जरूरतमन्द लोगों तक उसका हिस्सा पहुंच सके। यदि काम करने वाले मजदूरों का शोषण हो रहा हो और पूंजीपति मालामाल हो रहे हों तो इसे आर्थिक विकास नहीं कहा जा सकता है। अनियन्त्रित अर्थव्यवस्था में यही होता है। तब ऐसी स्थिति में आर्थिक न्याय दिलाने के लिए सराकारों को प्रत्यक्ष रूप में औद्योगीकरण में भाग लेना होता है।

4. **संस्थागत और संगठनात्मक परिवर्तनों को लाना :–** आर्थिक विकास को बढ़ाने के लिए संस्थागत और संगठनात्मक परिवर्तन भी विशेष महत्व होता है। राज्य द्वारा भूमि सुधार, उत्तराधिकार तथा भू–स्वामित्व के नियमों में सुधार करके संस्थाागत परिवर्तन लाये जा सकते है। इन सुधारों के माध्यम से सरकार कृषकों की स्थिति में परिवर्तन ला सकती है। इसके अतिरिक्त, एकाधिकार पर नियन्त्रण करके उपभोक्ता व उद्योगों की स्थिति में सुधार लाया जा सकता है, ग्रामीण क्षेत्रों में प्रभावी नेतृत्व के द्वारा जन–जागृति लाने की व्यवस्था की जा सकती है। सामुदायिक विकास योजनाओं सहकारी समितियों और अन्य प्रकार के कार्यक्रमों द्वारा विकासशील देशों में सुधार लाया जा सकता है। औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के लिए सरकार हमेशा यह प्रयत्न करती है कि सेवायोजकों व श्रमिकों के बीच मैत्रीभाव बना रहे। श्रम सम्बन्धी कानूनों को पारित करके औद्योगिक विवाद समाप्त किये जाते है।

ख. अप्रत्यक्ष उपाय (Indirect Measures) :–

1. **मौद्रिक नीति (Monetary Policy) :–** नियोजित अर्थव्यवस्था में मौद्रिक नीति का महत्वपूर्ण स्थान है। मौद्रिक नीति का अभिप्राय साख व मुद्रा की मात्रा में समन्वय स्थापित करना है। किसी भी

देश की आदर्श मौद्रिक नीति वह होगी जिससे मुद्रा–प्रसार और मुद्रा – संकुचन को रोका जा सके। साथ ही विदेशी विनिमय अपने पक्ष में रहे, और आवश्यकतानुसार देश में साख का सृजन व उसका नियमन हो सके। मौद्रिक नीति में केन्द्रीय बैंक की क्रियाएं ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकती हैं। इस कार्यक्रम में मुख्य रूप से खुले बाजार की क्रियाएं, बैंक–दर नीति, सुरक्षित कोष सम्बन्धी नीति, चयनात्मक साख–नियन्त्रण की पद्धति, आदि प्रभावशाली भूमिका निभा रही है।

2. **राजकोषीय नीति (Fiscal Policy):–** विकासशील तथा विकसित दोनों ही देशों में साधनों के संग्रह के लिए राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बन्ध में राजकोषीय नीति निम्न प्रकार सहायक हो सकती है।

(क.) ऐसी कर प्रणाली लागू की जाये जिससे सरकार को आय प्राप्त हो, साथ ही करों का उत्पादन पर बुरा प्रभाव न पड़े तथा करों से प्राप्त आय निवेश की ओर हस्तांनतरित हो सके।

(ख.) सार्वजनिक व्यय ऐसे निर्माण कार्यों में किया जाय जिससे तुरन्त उत्पादन प्राप्त हो सके तथा ऋणों का निवेश उन वस्तुओं के उत्पादन में किया जाय, जो वस्तुएं विदेशों से आयात की जाती हो और जिनकी मांग विदेशों में हो। स्पेंगलर का कथन है कि ''सरकार बहुत से कार्य स्वयं करके साहसियों की कमी को पूरा कर सकती है, जो इस वर्ग के द्वारा किये जा सकते थे।''

(ग.) विभिन्न उपायों को अपनाकर पुराने उद्यमियों को प्रोत्साहित करना तथा नये उद्यमियों को उत्पादन के क्षेत्र में प्रवेश देना–यह नीति तभी सफल हो सकती है, जब प्रशुल्क–नीति के द्वारा पुराने उद्योगों को आयात–निर्यात सम्बन्धी छूट दी जाय तथा नये उद्योगकर्ताओं को करों में राहत दी जाय। करों में छूट देने के कारण उनके लाभ में वृद्धि होगी , साथ ही उत्पादन में भी वृद्धि होगी।

(घ.) आज विकासशील राष्ट्रों के पास आर्थिक विकास का प्रमुख साधन घाटे की वित्त व्यवस्था है। यदि कोई राष्ट्र सफलतापूर्वक इस साधन का उपयोग कर सके तो आर्थिक विकास में वृद्धि हो सकती है, अन्यथा अनियन्त्रित रूप में इस व्यवस्था को अपनाने से राष्ट्र में अनेक प्रकार के आर्थिक संकट उत्पन्न हो सकते है, फिर भी, सरकार राजकोषीय नीति के द्वारा साधनों व आय के वितरण, पूंजी संचय और मुद्रास्फीति को प्रभावित करती है।

3. **मूल्य नीति (Price Policy) :–** विकासशील राष्ट्रों में आर्थिक विकास के लिए अपनायी जाने वाली परियोजनाओं पर भारी मात्रा में व्यय करना होता है। इस व्यय से रोजगार में वृद्धि होती है। जनसंख्या व रोजगार में वृद्धि के कारण वस्तुओं की कीमत में वृद्धि होती है। एक सीमा तक आर्थिक विकास के लिए मूल्य स्तर का बढ़ना उपयुक्त हो सकता है। परन्तु एक सीमा के बाद बढ़ता हुआ मूल्य स्तर उत्पादन को हतोत्साहित करता है। इसलिए सरकार को उचित मूल्य नीति अपनाकर उत्पादकों व उपभोक्ताओं को राहत देनी होती है। बढ़े हुए मूल्य स्तर को रोकने के लिए त्वरित योजनाओं, जैसे– छोटी–छोटी नहरों, तालाबों, लघु एवं कुटीर उद्योगों के निर्माण को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

4. **तटकर नीति (Customs Duty Policy) :–** तटकर नीति से आयातों को कम किया जा सकता है। जिन वस्तुओं का उत्पादन स्वदेश में हो सकता है उन वस्तुओं के आयात पर भारी मात्रा में तटकर लगाया जाता है। इससे घरेलू उद्योग धन्धों की प्रगति होगी तथा देश के नागरिकों को रोजगार मिलेगा और पूंजी की उड़ान को भी रोका जा सकता है। प्रभावी तटकर नीति से स्वदेशी मेधा का समुचित उपयोग देश में ही होने लगता है। प्रायः तटकर नीति तभी सफल होगी जबकि देश के उद्योगों को संरक्षण देकर निर्यात को बढ़ाया जाय। इसके अतिरिक्त, विदेशी व्यापार नीति में परिवर्तन करके स्वदेशी का आर्थिक विकास किया जा सकता है।

5. **कार्यशील वित्त प्रबन्ध प्रणाली (Functional Financial Management System) :–** वर्तमान में कार्यशील वित्त प्रबन्ध को अपनाकर आर्थिक विकास किया जा सकता है। कार्यशील वित्त प्रणाली द्वारा सरकार पर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के संचालन का दायित्व आ जाता है। करारोपण सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण, रोजगार व आय को प्रभावी बनाने के लिए आदर्श बजट को बनाना आवश्यक है। यदि देश में आर्थिक उतार–चढ़ाव आ रहे हों, बेरोजगारी बढ़ रही हो, विनियोगकर्ताओं को हानि हो रही हो, मुद्रा का मूल्य स्तर गिर रहा हो, निर्यातो की अपेक्षा आयात बढ़ रहे हों, राष्ट्रीय व व्यक्तिगत आय में ह्रास हो रहा हो या कुल मिलकर अर्थव्यवस्था आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे की ओर खिसक रही हो, तो कार्यशील वित्त की सहायता से इन सब बुराईयों को दूर किया जा सकता है।

वर्तमान समय में कार्यशील वित्त प्रबन्धन की प्रणाली इन समस्याओं के निदान के लिए बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस सम्बन्ध मे लर्नर का कथन उल्लेखनीय है कि ''करारोपण का मुख्य उद्देश्य आय को प्राप्ति न होकर ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति होता है जो सामाजिक रूप से औचित्यपूर्ण हों।'' मादक पदार्थों , जैसे शराब, अफीम, गांजा , भांग आदि पर लगाये गये करों का उद्देश्य इन वस्तुओं के उपभोग को कम करना हो सकता है। स्वदेशी उद्योगों को बाह्य प्रतिस्पर्द्धा से सुरक्षित रखने के लिए

भारी आयात–कर लगाया जा सकता है। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर कर से छूट इस दृष्टिकोण से दी जा सकती है कि हमारी वस्तुएं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों से प्रतियोगिता का सामना कर सकें। यदि अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार के कारण कीमतों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है, तो उपयोगकर्ताओं पर कर लगाकर मुद्रास्फीति के प्रभाव को कम किया जा सकता है। विकासशील देशों में करारोपण के द्वारा चालू उपभोग को कम करके बचत में वृद्धि की जा सकती है, ताकि पूंजी निर्माण के लिए अधिक से अधिक धनराशि प्राप्त हो सके। प्रगतिशील करों द्वारा आय औरा धन के वितरण की विषमताओं को भी कम किया जा सकता है। इस प्रकार करारोपण का मुख्य उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना नहीं बल्कि इससे कई प्रकार के सामाजिक उद्देश्यों की भी पूर्ति की जाती है।

1.3 लोक व्यय के विकास का सिद्धान्त (Theory of Public Expenditure Development) :- आर्थिक विकास के सभी चरणों में लोक व्यय की भूमिका है यद्यपि इस भूमिका में परिवर्तन होते रहते हैं जब अर्थव्यवस्था विकास की प्रक्रिया में एक चरण से दूसरे चरण में प्रवेश करती है। मसग्रेव ने लोक व्यय की इस बदलती भूमिका को 'लोक व्यय के विकास का सिद्धान्त' का नाम दिया है। लोक व्यय के विकास के सिद्धान्त पर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक , अनुबन्धक आदि कारकों का प्रभाव पड़ता हैं

आर्थिक विकास की गति के साथ–साथ अर्थव्यव्यवस्था की जरूरतों में जो परिवर्तन होते है, उनका सम्बन्ध लोक व्यय के आवंटन तथा वितरण दोनों पहलुओं से है। आवंटन का सम्बन्ध लोक व्यय के स्तर है जो कई बातों पर निर्भर करता है। वितरण का सम्बन्ध इस बात की जानकारी से है कि ज्यों–ज्यों अर्थव्यवस्था का विकास होता जाता है त्यों–त्यों वितरण मूलक उपायों की आवश्यकता कम या अधिक होती है। उपर्युक्त सभी तत्वों की विवेचना आर्थिक कारकों के अन्तर्गत की जाती है।

मसग्रेव के अनुसार लोक व्यय के आवंटन तथा वितरण सम्बन्धी सभी प्रश्नों के उत्तर प्रमुख रूप से आर्थिक आधार पर दिये जा सकते हैं। लेकिन रिचर्ड गूड का कहना है कि लोक व्यय राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम है जिस पर आर्थिक तत्वों का प्रभाव काफी कम पड़ता है। राजनीति नेताओं तथा अन्य नीति–निर्धारकों के विचार का काफी वजन होता है, लेकिन इन्हें भी अनेक दबावों और सीमाओं के अन्दर कार्य करना होता है। आलमण्ड तथा पावेल ने लिखा है कि लोक व्यय की मांग का प्रारम्भ स्वार्थ ग्रुप से हो सकता है तथा ऐसे कई ग्रुपों की मांग जब कुछ ही विकल्पों के रूप में मिल जाती है तब काफी शक्तिशाली हो जाती है। अलग–अलग समाज में स्वार्थ ग्रुप समूह के अलग–अलग रूप रहे है। पारम्परिक समाज में जनजातीय , जातीय, धार्मिक एवं पेशा सम्बन्धी ग्रुप समूह महत्वपूर्ण रहे है। जब समाज संक्रमणकाल से गुजरता है, राजनीतिक दल, मन्दिर, चर्च, सेना तथा नौकरशाही का बोलबाला हो जाता है और आधुनिक समाज में श्रम संघ, व्यापार संगठन, चैम्बर ऑफ कॉमर्स, आदि संगठनों की प्रमुखता है।

यह कि राजनीतिक नेताओं तथा अन्य लोगों की प्रतिक्रियाओं पर भी जनमत तथा देश की आर्थिक क्षमता का प्रभाव पड़ता है। अतः आर्थिक कारकों को एक ऊंचा स्थान देना ही होगा। इनके साथ ही अनुबन्धक तथा सामाजिक तत्वों पर विचार करना चाहिए। अनुबन्धक तत्वों के अन्तर्गत मसग्रेव ने टेक्नोलॉजी तथा जनसंख्या सम्बन्धी कारकों को रखा है। तकनीकी परिवर्तनों के कारण पूंजीगत तथा उपभोग वस्तुओं के क्षेत्र में सार्वजनिक एवं निजी वस्तुओं के मिश्रण में परिवर्तन हो सकता है जबकि जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तनों से मांग की संरचना में। राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक कारक उस वातावरण को निर्धारित करते है जिसमें बजट नीति क्रिया करती है। इनसे हमारे मूल्य भी निर्धारित होते है। लेकिन इन विभिन्न कारकों को विभाजित करने वाली रेखा स्पष्ट नहीं है ओर ना, ही ये कारक एक दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र है।

1.4 लोक व्यय के आर्थिक कारक (Economic Factors of Public Expenditure) :-

क. आवंटन (Allocation):– उन्नीसवीं सदी के जर्मन अर्थशास्त्री वैगनर ने वृद्धिमान राज्य क्रियाओं का नियम प्रतिपादित किया। तब से अर्थशास्त्रियों ने राज्य के कार्यों में वृद्धि के कारणों की विवेचना की है। लेकिन मसग्रेव का कहना है कि राज्य के विकास तथा लोक व्यय में वृद्धि को सही ढंग से समझने के लिए यह जरूरी है कि कुल व्यय के विभिन्न अंगों को देखा जाय।

मसग्रेव ने कुछ लोक व्यय को प्रतिरक्षा व्यय तथा नागरिक व्यय नामक दो वर्गों में बांटा है। सिविलियन व्यय को फिर तीन वर्गों में विभाजित किया है, यथा, लोक पूंजी निर्माण , लोक उपभोग तथा हस्तान्तरण।

लोक पूंजी निर्माण जैसे, परिवहन, सिंचाई आदि का विशेष महत्व आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरणों में रहता है क्योंकि ऐसे विनियोग के लाभ बाह्य होते है। अतः सरकार ही इन्हें उपलब्ध करा

सकती है। इनके निर्माण के पश्चात् अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास होने लगता है तथा बचत की मात्रा बढ़ने लगती है। फलतः निजी क्षेत्र में पूंजी का निर्माण होने लगता है और कुल पूंजी निर्माण में लोक निर्माण का हिस्सा घटने लगता है। किन्तु जब अर्थव्यवस्था मध्य चरण से परिपक्वता की ओर बढ़ने लगती है तो लोक विनियोग का हिस्सा समग्र विनियोग में बढ़ने लगता है। इसका कारण यह है कि निजी वस्तुओं को पूरक सार्वजनिक विनियोग जैसे, राजमार्गों की सुविधा, नगरीय भीड़–भाड़ तथा वायु प्रदूषण को दूर करना, मानवीय विनियोग, आदि की आवश्यकता होती है।

लोक उपभोग यानि चालू लोक उपभोग की आय लोच एक से अधिक होती है। ऐसे उपभोग में शिक्षा, स्वास्थ्य, कानून और व्यवस्था आदि मद शामिल है। विकासशील देशों के लिए सार्वजनिक वित्त सम्बन्धी आंकड़े बहुत लम्बे काल के लिए उपलब्ध नहीं है। लेकिन उनसे राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आंकड़ों से सरकारी उपभोग व्यय की जानकारी मिल सकती है। आंकड़ों से यह पता लगता है कि सरकारी उपभोग की वृद्धि दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर से अधिक रही है। विश्व विकास रिपोर्ट, 1988 में 1965–80 तथा 1980–85 की अवधियों में 1980 की स्थिर कीमत पर लोक उपभोग के आंकड़ें उपलब्ध है। इनसे यह पता लगता है कि विकासशील देशों मे राष्ट्रीय आय की वार्षिक वृद्धि दर की तुलना में लोक उपभोग व्यय की वार्षिक वृद्धि दर दोनों ही अवधियों में अधिक थी। यह बात विकसित देशों के लिए प्रथम अवधि में लागू नहीं होती है, यद्यपि दूसरी अवधि में होती है।

राष्ट्रीय उत्पादन एवं लोक उपभोग व्यय की वार्षिक वृद्धि दर

देश	राष्ट्रीय उत्पादन		लोक उपभोग व्यय	
	1965–80	1980–84	1965–80	1980–85
निम्न आय वाले देश	4.8	7.3	5.4	6.6
निम्न मध्यम आय वाले देश	6.3	1.6	8.6	3.1
उच्च मध्यम आय वाले देश	6.6	1.7	6.5	2.8
अत्यधिक ऋणग्रस्त देश	6.4	0.1	6.9	1.6
विकसित देश	3.7	2.3	3.0	2.7
विकासशील देश	6.0	3.3	6.6	4.1

ख. वितरण (Distribution):– हस्तान्तरण व्यय (Transfer Outlays) , आर्थिक सहायता तथा प्रगतिशील करों के माध्यम से आय के वितरण को अधिक समान किया जा सकता है। कुछ आय में हस्तान्तरण व्यय का हिस्सा बढेगा या घटेगा यह पुनर्वितरण के लक्ष्य पर निर्भर करता है। मान लें कि लक्ष्य असमानता को कम करना है। इस स्थिति में हस्तान्तरण व्यय का हिस्सा एक समान बना रहेगा यद्यपि हस्तान्तरण व्यय की कुल राशि में वृद्धि होगी। अब मान लें कि हस्तान्तरण व्यय का लक्ष्य असमानता को कम करना नहीं बल्कि लोगों को जीवन–निर्वाह का एक न्यूनतम स्तर उपलब्ध कराना है और इस स्तर का निर्धारण भोजन में पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। इस स्थिति में प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के साथ–साथ हस्तान्तरण व्यय के हिस्से में कमी होगी।

1.5 अनुबन्धक कारक (Conditioning Factors) :– इन कारकों के अन्तर्गत जनसांख्यिकी तथा टेक्नोलॉजी के प्रभाव का विश्लेषण किया जाता है। जनसांख्यिकीय तत्वों का लोक व्यय पर बहुत प्रभाव पड़ता है। आज जनसंख्या का आकार तथा आय संरचना दोनों ही महत्वपूर्ण है।

यदि प्रति व्यक्ति आय स्थिर रहे तो जनसंख्या में वृद्धि के कारण मूल लोक सेवाओं में विस्तार की आवश्यकता होगी तथा लोक व्यय का स्तर बढ़ता जायेगा। लेकिन यह बात स्पष्ट नहीं है कि कुछ आय में लोक व्यय का हिस्सा बढ़ेगा या घटेगा। फिर भी लोक व्यय के सापेक्ष आकार पर बढ़ती जनसंख्या के स्थानीयकरण पैटर्न , वय संरचना में परिवर्तन, आदि का प्रभाव पड़ सकता है।

लोक व्यय के विकास के ऐतिहासिक विश्लेषण में तकनीकी परिवर्तन के प्रभाव निर्णायक हो सकते है। तकनीकी परिवर्तनों के फलस्वरूप जब नई वस्तुए उपलब्ध होती हैं, तो लोक व्यय में वृद्धि की जरूरत का अनुभव किया जा सकता है। दो विश्वयुद्धों के अन्तराल में मोटर गाड़ियों के आविष्कार

के कारण अमरीका में सड़कों के निर्माण पर काफी खर्च करना पड़ा। इससे लोक व्यय, विशेषकर राज्यों के व्यय में वृद्धि हुई । द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोप की यही स्थिति हुई।

1.6 सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारक (Social, Cultural and Political factors) :-

इन कारकों पर भी विचार करने की जरूरत है। व्यक्ति के कल्याण पर कल्याणकारी राज्य में विशेष ध्यान दिया जाता है। इससे हस्तान्तरण व्यय की मांग में वृद्धि होती है। राज्य की वृद्धिमान भूमिका को स्वीकार कर लेने की स्थिति में, सार्वजनिक कार्यों में वृद्धि के प्रति विरोध कमजोर हो जाता है। तानाशाही से प्रजातन्त्र की ओर गमन ने इस प्रक्रिया को तेज कर दिया है। युद्ध एवं सामाजिक उथल–पुथल के काफी प्रभाव पड़ते है। इनके कारण लोक व्यय की प्रवृत्ति में क्षणिक या स्थायी परिवर्तन हो सकते हैं।

1.7 आर्थिक विकास तथा संवृद्धि में लोक व्यय का योगदान (Role of Public Expenditure in Economic Development and Growth) :- आर्थिक विकास शब्द का प्रयोग अन्य कई ऐसे ही शब्दों के साथ मिले जुले रूप में किया जाता है जैसे कि आर्थिक उन्नति , आर्थिक कल्याण , आर्थिक प्रगति तथा दीर्घकालीन परिवर्तन आदि। परन्तु शुम्पीटर तथा श्रीमती उर्सला हिक्स जैसे अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास एवं आर्थिक उन्नति जैसे आमतौर पर प्रयुक्त होने वाले शब्दों के बीच भेद किया है। आर्थिक विकास शब्द का प्रयोग अल्पविकसित देशों की समस्याओं के सम्बन्ध में किया जाता है और आर्थिक उन्नत देशों की समस्याओं से सम्बन्ध रखता है। श्रीमती हिक्स का कहना है कि अल्पविकसित देशों की समस्यायें अप्रयुक्त साधनों के विकास से सम्बन्धित होती है किन्तु उन्नत देशों की समस्याएं पहले से ही प्रयुक्त किये जा रहे साधनों की ओर अधिक उन्नति से सम्बन्धित होती है। अल्पविकसित देशों की समस्या तीव्रगति से आर्थिक विकास करने की अर्थात समाज की आय तथा पैदावार में तीव्र वृद्धि करने की होती है किन्तु संवृद्धि तथा विकसित देशों की समस्या का सम्बन्ध आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने से तथा समाज की आय तथा पैदावार में एक क्रमिक एवं लगातार वृद्धि करने से होता है। अतः यह बात तो स्पष्ट है कि जहां तक समाज की आय तथा पैदावार में संवृद्धि का प्रश्न है, अल्पविकसित देशों की समस्याएं विकसित देशों की समस्याओं से भिन्न होती है। आर्थिक विकास तथा आर्थिक उन्नति में सरकारी खर्च के योगदान का संक्षित विवेचन यहां भी किया जायेगा।

विकसित तथा अल्पविकसित देशों को जिस सबसे बड़ी समस्या का सामना करना होता है वह है, रोजगार तथा आय में वृद्धि करने की समस्या। सरकारी व्यय का कार्यक्रम अनेक लोगों को रोजगार प्रदान करने में प्रत्यक्ष रूप से सहायक होता है। इससे वस्तुओं व सेवाओं के लिए इन लोगों की मांग में वृद्धि होती है जिससे और अधिक लोगों को रोजगार मिलता है। परन्तु यह बात केवल तभी सत्य होती है जब कृषि तथा उद्योगों में लगे उत्पादन के साधन उतनी क्षमता से उत्पादन नहीं कर रहे होते है जितना कि वे कर सकते है। यह वे पहले से ही उच्चतम या इष्टतम स्तर पर उत्पादन नहीं कर रहे होते है जितना कि वे कर सकते है। तो उत्पादन तथा रोजगार में वृद्धि की सम्भावनाएं कम हो जाती है। इस प्रकार सरकारी खर्च के कार्यक्रम इस प्रकार बनाये जाने चाहिए कि जिनसे उत्पादन होने के साथ ही साथ उत्पादित वस्तुओं की मांग भी बढ़े। अन्य शब्दों में, 'आर्थिक स्थिरता के साथ आर्थिक प्रगति' के सिद्धान्त को अपनाया जाना चाहिए। अतः सरकारी व्यय का उद्देश्य केवल मांग में वृद्धि कर देना ही नहीं, बल्कि गैर सरकारी प्रेरणा व साहस का प्रोत्साहन देना तथा उनकी न्यूनतापूर्ति करना भी होना चाहिए। सरकार उत्पादन क्रियाओं तथा उद्यमों में प्रत्यक्ष रूप से प्रवेश करने के लिये सरकारी व्यय कर सकती है ताकि मांग और पूर्ति के बीच सन्तुलन बनाये रखने के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

यह कि सरकारी खर्च को उदारता के साथ कुछ आर्थिक व सामाजिक महत्वपूर्ण मदों अर्थात शिक्षा तथा जनस्वास्थ्य, परिवहन व संचार तथा बिजली आदि के साधनों की व्यवस्था पर व्यय किया जाए, तो गैर सरकारी क्षेत्र को तीव्रगति से निवेश करने तथा उत्पादन वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। संक्षेप में सरकारी खर्च को चाहिए यह उत्पादन को बाह्य किफायतों की व्यवस्था करने के लिए आगे आये और आन्तरिक किफायतों की व्यवस्था करने में मदद करें। इससे उत्पादन तथा मांग दोनों में ही वृद्धि होगी। अन्य शब्दों में, इससे उत्पादन तथा उपभोग बढ़ेगा और लोगों को श्रेष्ठतर आय तथा श्रेष्ठतर जीवन स्तर प्राप्त होगा।

सरकार को चाहिए कि वह ऐसे उद्यमों को अपने हाथ में लेने के लिए भी सरकारी खर्च करने को तैयार रहे जो गैर–सरकारी क्षेत्र को आकर्षित नहीं करते अथवा जिनमें जाते हुए प्राइवेट पूंजी इसलिए शर्माती है क्योंकि उनमें लाभ की सम्भावनाएं बहुत कम होती है अथवा जिनमें भारी मात्रा में पूंजी निवेश की आवश्यकता होती है और प्रतिफल एक लम्बे समय के बाद प्राप्त होता है। इस प्रकार

तीव्र गति से आर्थिक विकास करने के लिए जिन मूलभूत तथा आधार भूत उद्योगों की आवश्यकता होती है, जैसे कि लोहा व इस्पात, अणु शक्ति, बहु–उद्देशीय जल विद्युत परियोजनाएं, भारी विद्युत तथा इन्जीनियरिंग आदि, वे इसी वर्ग के उद्यमों में गिने जाते हैं। किन्तु मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत , सरकारी खर्च का उद्देश्य गैर सरकारी क्षेत्र की मदद करके ही पूरा नहीं हो पाता बल्कि उसे गैर सरकारी के पूरक तथा अनुपूरक के रूप में भी कार्य करना होता है।

1.8 आर्थिक विकास में लोक वित्त की भूमिका का पुनर्मूल्यांकन (Role of Public Finance in Development A Revaluation) :- विश्व बैंक के द्वारा प्रस्तुत 1988 की विश्व विकास रिपोर्ट (World Development Report, 1988) में आर्थिक विकास में लोक वित्त की भूमिका की जांच की गयी है।

1980 के दशक में सार्वजनिक क्षेत्र का न केवल बड़ी तेजी से विकास हुआ अपितु अधिकांश विकासशील देशों में राजकोषीय संकट ने भी जन्म लिया। इन्हीं कारणों से विकास एवं समायोजन की चुनौती ही लोक वित्त लिए आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बन गयी।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि लोक व्यय में वृद्धि के अनुसार ही लोक राजस्व में वृद्धि हुई है ; किन्तु पिछले दो दशकों में लोक व्यय में वृद्धि की दर लोक राजस्व की वृद्धि की दर की तुलना में ऊंची रही है। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी बजट घाटे में चला गया। अधिकांश औद्योगिक देशों में घाटा 1980 के दशक में काफी बड़ी मात्रा में होने लगा। इसलिए अनेक देशों ने व्यय में कटौंती की कोशिश की है। इस कटौंती के तीन प्रमुख कारण हैं–

1. बजट घाटा के कारण मुद्रा–स्फीति का दबाव बढ़ गया है;
2. सरकारी हस्तक्षेप के कारण निजी क्रियाओं में कमी आ गयी है ; तथा
3. अधिक राजस्व प्राप्त करने की चेष्टा ने अनेक विकृतियां पैदा कर दी हैं।

लोक व्यय के निरपेक्ष आकार को कम करने में सरकारों को विशेष सफलता नहीं मिली है, किन्तु लोक व्यय की वृद्धि की दर अवश्य घट गयी है।

1940 के पूर्व विकासशील देशों में लोक वित्त की वही स्थिति थी जो 1850–1900 की अवधि में आज के विकसित देशों की थी। दोनों ही प्रकार के देशों में उपर्युक्त अवधियों में कर राजस्व राष्ट्रीय आय का करीब 5 प्रतिशत था। इन देशों में सरकारी उपभोग भी करीब इसी मात्रा में किया जाता था। फलतः सार्वजनिक विनियोग अति अल्प मात्रा में होता था और यह विनियोग प्रमुख रूप से परिवहन, विशेषकर रेलवे, के क्षेत्र में किया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् नाटकीय परिवर्तन हुए। केवल केन्द्रीय सरकार का व्यय 1972 में राष्ट्रीय आय में 19 प्रतिशत हो गया और 1985 में 26 प्रतिशत।

लोक व्यय की ही तरह सरकारी राजस्व में भी काफी वृद्धि हुई है–1972 में 16 प्रतिशत से बढ़कर 1985 में 23 प्रतिशत । इस वृद्धि के बावजूद दोनों प्रकार के देशों में लोक व्यय राजस्व की तुलना में अधिक रहा है जिसके कारण बजट में घाटा रहा है। इस घाटे के कारण विकासशील देशों में मुद्रा–स्फीति या बाह्य असन्तुलन का सृजन अधिक मात्रा में हुआ है। एक परिणाम यह भी हुआ कि इन देशों का विदेशी ऋण पर्याप्त बढ़ गया है। 1973 तथा 1986 के मध्य विदेशी उधार की मात्रा तिगुना हो गयी। इस प्रकार तृतीय विश्व का विदेशी ऋण संकट आंशिक रूप से राजकोषीय नीति की असफलता का परिणाम है और यही चालू वित्तीय संकट के पीछे है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सार्वजनिक क्षेत्र के बढ़ते महत्व को अर्थशास्त्रियों ने एक स्वाभाविक प्रवृत्ति माना। इसे 'लोक हित दृष्टिकोण' कहा गया। इस दृष्टिकोण के अनुसार तीव्रतर विकास के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना ही चाहिए। मुक्त बाजार सार्वजनिक वस्तुओं का उत्पादन कम मात्रा में करता है। राष्ट्रीय सुरक्षा, कानून एवं व्यवस्था, प्राइमरी शिक्षा, मूल स्वास्थ्य, अवसंरचना तथा शोध एवं विकास पर आवश्यकता से कम व्यय किया जाता है। इसका कारण यह है कि ये ऐसी वस्तुएं हैं जिनके लाभ सिर्फ उत्पादनकर्ता या उपभोक्ताओं को ही नहीं मिलते है बल्कि अन्य लोगों को भी, जो न तो इनके उत्पादनकर्ता हैं और न ही उपभोक्ता। कुछ अन्य वस्तुएं जैसे, प्रदूषण, प्राकृतिक सम्पदा का शोषण आदि ऐसी जिनका उत्पादन बाजार यन्त्र द्वारा आवश्यकता से अधिक मात्रा में होता है क्योंकि इनके उत्पादन में कुछ ऐसी लागतें भी शामिल हैं जिन्हें इनके उत्पादनकर्ता वहन नहीं करते। कुछ अन्य बातों पर ध्यान देना जरूरी है। एकाधिकार, पूर्ण विकसित बाजार का अभाव तथा सूचना की अपूर्ण जानकारी आदि कुछ ऐसे तत्व है जिनके कारण साधनों के आवंटन में अकुशलता आ जाती है तथा बचत एवं विनियोग की दर अनुकूलतम से कम हो जाती है। कहने का तात्पर्य है कि बाजार यन्त्र द्वारा न केवल अकुशल विकास होता है बल्कि अनेक समष्टिगत असन्तुलन भी जैसे, भुगतान शेष घाटा तथा बेरोजगारी। बाजार यन्त्र की इन कमियों को दूर करने के लिए सरकार की आवश्यकता पड़ती है।

इसलिए सार्वजनिक बचत और विनियोग, कर तथा सब्सिडी, नियमन, लोक उद्योग, आदि का महत्व बढ़ जाता है।

यह धारणा आय के वितरण को अधिक समान करने तथा निर्धनता उन्मूलन के क्षेत्र में भी राज्य की बढ़ती भूमिका की बात करती है। असमानता कम करने के लिए प्रगतिशील कर लगाने की बात की जाती है। उपरोक्त कारणों से ही विकासशील देशों में लोक वित्त का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है।

1930 की महान आर्थिक मन्दी तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सरकार के द्वारा अर्थव्यवस्था को जो नेतृत्व प्रदान किया गया, उसने आर्थिक क्षेत्र में सरकार की क्षमता के प्रति युद्धोत्तर काल में अत्यधिक विश्वास पैदा किया। घरेलू निजी की प्रायः अनुपस्थिति ने इस विश्वास को बल प्रदान किया। इसलिए 1950 तथा 1960 के दशकों में जब अल्प विकसित देशों ने अपना आर्थिक विकास शुरू किया तो उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र पर अधिक भरोसा किया।

लेकिन अनेक कारणों से आज सरकार की भूमिका का पुनर्मूल्यांकन किया जा रहा है। इनमें से निम्न प्रमुख कारण हैं :

1. धीमी गति से विकास,
2. निजी बचत एवं विनियोग का पिछड़ जाना
3. मुद्रा स्फीति की ऊंची दर
4. आन्तरिक एवं बाह्य ऋणों का बढ़ता परिमाण, तथा
5. निर्धनता तथा बेरोजगारी का बना रहना।

इनके अतिरिक्त सरकार की असफलताओं के अनेक प्रमाण मिलने लगे। सूचना के अभाव, नैतिक पतन तथा वितरण सम्बन्धी सहमिलन के प्रादुर्भाव से जो समस्याएं पैदा हुई उनका सही अनुमान लगाया नहीं जा सका। दूसरी ओर, घरेलू व्यावसायिक वर्ग के विकास, आर्थिक विकास में विदेशी कम्पनी के सहयोग की आवश्यकता तथा संरचना क्रान्ति जैसी तकनीकी प्रगति ने विकास में सरकार के सहयोग की आवश्यकता के महत्व को घटा दिया। इन्हीं कारणों से 'निजी हित धारणा' का विकास शुरू हुआ। यह धारणा निम्न कारणों से अधिक महत्वपूर्ण समझी जाने लगी :

1. व्यक्ति , चाहे वह सरकार में हो या उससे बाहर, साधनों तथा प्रभावों का उपयोग निजी हित के लिए करता है न कि किसी सूक्ष्म सार्वजनिक हित के लिए।
2. निजी हित के आधार पर संगठित स्पर्द्धात्मक बाजार में साधनों का कार्यकुशल आवंटन होता है।
3. राजनीतिक, नौकरशाही तथा निजी व्यक्ति अर्थात् वे सभी जो सरकारी काम–काम करते हैं, एकाधिकारी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तथा इस शक्ति का उपयोग अपने हित में करते है।

उपर्युक्त कारणों से वित्तीय असन्तुलन की उत्पत्ति हो जाती है। ऐसे असन्तुलन विकासशील देशों में स्थायित्व तथा समायोजन कार्यक्रमों को प्रभावी बनाने में बाधा डालते है। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आर्थिक विकास तथा राष्ट्रीय आय में लोक व्यय के हिस्से के मध्य ऋणात्मक सहसम्बन्ध है–लोक व्यय, में जितनी सापेक्ष वृद्धि होगी आर्थिक विकास की दर उतनी ही धीमी होगी। यह विचार 'लोक हित धारणा' के ठीक विपरीत है। विश्व बैंक की यह धारणा है कि उपर्युक्त दोनों विचार एक दूसरे के विपरीत नहीं हैं बल्कि पूरक है। जिन क्षेत्रों में बाजार यन्त्र असफल रहता है वहां लोक हित धारणा महत्वपूर्ण हो सकती है। निजी हित धारणा से यह जानकारी मिल सकती है कि सरकारी हस्तक्षेप किन क्षेत्रों में उचित नहीं है।

1.9 सारांश (Summary) :-

आर्थिक विकास मे सार्वजनिक व्यय के हिस्से के मध्य ऋणात्मक सहसंबंध है– लोक व्यय में जितनी सापेक्ष वृद्धि होगी आर्थिक विकास की दर उतनी ही धीमी होगी। जबकि विश्व बैंक की धारणा है कि यह विचार एक दूसरे के विपरीत न होकर बल्कि पूरक है। आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ–साथ संसार के लगभग सभी देशों में सार्वजनिक व्यय बढ़ने लगा है। भारत इसका अपवाद नहीं हो सकता है। आज विकसित राष्ट्रों की अपेक्षा विकासशील राष्ट्रों में व्यय का आकार बढ़ने लगा है। प्रत्येक राष्ट्र के द्वारा सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों को अपनाया जाने लगा है ओर इन पर व्यय करना अनिवार्य हो चुका है। इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में आने वाले उतार–चढ़ावों को रोकने के लिए भी सार्वजनिक व्ययों का विशेष महत्व है। 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के बाद तो कीन्स ने इस दिशा में एक नये विचार को जन्म दिया। उनके अनुसार बेरोजगारी जैसी भयंकर समस्या को बिना सार्वजनिक व्ययों के दूर नहीं किया जा सकता है।

व्यावहारिक जीवन में अनेकानेक ऐसी समस्याएं देशों के सामने आती रहती है जिन पर उसका व्यय करना आवश्यक हो जाता है। प्राकृतिक विनाश का प्रकोप अथवा महामारी इसका एक ज्वलन्त

उदाहरण है। इन अप्रत्याशित घटनाओं ने व्यय–भार को और भी बढ़ावा दिया है। इसलिए आर्थिक विकास में लोक व्यय का महत्वपूर्ण योगदान है।

1.10 शब्दावली (Keywords) :-

1. सरकारी उपाय (Government's Measures)
2. मौद्रिक नीति (Monetary Policy)
3. राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)
4. मूल्य नीति (Price Policy)
5. तटकर नीति (Customs duty policy)
6. कार्यशील वित्त प्रबंध प्रणाली (Functioanl Financial Management system)
7. आर्थिक कारण (Economic Factors)
8. आवंटन (Allocation)
9. वितरण (Distribution)
10. अनुबन्धक कारक (Conditioning Factors)
11. संवृद्धि (Growth)
12. पूर्नमूल्यांकन (Revaluaton)

1.11 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books):-

3. Musgrave and Musgrave : Public Finance in the Theory & Practice MC Graw Hill, 1984

3. Richard Goode : Govrnment Fiance in Developing Countries, 1986

4.R.A Musgrave : Fiscal systems 1969

5. A. Premchand : Govrnment Budgeting and Expenditure Countrols, IMG, 1983

6. लोकवित्त : डॉ0 एस0 के0 सिंह साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

7. लोक अर्थशास्त्र डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण पब्लिकेशन्स, आगरा

8. लोक वित्त : एच0एल0 भाटिया, विकास पब्लिसिंग हाऊस प्रा0 लि0, नोयडा भारत।

9. लोक वित्त : डॉ0 जे0सी0 वार्ष्णेय, एस0बी0टी0पी0 पब्लिसिंग हाऊस, आगरा।

1.12 अभ्यास प्रश्न (Pratice Questions)

1. आर्थिक विकास और सरकारी उपायों की विवेचना कीजिए।
2. लोक व्यय के विकास का सिद्धान्त की चर्चा कीजिए।
3. लोक व्यय के आर्थिक कारकों की विवेचना कीजिए।
4. लोक व्यय के अनुबन्धक कारक को स्पष्ट कीजिए।
5. लोक व्यय के सामाजिक – सांस्कृतिक व राजनीतिक कारक को स्पष्ट कीजिए।
6. आर्थिक विकास में लोक व्यय के योगदान पर चर्चा कीजिए।
7. आर्थिक विकास में लोक वित्त की भूमिका का पुनर्मूल्यांकन कीजिए।

1.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

1. लोक व्यय के सिद्धान्त पर किन–किन कारकों का प्रभाव पड़ता है?

क. आर्थिक कारक ख. सामाजिक कारक ग. अनुबन्धक कारक
घ. उपर्युक्त सभी

(उत्तर घ)

2. ''लोक व्यय राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम है जिस पर आर्थिक कारकों का प्रभाव काफी कम पड़ता है।'' यह कथन किस अर्थशास्त्री का है?

क. रिचर्ड गूड ख. मसग्रेव ग. एडम स्मिथ
घ. आंबेडकर

(उत्तर क)

3. मसग्रेव ने लोक व्यय को कितने वर्गों में बांटा है–

क. 04 ख. 02 ग. 06 घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर ख)

4. मसग्रेव ने लोक व्यय को विभाजित किया है–
क. प्रतिरक्षा व्यय ख. सिविलियन व्यय ग. उपर्युक्त दोनों
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)
5. लोक व्यय के आर्थिक कारकों में सम्मिलित हैं–
क. आवंटन ख. वितरण ग. उपर्युक्त दोनों
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)
6. आर्थिक विकास के लिए सरकारी उपाय है–
क. उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता
ख. सामाजिक–आर्थिक सेवाओं की व्यवस्था करना
ग. औद्योगीकरण में प्रत्यक्ष भाग लेना
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)
7. आर्थिक विकास के लिए अप्रत्यक्ष सरकारी उपाय है–
क. मौद्रिक नीति – राजकोषीय नीति
ख. मूल्य–नीति – तटकर नीति
ग. कार्यशील वित्त प्रबंध नीति
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

खंड 01

लोकवित्त की अवधारणा (Concept of Public Finance)

इकाई–01

लोकवित्त का आशय तथा विषय–वस्तु (Concept of Public Finance and subject matter)

इकाई की रूपरेखा

1.24 परिचय
1.25 उद्देश्य
1.26 राजस्व की अवधारणा
1.27 राजस्व की परिभाषा
1.28 राजस्व की विषय सामग्री या क्षेत्र
1.29 राजस्व–विज्ञान या कला
1.30 राजस्व का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध
1.31 राजस्व का महत्व
1.32 सारांश
1.33 शब्दावली
1.34 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.35 अभ्यास प्रश्न
1.36 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :-

मनुष्य के जीवन में कुछ चीजों का उपयोग करना नितान्त आवश्यक हैं। उनमें से कुछ वस्तुओं एवं सेवाओं की एक विशेष मात्रा को उपयोग उत्तरजीविका (Survival) के लिए नितांत आवश्यक (Essential) है, जैसे–आहार, जल, आवास, कपड़े इत्यादि। सामान्य जनता को इन वस्तुओं एवं सेवाओं की प्राप्ति कैसे हो, इसे अर्थशास्त्र की प्रथम चुनौती माना जाता है। वस्तुओं एवं सेवाओं का सृजन करना और सामान्य जनों तक पहुँचानें के लिए वितरण/आपूर्ति करना ही प्रथम लक्ष्य हैं। इन वस्तुओं एवं सेवाओं का सृजनकारी/उत्पादनकारी परिसंपत्तियों की स्थापना करना आवश्यक हैं, जिसके लिए सर्वप्रथम पूँजी लगाने की आवश्यकता है, जिसे हम निवेश के रूप में जानते है। लेकिन अब निवेश 'किसके' द्वारा और 'क्यों' किया जाएगा? इस कारण से विश्व में अलग–अलग आर्थिक प्रणालियों का विकास हुआ। यदि हम देखें तो प्राचीनकाल में भी आर्थिक क्षेत्र में किसी न किसी रूप में राजकीय हस्तक्षेप रहा है। जब मनुष्य कबीलों में जीवन व्यतीत करता था, तब भी कबीले का एक मुखिया अपने कबीले की सुरक्षा करता था। कबीले की सुख–शांति हेतु कबीलें के लोगों से वस्तुओं तथा पदार्थों का संग्रह करवाता था, जो तत्कालीन आवश्यकता थी। प्राचीन धारणाओं के अनुसार, सबसे अच्छी सरकार वह है जो कम से कम कर लगाये और कम से कम खर्च करे। इससे स्पष्ट होता हैं कि सरकार को आर्थिक क्षेत्र में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। आर्थिक हस्तक्षेप, जैसे व्यापार आदि के संचालन के लिए सरकार को अयोग्य समझा जाता था। एडम स्मिथ इसी विचारधारा के समर्थक थे। प्राचीनकाल में बचत के बजट को सबसे अच्छा समझा जाता था, साथ ही प्राचीनकाल में सरकारी आय के साधन सीमित थे, और सरकारी व्यय में कमी की जाती थी। वर्ष 1500 तक कर आय का साधन नहीं था, परन्तु उसी समय जर्मनी में आय व सम्पत्ति आदि पर कर लगायें जाते थे। वर्ष 1776 में एडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' (Wealth of Nation) का प्रकाशन हुआ। एडम स्मिथ के विचारों से प्रभावित होकर व्यक्ति मुक्त अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर होने लगे। एडम स्मिथ ने कहा कि–''व्यक्तिगत व्यवसायियों के उद्योगों का निरीक्षण करने तथा उनको सामाजिक हित के लिए सबसे उपयुक्त मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित करने के कार्य से शासक (राजा) को पूर्णतया मुक्त कर दिया जाना

चाहिए, जिसको पूर्ण करने के प्रयत्न में उसे सदा अनेक क्रान्तियों का सहारा लेना पड़ता है और जिसको उचित रीति से पूर्ण करने के लिए कभी मानव का विवेक ज्ञान पर्याप्त नहीं हो सकता।'' एडम स्मिथ के मुक्त अर्थव्यवस्था संबंधी विचारों का बोलवाला हो गया। एक लम्बे अन्तराल के बाद बुराई आ गई क्योंकि एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करने लगा, 'हजूर' व 'मजूर' की भावना पनपने लगी। धन बचाने की लालसा इस प्रकार बढ़ी कि श्रमिकों में महिला व बच्चों से मनमाना काम लिया जाने लगा। यूरोप में श्रमिकों का जीवन–स्तर धीरे–धीरे गिरने लगा। इस प्रकार विश्व की 75 प्रतिशत जनसंख्या अभाव व गरीबी का जीवन व्यतीत करने लगी। ऐसी स्थिति में नई विचारधारा जन्म लेने लगी। परम्परावादियों की अबन्ध आर्थिक नीति (Laissez Faire and Laissez Passer)' के स्थान पर हस्तक्षेप नीति का समर्थन किया जाने लगा। यहाँ सरकारी हस्तक्षेप का आशय आर्थिक हस्तक्षेप से था। इसके बाद समाजवादी विचारकों के द्वारा सरकारी हस्तक्षेप को उचित बताया गया था। समाजवादी विचारकों में जे0एस0मिल0, रॉबर्ट ओवेन, सेन्ट सिमोनियन्स, सिसमांडी व कार्ल मार्क्स ने सरकारी हस्तक्षेप को उचित बताया था। अब प्रश्न उठता है कि आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप होना चाहिए या नहीं। सामान्यता नागरिक प्रशासन में राज्य की भूमिका प्रधान रहती है। उसी प्रकार आर्थिक प्रशासन में राज्य की भूमिका होनी चाहिए। सामाजिक कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि सरकार जिनका प्रतिनिधित्व करती है, उनके प्रति उत्तरदायी हो। इस संबंध में लास्की ने कहा था कि–'' राज्य समाज की मेहराब की आधारशिला है, जो उन अनेक मानव – जीवन–जीवनों के रूप और स्वभाव को साँचे में ढालता है जिनके भाग्यों के संरक्षण का दायित्व उस पर है।'' इससे स्पष्ट होता है कि राज्य एक सार्वजनिक संस्था है और नागरिक एक अंग है। इसलिए राज्य का कर्तव्य है कि वह नागरिकों के कल्याण में सहयोग एवं रक्षा करें। इस संबंध में स्टीनर (Stainer) कहते है कि ''सरकार की शक्ति आजकल प्रत्येक घर, प्रत्येक कारखाने तथा प्रत्येक खेत में अनुभव की जाती है। यह अपने अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को समेट लेती है, उनका मार्गदर्शन , निर्देशन और नियंत्रण करती हैं। आर्थिक संस्थाऐं सरकारी कार्यवाही अथवा सरकारी हस्तक्षेप के सचेत अभाव के आधार पर कार्य करती है। आर्थिक जीवन का कोई भी कोना सरकार के हाथ से मुक्त नहीं है। कभी स्पर्श हल्का होता है और कभी भारी, कभी उपयोगी तो कभी रूकावट उत्पन्न करने वाला, यह मन के अनुकूल भी हो सकता है अथवा मनमाना भी और लाभप्रद अथवा आकांक्षायुक्त भी । किन्तु किसी एक स्थान पर , चाहे जो भी उसका चरित्र हो, सरकार की शक्ति हमारे आर्थिक जीवन को निकट से प्रभावित करती है। सरकारी नियम सभी आर्थिक क्रियाओं का मूक सहभागी है, और अधिकतर आर्थिक क्रिया की खुली सहयोगी भी। अधिकांश लोगों का विचार है कि तीसरी दुनिया के देशों को अपने आर्थिक स्तर को उन्नत करने हेतु उन राष्ट्र की सरकारों की आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। यदि विकासशील देशों में आर्थिक विकास हेतु मुक्त अर्थव्यवस्था को स्वीकार कर लिया जाता तो एशिया के अधिकतर देश आज भी रोजी व रोटी के मोहताज होते रहते। स्वतः क्रमिक विकास के विचार गले से नीचे नहीं उतरते है। इस संबंध में लिस्ट (List) के विचार उल्लेखनीय है। लिस्ट ने कहा कि–''अनुभव सत्य ही बताता है कि हवाएँ बीजों को उड़ाकर दूर–दूर ले जाती हैं, और उन बीजों के कारण बंजर भूमि पर सघन वन उग आते हैं, परन्तु क्या इस रूपान्तरण के लिए हवाओं की प्रतीक्षा करना बुद्धिमता होगी। विकासशील देशों को विकसित देशों से प्रतियोगिता करने में अनेक समस्यायें है। ऐसी स्थिति राज्य सहयोग न करें तो इन देशों की अर्थव्यवस्था में सुधार नहीं हो सकता है। राज्य के साथ व्यक्तियों की समस्याएँ है, जैसे रोटी, कपड़ा , मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि, जिनका समाधान व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता है। अपितु यहाँ पर सरकार ही सहयोग एवं सहायता करती है। इससे स्पष्ट होता है कि इन समस्याओं के निदान हेतु राज्य का हस्तक्षेप अतिआवश्यक है। औद्योगिक क्राँन्ति के साथ देशों में आर्थिक असमानता बहुत तीव्र गति से पनप रही है। अर्थव्यवस्था पर पूर्णतः उद्योगपतियों का एकाधिकार हो गया। इस कारण नये विनियोगकर्ता व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश पाने से वंचित रह गये।

यदि मुक्त अर्थव्यवस्था को प्रतिस्थापित कर दिया जाए तो पूरी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में कुछ ही नामी–गिनामी उद्योगपतियों का आधिपत्य स्थापित हो जाता है और साधनहीन एवं उत्साही विनियोगकर्ता ऐसी स्थिति में टिक नहीं पाता। कुछ गिने चुने उद्योगपतियों से बचाने तथा उपभोक्ताओं व उत्पादकों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की महती आवश्यकता का उचित समझा जाने लगा। इस संबंध में आर्थर लेविस ने कहा कि–'' कोई देश अपनी बुद्धिमान सरकार के सक्रिय प्रोत्साहन के बिना आर्थिक विकास नहीं कर सकता। विकासशील देश में आर्थिक विकास को निजी क्षेत्र के हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता है, क्योंकि निजी लाभ–भावना सामाजिक व राष्ट्रीय लाभ भावना के लिए घातक बन जाती है। इस संबंध में डॉ0बी0आर0 आंबेडकर के विचार महत्वपूर्ण है,

जिन्होंने अपने लेख 'स्मॉल होल्डिंग इन इंडिया एंड रेमेडीज 1917, में बताया कि–'' कृषि का राष्ट्रीयकरण'' किया जाना चाहिए। औद्योगिक विकास पर डॉ0 आंबेडकर का विचार था कि–''देश का गतिशील विकास औद्योगिक विकास के बिना संभव नहीं है। तेजी से होने वाला औद्योगिक विकास रोजगार बढ़ाएगा , साथ ही विदेशी पूँजी की भी बचत करेगा। सरकार को सामाजिक व राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने को, इसके लिए आगे आना चाहिए। बीमा एवं वाहन व्यवहार का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि डॉ आंबेडकर निजीकरण की जगह सरकारीकरण (राष्ट्रीयकरण) चाहते थे। इसलिए आर्थिक जीवन में राज्य की भूमिका होनी अतिआवश्यक है।

1.2 उद्देश्य : (Objectives)

- राजस्व की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- राजस्व की संकल्पनाओं की परिभाषा और उदाहरण दे सकेगें।
- राजस्व की विषय वस्तु को समझ सकेंगे।
- राजस्व के महत्व को समझ सकेंगे।
- राजस्व – विज्ञान या कला अर्थात दोनों पर विश्लेषण कर सकेगें।
- राजस्व का अन्य विषयों के सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

1.2 राजस्व की अवधारणा (Concept of Public Finance)

संस्कृत में राजस्व दो शब्दों से मिलकर बना है। 'राजन्+स्व' अर्थात राजा का धन होता है। राजनीतिक दृष्टि से राजा तत्समय समाज का मुखिया माना जाता था तो अर्थ लगाया जा सकता है कि मुखिया के धन से होगा। इस प्रकार राजस्व में राजा के धन का अध्ययन करते हैं। राजा के धन को कहाँ से किस प्रकार लाया जाता है और धन को किस प्रकार व्यय किया जाता है, इसे लोकवित्त कहा जाता है। लोकवित्त दो शब्दों से मिलकर बना है, लोक+वित्त से। लोक से तात्पर्य है–जनसमूह; वित्त से तात्पर्य है–मुद्रा। इस संबंध में डाल्टन का मत है कि–''राजस्व उन विषयों में से एक है जो अर्थशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के मध्य एक सीमा रेखा की भांति है। इसका संबंध सार्वजनिक संस्थाओं की आय एवं व्यय तथा एक दूसरे से समायोजन के साथ होता है। सरकार को आर्थिक गतिविधियों के लिए वित्त की व्यवस्था करनी पड़ती है। वित्त के कई स्त्रोत होते है। विशेषकर उन स्त्रोतों के परिवर्तशील होने की वजह से उनकी एक निश्चित सूची बना पाना एक कठिन कार्य है। महत्व की दृष्टि से कर–राजस्व, उधार से प्राप्तियाँ, पुराने दिए गए उधारों की मूल राशियों और उन पर ब्याज की वसूलियाँ, करेंसी के सृजन से आय, सरकारी उद्यमों से आय फीसें, जुर्माने तथा उपहार आदि की गिनती मुख्य स्त्रोतों में की जाती है। इस सन्दर्भ में डॉल्टन के विचार उल्लेखनीय है–''हमें सार्वजनिक प्राप्तियों और सार्वजनिक राजस्व के अर्थों में भेद करना चाहिए। सार्वजनिक प्राप्तियों के शब्द को एक विस्तृत अर्थ प्रदान करते हुए, इसमें राज्य को सभी स्त्रोतों से होने वाली प्राप्तियों को सम्मिलित किया जाना चाहिए; जबकि इसके विपरीत सार्वजनिक राजस्व की अवधारणा को काफी सीमित अर्थों में लेते हुए उसमें सार्वजनिक ऋणों, सार्वजनिक संपत्ति के विक्रय तथा नोट छपाई से होने वाली प्राप्तियाँ को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

1.3 राजस्व की परिभाषा :–

इस संबंध में प्रमुख अर्थशास्त्रिओं के विचार निम्नवत् है–

- प्रो0 फिण्डेल शिराज (Findlay Shirras) के अनुसार –''लोक–वित्त उन सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनके अनुसार सार्वजनिक अधिकारी व्यय करते हैं तथा अपनी आय एकत्रित करते है।''
- सी0एफ0बेस्टेबिल (C.F Bastable) के अनुसार –'' समस्त राज्यों में चाहे वे विकसित हों या अविकसित, किसी न किसी प्रकार का प्रावधान होना आवश्यक है, अतः राज्य साधनों की पूर्ति एवं उपयोग एक ऐसे अध्ययन की विषय सामग्री है, जो अंगेजी में राजस्व के नाम से पुकारा जाता है।''
- एच0एल0लुट्ज (H.L Lutz) के अनुसार –'' सार्वजनिक या शासकीय कार्यों को पूर्ण करने के लिए आवश्यक साधनों का प्रावधान, संरक्षण एवं व्यय करने का अध्ययन ही राजस्व का विषय है।''

➢ प्लेहन (Plehn) के अनुसार –'' राजस्व वह विज्ञान है जो राजनीतिज्ञ की उन क्रियाओं का वर्णन करता है जिन्हें राजस्व के उचित कार्यों के लिए मौद्रिक साधनों को प्राप्त करने एवं प्रयोग करने में उपयोग किया जाता है।''

➢ यू0के0हिक्स (U.K Hicks) के अनुसार –'' राजस्व का मुख्य विषय ऐसी विधियों का अध्ययन व परीक्षण करता है जिनके द्वारा शासन संस्था मांग की सामूहिक सन्तुष्टि की व्यवस्था करती है तथा इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए आवश्यक कोष प्राप्त करती है।''

➢ मेहता एवं अग्रवाल के अनुसार –'' राजस्व में सरकार के मौद्रिक एवं साख साधनों के अध्ययनों को सम्मिलित किया जाता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अर्थशात्रियाओं के विचारों में मूलभूत रूप से अन्तर नहीं है। आज लोक–वित्त में प्रमुख रूप से सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण और राजकोषीय व्यवस्था एवं वित्तीय प्रशासन को सम्मिलित किया गया है। वर्तमान में सभी लेखकों के द्वारा लोक–वित्त की विषय–सामग्री को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है।

➢ डाल्टन के अनुसार , '' राजस्व के अन्तर्गत सार्वजनिक सत्ताओं के आय–व्यय एवं एक – दूसरे से उनके समायोजन का अध्ययन किया जाता है। राजस्व के सिद्धान्त ऐसे सामान्य सिद्धान्त हैं, जिन्हें इन विषयों से सम्बन्धित किया जाता है।''

➢ उर्सला हिक्स के अनुसार , ''दूसरा समूह उन सेवाओं की व्यवस्था करने में लगा रहता है कि जिनका क्षेत्र तथा जिनकी विभिन्न्ता उपभोक्ताओं की प्रत्यक्ष इच्छा द्वारा निर्धारित नहीं की जाती है , वरन् सरकारी संस्थाओं के निर्णय द्वारा निर्धारित होती है; अर्थात् प्रजातन्त्र में नागरिकों के प्रतिनिधियों द्वारा लोक वित्त में हम केवल दूसरे समूह की क्रियाओं का ही अध्ययन करते हैं

➢ हैरोल्ड एम. ग्रोव्स के अनुसार, ''लोक वित्त अन्वेषण का वह क्षेत्र है जिसमें सरकार (केन्द्रीय, राज्यीय एवं स्थानीय) की आय एवं व्यय का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक समय में इसके चार प्रमुख अंग हैं : लोक राजस्व, लोक व्यय, लोक ऋण तथा राजकोषीय व्यवस्था की कुछ समस्याएं यथा, राजकोषीय प्रशासन एवं राजकोषीय नीति।''

1.4 राजस्व की विषय–सामग्री या क्षेत्र (Subject Matter and Scope of Public Finance) :–

डाल्टन के अनुसार '' राजस्व में मुख्य विभाजन सार्वजनिक आय एवं सार्वजनिक व्यय के मध्य है जो कि विषय की दो समान शाखाओ का निर्माण करता है। सार्वजनिक ऋण को एक पृथक शाखा के रूप में माना जाता है क्योंकि वे अनेक विशेष समस्याओं को जन्म देते है।'' वर्तमान समय में जब से लोक–कल्याणकारी राज्यों का विकास हुआ है, तब से निश्चित रूप से यह नहीं बताया जा सकता है कि लोक–वित्त के क्षेत्र के अन्तर्गत किन–किन कार्यों को सम्मिलित किया जाय, क्योंकि आज तो सारी आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन राजस्व में ही किया जाता है। हैरोल्ड ग्रीब्ज के अनुसार, ''राजस्व खोज की वह शाखा है जो सरकारों की आय तथा व्यय से संबंधित है। आधुनिक समय में उसके चार बड़े–बड़े भाग हैं– राजकीय आय, राजकीय व्यय, राजकीय ऋण और राजकोषीय व्यवस्था की कुछ समस्याएँ, जैसे राजकोषीय प्रबंध और राजकोषीय नीति।'' वर्तमान समय में राजस्व के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया जाता है सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक आय, सार्वजनिक ऋण, वित्तीय प्रशासन, राजकोषीय नीति।

9. सार्वजनिक आय (Public Revenue):-

इस संबंध में उन स्त्रोतों का अध्ययन आता है जिनसे सरकार को धन प्राप्ति होती है। इसमें विभिन्न प्रकार के कर–राजस्व तथा कर–भिन्न राजस्वों के स्त्रोतो, उनकी परस्पर निर्भरता और लाभ–हानियों का सर्वेक्षण रहता है। साथ ही उन सिद्धान्तों का अध्ययन भी किया जाता है जिनके आधार पर सरकार को राजस्व जुटाना चाहिए। राजस्व के विभिन्न स्त्रोतों में मुख्य रूप से कराधान, सार्वजनिक ऋण तथा मुद्रा निर्माण विशेष रूप से वर्णनीय है। वर्तमान में सार्वजनिक आय का मुख्य स्त्रोत 'कर' है, इसलिए कराधान के अध्ययन में विभिन्न करों के चयन से संबंधित सैद्धांतिक नियम, कर–भार की समस्याऐं तथा कराधान के अर्थव्यवस्था पर प्रभाव सम्मिलित है। कर का निर्धारण करते समय सरकार यह ध्यान रखती है कि करों का भार लोगों पर कम से कम पड़े और सरलता से आय प्राप्त हो जाए। करों के अतिरिक्त सार्वजनिक आय के स्त्रोत है जैसे लोक उद्यमों से लाभ , आय और लाभांश, अनुदान, शुल्क, जुर्माने, ब्याज, अर्थदण्ड की प्राप्तियाँ आदि। इसके साथ ही मुद्रा का निर्माण भी सरकार के लिए एक राजस्व

स्त्रोत हो सकता है। इस स्त्रोत से राजस्व प्राप्ति बहुत सीमा तक सरकार द्वारा लिए जाने वाले निवल उधार पर निर्भर करती है।

10- सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) :-

राजकीय व्यय में सरकारी व्यय का वर्गीकरण तथा व्यय करने की नीतियों का अध्ययन किया जाता है। व्यय करने हेतु यह ध्यान रखा जाता है कि व्यय किन–किन मदों में तथा कितनी मात्रा में किया जाये और इसका प्रभाव भारतीय अर्थव्यवस्था पर कैसा पड़ेगा। सार्वजनिक व्यय के अपव्यय रोकने हेतु उपाय किये जाते है। लोक बजट से कई प्रकार की वित्तीय राशियों की अदायगी की जाती है। इनमें सरकार द्वारा व्यय की गई राशियों के अतिरिक्त निवेशित राशियाँ, नए दिये जाने वाले उधार तथा अनुदान आदि भी सम्मिलित रहते हैं। सार्वजनिक व्यय अपने आकार–प्रकार तथा अपनी विविधता के कारण अर्थव्यवस्था के वित्तीय प्रवाहों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से प्रभावित करता है। इसके परिणामस्वरूप मांग–पूर्ति के ढांचे भी प्रभावित होते है। सरकार सार्वजनिक व्यय को विभिन्न कुशल नीतियों–अस्त्रों के रूप में भी प्रयोग करती है। इन कुशल नीतियों में जनकल्याण, विकास आर्थिक स्थिरता, रोजगार संवर्धन, तथा कीमतों पर नियंत्रण आदि सम्मिलित हो सकते है।

11- सार्वजनिक ऋण (Public Debt):-

जब सार्वजनिक आय की तुलना में सार्वजनिक व्यय अधिक होता है तब इस व्यय की पूर्ति, ऋण लेकर की जाती है। एक समय था कि जब लोक ऋण को सरकारी बजट की अल्पावधिक वित्तीय आवश्यकता से निपटने का साधन मात्र माना जाता था। परन्तु वर्तमान में, एक आधुनिक सरकार का स्थाई रूप से ऋण ग्रस्त रहना और लोक ऋण का एक नीति औजार के रूप में प्रयोग किया जाना, आर्थिक चिन्तन के सर्वस्वीकार्य अंग बन चुके है। लोक ऋण के आकार, घटक, स्वामित्व ढाँचे तथा अन्य आयामों के नियमन का अर्थव्यवस्था की मौद्रिक आवश्यकताओं की संतुलित पूर्ति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही सरकार स्वयं उधार देती है। वर्तमान में कई देशों में स्थिति इतनी गंभीर हो गई है कि सरकार द्वारा ब्याज का भुगतान तथा ब्याज की वसूली के ऑकड़े को लोक बजट की महत्वपूर्ण मदें बन गए है। अर्थव्यवस्था की स्थिरता और संतुलित विकास के सन्दर्भ में, लोक ऋण ने एक प्रभावी नीति–औजार का स्थान प्राप्त कर लिया है। आधुनिक सरकारों में लोक ऋण द्वारा संसाधन जुटाने की प्रवृत्ति काफी सक्षम हो गई है। लेकिन लोक ऋण का प्रभाव इसके सरकार द्वारा प्रयोग करने तक सीमित न होकर, ब्याज की अदायगी और मूलधन को लौटाने पर भी निर्भर करता है। ये अदायगियाँ सार्वजनिक बजट से ही की जाती है और राजकोषीय नीति का एक महत्वपूर्ण भाग बन गई हैं। यह भी स्पष्ट है कि ऋण संबंधी नीतियों व ऋण प्राप्त करने के तरीकों एवं ऋण की राशि को खर्च करने की मदों आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें राजकीय ऋण के भुगतान की समस्याओं व विधियों का भी अध्ययन किया जाता है।

12- वित्तीय प्रशासन (Financial Administration):-

सरकार की समस्त आय–व्यय से संबंधित गतिविधियाँ वित्तीय प्रशासन से जुड़ी रहती है, जैसे–लोक बजट बनाना, अपनाना, तथा कार्यान्वित किया जाना भी वित्तीय प्रशासन के महत्वपूर्ण अंग हैं। अतः इसकी सुदृढ़ता प्रदान किए बिना सरकार अपने वित्तीय साधनों के अपव्ययों की रोकथाम करने में सफल नहीं हो सकती है। साधारणतः आय–व्यय के प्रबंध को ही वित्तीय प्रशासन माना जाता है। केन्द्र व राज्य में बजट विभाग होता है, जो बजटों का मूल्यांकन करता है और आगामी बजटों में रूपरेखा का भी प्रस्तुतीकरण करता है। वित्त–प्रशासन सम्पूर्ण लेखों का मूल्यांकन एवं हिसाब भी रखता है। वित्तीय प्रशासन लोक–वित्त का प्राचीन अंग है, इसके बिना लोकवित्त्त व्यवहारिक नही हो सकता है। इस संबंध में बेस्टेबिल कहते है कि–''हमें केवल विधियों का अध्ययन ही अपेक्षिपत नहीं है वरन् उन सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण भी आवश्यक है जिनके अनुसार वे विधियाँ अपनायी जाती है। वित्त की कोई भी पुस्तक तब तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि यह वित्तीय शासन और बजट की समस्याओं का अध्ययन नहीं करती।''[3]

13- सार्वजनिक उद्यम (Public Enter prises):-

सरकारें सार्वजनिक उद्यमों को एक नीति के अन्तर्गत प्रयोग करना चाहती है। इस प्रकार किसी भी देश में प्रचलित चिन्तन के अनुरूप सार्वजनिक उद्यमों को प्रदान की गई भूमिका में परिवर्तन होता रहा है। भारत में भी बलदते चिन्तन की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। जबकि स्वतंत्रता के उपरान्त सरकार का विचार था कि सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए सार्वजनिक उद्यमों का होना आवश्यक है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक ढांचा और भारतीय अर्थव्यवस्था को नियोजित किया जा सके। लेकिन व्यावहारिक

स्तर पर यह सोच कई प्रकार से दोषयुक्त थी। इसके साथ इस सोच को भी विश्व व्यापी स्तर पर स्वीकार किया जाने लगा कि बाजार व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक विकास की दर बढ़ जाती है। इस सोच को अपनाते हुए, भारत में भी सार्वजनिक उद्यमों की भूमिका को कम करने के साथ–साथ निजी–क्षेत्र को बढ़ावा दिया जा रहा है। इस विचार धारा के कारण सार्वजनिक उद्यम अर्थव्यवस्था और सरकार के लिए वित्तीय कमजोरी के नहीं बल्कि वित्तीय क्षमता के स्त्रोत होने चाहिए।

14- आर्थिक स्थायित्वीकरण (Economic stabilization):-

राजस्व के अन्तर्गत इस विभाग का जन्म बहुत बाद में हुआ, क्योंकि 1930 की विश्वव्यापी मंदी के बाद यह प्रतीत हुआ कि आर्थिक स्थायित्वीकरण हेतु एक अलग नीति होनी चाहिए। उसके उपरान्त 'राजकोषीय नीति' (Fiscal Policy) का जन्म हुआ। राजकोषीय नीति के माध्यम से अर्थव्यवस्था में आ रहे उतार–चढ़ाव को रोका जा सकता है अर्थात् अर्थव्यवस्था में समानता लाने व न्यायोचित वितरण व्यवस्था के तहत देश में उत्पादन स्तर को बढ़ाने तथा एकाधिकारी व्यवस्था में सुधार लाने के लिए राजकोषीय नीति का उपयोग किया जाता है। वर्तमान की सरकारें अपनी आर्थिक नीति में राजकोषीय नीति के माध्यम से आर्थिक विकास की ऊँची दर, ऊँचे स्तरों पर आय और रोजगार की स्थिरता तथा वितरणीय असमानताओं में कमी लाने का पूरा प्रयास करती है। इस कारण राजकोषीय नीति के प्रभावों के अध्ययन लोक–वित्त में महत्वपूर्ण स्थान है।

15- संघीय वित्त (Federal Finance) :-

भारत में सामाजिक आर्थिक विविधता के कारण अधिकतर राज्यों में बहुस्तरीय सरकारें है। केन्द्र सरकार के साथ राज्य की सरकारें और स्थानीय निकाय भी है। बहुस्तरीय सरकारें होने के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि सरकारी–कार्यों को विभिन्न स्तरों में आवंटन संबंधी नियम, विनियम, अधिनियम की संरचना की जाए जिससे आवंटन से संबंधित समस्याओं का अध्ययन किया जाए और अर्थव्यवस्था को विकास की ओर ले जाने के लिए समुचित समाधानों की खोज की जाए। बहुस्तरीय सरकार होने के कारण राज्य स्तरीय वित्तीय प्रवाहों को विकसित होने की जरूरत है। इससे संबंधित कई प्रकार की समस्याओं एवं प्रश्न हैं, जिनका अध्ययन वर्तमान में लोक–वित्त का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है।

16- बजटीय वर्गीकरण (Budgetary classification):-

आम बजट के प्रभाव का आंकलन हेतु बजट प्रस्तुति के कई नए प्रकारों की संरचना की जाती है, जैसे–भारत सरकार की बजटीय प्राप्तियाँ और बजटीय वितरण की तीन निधियाँ है–पहली भारत की समेकित निधि, दूसरी भारत का लोक खाता और तीसरी आकस्मिकता निधि। इसके साथ ही देश की समस्त प्राप्तियों और वितरणों को लोक–वित्त और पूँजी खातों में वर्गीकृत किया जाता है। भारत सरकार की अब तक की वजट नीति में मिश्रित प्रभाव देखने को मिलते है। भारत की बजट नीति आर्थिक विकास के साधनों को गतिशीलता बनाने का ध्यान रखा जाता है। भले ही आय की असमानता व मूल्यों में निरंतर वृद्धि जारी रही है, फिर भी सरकार का यह प्रयास होता है कि एकाधिकार एवं आर्थिक केन्द्रीकरण कम से कम हो। प्रत्येक बजट में यह प्रयास होता है भारत में बेरोजगारी समस्या हल हो सके और आर्थिक विकास को गति मिले। इसके लिए विभिन्न विकास कार्यक्रमों एवं योजनाओं पर व्यय किया जाता है। उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि लोक वित्त के अन्तर्गत उपर्युक्त विभागों का आपस में सह–सम्बन्ध है, अर्थात एक–दूसरे से संबंधित है। इनका अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं है। ये विभाग एक–दूसरे के पूरक की भूमिका में है। इन सभी विभागों के सामंजस्य से अधिकतम सामाजिक लाभ एवं सामाजिक न्याय की प्राप्ति सम्भव है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक समय में लोकवित्त की विषय–वस्तु तथा क्षेत्र दोनों का बहुत विस्तार हुआ है। आगे सारिणी में इन तथ्यों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है–

लोक वित्त की विषय वस्तु	लोक वित्त का पारम्परिक क्षेत्र	लोक वित्त के क्षेत्र में विस्तार (आधुनिक समय में)
(क) करारोपण	कर के सिद्धान्त, करों का वर्गीकरण, करारोपण में न्याय की समस्या, कर–भार एवं कर विवर्तन, करों के आर्थिक प्रभाव, करदान क्षमता।	न्यायोचित वितरण के उपयुक्त कर प्रणाली, स्थिरीकरण के उपयुक्त कर प्रणाली, कर गुणक, अनुकूलतम करारोपण, अनुकूलतम बजट, कर–भार आंशिक एवं सामान्य सन्तुलन विश्लेषण, कर संरचना का सिद्धान्त , कर

		डिजाइन, सब्सिडी की प्रकृति एवं परिणाम
(ख) लोक व्यय	लोक व्यय के सिद्धान्त, लोक व्यय में वृद्धि के कारण, लोक व्यय का वर्गीकरण, लोक व्यय के प्रभाव, आदि	सामाजिक वस्तु का सिद्धान्त, लोक व्यय की उच्चतम सीमा, लोक व्यय एवं निजी व्यय का सापेक्ष आकार, लोक व्यय की उच्चतम सीमा के निर्धारण में मतदान की राजनीतिक प्रक्रिया का महत्व, न्यायोचित वितरण के सन्दर्भ में लोक व्यय का स्वरूप, स्थिरीकरण के लिए लोक व्यय का महत्व, लोक व्यय गुणक, लागत–लाभ विश्लेषण, आदि।
(ग) लोक ऋण	उत्पादक लोक कार्यों के लिए लोक ऋण का औचित्य, लोक ऋण की वसूली के उपाय, लोक ऋण का भार।	स्थिरीकरण एवं आर्थिक विकास के सम्बन्ध में लोक ऋण की भूमिका, लोक ऋण का भार (भावी पीढ़ी के सन्दर्भ में), लोक ऋण का प्रबन्ध तथा मौद्रिक नीति के साथ सम्बन्ध, लोक ऋण एवं शोध क्षमता।
(घ) बहुस्तरीय अर्थात् संघीय वित्त	संघीय वित्त के सिद्धान्त, विभिन्न स्तरों की सरकार के मध्य करों का आवंटन।	केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय सरकारों के वित्त की समस्या, आवंटन, वितरण एवं स्थिरीकरण के सन्दर्भ में संघीय वित्त के सिद्धान्त।
(ड.) वित्तीय प्रशासन	पारम्परिक बजट का निर्माण, सन्तुलित बजट	आधुनिक बजट, बजट नवपरिवर्तन, बजट एवं आयोजन का सम्बन्ध, निष्पादन बजट, प्रोग्राम बजट, शून्य बजट आदि।
(च) राजकोषीय नीति	–	स्थिरीकरण के सन्दर्भ में विभिन्न राजकोषीय गुणक, आर्थिक विकास एवं विकास वित्त।
(छ) अन्तर्राष्ट्रीय राजकोषीय समन्वयन	–	कर समन्वयन, लोक व्यय समन्वयन, स्थिरीकरण नीति का समन्वयन

1.5 राजस्व–विज्ञान या कला : (Public Finance-Science or Art):

अर्थशास्त्र के संबंध में भी यही प्रश्न बनता है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों। इसी प्रकार राजस्व पर भी यही प्रश्न है। परन्तु राजस्व को कला अथवा विज्ञान कहना इतना सरल नहीं है, इसे सिद्ध करना आवश्यक है। प्लेहन लोकवित्त को विज्ञान मानते हुये कहते है कि–लोक अर्थशास्त्र में तथ्यों व सिद्धान्तों का नियमित एवं क्रमबद्ध संग्रह किया जाता है और सार्वजनिक वित्त के अध्ययन में उन वैज्ञानिक विधियों व अन्वेषणों का सहारा लिया जाता है , जो इसे विज्ञान की सीमा में पहुँचाते है। सामान्य अर्थों में, विज्ञान क्या है तो कहा जा सकता है कि–''विज्ञान किसी वस्तु के पूर्ण मान को आंकता है और इसका आधार सतर्क प्रयोग, ध्यानपूर्वक निरीक्षण एवं ठीक–ठीक विश्लेषण करता है। राजस्व द्वारा किसी भी प्रकार की वस्तुस्थिति के संबंध में निश्चित विवेचन करके उसके संबंध में पूर्व अनुमान लगा सकते है। इससे स्पष्ट होता है कि राजस्व विज्ञान है। राजस्व को कला के रूप में स्वीकार किया जाता है। कला किसी कार्य को करने के ढंग को बताता है। सही दिशा की ओर की प्रवृत्ति होती है। कला ही बतलाती है कि आदर्श स्थिति कैसे प्राप्त की जाती है। लोकवित्त में कला का पक्ष स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतम सामाजिक लाभ कैसे प्राप्त किया जा सकता है। सरकार का प्रयास होता है कि कर लगाते समय आम जनता का कल्याण हो और सरकार की आय भी प्राप्त हो जाए। यही कला के पक्ष को उजागर करता है।

1.6 राजस्व का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध (Relation of Public Finance with other Sciences) :– राजस्व विज्ञान की प्रकृति अपने आप तक सीमित रहने की नहीं है। इसका सम्बन्ध अन्य विषयों से भी है। जिसकी व्याख्या निम्नवत् हैः

5. **राजस्व एवं राजनीतिशास्त्र :–** राजनीति विज्ञान नियमों के आधार पर राजस्व के नियमों का निर्धारण किया जाता है। उदाहरण के लिए, किसी देश की प्रशुल्क नीति, तब तक व्यावहारिक नहीं हो सकती है जब तक उस राष्ट्र की राजनीतिक स्थिति का अध्ययन न कर लिया जाय। प्रजातान्त्रिक, सामन्तवादी, समाजवादी व साम्यवादी शासन–व्यवस्था वाले देशों के लिए उन्हीं के अनुरूप राजस्व के नियमों व सिद्धान्तों की रचना करनी होती है।

6. **राजस्व एवं अर्थशास्त्र :–** अर्थशास्त्र का अध्ययन तब तक पूरा नहीं हो सकता है, जब तक उसमें राजस्व का अध्ययन न हो। अर्थशास्त्र एक व्यापक विषय है और उसी के एक अंग के रूप में राजस्व है। दोनों में आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिसके कारण इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, अर्थशास्त्र यह बतायेगा कि करारोपण के क्या परिणाम होते है; यदि परिणाम हितकर हुए तो कर लगाये जायेंगे अन्यथा नहीं। सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह सावर्जनिक आय प्राप्त करने से पूर्व उसके आर्थिक परिणामों की जानकारी प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए, एक वित्त–मन्त्री को जब तक मांग की लोच की जानकारी नहीं होगी तब तक उसके कर अनुमान सही नहीं होंगे।

7. **राजस्व एवं इतिहास :–** इतिहास के आधार पर भूतकाल घटनाओं का अध्ययन करके भविष्य सम्बन्धी योजनाएं बनायी जाती हैं, योजनाओं का निर्माण किया जाता है। इतिहास के आधार पर हम उन प्राचीन घटनाओं को जान सकते हैं जो लोक–वित्त के कारण घटी है। यदि प्राचीन घटनाएं लाभप्रद रही हों तो उनका अनुसरण किया जाता है, अन्यथा उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जाती है। विभिन्न राष्ट्रों के इतिहास के अध्ययन के आधार पर ही वहां के राजस्व के विभिन्न सिद्धान्तों की सफलताओं और असफलताओं की जानकारी सरलता से ज्ञात की जा सकती है, तथा उसी के अनुरूप राजस्व की नीति में आवश्यक परिवर्तन लाये जा सकते हैं।

8. **राजस्व एवं सांख्यिकी :–** राजस्व एवं सांख्यिकी का आपस में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। सांख्यिकी की सहायता से राजस्व सम्बन्धी आय–व्यय के आँकड़े तैयार किये जाते हैं। राजस्व के द्वारा निर्णय प्राप्त करने में सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है जो किसी भी देश के लिए आवश्यक पूंजी–निर्माण की दर, करदेय–क्षमता, कर–भार, बजट, आय–व्यय आदि की जानकारी सांख्यिकी से ही की जाती है। इस प्रकार राजस्व सांख्यिकी के बिना अपूर्ण है, अतः सांख्यिकी व राजस्व का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

1.7 राजस्व का महत्व (Important of Public Finance)

प्राचीन विचारधारा के अनुसार राजस्व के क्षेत्र को बहुत संकुचित कर दिया गया था। प्राचीन अर्थशास्त्री सरकारी हस्तक्षेप को बुरा मानते थे तथा आर्थिक विकास के लिए निजी क्षेत्र को महत्व दिया गया था। यह भी सम्भव है कि परिस्थितिजन्य ही अर्थशास्त्रियों के विचार रहे होगें। तत्कालीन सामान्य जन का विचार था कि प्रत्येक 'कर' एक बुराई है और प्रत्येक सरकारी व्यय अनुत्पादक है। एडम स्मिथ पूर्णरूप से स्वतंत्र अर्थव्यवस्था के समर्थक थे। एडम स्मिथ के विचारों से सहमत होते हुए रिकार्डों ने कहा था कि–''यदि तुम शान्तिपूर्ण सरकार चाहते हो तो तुम कों बजट को घटाना होगा।'' रिकोर्डों के विचारों पर सहमत होते हुये जे0बी0 से (J.B. Say) ने कहा था कि–'' वित्त की सबसे अच्छी योजना यह है कि खर्च कम करो और सबसे अच्छा 'कर' वह है जो मात्रा में सबसे कम हो।'' रिकार्डो एवं जे0बी से के विचारों पर ही 'सर हेनरी पारनेल (Sir Parnell) ने कहा था कि–''व्यवसाय को बनाये रखने तथा विदेशी आक्रमण से रक्षा के लिए जो अनिवार्य व्यय है उसके अतिरिक्त व्यय का प्रत्येक अंश अपव्यय तथा अन्यायपूर्ण है तथा जनता पर अन्यायपूर्ण कर है।'' इनके विचारों से स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत व्यय उत्पादक होता है और सार्वजनिक व्यय अनुत्पादक है। प्राचीनकाल की विचारधारा वर्तमान समय में अप्रासंगिक है क्योंकि वर्तमान समय के अर्थशास्त्री व सरकारें प्राचीन विचारधारा को उचित नहीं मानती है। परिस्थितियाँ बदल चुकी है। सरकार के द्वारा शिक्षा, स्वास्थ्य, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता अर्थात् सामाजिक कल्याण हेतु सार्वजनिक व्यय किया जा रहा है, जिससे सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो रही है। वर्तमान समय में निजी व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला व्यय विलासिता, नशीली वस्तुओं का उपभोग, व भोग–विलास की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने वाला है। इससे स्पष्ट होता है कि यह व्यय लोक–कल्याणकारी नहीं हो सकता है। 1980 के दशक में राजस्व का विकास हुआ और विकासशील देशों में राजकोषीय संकट के कारण, विकास व समायोजन की चुनौती ने ही राजस्व को केन्द्र बिन्दु में ला दिया। 1930 की विश्वव्यापी मंदी के बाद राजस्व के अध्ययन का महत्व अत्यधिक आवश्यक हो

गया। इस संबंध में जेम्स विल्सन का विचार उल्लेखनीय है। कि–'' वित्त केवल अंकगणित नहीं है, वित्त एक महान नीति है। बिना अच्छे वित्त के अच्छी सरकार सम्भव नहीं और बिना अच्छी सरकार के अच्छा वित्त सम्भव नहीं है।'' भारत जैसे विकाशील देश में आर्थिक असमानता कम करने के लिए अनेक प्रकार के राजकोषीय उपाय करने का प्रयत्न किया जाता है, जैसे– निम्नतम आय में वृद्धि, गरीब मजदूर के लिए धन व्यय में वृद्धि, अमीरों पर प्रगतिशील कर लगाना, अत्यधिक आय एवं सम्पत्ति में कमी हेतु सरकारी कार्य किये जा सकते है। इस कारण भी राजस्व का महत्व बढ़ जाता है। भारत में सबसे बड़ी समस्या रोजगार सृजन की है। राजस्व रोजगार में वृद्धि कर सकता है। रोजगार हेतु प्रभावपूर्ण मांग को बढ़ाने हेतु सरकार सार्वजनिक आय में वृद्धि, करों में कमी कर, रोजगार के अवसर उत्पन्न किये जा सकते है। भारत की जनता की भावनाएँ पूँजीवाद से समाजवाद की ओर है। इस संबंध में फिण्डले शिराज का कथन उल्लेखनीय है कि–''राज्य की बढ़ती हुई क्रियाओं के लिए आर्थिक वित्त की आवश्यकता होती है। और इस वित्त को भी विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं पर सतर्कता से व्यय करना होता है। यह लोक वित्त के सिद्धान्तों की सहायता से ही किया जा सकता है।''

राजस्व के कार्यों में करारोपण के बुरे प्रभाव सार्वजनिक व्यय के अच्छे प्रभावों से दूर किये जा सकते है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक सरकारी व्यय बुरा नहीं है, उसी प्रकार प्रत्येक कर एक बुराई नहीं है, जैस–शराब व ताड़ी अफीम पर लगाया गया कर बुरा नहीं हो सकता है, क्योंकि इससे सामाजिक बुराइयाँ पर अंकुश लगाया जाता है। यह भी सूच्य है कि प्रत्येक प्रकार का कर समाज के लिए लाभदायक ही है। बहुत से करों का उत्पादन व बचत पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। ऐसे करों को अच्छा नहीं माना जा सकता है। इसी तरह के सार्वजनिक व्ययों को भी उचित नही माना जा सकता है, जैसे–राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाने वाला व्यय अपव्ययपूर्ण ही है। इससे स्पष्ट होता है कि राजस्व इसीलिए महत्वपूर्ण है कि अधिकतम सामाजिक लाभ अर्थात् कल्याण हो।

1.8 सारांश (Summary)

मनुष्य के जीवन में कुछ वस्तुओं का उपयोग करना आवश्यक है जिससे जीवन–चक्र चलता रहता है। जीवन का चक्र एक कड़ी से दूसरे कड़ी से बंधा है। आर्थिक क्रियायें भी एक कड़ी से दूसरी कड़ी के संयोजन से पूरी होती हैं। हमने जीवन के सामान्य क्रियाकलापों के अध्ययन के रूप में विभिन्न राजकोषीय प्रणालियाँ में राज्य की आर्थिक क्रियाओं को समझा है। निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इनकी बुनियादें काफी गहरी हैं जिनमें सरकार के कार्य–उददेश्य, मुद्रा, रोजगार का सृजन, करारोषण का अधिकार तथा उधार लेने की बेहतर स्थिति आदि सम्मिलित है। लोकवित्त के अध्ययन को यथार्थता के स्तर पर लाने के लिए यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि सरकारी क्षेत्र अर्थव्यवस्था का एक अभिन्न अंग होता है तथा निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों की गतिविधियों में वर्तमान में पारस्परिक गहरी निर्भरता रहती है। अर्थव्यवस्था के कार्य–कलापों से संबद्ध वित्तीय प्रवाहों को सरकार अपनी नीतियों आदि से प्रभावित करती है। वर्तमान समय में समाजवादी विचार–धारा के प्रभाव से कल्याणकारी भावनाओं का विकास होने लगा है। यह भी सत्य है कि सार्वजनिक व्यय से कल्याणकारी कार्यों एवं सामाजिक सुरक्षा पर कार्य किये जाते है जबकि निजी व्यय में अधिकांश कार्य विलासिता, नशीली व भोग–विलास की वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने वाला होता है। आर्थिक विषमता के निराकण में सरकारी हस्तक्षेप होना अति आवश्यक है। वर्तमान में शिक्षा, स्वास्थ्य, वृद्धावस्था पेंशन अर्थात सामाजिक कल्याण आदि पर सरकार के द्वारा बड़े पैमाने पर व्यय किया जाता है। साथ ही बेरोजगारी की समस्या व आर्थिक असमानता पर सरकार ही कदम उठाती है इस प्रकार कहा जा सकता है कि निजी व्यय की अपेक्षा सरकारी व्यय अधिक महत्वपूर्ण है। लोकवित्त का संबंध राजकोषीय नीतियों से है, जो देश की आर्थिक नीतियों तथा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती हैं। सभी सरकारों का लक्ष्य एक न्यायोचित वित्त व्यवस्था द्वारा सामाजिक न्याय लाना होता है। लोकवित्त की अवधारणा एवं विषय–वस्तु में सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण, करारोपण, राजकोषीय नीति, आर्थिक स्थायित्वकरण, संघीय वित्त, बजटीयकरण, वित्तीय प्रशासन, सार्वजनिक उद्यम आते हैं जो लोक वित्त की आधारशिला हैं।

1.9 शब्दावली (Keywords)

13. उत्तरजीविका (Survival)
14. नितान्त आवश्यक (Essential)
15. अबन्ध आर्थिक नीति (Laissez Faire and Laissez Passer)
16. विषय सामग्री (Subject Matter)
17. सार्वजनिक आय (Public Revenue)
18. सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)
19. सार्वजनिक ऋण (Public Debt)
20. वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)
21. सार्वजनिक उद्यम (Public Enterprises)
22. आर्थिक स्थायित्वकरण (Economic Stabilisation)
23. संघीय वित्त (Federal Finance)
24. बजटीय वर्गीकरण (Budgetary Classification)

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः–

9. राजस्व जे0सी0पन्त, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा
10. राजस्व, डॉ0 जे,सी0 वार्ष्णेय, डॉ0 प्रेममोहन श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0 आगरा
11. लोकवित्त, एच0एल0 भाटिया, विकास पब्लिसिंग हाऊस प्रा0लि0 नई दिल्ली।
12. Bastable, C.F , Public finance 8.7
13. H.L. Lutz, Public Finance , 8.7Application,- Centrey, New Delhi, 1936
14. Plehn, Public Finance . Biblio Life
15. U.K Hicks, Public fiancé P.1
16. लोकवित्त, के सिद्धान्त, डॉ0 एस0 के सिंह, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

1.11 अभ्यास प्रश्न (Practice Question)

12. राजस्व के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
13. राजस्व के विषय वस्तु की विवेचना कीजिए।
14. लोकवित्त का अर्थ लिखिए।
15. लोकवित्त की अवधारणा से आप क्या समझते है?
16. राजस्व की परिभाषाओं को स्पष्ट कीजिए।
17. क्या लोकवित्त एक आदर्श या वास्तविक विज्ञान है?
18. लोकवित्त को विज्ञान एवं कला के रूप में समझाइए।
19. आर्थिक और सामाजिक उपकरण के रूप में लोक वित्त के महत्व को समझाइए।
20. प्रो0 डाल्टन द्वारा लोकवित्त की दी गई परिभाषा को संक्षेप में समझाइए।
21. लोक वित्त आर्थिक विकास एवं मूल्य–स्थिरता में किस प्रकार सहायता कर सकता है।
22. ''प्रत्येक सरकारी व्यय बुरा नहीं है, उसी प्रकार प्रत्येक 'कर' एक बुराई नहीं है।'' इस कथन को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions)

5. राजस्व के कौन–से चार विभाग है?

क. सरकारी आय, सरकारी व्यय, सरकारी ऋण, राजकोषीय नीति
ख. राष्ट्रीय आय, व्यक्तिगत आय, उपभोग , वितरण
ग. उपभोग, विनिमय, राजस्व, वितरण
घ. भूमि, श्रम, संगठन, साहस
(उत्तर क)

6. ''वित्त की सबसे अच्छी योजना यह है कि खर्च कम करो और सबसे अच्छा कर वह है जो मात्रा में सबसे कम हो।'' यह कथन किसका है?
क. मार्शल ख. जे0वी0से ग. पीगू घ. हिवस
(उत्तर ख)
7. ''राज्य समाज की मेहराब की आधारशिला है, जो उन अनेक मानव–जीवनों के रूप और स्वभाव को साँचे में ढालता है जिनके भाग्यों के संरक्षण का दायित्व उस पर है।'' यह कथन किसका है?
क. एडम स्मिथ ख. लास्की ग. कार्ल मार्क्स घ. जे.एस.मिल
(उत्तर ख)
8. भारत के लोकवित्त के सन्दर्भ में निम्नलिखित कथनों पर विचार कीजिएः
क. केन्द्रीय बजट में दर्शाए गए विदेशी ऋण ऐतिहासिक विनिमय दरों पर निर्भर होते है।
ख. निरंतर अधि ऋण ने अर्थव्यवस्था में वास्तविक ब्याज दरों को ऊँचा।
ग. हाल ही के वर्षों में राजकोषीय घाटे और सकल घरेलू उत्पाद के बीच बढ़ते अनुपात का निजी निवेशों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।
घ. ब्याज की अदायगी केन्द्र सरकार के योजनात्तर राजस्व व्यय का अकेला सबसे बड़ा घटक है।
उपरोक्त कथनों में से कौन सा/से कथन सत्य है?
अ. 1,2 और 3 ब. 1 और 4 स. 2,3 और 4 घ. ये सभी
(उत्तर ग)

कर : आशय और वर्गीकरण
Tax : Concept and Classification

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 कर का अर्थ एव परिभाषा
1.3 भारतीय कर व्यवस्था की विशेषताएँ
1.4 भारत की कर प्रणाली की मुख्य बातें
1.5 करों का वर्गीकरण
1.6 प्रत्यक्ष करों के उदाहरण
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.10 अभ्यास प्रश्न
1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

प्राचीनकाल में करों का राजकीय व्यवस्था में कोई स्थान नहीं था, यहाँ तक कि सन् 1500 तक तो इनके बारे में सोचा भी नहीं गया था। सन् 1500 के बाद जर्मनी ने करों से आय प्राप्त करने की पहल की थी। आज कर राज्य की आय प्राप्त करने का प्रमुख साधन बन गया है। आज कर साधन ने इतनी अधिक प्रगति कर ली है कि अब बिना कर के सरकार का अस्तित्व ही सम्भव नहीं, अर्थात 'बिना कर सरकार नहीं' वाली बात चरितार्थ हो गयी है। यही नहीं, वर्तमान में नागरिक भी स्वेच्छा से करों का भुगतान करते हैं, जबकि प्राचीन काल में कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से कर नहीं देता था। इस प्रकार लोक कल्याणकारी राज्यों में करों का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

भारत की कर–व्यवस्था बहुत अधिक समय तक अव्यवस्थित, अनियंत्रित तथा अनियोजित रहीं। ब्रिटिश काल में केन्द्र तथा राज्यों की कर व्यवस्था में अत्यधिक भेद होते हुए भी कभी एकरूपता के प्रयत्न नहीं किये गये। शासकों का मुख्य ध्येय अधिकतम आय प्राप्त करना था और यही कारण कि करारोपण के सिद्धान्तों का बहुत कम पालन किया गया। न्याय, निश्चितता तथा मितव्ययिता के सिद्धान्तों की करारोण के सम्बन्ध में लगभग अवहेलना ही की जाती रही। कर–वंचना काफी अधिक रही। कर व्यवस्था मुख्यतया प्रतिगामी रही और इसका मुख्य उद्देश्य प्रशासन का व्यय चलाना भर ही रहा। सामाजिक कल्याण, सामाजिक न्याय तथा आर्थिक विकास को करारोपण के साथ सम्बन्धित करने का कार्य केवल स्वतन्त्रता के बाद ही प्रारम्भ हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद करारोपण के सिद्धान्तों का पालन तो भरसक किया ही गया साथ ही कर व्यवस्था को देश की विकासशील अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में उपयुक्त बनाने के भी प्रयत्न किये गये।

1.1 उद्देश्य (Objective):-

1. राष्ट्रीय आय में वृद्धि ।
2. विषमता को कम करना।
3. भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ना।
4. मुद्रा–प्रसार को रोकना।
5. न्यायोचित वितरण–व्यवस्था को लागू करना।

1.2 कर का अर्थ एवं परिभाषाएं (Meaning & Definition of Tax):-

1. **सेलिगमैन के अनुसार,** " कर सरकार को दिये जाने वाले उस अनिवार्य शुल्क को कहते है जो सब के सामान्य हित के लिए किये जाने वाले खर्चों के भुगतान में अदा किया जाता है और जिसके बदले में कोई विशेष लाभ नहीं दिया जाता है।''
2. **प्लेहन के अनुसार,** "कर धन के रूप में किया गया वह सामान्य अनिवार्य अशंदान है जो राज्य के निवासियों को सामान्य लाभ पहुंचाने के लिए किये गये खर्च को पूरा करने हेतु व्यक्तियों से लिया जाता है। कर सामान्य लाभ पहुंचाने के लिए न्यायसंगत तो कहा जा सकता है, परन्तु उसे मापा नहीं जा सकता है।''
3. **शिराज के अनुसार,** "कर सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा वसूल किया जाने वाला वह अनिवार्य भुगतान है जो सार्वजनिक भलाई के खर्च को पूरा करने के लिए लिया जाता है और उसका किसी विशेष लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।''
4. **बेस्टेबिल के अनुसार,** " कर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की सम्पत्ति का वह भाग होता है जो सार्वजनिक सेवाओं को चलाने के लिए अनिवार्य रूप से वसूल किया जाता है।''
5. संक्षेप में कर सरकार को किया गया वह अनिवार्य भुगतान है जिसका कोई सीधा संबंध सरकारी सेवाओं से करदाता को प्राप्त लाभ के साथ नहीं होता है। इस कारण कर को कीमत से पृथक किया जाता है क्योंकि कीमत किसी वस्तु या सेवा के लिए किया गया स्वैच्छिक भुगतान है।

1.3 भारतीय कर व्यवस्था की विशेषताएँ (Feature of Indian tax system) :–

प्रत्येक देश की कर व्यवस्था की विशेषताओं की पहचान और उनकी समीक्षा के मापदंड देश के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य होते हैं। कर व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं एवं मूल्यांकन निम्नवत् है–

1. कर अंशाच्छादन (Tax overlapping) :–

जीएसटी के लागू होने से पहले हमारे संविधान में केन्द्र और राज्यों के बीच कर अधिकारों के अंशाच्छादन का कोई स्थान नहीं था, अर्थात् किसी परिभाषित कराधान पर दोनों एक साथ करारोपण नहीं कर सकते थे। संघ राज्य क्षेत्रों की बजटीय मदें केन्द्र के बजट में शामिल रहती हैं। इन क्षेत्रों में राज्य सूची के करारोपण अधिकार केन्द्र के पास है। जहां तक स्थानीय निकायों का प्रश्न है, उन्हें ये कराधिकार राज्यों द्वारा अपने कराधिकारियों से हस्तांतरित किए जाते है। (अर्थात संघ राज्य क्षेत्रों के मामले में केन्द्र द्वारा तथा राज्य सूची) केन्द्र और राज्यों में विषय आवंटन 'एकरूपता, मितव्ययिता और कार्यकुशलता' की कसौटियों के आधार पर किया गया है। इस संदर्भ में निम्न टिप्पणियां भी प्रासंगिक है–

1. केन्द्र और राज्यों के बीच, साधन आवंटन की इस विधि के कारण, केन्द्र के पक्ष में विषम स्तरीय वित्तीय असंतुलन का उत्पन्न होना तथा कालांतर में राज्यों की केन्द्र पर वित्तीय निर्भरता में बढ़ोतरी अनिवार्य है।
2. राज्य–करों में एकरूपता का अभाव रहा था। अब इस कमी को बहुत सीमा तक दूर किया जा चुका है।
3. अपेक्षित था कि कालांतर में कर प्रणाली की जटिलता बढ़ेगी, और वास्तव में ऐसा ही हुआ भी था। जीएसटी के पश्चात् परोक्ष कर प्रणाली सरल और निर्बाध होती जा रही है, परन्तु प्रत्यक्ष करों के मामलें में सरलता लाने के प्रयासों में जटिलता बढ़ी है।

2. प्रत्यक्ष और परोक्ष कर घटक (Factor of Direct and Indirect Taxes) :–

परोक्ष करों के प्रभाव अवरोही होते है तथा उनसे उत्पादन लागतों में चक्रीय वृद्धि होती है। परंतु इन दुष्परिणामों के बावजूद हमारी कर संरचना में परोक्ष करों की एक अग्रणीय भूमिका है और यह स्थिति केन्द्र और राज्य दोनों स्तरों पर एक सी लागू होती है। ऐसा होने का मुख्य कारण यह है कि सरकार की बढ़ती राजस्व आवश्यकता प्रत्यक्ष करों से पूरी नहीं हो पाती, और इसे परोक्ष करों पर निर्भर होना पड़ता है।

1. भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में सेवाओं का अनुपात तीव्र गति से बढ़ रहा था। राज्यों में आपसी कर स्पर्धा भी देखने को मिलती थी। अब इस कमी को पर्याप्त सीमा तक दूर किया जा चुका है।

2. आर्थिक विकास, आर्थिक उदारता और वैश्वीकरण की नीतियों के कारण हमारे विदेशी व्यापार में होने वाली वृद्धि से सीमा शुल्क से प्राप्तियां भी बढ़ेगी।

3. एक अल्पविकसित देश में प्रत्यक्ष करों की तुलना में परोक्ष करों का आरोपण और उगाही कम कठिन होते हैं।

3. न्यायसंगतता/समता (Equity):–

कर प्रणाली की समता एक अति जटिल प्रश्न है जिसका उत्तर इसके विभिन्न आयामों पर विचार किए बिना नहीं दिया जा सकता। इस संदर्भ में निम्न तथ्य विशेष रूप से ध्यानयोग्य है–

1. परोक्ष करों के प्रभाव मूलतः अवरोही होते है। भारत के सकल कर राजस्व में परोक्ष करों का अनुपात बहुत अधिक है और बढ़ भी रहा है।

2. परन्तु सरकार का दावा है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के करों की दरें प्रगामी है, और परोक्ष करों आवश्यक वस्तुओं को कर मुक्त रखने की नीति अपनाई गई है।

3. बड़े पैमाने पर कर की चोरी हमारी कर प्रणाली के अवरोहीपन को बढ़ाती है और इसकी समता को घटाती है।

4. हमारी कर प्रणाली पूँजी प्रधान तकनीकों को प्रोत्साहित करती है, जिससे रोजगार को बढ़ाने में रूकावट आती है।

5. आलोचकों का यह भी कहना कि हमारे कर ढांचे का अंतवैयक्तिक और अंतरक्षेत्रीय भार–वितरण समानता और न्यायोचितता की कसौटियों पर खरा नहीं उतरता है।

4. पर्याप्तता (Adequacy) :–

कर–प्रणाली की पर्याप्तता को दो आधारों पर परखा जा सकता है, अर्थात (क) राजस्व में उचित दर से बढ़ोत्तरी तथा (ख) सरकार की राजस्व आवश्यकता की पूर्ति। इनमें से पहले दृष्टिकोण से हमारी कर प्रणाली काफी उच्च कोटि की है। कुल मिलाकर इसमें पर्याप्त उत्प्लावकता है। करों की बढ़ती व्याप्ति (Pervasion, Coverage) तथा दरों में परिवर्तन के साथ राजस्व में लगातार होती वृद्धि उनकी उच्च कोटि का प्रतीक है।

5.कार्यक्षमता (Effieicency) :–

हमारी कर प्रणाली इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती। सरकार के सभी स्तरों पर कर वसूली की लागत बहुत अधिक है। करो की चोरी भी बहुत व्यापक है। साथ ही करदाताओं को कर ढांचे में लगातार परिवर्तनों के कारण अनावश्यक परेशानी उठानी पड़ती है। उन्हें कर–अनुपालन (Tax Compliance) में अत्यधिक समय और धन का अपव्यय करना पड़ता है। कर प्रबंधन भी अनेक कमियों है।

6.सरलता और निश्चितता (Simplicity and Certainty) :–

कर प्रणाली की सरलता और करदेयता के निर्धारिण में निश्चितता से अर्थव्यवस्था अनेकों प्रकार से लाभान्वित होती है। यद्यपि इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कई कदम उठाए गए है, तो भी हमारी कर प्रणाली इन दोनों कसौटियो पर खरी नहीं उतरती। इसमें लगातार अनेकों संशोधन किए जाते है, परंतु उनमें किसी भी दीर्घकालनीन नीति की झलक दिखाई नहीं देती। परंतु फिर भी कर प्रणाली को बारंबार संशोधित करने का एक औचित्य है।

1. भारत जैसे देश में एक अनम्य कर प्रणाली के कई दुष्परिणाम हो सकते हैं। इसके हितकर बने रहने के लिए इसमें बदलती वस्तुस्थिति और लक्ष्यों के अनुकूल संशोधन होते रहने चाहिए।
2. अपनी बढ़ती वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कर प्रणाली को संशोधित करना सरकार की एक मजबूरी है।
3. सरकार की आर्थिक और सामाजिक नीतियों के प्रभावी कार्यान्वयन में कर प्रणाली एक प्रभावी योगदान दे सकती है।
4. सरकार कर संयत्र को एक प्रभावी नीति अस्त्र मानती है। इसकी यह मान्यता रही कि कर प्रणाली में संशोधन से अर्थव्यवस्था में बचत, निवेश, मांग आदि सभी निर्णय प्रभावित होते हैं। इस नीति के उचित प्रयोग द्वारा अर्थव्यवस्था में किसी भी प्रकार के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न की जा सकती है।

1.4 भारत की कर प्रणाली की मुख्य बातें :–

1. केन्द्र और राज्यों में जी0एस0टी0 में समाहित परोक्ष करों को छोड़ कर, करारोपण का अंशाच्छादन नहीं है।

2. परोक्ष करों की प्रधानता है ; (और सेवा कर सहित) इसमें और बढ़ोतरी की संभावना है।
3. करों की ऊँची दर एवं जटिलता के कारण कर–चोरी प्रोत्साहित होती है।
4. पूँजी प्रधान तकनीकों को प्रोत्साहित करती है।
5. वितरण की असमानताओं को कम करने में सहायक नहीं है।
6. सरकार की बढ़ती व्यय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ है।
7. सकल राष्ट्रीय उत्पाद में बढ़ोतरी के साथ–साथ परोक्ष कर–राजस्व में अपने आप वृद्धि होती रहती है, विशेषकर जब ये कर मूल्याधारित हों।
8. केन्द्र और राज्य दोनों ने अपने परोक्ष करों की दरों को मूल्याधारित रूप दे दिया। परिणामस्वरूप परोक्ष कर राजस्व की वृद्धि दर सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि से भी अधिक है। जी0एस0टी0 ने इस प्रवृत्ति को और भी सशक्त बना दिया है।
9. इनसे आय और सम्पत्ति की वितरण की असमानताएं बढ़ती है।
10. इनसे उत्पादन लागत और कीमतों में बढ़ोत्तरी के साथ हमारी अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा शक्ति क्षीण होती है।

1.5 करों का वर्गीकरण (Classification of Taxes):-

1. **प्रत्यक्ष बनाम परोक्ष कर :–** एक लम्बे समय से इस बात पर विवाद होता आ रहा है कि कौन–सा कर प्रत्यक्ष है और कौन–सा परोक्ष। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने अपने–अपने मत दिये है। उन मतों को देखने से कभी–कभी बड़ा भ्रम पैदा होता है। इस भ्रम से निकलने से पूर्व हमें यह बात समझ लेनी होगी कि सरकार किस व्यक्ति पर कर लगा रही है और उसकी वसूली किस से हो रही है। होता यह है कि सरकार 'अ' व्यक्ति पर कर लगाती है और उस भार को 'ब' व्यक्ति वहन करता है ; कभी–कभी 'अ' व्यक्ति ही कर की राशि का भुगतान कर देता है। कहने का अभ्रिपाय यह है कि कर का भुगतान करने वाला और कर का भार वहन करने वाला व्यक्ति एक भी हो सकता है और भिन्न–भिन्न भी।

यह कि कोई भी कर प्रत्यक्ष तब होगा जब कर देने वाला व कर भार वहन करने वाला व्यक्ति एक ही होता है। अप्रत्यक्ष कर उसे कहेंगे जब करदाता और कर का भार वहन करने वाला व्यक्ति अलग–अलग हों। इस प्रकार प्रत्यक्ष कर की देयता तथा कर की बाह्यता एक ही व्यक्ति पर रहती है, जबकि परोक्ष करों की देयता तथा कर–बाह्यता भिन्न–भिन्न व्यक्तियों पर होती है। इस प्रकार ,हम प्रत्यक्ष व परोक्ष करों की प्रकृति की व्याख्या कर सकते हैं।

इष्टतम अनुपात :–

सकल कर राजस्व में प्रत्यक्ष और परोक्ष करों का कोई व्यापक, पूर्वनिश्चित, सर्वमान्य और इष्टतम अनुपात नहीं होता। इसका निर्णय आर्थिक सिद्धांतों और स्वीकार्य चिंतनधारा के संयुक्त आधार पर ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस निर्णय को लेते समय सरकार के समक्ष अपनी प्रशासनिक सीमाएं एवं अन्य तथ्य भी रहते है।

भारत के परिप्रेक्ष्य में :–

भारत में प्रत्यक्ष करों को बढ़ाने के अवसर अति सीमित है। यहां पर उनकी दरें इतनी ऊँची है कि केवल उनको घटाने पर ही विचार किया जा सकता है। अतः प्रत्यक्ष कर राजस्व के अनुपात को बढ़ाने का मुख्य मार्ग केवल इसकी प्रणाली में सुधार और कर की चोरी को रोकना ही है। इसके विपरीत सरकार के लिए परोक्ष कर राजस्व को बढ़ाना कम कठिन है, जिसके कई कारण हैं–

1. परोक्ष करों की मदों में बढ़ोतरी और दरों में संशोधन के अवसर अधिक रहते हैं, क्योंकि आर्थिक विकास के साथ–साथ नए प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं अस्तित्व में आती रहती है। उदाहरण के तौर पर पिछले कुछ वर्षों में ही, सेवा क्षेत्र का हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे अनुपात आधे से भी अधिक हो गया है।
2. सकल राष्ट्रीय उत्पाद में बढ़ोतरी के साथ–साथ परोक्ष कर राजस्व में अपने आप वृद्धि होती रहती है, विशेषकर जब ये कर मूल्याधारित हों।
3. केन्द्र और राज्य दोनों ने अपने परोक्ष करों की दरों को मूल्याधारित रूप दे दिया।
4. इनसे आय और धन की वितरणीय असमानताएं बढ़ती है।
5. इनसे उत्पादन लागत और कीमतों में बढ़ोतरी के साथ हमारी अंतराष्ट्रीय स्पर्धा शक्ति क्षीण होती है।

अनुपात :–

उपर्युक्त कारकों के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि यथा संभव सरकार के प्रत्येक स्तर को अपने कर राजस्व में परोक्ष करों के अनुपात को कम करने और प्रत्यक्ष करों के अनुपात को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। केन्द्र ने अपने प्रयास के द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति में श्रेयस्कर सफलता पाई है। परंतु केन्द्र की तुलना में राज्यों के लिए ऐसा कर पाना अधिक कठिन है, क्योंकि उनकी कर प्रणाली में इसके अवसर अति कम है। जीएसटी के लागू होने पश्चात प्रत्यक्ष करों के अनुपात में वृद्धि की संभावनाएं और कम हो गई है।

2. आनुपातिक कर (Proportional Tax) :-

आनुपातिक कर वह हैं जो सभी प्रकार की आय वाले व्यक्तियों पर समान दर से लगाये जाते हैं। आय के बढ़ने तथा घटने पर कर की दर को बढ़ाया या घटाया नहीं जाता है। आय में वृद्धि हो जाने पर कर की वृद्धि अनुपात में ही होती है। इस बात को हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं –

आय स्तर	कर की दर (प्रतिशत)	कर की राशि
1,000	10	100
4,000	10	400
6,000	10	600
8,000	10	800
10,000	10	1,000

तालिका से स्पष्ट है कि आय में वृद्धि होने के बाद भी कर की दर समान बनी रहती है परन्तु आय में वृद्धि के साथ–साथ कर की राशि में वृद्धि होती है।

3. प्रगतिशील कर (Progressiv Tax) :-

वर्तमान समय में प्रगतिशील कर प्रणाली उपयुक्त समझी जाती है। इस प्रणाली में आय में वृद्धि के साथ–साथ करों की दर में वृद्धि की जाती है। इस सन्दर्भ में टेलर का कहना है कि ''जैसे–जैसे करदान आय में वृद्धि होती है, वैसे–वैसे ही कर की प्रभावपूर्ण दर में भी वृद्धि हो जाती है, क्योंकि ऐसी वृद्धि पर ऊँची दर से ही कर लगाया जाता है। प्रायः यह माना जाता है कि मनुष्य की करदेय–क्षमता में आय की वृद्धि के अनुपात से अधिक वृद्धि होती है। इसके विपरीत, जब आय गिर जाती है तो कर की प्रभावपूर्ण दर में भी कमी हो जाती है और यह कमी आय में कमी के अनुपात से कम होती है।'' स्पष्ट है कि आय में वृद्धि के साथ–साथ करों की दर में भी वृद्धि हो जाती है। और सरकार को भी पर्याप्त आय मिलने लगती है। इस प्रणाली का आधार करदाता की करदान क्षमता है।

आय स्तर	कर की दर (प्रतिशत)	करों से प्राप्त आय
1,000	10	100
4,000	15	600
6,000	20	1,200
8,000	30	2,400
10,000	40	4,000

4. प्रतिगामी कर (Regressive Tax) :-

प्रतिगामी कर जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट होता है, प्रगतिशील करों के विपरीत है। प्रतिगामी करों के अन्तर्गत आय में कमी होने के साथ–साथ कर की दरों में भी वृद्धि कर दी जाती है। यह कर व्यावहारिक नहीं है, परन्तु इस प्रकार का कर लगाया जा चुका है। ब्रिटिश शासन काल में नमक पर लगाया गया कर इसका उदाहरण हो सकता है।

आय स्तर	कर की दर (प्रतिशत)	करों से प्राप्त आय
1,000	20	200
3,000	15	450
5,000	10	500
8,000	5	400
10,000	2	200

5. अधोगामी कर (Degressive Tax) :-

अधोगामी कर का जन्म प्रगतिशील व प्रतिगामी करों के सम्मिश्रण से हुआ है। यह कर प्रतिगामी कर से अच्छा माना गया है, क्योंकि इसका प्रभाव एक सीमा तक धनी वर्ग पर पड़ता है। उसके बाद ज्यों–ज्यों आय–स्तर में वृद्धि होती है, त्यों–त्यों कर की दर आनुपातिक होती जाती है। आय के बढ़ने के साथ–साथ कर बढ़ता जाता है। लेकिन करों की वृद्धि – दर न्यून होती है, ये तेजी से नहीं बढ़ते हैं, जबकि आय के तेजी से बढ़ने पर करों को भी तेजी से बढ़ना चाहिए। इसलिए जिस अनुपात में धनी वर्ग पर कर–भार पड़ना चाहिए उस अनुपात में नहीं पड़ता है। एक सीमा के बाद निर्धनों पर धनिकों की अपेक्षा कर–भार पड़ना चाहिए, उस अनुपात में नहीं पड़ता है। एक सीमा के बाद निर्धनों पर धनिकों की अपेक्षा कर–भार अधिक हो जाता है। अतः यह कर एक सीमा तक तो प्रगतिशील रहता है और एक सीमा के बाद यह प्रतिगामी हो जाता है।

आय स्तर	कर की दर (प्रतिशत)	करों से प्राप्त आय
1,000	8	80
2,000	10	200
3,000	11	330
4,000	12	480
5,000	12	600

1.6 प्रत्यक्ष करों के उदाहरण :–

1. आय कर :–

संविधान के अनुसार केन्द्र सरकार केवल कृषि भिन्न आय पर कर लगा सकती है। कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों के लिए आरक्षित है। आय कर के दो भाग है (क) वैयक्तिक आय कर (ख) निगम कर । यहां पर सर्वप्रथम वैयक्तिक आय कर पर विचार किया जाएगा।

वर्ष 2000–01 से पहले वैयक्तिक आय कर की निवल प्राप्तियां राज्यों के साथ अनिवार्य रूप से विभाज्य थी। इन विभाज्य राशियों में से राज्यों का संयुक्त हिस्सा और उसमें राज्यों के व्यक्तिगत हिस्से वित्त आयोग की सिफारिशों पर विचारोपरांत तय किए जाते थे।

भारत में आय कर सर्वप्रथम 1860 से 1873 तक लागू रहा, तथा 1886 में दुबारा लागू होने के पश्चात् आय कर अब देश की कर प्रणाली का एक मुख्य और अभिन्न अंग बन चुका है। 1939 में वैयक्तिक आय कर की दरों को स्लैब सिस्टम में परिवर्तित किया गया, तथा तब से इसकी दरों, छूटों, रियायतों तथा अन्य विशेषताओं में सतत संशोधन होते रहे है। कोई समय था जब सरकार के मतानुसार आय कर से राजस्व प्राप्तियाँ बढ़ाने के लिए कर की दरों में बढ़ोतरी करना जरूरी था। इस नीति के अंतर्गत एक समय आय कर की उच्चतम दर 97.5 प्रतिशत तक जा पहुंची थी। परंतु वाँचू समिति की रिपोर्ट में इतनी ऊँची दरों के दुष्परिणामों को उभारें जाने के पश्चात आय कर की दरों में कमी की जाने लगी, और 1997–98 के बजट में वैयक्तिक आय कर की उच्चतम दर घटकर 30 प्रतिशत रह गई। ज्ञातत्व है कि दर घटाने की इस प्रक्रिया के संग आयकर से राजस्व प्राप्तियों में कमी होने के स्थान पर वृद्धि हुई है।

सरकार द्वारा आय कर प्रणाली की दीर्घकालीन स्थिरता के हितों स्वीकारने के बावजूद अस्थिरता इसकी मुख्य विशेषता रही है। लगभग प्रत्येक बजट में अप्रत्याशित परिवर्तनों के घोषित किए जाने की प्रथा रही है।

1974 में वैयक्तिक आयकर प्रणाली में एक महत्वपूर्ण संशोधन कृषि आय और कृषि– भिन्न आय के आंशिक एकीकरण के रूप में किया गया। आशय यह था कि इससे करदाताओं पर कर–भार का आवंटन अधिक न्यायोचित हो जाए तथा कर की चोरी रोकने में सहायत मिले। परंतु इस उपाए के उपरांत भी सब करदाताओं के साथ एक–सा बर्ताव नहीं होता। यदि किसी करदाता की कृषि–भिन्न कर देय आय न हो, तो उसे कृषि आय पर भी कोई कर नहीं देना पड़ता । साथ में सभी राज्यों में कृषि आय पर कर नहीं है, तथा न ही उसकी दरों में समानता है। कीमतें बढ़ने के कारण भी करदाता की दर–देयता में कमी नहीं की जाती।

2. पूँजी लाभ पर कर (Tax on Capital Gains) :–

पूँजी लाभ किसी परिसंपत्ति के विक्रय मूल्य की उसके क्रय मूल्य से अधिकता है, और इस कारण इसे आय का ही एक प्रकार माना जाता है। परंतु सामान्यतः यह अर्जित नहीं होता, एवं दीर्घावधिक होता है।

इसके अतिरिक्त संचित परिसंपत्तियाँ बहुधा निवेशित बचतों का परिणाम होती हैं। इसलिए पूँजी लाभ आय पर करारोपण की दरें आय कर दरों से भिन्न एवं रियायती रखी जाती है। पूँजी लाभ पर करारोपण से कई हानियाँ है।

- पूँजी लाभ एक मौद्रिक प्रमापन है। कीमते बढ़ने के साथ इसकी क्रय शक्ति घटती है। अतः क्रय शक्ति के रूप में पूँजी लाभ पूँजी हानि में भी परिवर्तित हो सकता है।
- समस्त पूँजी लाभ को उसी वर्ष की आय माना जाता है। जिसमें परिसंम्पत्ति बेची गई हो।
- पूँजी लाभ कर से बचत और निवेश हतोत्साहित होते है तथा आर्थिक विकास में रूकावट पड़ती है।

  उपरोक्त कारणों से पूँजी लाभ कर से बचना चाहिए। परंतु यदि इस कर का लगाना आवश्यक हो, तो कुछ बुनियादी बातों का ध्यान रखना चाहिए ताकि इसकी त्रुटियों को यथासंभव दूर किया जा सके–

  1. पूँजी लाभ के अनुमान में पूँजी परिसंपत्ति के बिक्री मूल्य को किसी उचित कीमत सूचकांक द्वारा संशोधित किया जाना चाहिए।
  2. पूँजी लाभ पर कर की दर प्रगामी न हो कर एक ही होनी चाहिए। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह निकलता है कि पूँजी लाभ पर कर प्रत्येक दृष्टिकोण से अनुचित है, परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी केन्द्र ने 2018–19 में इसे लागू कर दिया।

3. सम्पत्ति कर (Wealth Tax) :–

1. राजस्व प्राप्ति के आयाम को अनदेखा करने पर प्रतीत होता है कि सम्पत्ति कर करदाता को संपत्तिहीन बनाने की एक प्रक्रिया है। इस कसौटी पर यह कर वितरण की असमानताओं को घटाने के लिए भी एक त्रुटियुक्त विधि है।
2. कीमतें बढ़ने पर इस कर की युक्तिहीनता और न्यायहीनता में बढ़ोत्तरी होती है।
3. इस कर से पूँजी निर्माण, और इस कारण आर्थिक विकास हतोत्साहित होता है।
4. सम्पत्ति कर के अंतर्गत कीमतें बढ़ने के साथ–साथ करदेयता भी बढ़ती है।
5. सम्पत्ति कर के कारण करदाता अपनी बचतों को उन परिसंपत्तियों में लगाने को प्रेरित होते है।
6. सम्पत्ति कर के पक्ष में बहुधा दो तर्क दिए जाते है। एक यह कि इससे आय कर की चोरी रोकने में सहायता मिलती है, तथा दूसरा यह कि इससे वितरण की असमानताएं घटती है।

4. निगम कर :–

कंपनियां की कर योग्य आय पर आरोपित कर 'निगम कर' कहलाता है। इसे 'सुपर कर' की संज्ञा भी दी जाती है। शेयरधारियों की करदेयता के निर्धारण में कंपनी द्वारा निगम कर की अदायगी को एक घटक नहीं माना जाता। जैसे सरकार कंपनी को अपने कर एजेन्ट के रूप में प्रयोग कर सकती है। इस स्थिति में कंपनी शेयरधारियों की ओर से वितरित लाभांश पर कर कटौती करने के उपरांत उन राशियों को सरकार के पास जमा कराती है। वैयक्तिक आय पर कर की भांति निगम कर में भी कई प्रकार की छूटों एवं रियायतों आदि के प्रावधान है। लाभांशों को कंपनियों की लाभ आयों से भिन्न माना जाता है। करारोपण के दृष्टिकोण से कंपनियों को आकार, स्वामित्व तथा देशी और विदेशी होने के आधारों पर वर्गीकृत किया जाता है, परन्तु एक वर्ग विशेष की कंपनियों पर कर की दर समानुपाती ही रहती है। कालांतर में कराधान के माध्यम से कंपनियों की गतिविधियों को विविध प्रकार से प्रभावित करने के प्रयास किए जाते रहे है। विभिन्न समितियों तथा विचारकों की सिफारिशें इस मान्यता पर आधारित रही हैं कि कंपनियाँ अल्पावधिक और अस्थाई कर संशोधनों की प्रतिक्रिया में भी अपने व्यावसायिक निर्णयों को तुरंत बदलने को तत्पर रहती है तथा इन निर्णयों को लागू भी करती है। सरकार द्वारा निगम कर में सरलीकरण की आवश्यकता को बारंबार स्वीकारा जाता रहा है। परंतु इस उद्देश्य की केवल आंशिक प्राप्ति ही हो पाई है। वैसे वैयक्तिक आय कर की भांति कालान्तर में निगम कर की दरों में कटौती अवश्य की गई है।

1.7 सारांश (Summary):-

किसी देश की लोक वित्त व्यवस्था की समस्त व्यवस्था उस देश की कर प्रणाली पर निर्भर करती है। एक आदर्श राजकोषीय नीति के लिए एक आदर्श कर प्रणाली का होना आवश्यक है। सैद्धान्तिक

दृष्टि से ऐसी कर प्रणाली की कल्पना करना तो सम्भव है, लेकिन व्यवहार में एक ऐसी कर प्रणाली का पाया जाना कठिन माना जाता है। डाल्टन का कथन है कि–''आर्थिक प्रभाव ज्यादा हो और बुरे आर्थिक प्रभाव कम हो।'' भारतीय कर प्रणाली में करारोपण के सिद्धान्तों के अनुकूल,करदाता को सुविधा, आयकर की दरों में कमी , परोक्ष करों का अधिक भाग, बहुकर प्रणाली , करारोपण का विस्तृत क्षेत्र , अधिकतम सामाजिक लाभ, समाजवादी कराधान, आदि के अनुकल है जो भारत के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

1.8 शब्दावली (Key words):-

1. कर अंशाच्छादन (tax overlapping)
2. प्रत्यक्ष कर (direct taxes)
3. परोक्ष / अप्रत्यक्ष कर (indirect taxes)
4. समता / न्यायसंगतता (equity)
5. पर्याप्तता (adequacy)
6. सरलता (simplicity)
7. कर–अपवंचन / कर–वंचन / कर–चोरी (tax evasion)
8. कर– परिवर्तन / कर–परिहार का बचाव (tax avoidance)
9. उत्पादक परिसंपत्तियाँ (productive assests)
10. निगम कर (corporation tax)

1.9 संदर्भित ग्रन्थ सूची (Refference Books)

4. R.A Musgrave and P.B Samusgrave : Public Finance in Theory and Practive (1989) chapter 08

5. Musgrave and Peacock : Classics in the theory of public finance (1962) chapter 1

3. Alan Peacock : The Economic Analysis of Govt. and Other Related Themes (1980) chapter 7

4.R.A Musgrave : Fiscal Systems 1969

5. John C. Beyer : Budget Innovation in Development countries: The Experiece of Napal Praeger- 1973

6. लोकवित्त : डॉ0 एस0 के0 सिंह साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
7. लोक अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण पब्लिकेशन्स, आगरा
8. लोक वित्त : एच0एल0 भाटिया, विकास पब्लिसिंग हाऊस प्रा0 लि0, नोयडा, भारत।
9. लोक वित्त : डॉ0 जे0सी0 वार्ष्णेय, एस0बी0टी0पी0 पब्लिसिंग, हाऊस, आगरा।

1.10 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

1. भारतीय कर प्रणाली की मुख्य विशेषताओं पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. भारतीय कर प्रणाली की मुख्य बातें बताइए।
3. करों का वर्गीकरण कीजिए।
4. प्रत्यक्ष करों की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।
5. प्रत्यक्ष बनाम परोक्ष कर को स्पष्ट कीजिए।
6. आनुपातिक कर एवं प्रगतिशील कर को स्पष्ट कीजिए।
7. प्रतिगामी कर तथा अधोगामी कर में अन्तर बताइए।
8. आयकर एवं निगम कर को स्पष्ट कीजिए।
9. सम्पत्ति कर को स्पष्ट कीजिए।
10. पूंजी लाभ पर कर को बताइए।

1.11 बहुविकल्पीय प्रश्न उत्तर (Objective type question)

1. राज्य सूची के करारोपण अधिकार किसके पास है?
   क. केन्द्र सरकार के पास ख. राज्य सरकार के पास
   ग. स्थानीय निकायों के पास घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर क)
2. स्थानीय निकायों में करारोपण अधिकार किसके पास है:

क. केन्द्र सरकार ख. राज्य सरकार
ग. स्थानीय निकास घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ख)

3. परोक्ष करों के प्रभाव होते है?
क. अवरोही ख. आरोही ग. दोनों क , ख
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)

4. बड़े पैमाने पर कर की चोरी हमारी कर प्रणाली को बनाती हैः
क. अवरोहीपन को बढ़ाना ख. समता को घटाना
ग. उपर्युक्त दोनों घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

5. कर की चोरी के कारण बढ़ती हैः
क. असमानता ख. समानता
ग. उपर्युक्त दोनो घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)

6. बड़े पैमार पर कर की चोरी से भारतीय कर व्यवस्था में वृद्धि होती हैः
क. अवस्फीति ख. मुद्रा संकुचन ग. मुद्रा स्फीति घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

7. कर प्रणाली की पर्याप्तता को किन–किन आधारों पर जांचा जा सकता है?
क. राजस्व में उचित दर से वृद्धि
ख. सरकार की राजस्व आवश्यकता की पूर्ति
ग. उपर्युक्त दोनों
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

8. हमारे देश का प्रत्यक्ष कर ढांचा किस प्रौद्यागिकी को प्रोत्साहित करता है?
क. पूंजी प्रधान प्रौद्यागिकी ख. श्रम प्रधान प्रौद्योगिकी
ग. उपर्युक्त दोनों घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

9. कंपनियों की कर योग्य आय पर आरोपित कर क्या कहलाता है?
क. आयकर ख. व्यक्तिगत कर
ग. निगम कर घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ग)

10. स्वैच्छिक प्रकटीकरण स्कीमें (Voluntary Disclosure Schemes) का उदाहरण है
क. करों की चोरी को बढ़ावा देना
ख. करों की चोरी करने वाले धन का प्रकटीकरण करना
ग. कालेधन को बढ़ावा देना
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर ख)

खण्ड – 02
इकाई – 03

करारोपण के सिद्धान्त, करभार तथा करों के प्रभाव
Canons of Taxation, Tax Burden, Effect of Taxes

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 समानता का सिद्धान्त
1.3 निश्चितता का सिद्धान्त
1.4 सुविधा का सिद्धान्त
1.5 मितव्ययिता का सिद्धान्त
1.6 उत्पादकता का सिद्धान्त
1.7 लोच का सिद्धान्त
1.8 सरलता का सिद्धान्त
1.9 वांछनीयता का सिद्धान्त
1.10 विविधता का सिद्धान्त
1.11 एकरूपता का सिद्धान्त
1.12 समन्वय का सिद्धान्त
1.13 लचीलापन एवं पर्याप्यता का सिद्धान्त
1.14 प्रशासकीय कुशलता का सिद्धान्त
1.15 श्रीमती हिक्स का सिद्धान्त
1.16 सिसमाण्डी का सिद्धान्त
1.17 न्यूनतम समग्र त्याग का सिद्धान्त
1.18 करापात : आधुनिक विचार
1.19 कर भार की धारणा
1.20 सारांश
1.21 शब्दावली
1.22 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.23 अभ्यास प्रश्न
1.24 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय : (Introduction) :

करारोपण के सिद्धान्त से आशय है कि कर की संरचना (Structure) के विकास के लिए उचित कसौटी (Criteria) का निर्धारण करना है। प्राचीनकाल में करों का राजकीय व्यवस्था में कोई स्थान न होने के कारण, इसीलिए सन् 1500 तक तो इसके बारे ज्ञान भी नहीं था। सन् 1500 के बाद जर्मनी के द्वारा करों से आय प्राप्त करने की शुरूआत हुई थी। वर्तमान में कर राज्य की आय प्राप्ति के प्रमुख साधन है। आज कर साधन में इतनी प्रगति हो गई है जिससे अब बिना कर के सरकार का अस्तित्व ही सम्भव नहीं हैं। यह भी सत्य है कि अब नागरिक भी स्वेच्छा से करों का भुगतान करने लगे है जबकि प्राचीनकाल में कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से कर नहीं देता था। कर की राशि निर्धारित करते समय, कर भार के वितरण के आधार का अध्ययन करना जरूरी है। यह भी सत्य है कि करों का उचित एवं न्यायपूर्ण वितरण हो। अब प्रश्न है कि कर का उचित एवं न्यायपूर्ण वितरण किस ढंग से होना चाहिए। कर के नियम (Canons of taxation) के विकास पूर्व वणिकवादियों (Mercantilist) एवं प्रकृतिवादियों (Physiocrats) ने कर के सिद्धान्त पर विचार दिये थे। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक Wealth of Nations में करारोपण के सिद्धान्त की व्याख्या की, के बाद पीगू तथा डाल्टन ने इस विषय पर अपने विचार व्यक्त किए। इस संबंन्ध में जे0एफ0डयू (J.F. Due) का कहना है कि करारोपण के सिद्धान्त का विकास मुख्य रूप से कल्याण के सिद्धान्त का क्रियान्वयन ही है। अतः इस क्षेत्र में आगे विकास कल्याण के सिद्धान्त के विकास पर निर्भर करेगा। कल्याण के सिद्धान्त की वर्तमान स्थिति ऐसी है कि वह करारोपण के

सिद्वान्तों को मोटे रूप में विकसित करने के अति रिक्त और कोई सहायता नहीं पहुॅचा सकता है। इस संबंध में श्रीमती उर्सला हिक्स का कथन है कि वित मंत्री को अपने बजट में नें करों के प्रस्ताव को प्रस्तुत करते समय कुछ बातों को ध्यान में रखना चाहिए। प्रथम, आय का उद्देश्य सामाजिक सेवाओं के व्ययों को पूर्ण करना होना चाहिए। इसमें वही सेवाएॅ हो जो अत्यधिक कुशल एवं लाभप्रद हों। इतना होने पर भी कुछ गौण मदों पर कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यय करना वांछनीय है जैसे विपरीत भुगतान संतुलन को ठीक करने के लिए और अवांछनीय वस्तुओं के उपभोग पर रोक लगाने के लिए। दूसरा, नागारिकों पर कर उनकी कर देने की सामर्थ्य के ही आधार पर लगाना जाना चाहिए। सामर्थ्य के आधार पर कर लगाते समय लोगों की सम्पति एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखना आवश्यक है। तीसरे कर विश्वव्यापी होने चाहिए। ये समान आय समूह के लोगों पर समान रूप से लगाये जाने चाहिए। उत्पादन में वृद्वि का आदर्श तभी प्राप्त हो सकता है जब अत्यधिक करों का निर्धारण किया जाए। दूसरी बात है कि कुशल सिद्वान्त सामाजिक न्याय की है तो इसका संबंध उपयोगित के आधार से भी है। सामार्थ्य की विवेचना करने के लिए अनेक मतभेद हैं। सामर्थ्य के प्रश्न पर कर हेतु विवेचना नीति के आधार पर करनी पड़ेगी। व्यक्तिओं के कल्याण एवं उच्चतम जीवन–स्तर की प्राप्ति और समाज द्वारा स्वीकृत आय का विवरण के आधार करारोपण के सिद्वान्त का उदया हुआ।

1.1 उद्देश्य : (Objectives) :

1. करारोपण के सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
2. कर भार एवं करों के प्रभावों को जान सकेंगे।

1.2 समानता का सिद्वान्त (Principle of Equity) :-

समानता के संबंध में एडम स्मिथ का कथन है कि प्रत्येक राज्य की प्रजा को सरकार के लालन–पालन के लिए, जहॉ तक सम्भव हो, अपना अंशदान अपनी –अपनी योग्यता के अनुसार देना चाहिए, अर्थात् उस आय के अनुपात मे जिसका आनन्द वे राज्य की संरक्षता में प्राप्त करते है। इससे तात्पर्य है कि व्यक्तियों को अपनी योग्यतानुसार सरकार को कर देना चाहिए, या व्यक्तियों पर जो कर लगाये जाते हैं उनका आधार व्यक्तिओं की कर देने की योग्यता होना चाहिए, तभी लोगों के साथ न्याय हो सकता है। एडम स्मिथ के सैद्धान्तिक विचार सही है लेकिन व्यवहारिक रूप से कठिनाई है। एडम स्मिथ का कहना है कि निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा धनी व्यक्ति से अधिक कर लेना चाहिए। इस संबंध में मिल का कथन है कि यह नियम कराधान का महानतम नियम है समता अर्थात साधनों के अनुपात में कराधान। समानता का सिद्वान्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है, इसलिए कि इसमें नैतिकता के दृष्टिकोण से इंकार नहीं किया जा सकता हैं। कहना चाहिए कि कर को समान होना चाहिए। यह सैद्धान्तिक पक्ष माना जा सकता है जबकि व्यावहारिक पक्ष में यह जरूरी है कि कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो करदाता को स्वीकार्य हों। करभार के समान वितरण को ही समानता कहा जाता है। सार्वजनिक कार्य के लिए किये गये व्यय को पूरा करने में सभी करदाताओं को उचित हिस्सा क्हन करना चाहिए। लेकिन ऐसा कहना आसान है, पर निर्धारण करना बहुत कठिन कार्य है। इसका उचित हिस्सा क्या होगा। समता को साधारणतः क्षैतिज एवं ऊर्द्ध समता (Horizontal and vertical Equity) में विभक्त किया जा सकता है। क्षैतिज समता से आशय है कि समान परिस्थिति वाले करदाताओं के साथ समान आचारण। ऊर्ध्व समानता का आशय है कि असमान पारिस्थिति वाले करदाताओं के साथ असमान व्यवहार। दोनों प्रकार की समता एक ही सिद्वान्त अर्थात समान आवरण के अंग है। करभार के समान वितरण के संबंध में दो सिद्वान्तों का अधिकतर उल्लेख होता है। एक सुलाभ का सिद्वान्त (Benefit Principle) और दूसरा, करदान योग्यता का सिद्वान्त (Ability to Pay Principle) । एडम स्मिथ का कहना है कि आय के अनुपात में कर देना चाहिए। आगम आय (Revenue) का संबंध उस आय (Income) से है जो किसी भी व्यक्ति को राज्य के सरक्षण में प्राप्ज होती है। इस तरह से एडम स्मिथ करारोपण की समानुपातिक दर का पक्ष लेते नजर आते है। लेकिन वर्तमान में अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के विचार से सहमत नहीं है। क्योंकि समानुपातिक दर न्यायपूर्ण क्योंकि मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगण घटता जाता है, ज्यों–ज्यों इसका स्टाक बढ़ता जाता है। अतः अमीर व्यक्ति को निर्धन की अपेक्षा एक दर पर कर देने में कम त्याग या अनुपयोगिता महसूस होती है। अतः करारोपण में प्रगतीशील करों के पक्ष में दलील दी जाती है। वर्तमान में प्रगतिशील करों के लगाने का अर्थशास्त्रियों व आर्थिक व सलाहकारों के द्वारा पक्ष लिया जाता है।

1.3 निश्चितता का सिद्वान्त (Principle of Certainty) :-

निश्चितता (Certainty) से तात्पर्य है कि कर देने व कर लेने वाले व्यक्तियों को इस बात की पूरी जानकारी होनी चाहिए। यह भी निश्चित होना चाहिए कि उसे कब और कितना कर देना या लेना है। कर लेने वाली सरकार को जानना चाहिए कि किस साधन से कितनी आय लोगों को प्राप्त हो रही है। यदि सही तथ्य एवं जानकारी सरकार ने जुटा ली तो वह अपने उद्देश्य में कामयाब हो सकती है।

अन्यथा की स्थिति में असफल। करदाता को करों के भुगतान के समय, भुगतान के तरीके एवं राशि की पूर्ण सूचना होनी चाहिए, जिससे करदाता को किसी प्रकार की अनिश्चितता एवं परेशानी का सामना न करना पड़े। अगर करों का संकलनकर्ता निर्धारित समय की अपेक्षा जब इच्छा हो तब करने लगे तो करदाताओं को अत्यधिक परेशानियों का सामना करना पड़ सकती है। यदि करदाता को कर की दर एव धनराशि का ज्ञान न हो तो इस बात के अनेक अवसर पैदा हो सकते है कि करों को एकता करने वाला चालाकी करें। अगर वह उचित दर से भी कर एकत्र करें तो भुगतानकर्ता को यह भ्रम हो सकता है कि वह ठगा जा रहा है। इसीलिए करों का भुगतान हेतु तरीके एवं राशि की निश्चितता समय का निर्धारण अवश्य निश्चित होना चाहिए। जिससे व्यक्ति को कर भुगतान कर में परेशानी न हो। कर प्रणाली में उन बातों का अभाव होने की स्थिति में करदाता को परेशानी के साथ भ्रम आदि का सामना करना पड़ सकता है। इस संबंध में एडम स्मिथ का कथन है कि– प्रतयेक कर जिसे हर व्यक्ति को कानून प्रदान करना है, निश्चित होना चाहिए। कर के भुगतान का समय, भुगतान को रीति, भुगतान की जाने वाली राशि का प्रत्येक व्यक्ति एवं करदाता को श्रेष्ट ज्ञान होना चाहिए। करों की अनिश्चितता बेईमानी को प्रोत्साहन देती है और व्यक्तिओं को भ्रष्टाचार करने के लिए उत्साह प्रदान करती है जो स्वभावतः बेईमान होते है। यहॉ तक कि उन व्यक्तिओं को भी बेईमानी के दायरें में खीच लाती हैं, जो बेईमान नहीं होते है। उस प्रकार एडम स्मिथ का कहना कि प्रत्येक कम अंश वाली अनिश्चितता बड़े अंश की करारोपण की असमानता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। निश्चितता का सिद्वान्त के संबंध में एडम स्मिथ का मानना है कि–सरकार को भी इस बात को निश्चितता होनी चाहिए कि उसे करों के द्वारा कितनी आमदनी होगी। इसमें सार्वजनिक व्यय भी योजना के निर्माण संबंधी पूर्वानुमान में सरलता होगी। निश्चितता का सिद्वान्त की मुख्य बाते हैंः

1. भार की निश्चितता (Certainty of incidence)
2. दायित्व की निश्चितता (Certainty of Liability)
3. अपवंचन अनुपात (Evasion Ratio)
4. राजकोषीप निशानेबाजी (Fiscal Markmanship)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कर के भार की अनिश्चिता होने के कारण सरकार किसी भी वित्तीय प्रक्रिया के प्रभाव का आंकलन नहीं कर सकती है। दायित्व की निश्चिता होने से कर दायित्व का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है। अपवंचन की मात्रा का पता चल जाने पर राजस्व का ज्ञान हो जाता है। आयकर ही सर्वाधिक अपवंचन का क्षेत्र प्रदान करता है। राजकोषीष निशानेवाजी से सरकार को पता चल सकता है कि कुल कितने राजस्व की प्राप्ति हो सकती है।

1.4 सुविधा का सिद्वान्त (Principle of Convenience) :-

यह कि करों का संकलन ऐसे समय व तरीके से होना चाहिए, कि जो अत्यधिक सुविधाजनक हो। ऐसे कर जिनके भुगतान के समय एवं तरीके के संबंध में निश्चित जानकारी होती है और जो ऐसे समय पर एकत्र किये जाते है जब कि लोगों के पास मुद्रा होती है, लोगों को बहुत कम खटकते है। इसीलिए करदाता को कर देते समय कोई मानसिक कष्ट या असुविधा नहीं होनी चाहिए, जैसे–कृषक से लगान फसल कटने पर, वेतन भोगी से कर की क्सूली वेतन मिलने पर तथा बिक्री कर की वसूली वेतन प्राप्त पर की जानी चाहिए। अप्रत्यक्ष कर इतने सुविधाजनक होते हैं कि अगर कोई व्यक्ति करों के भुगतान की तुलना में वस्तुओं की कीमत देने में अधिक असुविधा महसूस करता है तो यह उसकी अपनी गलती है। एडम स्मिथ का कथन है कि प्रत्येक कर ऐसे समय और इस प्रकार लगाया जाना चाहिए कि वह भुगतान करने वाले के लिए अत्यधिक सुविधाजनक हो। भूमि या मकान का लगान जो एक तरीके के भुगतान के योग्य हैं, ऐसे समय पर जमा किये जाते हैं जो करदाता के लिए अत्यधिक सुविधाजनक हो या जब करदाता के पास पर्याप्त राशि भुगतान करने के लिये होती है। उपभोग की वस्तुओं एवं विलासिता की वस्तुओं पर लगाये जाने वाले करों का भुगतान अन्तिम रूप से उपभोक्ताओं द्वारा होता है, ऐसे तरीके से जो उनके लिए अत्यधिक सुविधाजनक होता है। सुविधाजनक भुगतान के प्रमुख उदाहरण है, जैसे– आय कर का भुगतान आय प्राप्त करते समय और बिक्री–कर का भुगतान वस्तु को क्रय करते समय होना चाहिए। इससे करदाता को न तो असुविधा होती है और न ही वह करों का भाग महसूस करता है।

1.5 मितव्ययिता का सिद्वान्त (Principle of Economy) :-

इस सिद्वान्त की मुख्य बात यह है कि करों के संकलन एवं शासन के संबंध में किसी प्रकार की फिजूलखर्चा नहीं होनी चाहिए। जनता की जेब से प्राप्त होने वाली मुद्रा एवं सरकारी कोष में जमा होने

वाली मुद्रा में बहुत कम अन्तर होना चाहिए। एडम स्मिथ का विचार था कि यदि राज्य को करों से होने वाली आय की तुलना में उनके संग्रह पर व्यय अधिक होता है, तो इससे राजकीय आय में कमी होगी। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति से कर के रूप में 100 रूपया वसूल करना है और जो व्यवस्था वसूल करती है, उस पर 100 रूपया व्यय करना पड़े, तो यह प्रकिया उपर्युक्त नहीं होगी। करारोपण एक प्रकार का उत्पादक कार्य है, इसीलिए इसमें जितनी ज्यादा मित्तव्यता होगी उससे करदाताओं को उतना ही अधिक लाभ होगा। इस संबंध में एडम स्मिथ का कथन है कि प्रत्येक कर की रचना इस प्रकार की जानी चाहिए कि सरकारी खजाने में जो राशि प्राप्त हो उसके अतिरिक्त व्यक्तियों को अपनी जेबों में रखने एवं निकालने की राशि कम से कम हो। करारोपण को उत्पादन कार्य माना गया है। हॉब्सन, विकस्टैंड, वैगनर एवं रॉबर्ट जोन्स के द्वारा मितव्ययिता का सिद्वान्त को उचित बताया था। इस संबंध में डाल्टन का कथन है कि – वह कर पद्वति सर्वोत्त है, जिसमें कर वसूल करने की लागत, संग्रह की जाने वाली राशि के अनुपात में कम हो। यह भी तथ्य है कि करारोपण को उत्पादन कार्यों से संबंधित किया गया है। इस संबंध में जे.के. मेहता का कथन है कि करारोपण उत्पादन की एक क्रिया है, अतः प्रत्येक को उत्पादन में यथा सम्भव मितव्ययिता प्राप्त करनी चाहिए। इस संबंध में शिराज का कथन है कि जितनी सफलता एडम स्मिथ को कर के सिद्वान्तों को सूक्षम करके सरल व स्पष्ट रूप में रखने में मिलती है, उतनी सफलता अन्य किसी सिद्वान्त को प्राप्त नहीं हुई है। वर्तमान में स्मिथ के कर सिद्वान्त वित्त के अध्ययन का एक आवश्यक अंग माने जाते है। यदि कर वसूलने में फिजूलखर्ची होगी, तो उसका अधिकांश भाग सरकारी खजाने में नहीं जायेगा तथा सरकार भी जन–समाज पर कम धन व्यय करेगी।'' वर्तमान समय में करों को संग्रह करना बहुत खर्चीला हो गया है जिनके कारण निम्नवत् है :–

(अ) यह कि कर–व्यवस्था में संलग्न व्यक्तिओं की संख्या अधिक होने के कारण उनके वेतन, भत्ता, टी.ए., डी.ए. आदि में अधिक व्यय हो जाता है।

(ब) यह कि कर–व्यवस्था इतनी जटिल है कि वह करदाता को समझ से परे होने के कारण, वकीलों व कर विशेषज्ञों, सी.ए. आदि का सहारा लेना पड़ता है जिसका भुगतान करना पड़ता है। इस प्रकार करदाता को हानि होती है।

(स) यह कि कभी–कभी प्रगतिशील करों के द्वारा पूँजी के निर्माण में कमी आ जाती है। पूँजी में कमी के परिणाम स्वरूप उत्पादन व रोजगार में कमी होती है जिससे देश को नुकसान उठाना पड़ता है।

(द) यह कि करारोपण लोगों को ऐसा विनियोग करने के लिए भी प्रोत्साहित करता है जिससे भविष्य में व्यक्ति को लाभ न मिल पाता हो।

इसके बावजूद आधुनिक अर्थशास्त्री मितव्ययिता का अर्थ व्यापक दृष्टिकोण से लगाते हैं। उनका मत है कि यदि कर देश के व्यापार, उद्योग तथा आर्थिक स्थिति पर कुप्रभाव पड़ता है तो उसे मितव्ययी नहीं कहा जा सकता है। अतः मितव्ययिता का अर्थ है कि कर को प्राप्त करने में कम से कम व्यय होना चाहिए और इससे लोगों के धन बचत करने की इच्छा तथा समाज के उत्पादन पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक "Wealth of Nations" में समानता का सिद्धान्त, निश्चितता का सिद्धान्त, सुविधा का सिद्धान्त, मितव्ययता का सिद्धान्तों को बताया है। इनके अतिरिक्त अन्य सिद्धान्त भी अर्थशास्त्रियों के द्वारा बताये गये हैं, जो निम्नवत् है :–

1.6 उत्पादकता का सिद्धान्त (Canon of Productivity) :-

इस सिद्धान्त को बेस्टेबिल ने बताया है। उत्पादकता का अभिप्राय है कि एक कर ऐसा होना चाहिए जिससे सरकार को पर्याप्त आय हो अर्थात् कर से वसूली अधिक हो और खर्च कम हो। दूसरा, कर इस प्रकार लगाये जाने चाहिए कि इनके द्वारा उद्योगों के संचालन में किसी प्रकार की बाधा नहीं होना चाहिए। सरल शब्दों में, करों के लगने से करदाताओं की काम करने व बचत करने की इच्छा व योग्यता पर बुरा प्रभाव न पड़े, अर्थात् करारोपण से वितरण एवं रोजगार प्रोत्साहित होता रहे।

1.7 लोच का सिद्धान्त Canon of Elasticity :-

वर्तमान समय में लोच का सिद्धान्त का विशेष महत्व है। लोच के सिद्धान्त का अभिप्राय है कि करों से होने वाली आय जरूरत के अनुसार घटाया व बढ़ाया जाना ही लोच मानी जाती है। समाज की उन्नति के साथ–साथ सार्वजनिक व्यय भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार कर की एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उससे आय में जरूरत के अनुसार वृद्धि की जा सके। कर में लोच होने से परिस्थितियों के

अनुसार उसे घटाया व बढ़ाया जा सके। जैसे आय कर लोच का एक उत्तम उदाहरण है क्योंकि कर की थोड़ी–सी दर घटाकर सरकार की आय पर्याप्त घटायी जा सकती है और इसी प्रकार कर की थोड़ी दर को बढ़ाकर, आय में वृद्धि की जा सकती है। एक लोचदार कर व्यवस्था जनता तथा सरकार दोनों के लिए न्यूनतम कष्टदायक होती है।

1.8 सरलता का सिद्धान्त (Cannon of Simplicity) :-

कर इतना सरल हो ताकि इसके निर्धारण का उद्देश्य, प्रभाव आदि आसानी से समझा जा सके और उसे समझने के लिए करदाता को विशेषज्ञों की सहायता न लेनी पड़े। यदि कर–प्रणाली सरल न होने के कारण करदाता ठगे जा सकते हैं। वर्तमान में भारत की कर प्रणाली इतनी जटिल व पेचीदा है कि वह आसानी से समझ में नहीं आती है। इस कारण करदाता कर–विशेषज्ञों एवं वकीलों व सी.ए. के चक्कर काटते रहते हैं जिससे करदाता में असन्तोष बढ़ने लगता है। इसीलिए कर–प्रणाली सरल, सहज होनी चाहिए जिससे करदाताओं को कोई कठिनाई न हो।

1.9 वाँछनीयता का सिद्धान्त (Canon of Expediency) :-

प्रत्येक कर ऐसे आधार पर लगाया जाना चाहिए कि उसका औचिव्य होना चाहिए। प्रजातांत्रिक देशों में इसका विशेष महत्व होता है। कर ऐसे लगाना चाहिए कि करदाताओं को उनके औचिव्य के विषय में किसी प्रकार का सन्देह न हो। बिना किसी कारण के लगाये जाने वाले कर उत्तेजनात्मक हो। सकते है, जो प्रतिकूल परिणाम डाल सकते हैं। करदाता को इस बात का विश्वास दिलाना जरूरी होता है कि उस पर लगाया जाने वाला कर सर्वमान्य एवं उचित तथा जनहित में है।

1.10 विविधता का सिद्धान्त (Canon of Diversity) :-

कर प्रणाली में विविधता का होना जरूरी है। इसका अभिप्राय है कि कर अनेक प्रकार के होने चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति से अंशदान प्राप्त किये जा सकें। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का इस तरह से विभाजन होने चाहिए कि प्रत्यक्ष व्यक्ति कर का उचित तरीके से भुगतान कर सके साथ ही वांछनीय बिन्दुओ तक लाना उचित माना जा सकता है। इस विविधता से कर–भार भी कम रहता है तथा सभी वस्तुओ की मांग बनी रहती है। लेकिन इनमें करों की संख्या बहुत अधिक होनी चाहिए। करों की संख्या बढ़ाने से एकत्रीकरण का व्यय भी बढ़ जायेगा और यह सिद्धान्त मितव्यायता एवं उतपादिकता के सिद्धान्त के विपरीत होगा। अतः विविधता के सिद्धान्त का प्रयोग सीमित मात्रा में ही किया जाना चाहिए।

1.11 एकरूपता का सिद्धान्त (Canon of Uniformity) :-

नित्री एवं कोनार्ड (Nitty and Conard) का विचार है कि करारोपण में एकरूपता आना आवश्यक है। समस्त करों को लगाने की विधि समान होनी चाहिए तथा उन सभी करों का निर्धारण सामान्य उदेश्य से किया जाना चाहिए। कर प्रणाली में समानता का मुण होना चाहिए, जिससे हिसाब–किताब संबंधी जटिलताएँ समाप्त हो सकें। एकरूपता होने से प्रशासनिक कठिनाइयॉ कम हो जाती है। एकरूपता के कारण किसी भी कर के बारे में कोई समस्या नहीं रहती है।

1.12 समन्वय का सिद्धान्त (Canon of Co-ordination) :-

देश की कर प्रणाली का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि करों में अधिक से अधिक समन्वय स्थापित किया जा सके तथा करों के द्वारा उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को सरलता से दूर किया जा सकें। विभिन करों को एकत्र करने में किसी प्रकार की कठिनाइयों या सीमाओं का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। कर को इकट्ठा करने के लिए कर्मचारी एक–दूसरे के क्षेत्र में उल्लंघन न करें। इससे करों के सग्रह में प्रशासनिक कठिनाइयों उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण के तौर पर, जैसे बिक्री कर को पहले एक राज्य से बाद में दूसरे राज्य से वसूल किया जाये तो वह उचित प्रतीत नहीं होता है। इसके आवश्यक है कि विभिन राज्यों एवं स्थानीय निकायों की कर नीति में समन्वय स्थापित किया जाए।

1.13 लचीलापन एवं पर्याप्तता का सिद्धान्त (Canon of flexibility and Sufficiency) :-

इस सिद्धान्त श्रेय फिण्डले शिराज को जाता है। फिण्डले शिराज का कहना है कि करों की प्रकृति लचीली होनी चाहिए। लचीलापन के सिद्धान्त का आशय कर–प्रणाली की ऐसी व्यवस्था से है कि उसमें नवीन करों को बढ़ाकर पुराने करों को सरलता से निकाला जा सकें। पर्याप्तता का सिद्धान्त आवश्यकताओं से संबंधित है। राज्य की आवश्यकताओं पर ही आय की पर्याप्तता निर्भर करती है। राज्य के कार्य क्षेत्र में वृद्धि होने से उसकी आय की पर्याप्तता भी बढ़ती जा रही है। मूल्य में वृद्धि होने से आवश्याकताएँ समान रहने पर भी राजकीय व्यय में वृद्धि हो जाती है और गत वर्ष की पर्याप्त आय इस वर्ष अपर्याप्त मानी जा सकती है। इसलिए पर्याप्त एक निरपेक्ष शब्द नहीं हैं। यह गुण उस समय तक व्यर्थ माना जाता है, जब तक कि उन परिस्थितियों का वर्णन न किया जाए जिन पर कि यह निर्भर है।

1.14 प्रशासकीय कुशलता का सिद्धान्त (Principle of Administrative Efficiency) :-

इस सिद्धान्त का सीधा संबंध कर वसूली की लागत से है। यह भी सामान्य बात है कि लागत सामान्यतः अधिक नहीं होती है, लेकिन वसूली की लागत में सिर्फ कर प्रशासन के कर्मचारियों पर किया गया खर्च ही सम्मिलित नहीं करना चाहिए, बल्कि करदाता द्वारा कर भुगतान करने में खर्च किया गया समय तथा कर, वकीलो एवं लेखाकारों पर व्यय को भी शामिल करना चाहिए। इन सभी मदों को जोड़ने पर एक वसूली की लागत काफी ज्यादा हो सकती है।

1.15 श्रीमती हिक्स का सिद्धान्त (Canon of Misflicks) :-

श्रीमती हिक्स का विचार है कि एक–सी आर्थिक स्थिति रखने के लिए व्यक्ति से समान आधार पर कर लेना चाहिए तथा विभेदात्मक नीति का पालन नहीं करना चाहिए। साथ ही करारोपण का उपयोग लोकोपयोगी सेवाओं को विकसित करने में किया जाना चाहिए तथा कर का उपयोग सदैव आम जनता की भलाई में किया जाना उन्नति माना जाता है। इसके अतिरिक्त हिक्स का कहना है कि साधारणतः करारोपण करदान सामर्थ्य के आधार पर किया जाना चाहिए, जिससे अधिक आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों से अधिक मात्रा में कर वसूल किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में लुट्ज का कथन है कि – ''न तो कोई कर पूर्ण है और न ही कोई पूर्णतयाः खराब ही है।'' श्रीमती हिक्स का कहना है कि – ''प्रत्येक कर पृथक–पृथक न लेकर सम्पूर्ण प्रणाली पर ही ध्यान देना चाहिए।'' इससे स्पष्ट होता है कि जनता को अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो सके, इसलिए कर–प्रणाली में सभी करों का समावेश होना चाहिए।

1.16 सिसमाण्डी का सिद्धान्त (Canon of Sismondi) :-

सिसमाण्डी का नाम आर्थिक विचारों के इतिहास में महत्वपूर्ण है। सिसमाण्डी का विचार है कि जीवन से सम्बन्धित आवश्यक आय एवं उपभोग पर कर नहीं लगाना चाहिए, जिससे गरीब वर्ग पर कर का भार अधिक पड़ेगा, जो कि हानिप्रद होता है। साथ ही कर की राशि इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि जिस धन पर वह लगायी जाये, उसको किसी अन्य क्षेत्र में जाने की प्रेरणा न मिले। कर इस ढ़ंग से लगाये जाए कि उनका भुगतान पूँजी के स्थान पर आय में से किया जाना चाहिए।

1.17 न्यूनतम समग्र त्याग का सिद्धान्त (Least Aggregate Sacrifice Principle of Taxation):-

मिल ने लाभ के सिद्धान्त का परित्याग करके कर देय योग्यता को करारोपण का सही सिद्धान्त से माना और कहा कि समानता पर आधारित करारोपण का अर्थ है कर के भुगतान में त्याग की समानता (Eqility of Sacrifice)। करदाता के साथ सामान्य आचरण उस समय होता है जब कर के भुगतान करने मे वे समान त्याग करते है। सामान्य त्याग को करारोपण के परम सिद्धान्त (Ultimate Principle) के रूप में स्वीकार किया गया है। सिजविक ने समता के सिद्धान्त (Principle of equity) की व्याख्या करते हुए कहा कि इसका यह अर्थ है कि ''समान तथा समान परिस्थिति के व्यक्तियों के साथ समान आचरण होना चाहिए।'' (Similar and similarly situated persons ought to be treated similarly).

पीगू का कहना है कि समान तथा समान परिस्थिति वाले व्यक्तियों की कर के भुगतान में समान त्याग एक बात है, किन्तु यह कहना कि कर के भुगतान में सभी व्यक्तियों को समान त्याग करना चाहिए दूसरी बात है। कारण यह है कि जब सभी व्यक्तियों की बात उठती है तब हम उनकी बात करते हैं जो समान आर्थिक परिस्थिति में हैं तथा उनकी भी जो समान आर्थिक स्थिति में नहीं हैं – उनकी जिनकी आय बराबर है और उनकी भी जिनकी आय में अन्तर है (कम तथा अधिक है)। पीगू पूछते हैं कि ''क्या इस विस्तृत अर्थ में समान त्याग करारोपण का चरम सिद्धान्त है?'' ऐसा मान लेने पर गम्भीर कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। समानता के सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कर के भुगतान में सभी को समान त्याग करना चाहिए, किन्तु इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि कर के नियमों को व्यक्तियों के बीच इस अर्थ में निष्पक्ष होना चाहिए कि कर के भुगतान के बाद सभी करदाताओं को समान निवल संतुष्टि (Equal net satisfaction) मिले। यदि इस निष्कर्ष को स्वीकार किया जाता है तो 'समान त्याग' को करारोपण के चरम सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर पीगू ने कहा करारोपण का चरम सिद्धान्त 'न्यूनतम समग्र त्याग' (Least Aggregate Sacrifice) है, न कि समान त्याग। पीगू के न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त के विश्लेषण के पूर्व इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ लेना आवश्यक है।

मिल ने समान त्याग की वकालत अवश्य की, किन्तु वे 'समान' की ठीक–ठीक व्याख्या नहीं कर सके। समान त्याग सिद्धान्त के आधार पर कर के वितरण की समस्या का समाधान करते समय कई बातों का ख्याल रखना होता है। (क) कर देय योग्यता की माप के लिए वस्तुनिष्ठ सूचकांक के विषय में

निर्णय लेना होता है कि आय, व्यय तथा सम्पत्ति में से किसे आधार बनाया जाये। (ख) समान त्याग सिद्धान्त में 'समान' की स्पष्ट परिभाषा करने की जरूरत है। (ग) आय–उपयोगिता वक्र (Income-utility curve) की ढलान (Slope) के सम्बन्ध में मान्यता ताकि व्यक्तिगत न्याय की माप की जा सके तथा सुस्पष्ट कर प्रणाली (प्रगतिशील, आनुपातिक या प्रतिगामी) का निर्माण किया जा सके।

कोहेन–स्टुअर्ट (Cohen-Stuart) तथा एजवर्थ (Edgeworth) ने पिछली सदी के अन्तिम चरण में समान त्याग की तीन अवधारणाओं का विकास किया। वे हैं निरपेक्ष समान (equal absolute), आनुपातिक समान (equal proportional) तथा समान सीमान्त (equal marginal)। समान सीमान्त त्याग ही न्यूनतम त्याग है। मिल कर की आनुपातिक दर (Proportional rate) के पक्ष में थे, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने समान त्याग की व्याख्या समान आनुपातिक त्याग के रूप में की। कोहेन–स्टुअर्ट समान आनुपातिक त्याग के समर्थक थे, क्योंकि उनके अनुसार ऐसी कर व्यवस्था से कुल उपयोगिता के अर्थ में करदाताओं की सापेक्ष स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। सिजविक तथा मार्शल ने समान निरपेक्ष त्याग का समर्थन किया। कार्वर (Carver) ने समान त्याग की व्याख्या समान सीमान्त त्याग के अर्थ में की। एजवर्थ तथा पीगू के अनुसार, समान त्याग की समान निरपेक्ष तथा समान आनुपातिक त्याग के मध्य चयन करने का कोई तार्किक आधार नहीं है। कल्याण के आधार पर तर्क प्रस्तुत करते हुए उन दोनों ने कहा कि समान सीमान्त त्याग ही एक मात्र उचित नियम है, समता (Equity) के आधार पर नहीं, बल्कि इसलिए कि यह कल्याण के उद्देश्यों को पूरा करता है।

पीगू का कहना है कि किसी भी कर व्यवस्था में कर के प्रावधान के कारण प्रत्येक करदाता पर त्याग के रूप में कुछ भार पड़ता है। इसलिए समान राजस्व प्रदान करने वाली विभिन्न कर प्रणालियों की तुलना करते समय दो महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना जरूरी हो जाता है। एक है समग्र त्याग का आकार (Size) तथा दूसरा विभिन्न मद जिन्हें मिलाकर यह समग्र बनता है उनके मध्य आपसी सम्बन्ध की प्रकृति। त्याग (sacrifice) का अर्थ है संतुष्टि की हानि (Loss of satisfaction)

समग्र संतुष्टि या त्याग की बात करते हुए एक आधारभूत कठिनाई सामने आ जाती है। समग्र संतुष्टि या त्याग व्यक्तिगत संतुष्टियों या त्यागों का योग (Summation) है। इस योग के प्रति एक आपत्ति यह उठाई जाती है कि संतुष्टि या त्याग मन की दशा (state of mind) है, इसकी प्रकृति ही ऐसी है इसकी परिमाणात्मक माप (Quantitative measurement) नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक मन एक–दूसरे से भिन्न होता है। इसलिए विभिन्न व्यक्तियों की मानसिक दशा की न तो तुलना की जा सकती है और न ही उन्हें जोड़ा जा सकता है।

पीगू का कहना है कि पहली आपत्ति में विशेष दम नहीं है। सभी जानते हैं कि हम एक समय में दूसरे समय की तुलना में अधिक सुख का अनुभव करते हैं। इसका यह अर्थ है कि हमें अधिक संतुष्टि मिलती है। हम यह भी जानते हैं कि किसी समय हम अधिक दुखी होते हैं। अर्थात् हमें अधिक त्याग करना पड़ रहा है। इसमें संदेह है कि हम ऐसा कह सकेंगे कि हम दूना सुखी हैं या दूना दुखी हैं, किन्तु इस जानकारी की आवश्यकता ही नहीं है। इतना ही काफी है कि संतुष्टि या त्याग की तुलना संभव है।

इसमें संदेह नहीं कि विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति में भिन्नता पायी जाती है : जातीय गुण, प्रशिक्षण, आदि में अन्तर के कारण मानसिक दशा में अन्तर होता है। फिर भी ऐसा मान लेना अनुचित नहीं होगा कि समान परिस्थितियों में समान व्यक्तियों की मनोदशा पर समान ढ़ंग से प्रभाव पड़ेगा।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि न्यूनतम समग्र त्याग करारोपण का चरम सिद्धान्त (ultimate principle) है। राजनीतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध अधिकतम समग्र कल्याण से है जिसे सरकार का सही लक्ष्य माना जाता है। करारोपण के क्षेत्र में अधिकतम समग्र कल्याण का सिद्धान्त न्यूनतम लागत के सिद्धान्त का समरूप (identical) है।

न्यूनतम समग्र त्याग के सिद्धान्त का सम्बन्ध किसी विशेष कर से नहीं है, बल्कि करारोपण की सम्पूर्ण व्यवस्था से है। सभी व्यक्तियों के समान त्याग द्वारा समग्र त्याग को न्यूनतम नहीं किया जा सकता है। न्यूनतम समग्र लाभ के लिए जरूरी है कि कर के भुगतान के लिए दी गई मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता सभी करदाताओं के लिए समान हो। इस प्रकार पीगू समान त्याग की उस धारणा के समर्थक दिखते हैं जिसमें इसका अर्थ समान सीमान्त त्याग (equal-marginal sacrifice) से लगाया जाता है। व्यवहार में इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी आय को एक न्यूनतम सीमा से ऊपर काट दिया जाता है तथा कर के भुगतान के पश्चात् की सभी आय को बराबर कर दिया जाता है। (Lopping off the tops of all incomes above the minimum income and leaving everybody, after taxation, with equal income)

अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते समय पीगू ने पूँजी संचय पर भी विचार किया है। यदि उपरोक्त कर प्रणाली के अन्तर्गत नयी पूँजी का सृजन रूक जाये तो धनी व्यक्तियों को कुछ छूट देने

की आवश्यकता है। कारण यह है कि केवल धनी व्यक्ति ही बचत कर सकते हैं जिसका उपयोग पूँजी संचय में होता है। ऐसी स्थिति में मध्यवर्ती आय वर्ग पर कर का अधिक बोझ पड़ेगा।

1.18 करापात : आधुनिक विचार (प्रो0 मसग्रेव) (Incidence of Taxation: Modern Views) :–

डाल्टन एवं अन्य परम्परागत अर्थशास्त्रियों ने करापात की समस्या का 'आंशिक संतुलन' के अन्तर्गत विवेचन किया है, परन्तु आधुनिक विचार परम्परागत विचारों से एकदम भिन्न है। उर्सला हिक्स, मसग्रेव व कुछ अन्य लेखकों ने स्वीडन के अर्थशास्त्रियों विशेषकर विकसेल का अनुकरण करते हुए करापात की समस्या का विवेचन 'सामान्य संतुलन' के अन्तर्गत किया है। अब तक हमने देखा कि करापात का अर्थ 'प्रत्यक्ष मौद्रिक भार' से किया गया है अर्थात अन्तिम रूप से जिस करदाता की जेब से इस प्रकार का पैसा निकलता है उसी पर कर का भार पड़ता है। परन्तु आधुनिक विचारधारा में प्रत्यक्ष मौद्रिक भार एवं अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार जैसे कर भार के वर्गीकरण को महत्व नहीं दिया जाता। आधुनिक अर्थशास्त्रियों की मान्यता यह है कि कर भार के अध्ययन के लिए कर के प्रभावों से सम्बन्धित सभी तथ्यों का ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे लिये यह ज्ञान करना जरूरी है कि करारोपण से मजदूरी वेतन, लाभ, ब्याज आदि पर क्या प्रभाव पड़ सकते है। करारोपण के बाद वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में क्या परिवर्तन हो सकते है? ये परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप से होते है अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ? ये परिवर्तन व्यक्तियों की आय की दिशा में होते है अथवा व्यय की दिशा में।

प्राचीन लेखक उक्त बातों की जानकारी के सम्बन्ध में प्रायः स्पष्ट नहीं हैं। वे कर भार विवर्तन का मुख्यतः उसी धारा पर आधारित करते है कि प्रत्येक कर का अन्तिम भार होता है, जबकि व्यवहारतः कर भार का पता तभी लगाया जा सकता है जब कर लगने से साधनों का हस्तान्तरण व्यक्तिगत उपयोग से सार्वजनिक या राजकीय उपयोग में होता हो। अतएव पिछले अर्थशास्त्रियों की यह भी धारणा है कि करारोपण से किसी न किसी व्यक्ति को हानि होती ही है जबकि वस्तुतः ऐसा होना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त हानि का पता लगाने के लिए भी करो के साथ–साथ राजकीय व्यय का अध्ययन किया जाना आवश्यक है। एकांकी रूप में हानि के अध्ययन की बात उपयुक्त तर्क सम्मत नहीं है। करारोपण से यदि किसी को हानि होती है तो राजकीय व्यय से किसी को लाभ भी होता है।

परम्परागत मत के इन दोषों के कारण ही आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने करभार का विस्तृत विवेचन किया है। आधुनिक विचारों का उद्देश्य मुख्यतः स्वीडन के अर्थशास्त्रियों , विशेषकर विकसेल से हुआ है और पिछले वर्षो में श्रीमती हिक्स, मसग्रेव आदि लेखकों ने इस नवीन विचारों का और भी विकास किया है। मसग्रेव ने बताया है कि कर भार का अभिप्राय आय के वितरण में पैदा होने वाले उन परिवर्तनों से है जो करारोपण एवम् सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। प्रायः यह माना गया है कि आय–व्यय के बजट में तीन प्रकार के परिवर्तन या प्रभाव होते है–

1. साधनों के निजी उपयोग से राजकीय उपयोगों के लिए स्थानान्तरण,
2. उत्पादन सम्बन्धी परिवर्तन, तथा
3. आय के वितरण सम्बन्धी परिवर्तन।

मसग्रेव ने अन्तिम प्रकार के परिवर्तनों (व्यक्तिओं के बीच आय के वितरण संबंधी परिवर्तन) के अध्ययन को ही कर–भार से संबद्ध किया और उसमें लोक–व्यय तथा लोक आय को सम्मिलित किया है।

(क) कर भार (Tax Incidence) :–

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के इन विचारों को विस्तार से समझने पर ही उपर्युक्त स्थिति स्पष्ट हो सकेगी। इसके लिये सर्वप्रथम हम उन स्थितियों को लेते हैं जिनमे यह मान लेते हैं कि बजट की कर नीति में परिवर्तन कर दिये गये हैं पर सार्वजनिक व्यय नीति यथापूर्व है। कर नीति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप वितरण में जो परिवर्तन होते है, उन्हें अर्थशास्त्रियों ने विशेष कर भार कहा है। ये परिवर्तन इस उदाहरण से समझे जा सकते है कि यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति में आय कर की दर कम कर दी जायेगी तो लोगों के पास वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करने के लिये पर्याप्त आय बची रहेगी जिससे अनेक मूल्यों में वृद्धि होगी और क्रय स्तर को पूर्ववत् बनाये रखने के लिये लोगों को अधिक व्यय करना पड़ेगा यानी मुद्रास्फीति की स्थिति पैदा हो जायेगी। इसी तरह आयकर की दर में वृद्धि करने से मुद्रा संकुचन की स्थिति पैदा हो जायेगी। ये दोनों ही दशाएं आय के वितरण को प्रभावित करेंगी।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कर–नीति सम्बन्धी परिवर्तनों के दो प्रकार के भार होते है–

1. किसी विशेष कर नीति सम्बन्धी परिवर्तनों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले भार, तथा

2. मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा संकुचन के कारण उत्पन्न होने वाले भार का प्रभाव।

ये दोनों ही प्रभाव एक दूसरे को इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि स्थिति प्रायः बड़ी जटिल हो जाती है। इसीलिये विशेष करो के भार का अध्ययन करना बड़ा कठिन और पेचीदा हो जाता है।

कभी – कभी सरकार इस उद्देश्य से कि उसकी आय मे कोई परिवर्तन न हो पाये, एक कर के स्थान पर दूसरा कर आरोपित करती है। ऐसा करने से उस कर के कारण आय के वितरण में जो परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं 'विभेदात्मक कर भार' कहा जाता है। सरकार द्वारा इस प्रकार के करारोपण पर सरकारी व्यय में कोई परिवर्तन नहीं होता और वस्तुओं और सेवाओं की मांग भी पहले जैसी ही बनी रहती है, पर चूंकि अलग–अलग प्रकार के कर व्यक्तिगत मांग को अलग–अलग ढंग से प्रभावित करते है, अतः कीमत स्तर पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को अपने व्यय की स्थिति को यथापूर्व कायम रखने के लिये अपने वास्तविक व्यय में परिवर्तन करने पड़ने है। परिणामस्वरूप करों के परिवर्तन के साथ–साथ सरकार की मौद्रिक आय समान नहीं रह पाती जिससे विभेदात्मक कर भार का ठीक–ठीक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है। विभेदात्मक कर भार के समुचित अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि ऊपर बताये गये दोनों ही प्रकार के करों के वितरणात्मक परिणामों की जानकारी प्राप्त की जाय। इसके लिये हमें दोनों प्रकार के करों के समय बाजार के मूल्यों के सन्दर्भ में उनसे होने वाली मौद्रिक आय का अध्ययन करना होगा। यह अध्ययन विशेष कर भार के अध्ययन की तुलना में निश्चित रूप से अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसमें मुद्रास्फीति तथा मुद्रा संकुचन के प्रभावों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(ख) व्यय भार (Expenditure Incidence) :–

अभी तक हमने बजट सम्बन्धी नीतियों के परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनों की समस्या का विश्लेषण यह मानते हुए किया है कि यदि सार्वजनिक व्यय यथा पूर्व बना रहे और कर नीति सम्बन्धी परिवर्तन कर दिया जाये तो अर्थ व्यवस्था मे होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन कैसे किया जाना चाहिये। अब हम यह मानकर आगे बढ़ते है कि सरकार की कर नीति में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। किन्तु लोक व्यय में परिवर्तन किया गया हे तो ऐसी स्थिति में आय के वितरणात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किस प्रकार किया जाना चाहिये। लोक व्यय अथवा सार्वजनिक व्यय के इन प्रभावों को 'सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी भार' कहा जा सकता है। ये भार भी दो प्रकार के होते हैं।

1. विशेष सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी भार, तथा
2. विभेदात्मक सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी भार।

सार्वजनिक व्यय के परिणामस्वरूप व्यक्ति की आय मे होने वाले परिवर्तनों को विशेष सार्वजनिक व्यय भार कहा जाता है जबकि सार्वजनिक व्यय के वितरणात्मक प्रभावों को विभेदात्मक सार्वजनिक व्यय भार कहते है। इन दोनों ही का विश्लेषण किया जाना उपयुक्त है।

जब सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की जाती है तो व्यक्तिओं की आय में भी बढ़ोतरी होती है जिसमें वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बढ़ जाते है। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय में कमी करने से व्यक्तिओं की आय भी कम हो जाती है और वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य भी घट जाते है। अतः स्पष्ट है कि इस प्रकार के अध्ययन मे दो तरह के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

1. प्रथम, उन परिवर्तनों का जो सार्वजनिक व्यय के कारण उत्पन्न होते है,
2. द्वितीय उन परिवर्तनों का जो मुद्रा संकुचन के कारण पैदा हो जाते है।

दोनों का अध्ययन भी उतना ही कठिन और जटिल है जितना विशेष आयकर में वृद्धि के कारण उत्पन्न होने वाले दोनों प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन। अतः इस कठिनाई अथवा जटिलता से बचने के लिए यह उचित है कि सार्वजनिक व्यय के परिवर्तनों का अध्ययन हम बजट नीति को ध्यान में रखकर करे। यदि सार्वजनिक व्यय में एक दिशा में वृद्धि होगी तो दूसरी दिशा में कमी भी होगी क्योंकि बजट नीति का प्रभाव संतुलित करने के लिए व्यय का भी समायोजन आवश्यक होता है, ऐसे सार्वजनिक व्यय के वितरणात्मक प्रभावों को विभेदात्मक सार्वजनिक व्यय भार कहा जाता है। मसग्रेव की मान्यता है कि सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी भार का अध्ययन इतना उपयोगी नहीं होता जितना विभेदात्मक कर भार का होता है। इसका कारण यह है कि कर नीति के परितर्वन अधिक उत्सुकता पैदा करने वाले होते है तथा सार्वजनिक सेवाओं से प्राप्त होने वाले लाभों का वितरणात्मक महत्व अवश्य होता है। लेकिन ये लाभ भार का एक अंश नहीं कहे जा सकते।

(ग) संतुलित बजट भार (Balance Budget Incidence) :–

अब तक हमने अलग–अलग कर नीति के परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाले और व्यय नीति से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनों की चर्चा की है। अब हम दोनों एक साथ अध्ययन करेंगे। कर नीति और व्यय नीति दोनों ही के परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाले वितरणात्मक परिवर्तनों को संतुलित बजट भार कहा जा सकता है। अतः संतुलित बजट भार का विचार शीघ्रता से उपयोग किया जा सकता है, जहां पर कुछ सार्वजनिक सेवाएं वास्तव में जोड़ी या घटायी जाती है जो कि विशिष्ट करों में परिवर्तन के कारण होती है। यदि इसके साथ–साथ कर नीति में भी परिवर्तन कर दिये जाते हैं तो उससे सरकार को आवश्यक कोष भी प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार का अध्ययन अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से सबसे उपयुक्त है।

1.19 कर भार की धारणाः पारम्परिक दृष्टिकोण :–

कर भार की पारम्परिक धारणा का सर्वोत्कृष्ट विश्लेषण सेलिगमैन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। करारोपण की प्रक्रिया में निम्न तीन अवधारणाओं में अन्तर कहा गया हैः

1. किसी व्यक्ति पर कर लगाया जा सकता है,
2. यह व्यक्ति कर को किसी दूसरे व्यक्ति पर स्थानान्तरित कर सकता है,
3. अन्ततः कर का वहन इस दूसरे व्यक्ति द्वारा हो सकता है या वह भी किसी अन्य पर स्थानान्तरित कर सकता है जो इसे अन्तिम रूप से वहन करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति अन्ततः कर का वहन करता है, आवश्यक नहीं कि उसी पर सर्वप्रथम कर लगाया गया हो। विर्वतन कर के स्थानान्तरण की प्रक्रिया है, जबकि कराधान उस व्यक्ति पर रहता है जो सर्वप्रथम कर का भुगतान करता है। ऐसे करदाता को ही भिटी ने कानूनी करदाता कहा है। कर भार से तात्पर्य अन्तिम करदाता पर कर के ठहराव से है, अर्थात्, यह ऐसा करदाता है जो कर के बीच को किसी अन्य व्यक्ति पर टाल नहीं सकता। इसे ही भिटी ने वास्तविक करदाता कहा है। इस प्रकार कर भार किसी कर का अन्तिम निवास है जहां यह किसी अन्य व्यक्ति या वर्ग पर डाला नहीं जा सकता।

सैलिगमैन का कहना है कि कर से निकास (Escape from tax) के और भी तरीके है, जिनसे कर विवर्तन को अलग समझना चाहिए। सर्वप्रथम यह याद रखना चाहिए कि कर से निकास के तरीके दो प्रकार के हो सकते हैं। एक वह जिसमें कर से सरकार को आय प्राप्त होती है और दूसरा वह जिसमें सरकार आय को खो देती है। प्रथम तरीके को सैलिगमैन ने फिर दो वर्गों में बांटा है ; यथा, विनिमय द्वारा कर के बोझ से बचाव एवं उत्पादन द्वारा बचाव अर्थात कर से बचने की प्रक्रिया विनियम के माध्यम से सम्भव है या उत्पादन द्वारा। विनिमय के माध्यम से कर के बोझ से बचना विवर्तन या पूंजीकरण द्वारा सम्भव हो सकता है। विवर्तन को भी आगे की ओर विवर्तन तथा पीछे की ओर विवर्तन में विभाजित किया जा सकता है। उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा कर के भार से बचने को रूपान्तर की संज्ञा दी गई है।

यदि कर से बचने की प्रक्रिया से सरकार को राजस्व का नुकसान होता है तो उसे कर अपवंचन कहा जाता है। अपवंचन वैधानिक हो सकता है या अवैधानिक । वैधानिक अपवंचन भी दो प्रकार के हो सकते है। यह वह है जहां कर लगाते समय सरकार यह इच्छा जाहिर करती है कि इससे निकास के उपाय किये जायें और दूसरा यह जहां ऐसी इच्छा जाहिर नहीं की जाती। अवैधानिक अपवंचन के अन्तर्गत तस्करी , कर की चोरी, आदि शामिल है।

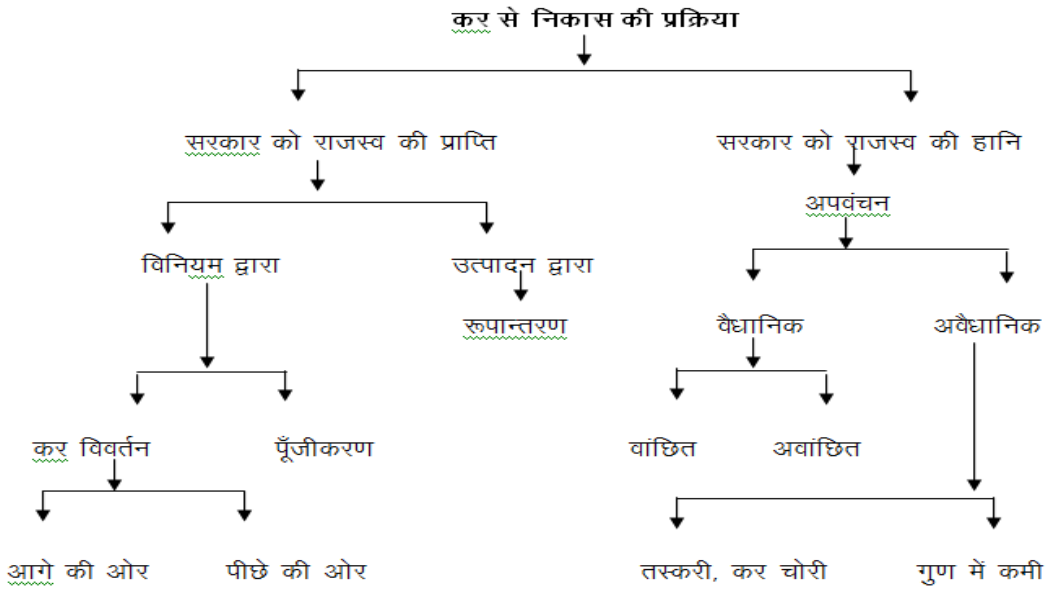

आगे की ओर विवर्तन से तात्पर्य यह है कि कर का भार उत्पादनकर्ता से उपभोक्ता पर वस्तु की कीमत में वृद्धि द्वारा स्थानान्तरित होता है। इस प्रकार ऐसे विवर्तन में कीमत ही यान (Vehicle) का कार्य करती है। पीछे की ओर विवर्तन में भी कीमत माध्यम है, लेकिन इस स्थिति में उत्पादनों के साधनों की कीमत से सम्बन्ध रहता है और यह कीमत विवर्तन की स्थिति में घट जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब कर के कारण वस्तु की कीमत में वृद्धि के स्थान पर उत्पादन के साधनों पर दी जाने वाली कीमत (जैसे श्रमिकों की मजदूरी) घट जाती है, तब पीछे की ओर विवर्तन होता है।

1.20 करों के प्रभाव (Effect of Taxes) :-

डाल्टन ने करों के प्रभाव को तीन भागों में बांटा है–

1. उत्पादन पर प्रभाव
2. वितरण पर प्रभाव
3. अन्य प्रभाव

1. उत्पादन पर प्रभाव (Effect on Production) :–

डाल्टन ने करारोपण के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों को ज्ञात करने के लिए तीन कसौटियाँ बतलायी हैं– अ. कार्य करने और बचत की योग्यता पर प्रभाव, ब. कार्य करने ओर बचत करने की इच्छा पर प्रभाव, तथा स. आर्थिक साधनों के विभिन्न उपयोगों और स्थानों पर प्रभाव।

(अ) कार्य करने व बचत करने की योग्यता पर प्रभाव (Effects on Ability to work and save) :-

प्रायः यह कहा जाता है कि करों के लगने से व्यक्ति के बचत करने व कार्य करने की योग्यता पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है चूंकि कर आय में कमी कर देता है, अतः वह अपने परिवार को न तो पौष्टिक भोजन दे पायेगा और न ही उचित शिक्षा–दीक्षा। परिणामस्वरूप उसकी व उसके परिवार की कार्यक्षमता घटने लगेगी। कर लगने से पूर्व वह अच्छे मकान में रहता था, अच्छा खाना खाता था और बच्चों को अच्छे स्कूल में भर्ती करता था।

(ब) कार्य करने तथा बचत करने की इच्छा पर प्रभाव (Effects on Desire to work and save) :-

व्यक्ति की योग्यता का तो पता लगाया जा सकता है परन्तु उसकी इच्छा का पता लगान कठिन है। इच्छा एक ऐसा शब्द है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक दशा से है। फिर भी, इसका अध्ययन दो बातों को ध्यान में रख कर किया जा सकता है– 1. व्यक्तिगत प्रकृति 2. साधनो का विभिन्न स्थानों में स्थानान्तरण। व्यक्तिगत प्रकृति के अन्तर्गत व्यक्ति की प्रकृति दो बातों पर निर्भर करती है– 1. कर दाता की मानसिक प्रतिक्रिया और 2. करों की प्रकृति। करदाता की मानसिक प्रतिक्रिया पर करों का

व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा , इसकी जानकारी व्यक्ति की आय की मांग की लोच से व्यक्त ज्ञात की जा सकती है अर्थात् व्यक्ति अधिक आय प्राप्त करना चाहता है अथवा नहीं। यह बात व्यक्ति की आय की मांग की लोंच पर निर्भर करती है। करों की प्रकृति के अन्तर्गत व्यक्ति की कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है जैसे–आकस्मिक आय पर कर , आय कर , सम्पत्ति कर । करों की प्रकृति के अतिरिक्त काम करने व बचत करने की इच्छा पर प्रभाव डालने वाली एक मुख्य बात यह है कि पुराने उद्योगों की अपेक्षा नये उद्योगों पर कर लगाये गये तो कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। 2. साधनों का विभिन्न उपयोगों में स्थानान्तरण के सम्बन्ध में कहना है कि कर भार से बचने के लिए साधनों को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान में लाया और ले जाया जा सकता है। इस प्रकार साधनों में परिवर्तन लाने से उत्पादन प्रभावित होता है। ऐसा करने से लाभदायक तथा हानिकारक, दोनों ही तरह के प्रभाव हो सकते हैं।

(स) आर्थिक साधनों के विभिन्न उपयोगों और स्थानों पर प्रभाव :–

करों के प्रभाव से साधनों का पुनर्वितरण हो सकता है। विशेषतः व्यापार–कर व उत्पादन कर के सम्बन्ध में, क्योंकि अलग–अलग राज्यों में व्यापार कर व उत्पादन कर की दरें भिन्न होती है। इस बात को हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। माना उत्तर प्रदेश में व्यापार–कर व उत्पादन–कर की दरें मध्य प्रदेश की अपेक्षा ऊँची होती हैं, तो यहां का व्यापारी अपने उत्पादन को मध्य प्रदेश में स्थानान्तरित करेगा। यहाँ हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जिस प्रान्त में साधनों का स्थानान्तरण हो रहा है वहाँ अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और जिस प्रान्त की ओर साधनों का प्रवाह हो रहा है वहाँ अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होती जायेगी। इसलिए सरकार ऐसा प्रयत्न करती है कि लगभग सभी प्राप्तों में कर की दरें लगभग समान हों। कभी–कभी साधनों का स्थानान्तरण अनतर्राष्ट्रीय भी होता है, यह तब होता है जब दोनों देशों में कर की दरें भिन्न होती हैं।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि साधनों का पुनर्वितरण आसानी से होता है, परन्तु ऐसी सम्भाावना बहुत कम है। पुनर्वितरण के मार्ग में अनेकानेक कठिनाइयाँ है। इनमें से मुख्य कठिनाइयाँ हैं– 1. उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण रूप से गतिशील न होना, तथा 2. स्वदेश–प्रेम व रीति–रिवाजों का लचीला न होना।

2. वितरण पर प्रभाव (Effect on Distribution) :-

बाजार – व्यवस्था में आय और धन की असमानताएँ न केवल उत्पन्न होती हैं प्रत्युत कालांतर में सुदृढ़ भी होती जाती है। इस प्रक्रिया में निजी स्वामित्व एवं उत्तराधिकारिता की संस्थाओं का अग्रणीय योगदान रहता है। बहुत ये असमानताएं इतनी अधिक होती हैं कि इन्हें नैतिकता के किसी आधार पर भी स्वीकार्यता प्रदान नहीं की जा सकती ; विशेकर निर्धन देशों में इन असमानाताओं की तीक्ष्णता का आभास अधिक तीव्र होता है। अतः आधुनिक सरकारें इन इन असमानताओं को घटाना अपना मुख्य कर्तव्य समझती है। परंतु समस्या यह है कि बाजार–व्यवस्था के रहते कर–नीति द्वारा वितरणीय असमानताओं को दूर करने के प्रयास में आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का भय रहता है, जिससे गरीबी की समस्या को दूर करने कठिनाईयाँ बढ़ जाती हैं।

वितरणीय असमानताओं की समस्या पर अल्पकालीन और दीर्घकालीन दृष्टिकोणों से विचर किया जा सकता है। अल्पावधि में देश की उत्पादन क्षमता को असमानताओं को घटाने के प्रयत्नों के प्रतिकूल प्रभाव से बढ़कर कम कठिन होता है। इसका कारण यह है कि वितरणीय नीति का निवेश तथा उत्पादन आदि पर पड़ने वाले प्रभाव को सक्रिय होने में समय लगता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं बनता कि सरकार चाहते हुए भी अल्पकाल में असमानताओं को समुचित रूप से दूर कर सकती है। ऐसा करने में इसे कई अड़चनों का सामना करना पड़ता है।

सामान्य स्थितियों में आय और धन का शीघ्रतापूर्वक पुनर्वितरण संभव नहीं होता। यह स्थिति विशेषकर संभावित प्रतिकूल प्रभावों को अनदेखा किया जाए। इससे भविष्य में गरीबी की समस्या के अधिक कठिन हो जाने की संभावना बढ़ जाती है।

एक अल्पविकसित देश में, कराधान द्वारा असमानताओं को घटाने में कई बाधाएं आती है। प्रत्यक्ष करों की दरें तो प्रगामी होती हैं, परंतु उनसे प्राप्त कर–राजस्व अपर्याप्त रहता है, तथा सरकार को परोक्ष करों का सहारा लेना पड़ता है। इसके विपरीत परोक्ष करों को कुल मिलाकर पर्याप्त स्तर तक प्रगामी बन पाना लगभग असंभव होता है। इसके अतिरिक्त परोक्ष करों से कीमतें बढ़ती हैं, जिससे असमानताओं में भी वृद्धि होती है।

कराधान के दीर्घकालीन वितरणीय प्रभावों को निश्चित रूप से समानतानुकूल बनाया जा सकता हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं बनता कि असमानताएँ वास्तव में भी कम हो जाएँगी। इसका कारण यह

है कि अर्थव्यवस्था में अनेक ऐसे कारक भी होते हैं जो असमानताओं को सुदृढ़ करने की दशा में सक्रिय होते हैं। कर–प्रणाली को ढाँचे की संरचना में सरकार के सामने यह प्रश्न भी उठता है कि इसमें अर्थव्यवस्था की दीर्घकालीन विकास दर में कमी न आए। अतः बहुधा उनका यह लक्ष्य रहता है कि असमानताओं के परिशुद्ध स्तर में तो भले ही वृद्धि हो जाए परंतु आनुपातिक स्तर पर ऐसा न हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु करों को समुचित ढंग से प्रगामी ढाँचें में ढालने के प्रयास के साथ–साथ सार्वजनिक व्यय–नीति को भी समाज कल्याण के दृष्टिकोण के अनुकूल बनाने की आवश्यकता होती है। निजी उद्यम को आर्थिक विकास में यथाशक्ति योगदान देने के लिए प्रोत्साहित करना तथा सरकारी क्षेत्र की लाभ आय और बचत क्षेत्र को सक्षम बनाना भी इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं।

आर्थिक स्थिरता और स्फीति दबाव :–

यदि बाजार – व्यवस्था को पर्याप्त कार्य–स्वतंत्रता प्राप्त हो तो व्यापार चक्र उत्पन्न होने लगते हैं जिससे आय , उत्पादन, रोजगार तथा कीमतों में उतार–चढ़ाव का क्रम चलने लगता है। व्यापार चक्रों के व्याख्या–सिद्धान्तों में इस तथ्य को पर्याप्त मान्यता दी जाती है कि इनमें सफल क्रय–शक्ति की मात्रा और उसके प्रयोग–प्रवाहों की गति की महत्वपूर्ण भूमिकाएँ रहती हैं। अतः व्यापार चक्रों के नियंत्रण हेतु बजटीय एवं कर–नीतियों द्वारा क्रय – शक्ति की सकल मात्रा तथा उसके प्रवाहों को नियमित करने का प्रयास किया जा सकता है। मुद्रा–स्फीति की एक विशेषता यह है कि इसका प्रसार अथवा संकुचन अर्थव्यवस्था के सभी भागों में एक समान नहीं होता। इससे भी कराधान को एक नीति यंत्र के रूप में प्रयोग करने का अवसर उत्पन्न होता है।

अहस्तक्षेप के सिद्धान्त के अनुसार सरकार को व्यापार चक्रों के समाधान हेतु कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होती। बाजार व्यवस्था में ही स्वयं सुधार की क्षमता होती है। उदाहरण के लिए जब अर्थव्यवस्था तेजी के चरण में हो, तो सरकार के कर–राजस्व में अपने आप वृद्धि हो जाती है। यदि सरकार अपने व्यय स्तर को पूर्ववत बनाए रखे, तो कुल मांग में कमी होने के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में चल रहे तेजी का चरण थम जाता है। ठीक इसके विपरीत जब अर्थव्यवस्था मंदी के चरण में हो, तो सरकार का कर–राजस्व घट जाएगा, परंतु सरकार अपने व्यय को पूर्ववत् स्तर पर रखकर मंदी को दूर कर सकती है।

कीन्स के पश्चात् के अर्थशास्त्रियों ने संतुलित बजट गुणक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार अर्थव्यवस्था में सकल प्रभावी मांग में परिवर्तन लाने के लिए बजट को असंतुलित करना जरूरी नहीं था। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार अपने बजट के आकार को बढ़ाकर अर्थव्यवस्था में फैलाव ला सकती है तथा इसी प्रकार अर्थव्यवस्था के संकुचन के लिए अपने बजट के आकार को छोटा कर सकती है। इस सिद्धान्त की अवधारणा यह है कि सरकार अपने व्यय का सारा वित्त–पोषण केवल कर–राजस्व से ही करेगी।

अर्थव्यवस्था पर कराधान का प्रभाव केवल इसके आकार पर ही निर्भर नहीं करता। इसमें कराधान में ढाँचे और व्याख्यात्मक संरचना की भी अग्रणीय भूमिका रहती है। उदाहरण के लिए परोक्ष करों की यह विशेषता है कि इनसे कीमतों में वृद्धि होती है तथा वितरण की असमानताएँ बढ़ती है। परंतु स्पष्ट है कि परोक्ष करों के प्रभावों का विस्तारपूर्ण अध्ययन तभी संभव है जब करारोपित वस्तुओं की मांग लोचों की जानकारी हो और उन पर लगाए गए कर–दरों आदि का ज्ञान हो। उदाहरण के लिए कम मांग लोच वाली वस्तुओं पर लगा कर क्रेताओं को वहन करना पड़ता है जिससे कीमतों में सीधे वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार जिन वस्तुओं की मांग लोचदार होती है, उन पर लगे करों का भार उत्पादकों को वहन करना पड़ता है, जिससे उनकी लाभ आय में कमी हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप विक्रेता करारोपित वस्तुओं की उपलब्धता में कमी करने का प्रयत्न करते हैं जिससे कीमतों को बढ़ाया जा सके। इस प्रक्रिया का प्रभाव उन वस्तुओं पर अधिक होता है जिनकी पूर्ति अधिक लोचदार हो।

1.18. सारांश (Summary) :-

अल्पविकसित देशों में प्रमुख समस्या उत्पादन के निम्न स्तर तथा अत्यधिक निर्धनता के कुचक्र को तोड़ने की है, जिससे प्रभावी माँग के स्तर को तथा उत्पादन, रोजगार तथा आय के स्तरों को ऊपर उठाया जा सके। वर्तमान समय में यह स्वीकार कर लिया गया है कि आर्थिक असमानता के कारण आर्थिक कल्याण में कमी होती है। इसीलिए कराधान प्रणाली के माध्यम से पूँजी–निर्माण की दरो को ऊँचा उठाकर उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है तथा साधनों का कुशलतम वितरण करके आर्थिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है। इसीलिए कर–प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए जो सभी क्षेत्रों में प्रभाव डाल सके। एक अच्छी कर–पद्धति की कसौटी यह है कि उसमें इतनी सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह सरकार के राजकोषीय आधार में ऐसा विश्वास उत्पन्न कर सके जो जनता के नैतिक स्तर को

बनाये रखे तथा उत्पादकीय प्रयत्नों व आर्थिक उन्नति को प्रोत्साहन दे। इसके लिए करारोपण के सिद्धान्त की महती आवश्यकता है। एक अच्छी कर प्रणाली के लिए करारोपण के सिद्धान्त जैसे–उत्पादकता का सिद्धान्त, लोच का सिद्धान्त, सरलता का सिद्धान्त, समानता का सिद्धान्त, निश्चितता का सिद्धान्त, सुविधा का सिद्धान्त, मितव्ययिता, समन्वय का सिद्धान्त, न्यूनतम समग्र त्याग का सिद्धान्त, श्रीमती हिक्स एवं सिसमाण्डी के आर्थिक विचारों को ध्यान में रखकर बनाना चाहिए।

1.19 शब्दावली (Key Words) :-

संरचना (Structure), कसौटी (Criteria), वणिकवादी (Mercantilist), प्रकृतिवादी (Physiocrats), चयन (Choice), क्षैतिज एवं ऊर्ध्व समता (Horizontal and Vertical Equity), सुलाभ (Benefit), योग्यता (Ability), आय (Revenue), निश्चितता (Certainty), भार की निश्चितता (Certainty of incidence), दायित्व (Liability), अपवचन अनुपात (Evasion Markmanship), सुविधा (Convenience), मितव्ययिता (Economy), उत्पादकता (Productivity), लोच (Elasticity), सरलता (Simplicity), वाँछनीयता (Expediency), पर्याप्तता (Sufficiency), विविधता (Diversity), एकरूपता (Uniformity), कोमलता (Flexibility).

1.20 प्रश्नों के उत्तर दीजिए (Answer the Questions) :-

(1) करारोपण के सिद्धान्त का सामान्य परिचय दीजिए।
(2) करारोपण के उद्देश्य बताइये।
(3) समानता के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
(4) निश्चितता के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
(5) मितव्ययिता के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
(6) सुविधा के सिद्धान्त से आप क्या समझते है ?
(7) उत्पादकता एवं लोच का सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
(8) सरलता एवं वांछनीयता के सिद्धान्त को समझाइये।
(9) विविधता व एकरूपता के सिद्धान्त को कैसे लागू कर सकते हैं?
(10) समन्वय का सिद्धान्त से आप क्या समझते है?
(11) प्रशासकीय कुशलता का सिद्धान्त के बारे में बताइये।
(12) कोमलता एवं पर्याप्तता का सिद्धान्त कहाँ तक सम्भव है।
(13) न्यूनतम समग्र त्याग के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए?
(14) करापात तथा कराघात में भेद को स्पष्ट कीजिए।
(15) संतुलित बजट–भार की अवधारणा समझाइए?
(16) कर के उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन कीजिए।
(17) कर किस प्रकार आय व सम्पत्ति के वितरण पर प्रभाव डालते हैं? समझाइये।

बहुविकल्पीय प्रश्न–उत्तर – (Objective Type Question-Answer) :-

(1) उत्पादकता के सिद्धान्त को किसने बताया ?
(अ) बेस्टेबिल (ब) एडम स्मिथ
(स) श्रीमती हिक्स (द) सिसमाण्डी

(उत्तर – अ)

(2) एडम स्मिथ के द्वारा प्रतिपादित करारोपण के सिद्धान्त है –
(अ) समानता का सिद्धान्त (ब) निश्चियतत का सिद्धान्त
(स) मितायियता का सिद्धान्त (द) उपर्युक्त सभी

(उत्तर – द)

(3) लोच का सिद्धान्त का सबसे लोकप्रिय उदाहरण कौन सा कर है –
(अ) निगम कर (ब) आयकर
(स) चुंगी कर (द) गृहकर

(उत्तर – ब)

(4) करारोपण में एकरूपता का विचार किसने दिया है?
(अ) प्रो0 मार्शल (ब) प्रो0 पीमू
(स) नित्ती और कोनार्ड (द) डाल्टन

(उत्तर – स)

(5) कोमलता एवं पर्याप्तता का सिद्धान्त का प्रतिपादन किस अर्थशास्त्री के द्वारा दिया गया है –

(अ) फिण्डले शिराज (ब) डाल्टन

(स) वैगनर (द) श्रीमती हिक्स

(उत्तर – अ)

(6) ''न तो कोई कर पूर्ण है और न ही कोई पूर्णतया खराब ही है।'' इस कथन की रचनाकार का नाम बताइए।

(अ) हिक्स (ब) लुट्ज

(स) डाल्टन (द) बेस्टेबिल

(उत्तर – ब)

(7) ''प्रत्येक कर पृथक–पृथक न लेकर सम्पूर्ण प्रणाली पर ही ध्यान देना चाहिए।'' यह कथन किसने दिया है –

(अ) लुट्ज (ब) पीगू

(स) एडम स्मिथ (द) श्रीमती उर्सला हिक्स

(उत्तर – द)

(8) विभेदात्मक कर–भार का अभिप्राय है–

(अ) आय के वितरण में परिवर्तन (ब) मुद्रा स्थिति में परिवर्तन

(स) मुद्रा संकुचन में परिवर्तन (द) इनमें से कोई नहीं

(उत्तर – अ)

(9) कर–भार की पारम्परिक धारणा का सर्वोत्तम विश्लेषण किस अर्थशास्त्री के द्वारा किया गया था?

(अ) मार्शल (ब) पीगू

(स) सेलिगमैन (द) एडमस्मिथ

(उत्तर – स)

(10) कर अपवंचन का अभिप्राय है–

(अ) सरकार को राजस्व की हानि (ब) सरकार को राजस्व में वृद्धि

(स) सरकार के राजस्व में न हानि व न वृद्धि (द) इनमें से कोई नहीं

(उत्तर – अ)

चालू घाटा, वित्तीय घाटा एवं मौद्रिक घाटा
(Current Deficit, Fiscal Deficit & Monetary Deficit

इकाई की रूपरेखा :

1.0 परिचय
- 1.1 उद्देश्य
- 1.2 बजट घाटा
- 1.3 राजस्व घाटा
- 1.4 राजस्व व्यय को कम करने की कार्य विधि
- 1.5 प्रभावी राजस्व घाटा
- 1.6 राजकोषीय घाटा
- 1.7 राजकोषीय घाटा के प्रकार
- 1.8 राजकोषीय घाटे के प्रभाव
- 1.9 प्राथमिक घाटा
- 1.10 प्राथमिक घाटा के प्रकार
- 1.11 मौद्रिक घाटा
- 1.12 क्रियात्मक घाटा
- 1.13 राजकोषीय दुश्चक्र
- 1.14 राजकोषीय समेकन
- 1.15 राजस्व घाटे को कम करने के लिए किए गए प्रयास
- 1.16 राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने के उपाय
- 1.17 राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम, 2003
- 1.18 राजकोषीय घाटे से हुई तीव्र वृद्धि के कारण
- 1.19 घाटे के वित्तपोषण के उपकरण
- 1.20 क्राउडिंग आउट इफेक्ट
- 1.21 सारांश
- 1.22 शब्दावली
- 1.23 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
- 1.24 अभ्यास प्रश्न
- 1.25 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

भारत में पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ होने के बाद से सार्वजनिक व्ययों में काफी वृद्धि होने लगी थी। व्ययों की पूर्ति के लिए घाटे के बजटों को बनाया जाने लगा था। भारत सरकार घाटे की पूर्ति अस्थायी ऋण, नकद कोषों का उपयोग, विदेशी विनिमय कोष तथा केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर करने लगी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय तथा युद्ध के बाद भारत ने घाटे की पूर्ति के लिए स्थायी ऋणों का सहारा लिया था। इसके बाद भारत ने 1947 से तक अपने जमा नकद कोषों की सहायता से घाटों की पूर्ति की। यह व्यवस्था केवल प्रथम योजना–काल तक चालू रही। भारत एक विकासशील देश है। योजनाओं की सफलता के लिए उसे आन्तरिक व बाह्य साधनों को जुटाना होता है। करारोपण व सार्वजनिक उपक्रमों से उसे उतनी आय नहीं हो सकती थी, जितना उसे खर्च करना था। यहां पर कहना है कि सार्वजनिक आय सार्वजनिक व्ययों से बहुत कम थी। ऐसी स्थिति में घाटे की पूर्ति हेतु कदम होने की जरूरत महसूस होने लगी।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :–

1. राजकोषीय स्थिति का पूर्वानुमान लगाना।
2. राजकोषीय संकेतकों का पूर्वानुमान लगाना।

3. केन्द्र सरकार की राजकोषीय स्थिति का मूल्यांकन करना।
4. समष्टि आर्थिक तंत्र का विवरण तैयार करना।
5. चालू घाटा, वित्तीय घाटा, मौद्रिक घाटा को जान सकेंगे।

1.2 बजट घाटा (Budget Deficit):–

बजट घाटे से अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें सरकार का बजट–व्यय सरकार की बजट प्राप्तियों से अधिक होता है। जब कुल सार्वजनिक व्यय में से कुल सार्वजनिक प्राप्तियों को घटा दिया जाए तो बजट घाटा अथवा बजेटरी घाटा प्राप्त होता है। कुल सार्वजनिक व्यय में राजस्व व्यय तथा पूंजीगत व्यय को सम्मिलित किया जाता है जबकि कुल सार्वजनिक प्राप्तियों से राजस्व प्राप्तियां तथा पूंजीगत प्राप्तियां सम्मिलित होती है।

बजट घाटा = कुल बजट प्राप्तियां – कुल बजट व्यय

बजट घाटा = (कुल राजस्व प्राप्तियाँ + कुल पूंजीगत प्राप्तियां) –(कुल राजस्व व्यय +कुल पूंजीगत व्यय)

यदि कुल बजट प्राप्तियां की मात्रा कुल बजट व्ययों से अधिक हुई है, बजेटरी अधिक्य की स्थिति होगी अन्यथा बजेटरी घाटा होगा।

बजट के प्रकार (Type of Budget)

- संतुलित बजट = बजट प्राप्तियां = बजट व्यय
- बचत का बजट = बजट प्राप्तियां > बजट व्यय
- घाटे का बजट = बजट प्राप्तियां < बजट व्यय

1.3 राजस्व घाटा (Revenue Deficit) :–

राजस्व घाटे का संबंध सरकार के राजस्व व्यय तथा राजस्व प्राप्तियों से है। इसमें पूंजीगत प्राप्तियों एवं पूंजीगत व्ययों को सम्मिलित नहीं किया जाता है। इस प्रकार राजस्व घाटा राजस्व व्यय की राजस्व प्राप्तियां पर अधिकता है। राजस्व घाटे में केवल ऐसे लेन–देन सम्मिलित होते है जिससे सरकार की वर्तमान आय और व्यय प्रभावित होते है। यदि राजस्व व्यय में से राजस्व प्राप्तियों को घटा दिया जाए, तो राजस्व घाटा प्राप्त होता है।

1.4 राजस्व व्यय को कम करने की कार्यविधि :–

1. सरकार अपने राजस्व व्ययों में कटौंती की योजना बनाकर व्ययों का विवेकीकरण कर सकती है।
2. सरकार सामान्य जनता, भारतीय रिजर्व बैंक या शेष विश्व से उधार के माध्यम से कोष प्राप्त कर सकती है।
3. सरकार सार्वजनिक उद्यमों के अपने स्वामित्व (शेयर) को बेचकर विनिवेश के माध्यम से एवं परिसंपत्तियों के विक्रम द्वारा कोष प्राप्त कर सकती है।

1.5 प्रभावी राजस्व घाटा (Effective Revenue Deficit):–

प्रभावी राजस्व घाटा की अवधारणा को वित्तीय वर्ष 2011–12 के केन्द्रीय बजट से प्रारम्भ किया गया तथा 2012–13 के बजट से प्रभावी राजस्व घाटे की अवधारणा को राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम की व्यवस्थाओं में सम्मिलित कर लिया गया। इसका प्रयोग राजस्व खातें में से रचनात्मक असंतुलनों को व्यक्त करने के लिये किया गया।

राजस्व घाटा सरकार की राजस्व प्राप्तियों और राजस्व व्ययों के बीच का ऋणात्मक अंतर होता है। राजस्व घाटे में केंद्र सरकार के वे व्यय भी सम्मिलित होते है जो वह राज्य सरकारों को अनुदान के रूप में देता है और इससे कई विकासशील परिसंपत्तियों का सृजन होता है। इस व्यय को गैर–विकासात्मक या अनुत्पादक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह एक प्रकार का निवेश होता है। इस प्रकार केंद्र के राजस्व व्यय में से उन खर्चों को, जिनसे राज्यों में परिसंपत्तियां सृजित होती है, घटाकर जो शेष बचे उसे ही राजस्व घाटा माना जाना चाहिये। प्रभावी राजस्व घाटे की प्राप्ति केंद्र सरकार के राजस्व घाटे में से उसके पूंजीगत परिसंपत्तियों संबधी अनुदानों को घटाने से होती है। दूसरे शब्दों में, यदि राजस्व व्यय में से पूंजीगत परिसंपत्तियों को लिये दिये गए अनुदान को घटा दिया जाए,उसके बाद राजस्व प्राप्तियां को घटाया जाए तो प्रभावी राजस्व घाटा प्राप्त होता है।

प्रभावी राजस्व घाटा = (राजस्व व्यय – पूंजीगत परिसंपत्तियों के सृजन हेतु अनुदान)– राजस्व प्राप्तियाँ।

प्रभावी राजस्व घाटा = राजस्व घाटा–पूंजीगत परिसंपत्ति के सृजन हेतु अनुदान

1.6 राजकोषीय घाटा :–

राजकोषीय घाटे की अवधारणा को 1985 में मौद्रिक पद्धति के क्रियान्वयन पर गठित सुखमय चक्रवर्ती समिति ने प्रस्तुत किया था। राजकोषीय घाटे से संबंध सरकार के सभी व्ययों तथा सभी प्राप्तियों से होता है। राजकोषीय घाटा कुल व्ययों की कुल प्राप्तियों पर अधिकता है। अन्य शब्दों में, यदि कुल सार्वजनिक व्यय में से उधार व अन्य देयताओं को छोड़कर कुल सार्वजनिक आय को घटा दिया जाए, तो राजकोषीय घाटा प्राप्त होता है अर्थात राजस्व प्राप्तियों तथा गैर–ऋण पूंजीगत प्राप्तियों के योग पर कुल सार्वजनिक व्यय का आधिक्य 'राजकोषीय घाटा कहलाता है। यदि सरकार अपनी राजस्व प्राप्तियों से अधिक व्यय कर रही हो तो इस व्यय आधिक्य को ही राजकोषीय घाटा कहा जाता है। राजकोषीय घाटा सरकार की संपूर्ण देयता को प्रदर्शित करता है।

- राजकोषीय घाटा = कुल व्यय (राजस्व व्यय + पूंजीगत व्यय)– उधार छोड़कर कुल प्राप्तियाँ (राजस्व प्राप्तिया + पूंजीगत प्राप्तियाँ)
- राजकोषीय घाटा = सार्वजनिक व्यय – कुल सार्वजनिक आय (उधार एवं अन्य देयताओं को छोड़कर)
- राजकोषीय घाटा = बजेटरी घाटा + उधार एवं अन्य देयताएँ (सरकारी दायित्व)
- राजकोषीय घाटा = (कुल व्यय–कुल प्राप्तियाँ) + सरकारी दायित्व
- राजकोषीय घाटा = राजस्व घाटा+(पूंजीगत व्यय– देयताएं न सृजित करने वाली प्राप्तियाँ)

राजकोषीय घाटा यह प्रदर्शित करता है कि सरकार द्वारा किया गया खर्च उसके पास उपलब्ध संसाधनों से कहीं अधिक है। इसका अभिप्राय है कि सरकार अपनी आय से अधिक व्यय कर रही है। इस प्रकार राजकोषीय घाटा, उस वर्ष के बजट के कारण कुल सार्वजनिक ऋण अर्थात् सरकार की देनदारी में हुई शुद्ध वृद्धि को दिखाता है। राजकोषीय घाटे को मात्रात्मक रूप अथवा सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप दर्शाया जा सकता है।

1.7 राजकोषीय घाटे के प्रकार (Types of Fiscal Policy)

1. **सकल राजकोषीय घाटा (Gross Fiscal Defict)**

   सकल राजकोषीय घाटा,राजस्व प्राप्तियां और गैर–ऋण पूजींगत प्रप्तियां पर कुल व्यय, जिसमें ऋण वसूली की लागत घटाकर ऋण सम्मिलित होते है, का आधिक्य होता है।

2. **निवल राजकोषीय घाटा (Net Fiscal Deficit) :–**

   सकल राजकोषीय घाटे में से केंद्र सरकार द्वारा लिये गए निवल ऋण को घ्घटाने से निवल राजकोषीय घाटा प्राप्त होता है।

   वस्तुओं और सेवाओं के दृश्य एवं अदृश्य अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को 'भुगतान संतुलन' के अंतर्गत चालू खाते में प्रदर्शित किया जाता है तथा इस खाते के शेष को चालू खाता घाटा कहा जाता है। राजकोषीय घाटा तथा चालू घाटा को जुड़वा घाटा कहा जाता है। ये दोनों घाटे अर्थव्यवस्था को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करते हैं।

1.8 राजकोषीय घाटे के प्रभाव (Effects of Fiscal Deficit) :–

1. सरकार राजकोषीय घाटे को पूरा करने के लिये अतिरिक्त एवं बाह्य स्त्रोतों से ऋण लेती है एवं इस प्रकार राष्ट्रीय ऋण में वृद्धि हो जाती है।
2. सरकार द्वारा भारतीय रिजर्व बैंक से पूंजी उधार लेने पर अर्थव्यवस्था में मुद्रा की आपूर्ति बढ़ जाती है। मुद्रा की पूर्ति से वृद्धि होने से मुद्रास्फीति भी बढ़ जाती है।
3. उच्च राजकोषीय घाटे के कारण अर्थव्यवस्था में कुल निवेश, पूंजी निवेश एवं पूंजी निर्माण में कमी आ जाती है जिसे 'क्राउडिंग आउट प्रभाव' भी कहा जाता है।
4. उच्च राजकोषीय घाटे के कारण सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में कमी हो जाती है।
5. उच्च राजकोषीय घाटे के कारण सरकार द्वारा देश में आधारभूत संरचना के विस्तार एवं सामाजिक कल्याणकारी कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं पर किये जाने वाले खर्च में कटौंती की जा सकती है।
6. उच्च राजकोषीय घाटे और घरेलू एवं अंतर्राष्ट्रीय ऋणों में वृद्धि होने से सरकार एवं अर्थव्यवस्था पर विश्वसनीयता के स्तर में कमी हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था की क्रेडिट रेटिंग में कमी हो सकती है।
7. उच्च राजकोषीय घाटे को पूरा करने के लिये सरकार को अन्य देशों एवं अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से बाह्य ऋण लेना पड़ता है। इस प्रकार के बाह्य ऋणों में कई शर्तें एवं

बाध्यताएँ भी आरोपित की जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था की विदेशों पर निर्भरता बढ़ जाती है।

1.9 प्राथमिक घाटा (Primary Deficit) :–

राजकोषीय घाटे का संबधं सरकार के सभी व्ययों तथा प्राप्तियों से होता है। इसमें इस बात ध्यान नहीं रखा जाता कि राजस्व घाटे का कितना भाग चालू बजेटरी व्यवहारों के कारण है और कितना भाग पिछले वित्तीय वर्षों में किये गए बजेटरी व्यवहारों के कारण है, जैसे– सार्वजनिक ऋणों पर किये जाने वाले ब्याज का भुगतान विगत वर्षों में किये गए बजेटरी व्यवहारों का परिणाम होता है, जिसका कोई संबंध वर्तमान वित्तीय वर्ष के बजेटरी व्यवहारों से नहीं होता है। इसलिये चालू वर्ष राजकोषीय घाटे और पहले से ली गई उधारियों पर ब्याज भुगतान के अन्तर को प्राथमिक घाटा कहते हैं अर्थात् यदि राजकोषीय घाटे में ब्याज भुगतान को घटा दिया जाए तो प्राथमिक घाटा प्राप्त होता है।

प्राथमिक घाटा = राजकोषीय घाटा – ब्याज भुगतान

राजकोषीय घाटा = प्राथमिक घाटा + ब्याज भुगतान

सकल राजकोषीय घाटे में से ब्याज भुगतान को घटाने से सकल प्राथमिक घाटा प्राप्त होता है तथा निवल राजकोषीय घाटे में से निवल ब्याज भुगतान को घटाने से निवल प्राथमिक घाटा प्राप्त होता है। अदा किये गए ब्याज में से प्राप्त किये गए ब्याज को घटाने से निवल ब्याज भुगतान प्राप्त होता है।

1.10 प्राथमिक घाटा के प्रकार (Types of Primary Dificit) :–

प्राथमिक घाटा (उपभोग) Primary Deficit) Consumption

यह कि कितना घाटा सरकार के उपभोग से संबंधित बजेटरी व्यवहार से उत्पन्न हुआ है।

प्राथमिक घाटा = राजस्व घाटा –ब्याज अदायगियाँ + ब्याज प्राप्तियां + लाभ तथा लाभांश

प्राथमिक घाटा (निवेश) Primary Deficit (Investment) :-

यह कि कितना घाटा सरकार के विनियोग में संबंधित व्यवहार के कारण उत्पन्न हुआ है।

प्राथमिक घाटा निवेश = पूंजीगत व्यय –ब्याज प्राप्तियां – लाभ तथा लाभांश – ऋण की वापसी – अन्य प्राप्तियाँ

1.11 मौद्रीकृत घाटा (Monetised Deficit) :-

सरकार राजकोषीय घाटे को पूरा करने के लिये आंतरिक एवं बाह्य स्त्रोतों से ऋण लेती है। सरकार राजकोषीय घाटे की पूर्ति के लिये भारतीय रिजर्व बैंक से भी कर्ज ले सकती है एवं सरकार अपनी प्रतिभूतियों एवं बॉण्ड्स का विक्रय भारतीय रिजर्व बैंक के माध्यम से करती है अर्थात भारतीय रिजर्व बैंक सरकार के ऋणों का प्रबंधन करता है। राजकोषीय घाटे का यह भाग, जिसकी आपूर्ति सरकार द्वारा रिजर्व बैंक के माध्यम से की जाती है, मौद्रीकृत घाटा कहलाता है।

1.12 क्रियात्मक घाटा (Operational Deficit) :–

यह कि स्फीति समायोजित राजकोषीय घाटा भी कहा जाता है। यदि राजकोषीय घाटे में से मुद्रास्फीति का प्रभाव समाप्त कर दिया जाए तो हमें क्रियात्मक घाटा प्राप्त होगा।

क्रियात्मक घाटा = सकल राजकोषीय घाटा – स्फीतिक समायोजन

1.13 राजकोषीय दुश्चक्र (Fiscal Vicious Circle) :–

जब सरकार का व्यय बढ़ता है तो उससे आम जनता की मांग में वृद्धि होती है, जो महंगाई में वृद्धि का कारण बनती है। इस तरह जब लोक व्यय में वृद्धि होती है। तो इससे भविष्य में सरकार को ब्याज देनदारी भी बढ़ जाती है, जिसमें सरकार का राजस्व घाटा बढ़ जाता है। इस राजस्व घाटे की पूर्ति के लिये सरकार पुनः ऋण लेती है, जिससे एक दुश्चक निर्मित हो जाता है, जिसे 'राजकोषीय दुश्चक्र' कहते है।

1.14 राजकोषीय समेकन (Fiscal consolidation) :–

वित्तीय वर्ष 1991 में प्रारंभ किये गए, आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के अंतर्गत सरकार द्वारा राजकोषीय समेकन की शुरूआत की गई। राजकोषीय समेकन वह प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत सरकार विभिन्न घाटों को कम करने के लिये राजकोषीय नीति में आवश्यक बदलाव

करती है। राजकोषीय समेकन के माध्यम से सरकार न केवल विभिन्न घाटों को कम करने का प्रयास करती है बल्कि पूर्व में लिये गए ऋणों की मात्रा में भी कमी करने का प्रयास करती है। वर्ष 1975 से 2000 तक भारत के राजकोषीय घाटे में तीव्र वृद्धि देखी गई। इस राजकोषीय घाटे का मुख्य कारण राजस्व व्यय में अत्यधिक वृद्धि थी, जिससे राजस्व घाटे में भी वृद्धि हुई। केंद्र सरकार द्वारा राजकोषीय समेकन के लिखे कई प्रयास किये पर, जिनमें से कुछ प्रमुख है–

1.15 राजस्व घाटे को कम करने के लिये किए गए प्रयास :–

1. राजस्व व्यय में कटौती करने से सम्बन्धित अनेक उपाय किये गए, जिनमें सब्सिडियों को युक्तिसंगत बनाना, वेतन, पेंशन एवं आकस्मिक निधियों के भार में कमी करना, विदेशी ऋणों की उनकी परिपक्वता पूर्व अदायगी करना, महंगे विदेश ऋणों से बचना, ब्याज दरों में कटौती करना, घाटे में चल रहे सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का विनिवेश करना इत्यादि प्रमुख है।
2. राजस्व व्यय को बढ़ाने सेसंबंधित अनेक उपाय किये गए जिनमें, विभिन्न प्रकार के कर सुधार , जैसे – मूल्य वर्द्धित कर, वस्तु एवं सेवा कर, विदेशी विनिमय भंडार के अतिरेक का विदेशी ऋण आवण्टन एवं बेहतर विदेशी बॉण्ड में निवेश, राज्य सरकारों को अपने योजनागत व्ययों की पूर्ति के लिये बाजार से ऋण प्राप्त करने की अनुमति प्रदान करना, आय घोषणा योजना एवं विमुद्रीकरण के माध्यम से राजस्व संग्रहण करना इत्यादि प्रमुख है।
3. सरकार द्वारा विभिन्न घाटों की पूर्ति के लिये वित्त पोषण की प्रक्रिया एवं ऋणों से सम्बन्धित कार्यक्रमों में बदलाव किया गया। वित्तीय वर्ष 1997 में प्रारम्भ किये गये आर्थिक उपाय अग्रिम की प्रक्रिया के माध्यम से सरकार एवं रिजर्व बैंक द्वारा वित्तीय वर्ष प्रारम्भ होने से पूर्व ही सरकार के ऋणों की मात्रा निश्चित कर ली जाती है जिससे सरकार द्वारा लिये जाने वालें ऋणों में पारदर्शिता एवं नैतिक नियंत्रण सुनिश्चित हो सका । वित्तीय वर्ष 1997 से भारत सरकार की प्रतिभूतियों एवं बॉण्ड्स के निर्गमन का प्राथमिक ग्राहक भारतीय रिजर्व बैंक नही रहा। इसके पश्चात् सरकार अपनी प्रतिभूतियों का विक्रय बाजार में कर सकती है।
4. वर्ष 2003 में संसद के द्वारा राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा सरकार के राजकोषीय उत्तरदायित्व को एक कानूनी आधार प्रदान किया गया। इसके अन्तर्गत राजस्व घाटे एवं राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने के लिये सरकार के वार्षिक लक्ष्यों की घोषणा करने एवं उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये आवश्यक रणनीति बनाने का कार्यभार सौंपा गया।

1.16 राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने के उपाय :–

राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने के लिये सरकार निम्न दो तरह के उपाय अपनाती है–

अ. नकारात्मक उपाय

ब. सकारात्मक उपाय

अ . नकारात्मक (Negative Measures):–

1. सरकार राजकोषीय घाटे को कम करने के लिये अनुत्पादक सार्वजनिक व्यय का भुगतान विशेष तौर से गैर–योजनागत व्यय की मदों, ब्याज का भुगतान, प्रशासनिक व्यय एवं सब्सिडी को कम करने का कार्य करती है। ब्याज भुगतान को कम करने के लिये वर्तमान में भारत सरकार की नीति कम–से–कम विदेशी ऋण लेने की है और वह भी आसान शर्तों एवं कम ब्याज दर पर। साथ–ही–साथ हम उच्च ब्याज दर वाले विदेशी ऋणों की समय पूर्व अदायगी कर रहें है।
2. सब्सिडी के भार को कम करने के लिये वर्तमान में भारत सरकार लक्षित सब्सिडी की नीति अपना रही है, जिसके तहत सब्सिडी को अति जरूरतमंद लोगों तक सीमित करने का प्रयास किया जा रहा है।
3. सरकार जरूरतमंदों को सब्सिडी सीधे उनके बैंक खातों के माध्यम से प्रदान करने का प्रयास कर रही है जिससे सब्सिडी प्रदान करने से संबंधित प्रशासनिक व्ययों में कमी की जा सके।
4. सरकार द्वारा पेट्रोलियम तथा डीजल पर सब्सिडी के भार को कम करने के लिये इनकी कीमतों को नियंत्रण मुक्त कर दिया गया है।

5. प्रशासनिक व्यय को कम करने के लिये सार्वजनिक क्षेत्र की नौकरियों में कटौती की जा रही हैं।
6. सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में शेयरों की बिक्री के द्वारा सरकारी हिस्सेदारी को सीमित किया जा रहा है।

ब. सकारात्मक उपाय (Positive Measures):–

राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने के लिये सकारात्मक नीति के तहत सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के कर सुधारों तथा कर आधार में वृद्धि करके अपने कर राजस्व की बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है। कर अपवंचन को रोकने के लिये जहां विभिन्न देशों यथा सिंगापुर, मॉरीशस आदि से समझौते किये गए है, वहीं लोगों को भी करों का भुगतान करने के लिये प्रेरित किया जा रहा है। साथ ही कई अप्रत्यक्ष करों में कटौंती करते हुए वस्तु एवं सेवा कर का क्रियान्वयन इस दिशा में किया जाने वाला महत्वपूर्ण कर सुधार है।

1.17 राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम, 2003 (Fiscal Responsibility and budget Management Act, 2003) :–

राजकोषीय घाटे पर नियंत्रण लगाने के उद्देश्य से एक विधिक एक संस्थागत ढांचे के रूप में राजकोषीय उत्तरदायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम 2003 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने के उपरांत 26 अगस्त, 2003 को लागू किया गया।

अ. मुख्य विशेषताएं (Major Features) :–

- केंद्र सरकार द्वारा राजकोषीय घाटा तथा राजस्व घाटा को कम करने का प्रयास किया जाएगा जिसके अंतर्गत राजस्व घाटा 31 मार्च 2008 तक समाप्त करने तथा उसके बाद पर्याप्त राजस्व आधिक्य सृजित करने का लक्ष्य रखा गया।
- इस अधिनियम के अंतर्गत केंद्र सरकार राजकोषीय घाटा, राजस्व घाटा, कुल देयताओं, आकस्मिक देयताओं एवं सार्वजनिक व्यय में कमी लाने के संबंध में वार्षिक लक्ष्य निर्धारित करने एवं उन लक्ष्यों को प्राप्त के लिये उचित रणनीति तैयार करने का कार्य करेगी।
- राजकोषीय घाटा तथा राजस्व घाटा विशेष परिस्थितियों में ही घोषित लक्ष्यों को पार कर सकेंगे, जैसे–राष्ट्रीय सुरक्षा, आपदा एवं राष्ट्रीय संकट आदि।
- भारत सरकार अर्थोपाय अग्रिम के अतिरिक्त किसी और प्रकार से रिजर्व बैंक से उधार नहीं ले सकती है।
- केन्द्र सरकार अपने राजकोषीय परिचालन में पारदर्शिता लाने सम्बन्धी कदम उठायेगी।
- इस अधिनियम के अनतर्गत केन्द्र सरकार को प्रत्येक वित्तीय वर्ष में संसद के दोनों सदनों में वार्षिक वित्तीय विवरण तथा अनुदानों के मांग के साथ तीन अन्य विवरण प्रदान किया गया– मध्यावधि राजकोषीय नीति विवरण, राजकोषीय नीति से सम्बन्धित ऋण नीतियों का विवरण, समष्टि अर्थशास्त्र सम्बन्धी रूप–रेखा।

ब. प्रमुख नियम :–

1. वित्तीय वर्ष 2004–05 से प्रत्येक वित्तीय वर्ष में राजस्व घाटे को जीडीपी के प्रतिशत के रूप में 0.5 प्रतिशत या उससे अधिक मात्रा में कम करना जिससे यह वित्तीय वर्ष 2007–08 के अंत तक शून्य हो जाए।
2. वित्तीय वर्ष 2004–05 से प्रत्येक वित्तीय वर्ष में राजकोषीय घाटे को जीडीपी के प्रतिशत के रूप में 0.3 प्रतिशत या उससे अधिक मात्रा में कम करना जिससे यह वित्तीय वर्ष 2007–08 तक जीडीपी के 3 प्रतिशत से कम हो जाए।
3. वित्तीय वर्ष 2004–05 में जीडीपी के 9 प्रतिशत से अधिक अतिरिक्त देयता सृजित नहीं करना एवं आने वाले वर्षों में जीडीपी प्रतिशत के रूप में प्रति वर्ष 1 प्रतिशत की दर से कम करना।

1.18 राजकोषीय घाटे से हुई तीव्र वृद्धि के कारण :–

1. किसानों के लिये ऋण माफी योजना।
2. संपूर्ण भारत में मनरेगा एवं राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन जैसे कार्यक्रमों का संचालन करना।
3. सब्सिडी व्यय में हुई तीव्र वृद्धि।

4. रक्षा व्यय का बढ़ना।
5. सरकार की सामाजिक कल्याणकारी भूमिका बढ़ने के कारण सामाजिक योजनाओं का विस्तार किया जाना।
6. मंदी से बाहर निकलने के लिये दिये गए आर्थिक पैकेज।

एफआरबीएम की समीक्षा हेतु एन.के. सिंह समिति की सिफारिश :–

एन0के00 सिंह समिति की प्रमुख सिफारिशे निम्न है–

1. इस समिति ने मौजूदा एक एफआरबीएम कानून, 2003 और एफआरबीएम नियम, 2004 को समाप्त कर इसके स्थान पर एक नया ऋण राजकोषीय उत्तरदायित्व अधिनियम बनाने की सिफारिश की है।
2. इस समिति के अनुसार वित्तीय वर्ष 2022–23 तक सरकार को ऋण–जीडीपी अनुपात को कम करते हुए 60 प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा गया है।
3. केन्द्र सरकार के लिये राजकोषीय घाटे को वित्तीय वर्ष 2016–17 को 3.5 प्रतिशत के स्तर से कम करते हुए वित्तीय वर्ष 2017–18 से 2019–20 तक 3.0 प्रतिशत और 2022–23 तक 2.5 प्रतिशत करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।
4. राजस्व घाटे को प्रति वर्ष 0.25 प्रतिशत से कम करते हुए वित्तीय वर्ष 2016–17 के 2. 30 प्रतिशत के स्तर से कम करके वित्तीय वर्ष 2022–23 में 0.80 प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा गया है।

ऋण और घाटों का अनुशंसित पथ

वित्तीय वर्ष	ऋण जीडीपी अनुपात (प्रतिशत में)	राजकोषीय घाटा (जीडीपी के प्रतिशत के रूप)	राजस्व घाटा (जीडीपी के प्रतिशत के रूप में)
2016–17	49.4	3.5	2.30
2017–18	47.3	3.0	2.05
2018–19	45.5	3.0	1.80
2019–20	43.7	3.0	1.55
2020–21	42.0	2.8	1.30
2021–22	40.3	2.6	1.05
2022–23	38.7	2.5	0.80

घाटे की वित्तीय व्यवस्था (Deficit Financing) :–

सरकार द्वारा जिन स्त्रोतों के माध्यम से बजेटरी घाटे एवं राजकोषीय घाटे को पूरा करने का प्रयास किया जाात है, उसे 'घाटे की वित्त व्यवस्था' या 'हीनार्थ प्रबंधन' कहते है। सामान्यतः जिस प्रक्रिया के तहत सरकार रिजर्व बैंक द्वारा अतिरिक्त नए नोट एवं सिक्के छापकर एवं आंतरिक एवं बाह्य स्त्रोतों द्वारा ऋण एकत्र कर विभिन्न घाटों अर्थात् बजेटरी घाटे एवं राजकोषीय घाटे की पूर्ति करता है, उसे 'हीनार्थ प्रबंधन' कहते है।

1.19 घाटे के वित्तपोषण के उपकरण (Tools of Deficit Financing) :–

घाटे की वित्त व्यवस्था निम्न तीन माध्यमों से की जाती है–

1. आंतरिक बाजार उधारी एवं ऋण के द्वारा।
2. विदेशी ऋण एवं सहायता के द्वारा
3. भारतीय रिजर्व बैंक के द्वारा।

भारतीय रिजर्व बैंक निम्नलिखित माध्यमो से विभिन्न घाटे को भरने मे सहायता करता है–

1. आंतरिक बाजार उधारी में योगदान के माध्यम से।
2. नए नोटों एवं सिक्कों के निर्गमन के द्वारा।
3. एडहॉक ट्रेजरीविल्स के माध्यम से।

रिजर्व बैंक से सरकार द्वारा की जाने वाली नगदी निकासी नगण्य होती है, इसलिये इसे घाटे में सम्मिलित नहीं किया जाता है। 1997 से एडहॉक ट्रेजरी विल्स को जारी करना बंद कर अर्थोपाय अग्रिम की व्यवस्था अपनाई गई किन्तु अर्थोपाय अग्रिम की राशि को भी बजट घाटे में सम्मिलित नहीं किया जाता है।

1.20 क्राउडिंग आउट इफेक्ट :–

यदि सरकार घाटे का बजट बनाती है और उस घाटे की भरपाई के लिये आंतरिक बाजार उधारी का सहारा लेती है तो इसके लिये सरकार को बॉण्ड जारी करके बैक एवं वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेना पड़ता है। इससे बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं के पास तरलता अर्थात फंड का अभाव हो जाएगा और वे ब्याज को दरों को बढ़ा देंगे, जिससे निवेश एवं विकास दर पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। उच्च राजकोषीय घाटे के कारण अर्थव्यवथा में कुल निवेश स्तर में कमी आती है, इस प्रभाव को ही 'क्राउडिंग आउट इफेक्ट' कहते है।

1.21 सारांश (Summary) :-

बजटीय घाटा एक दोधारी तलवार है। यह हितों और अहितों का एक ऐसा मिश्रण है जो घाटे के आकार, राजकोषीय नीति, घाटे के वित्त पोषण के स्त्रोत और घाटे से पोषित की गई व्यय मदों पर निर्भर करता है। भारत जैसे अल्पविकसित देश में बजटीय घाटे की एक सुचारू नीति से कई प्रकार से हित प्राप्ति हो सकती है। आर्थिक विकास के साथ आर्थिक गतिविधियों का मौद्रीकरण होता है। इससे मुद्रा और साख की आवश्यकता बढ़ती है जिसकी पूर्ति में बजटीय घाटे सहायक होते है। आर्थिक विकास की प्राप्ति हेतु देश के वित्तीय ढांचे को सुदृढ़ बनाना आवश्यक रहता है। घाटा बहुधा स्वीकार्य सीमाओं से अधिक रहा है जिससे कीमतों में बढ़ोतरी के संग आय वितरण की असमानताएं भी बढ़ी हैं। केन्द्रीय सरकार की प्राप्तियों के स्त्रोतों में काफी विविधता पाई जाती है, और कालान्तर में यह विविधता बढ़ी हैं। केन्द्र के प्राप्ति स्त्रोतों मे समुचित नम्यता, लोच साथ ही कालान्तर मे केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर प्रणाली की जटिलताएं बढ़ी है। जीएसटी के लागू होने के परिणामस्वरूप केन्द्र और राज्य स्तरीय कर प्रणाली की सरलता, नम्यता और उत्पादकता बढ़ने की अपेक्षा है।

1.22 शब्दावली :–

1. बजट घाटा (Budget Deficit)
2. राजस्व घाटा (Revenue Deficit)
3. प्रभावी राजस्व घाटा (Effective Revanue Deficit)
4. राजकोषीय घाटा (Fiscal Deficit)
5. सकल (Gross)
6. निवल/शुद्ध (Net)
7. प्राथमिक (Primary)
8. उपभोग (Consumption)
9. निवेश/विर्नियोग (Investment)
10. क्रियात्मक (Operational)
11. राजकोषीय दुश्चक्र (Fiscal Vicious circle)
12. राजकोषीय समेकन (Fiscal Consolidation)
13. नकारात्मक उपाय (Negative Measures)
14. सकारात्मक उपाय (Positive Measures)
15. अधिनियम (Act)

1.23 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books)

1. लोक अर्थशास्त्र (2016–17), डॉ0 जे0सी0पन्त, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल , आगरा।
2. लोक वित्त (2004), डॉ0 एस0 के0 सिंह, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. अर्थशास्त्र (2019), Cengage Leaning India Pvt. Ltd. Noida
4. भारतीय अर्थव्यवस्था (2022) दृष्टि पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
5. भारतीय अर्थव्यवस्था (2021–22) रमेश सिंह, Mc. Graw Hill, Publications, Chennai.
6. लोकवित्त (2019) एच.एल. भाटिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0लि0, नई दिल्ली।

1.24 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

1. बजट घाटा से क्या अभिप्राय है?
2. राजस्व धाटा से क्या आशय है? राजस्व व्यय कम करने के प्रयत्नों को बताइए।

3. प्रभावी राजस्व घाटा से क्या समझते है?
4. राजकोषीय घाटा से क्या अभिप्राय है? राजकोषीय घाटे के प्रकार बताइये।
5. राजकोषीय घाटा के प्रभाव बताइए।
6. प्राथमिक घाटा से क्या अभिप्राय है? प्राथमिक घाटा के प्रकार बताइए।
7. मौद्रिक घाटा से क्या अभ्रिप्राय है?
8. राजकोषीय दुश्चक्र को बताइए।
9. राजस्व घाटे को कम करने के लिए किये गए प्रयासों समीक्षा की कीजिए।
10. राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने वाले उपायों की विवेचना कीजिए?
11. राजकोषीय उत्तरादायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम, 2003 की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
12. राजकोषीय घाटे में हुई तीव्र वृद्धि के कारण सहित व्याख्या कीजिए।

1.25 वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर (Objective Question-Answer)

1. बजट घाटा होता हैः
   क. कुल बजट प्राप्तियां – कुल बजट व्यय
   ख. बजट प्राप्तियां > बजट व्यय
   ग. बजट प्राप्तियां < बजट व्यय
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर क)
2. राजकोषीय घाटे के प्रकार हैः
   क. सकल राजकोषीय घाटा ख. निवल राजकोषीय घाटा
   ग. उपर्युक्त दोनों घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ग)
3. क्रियात्मक घाटा होता हैः
   क. सकल राजकोषीय घाटा– स्फीतिक समायोजन
   ख. सकल राजकोषीय घाटा + स्फीतिक समायोजन
   ग. पूँजीगत व्यय – ब्याज प्राप्तियां
   घ. इनमे से कोई नहीं
   (उत्तर क)
4. राजकोषीय उत्तर दायित्व एवं बजट प्रबंधन अधिनियम, 2003 कब से लागू हुआ?
   क. 26 जनवरी 2003 ख. 15 अगस्त 2003
   ग. 2 अक्टूबर 2003 घ. 26 अगस्त 2003
   (उत्तर घ)
5. राजस्व घाटे को प्रतिवर्ष 0.25 प्रतिशत से कम करते हुए वित्तीय वर्ष 2022–23 में कितने प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा गया है?
   क. 0.80 ख. 0.60 ग. 0.40 घ. 0.20
   (उत्तर क)
6. घाटे के वित्तपोषण के उपकरण हैं–
   क. आंतरिक बाजार उधारी एवं ऋण के द्वारा
   ख. विदेशी ऋण एवं सहायता के द्वारा
   ग. भारतीय रिजर्व बैं के द्वारा
   घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
7. क्राउडिंग आउट इफेक्ट हैः
   क. कुल निवेश स्तर में कमी आना।
   ख. ब्याज की दरों में कमी लाना।
   ग. तरलता में वृद्धि होना
   घ. इनमें से कोई नहीं।
   (उत्तर क)

8. प्राथमिक घाटा है–
   क. राजकोषीय घाटा–ब्याज भुगतान
   ख. राजकोषीय घाटा + ब्याज भुगतान
   ग. राजकोषीय घाटा + लाभ तथा लाभांश
   घ. सकल राजकोषीय घाटा – स्फीतिक समायोजन
   (उत्तर क)
9. राजकोषीय घाटे को नियंत्रित करने के लिए सरकार उपाय अपनाती है–
   क. नकारात्मक ख. सकारात्मक ग. उपर्युक्त दोनों
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ग)
10. राजकोषीय घाटे में तीव्र वृद्धि के प्रमुख कारण हैं:
   क. ऋण माफी योजना ख. मनरेगा एवं राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन
   ग. सब्सिडी व्यय घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)

खण्ड–03
सार्वजनिक ऋण
इकाई–01

सार्वजनिक ऋण का आशय , वर्गीकरण तथा स्त्रोत (Concept of Public Debt, Classification & Sources)

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 सार्वजनिक ऋण का अर्थ एवं प्रकृति
1.3 सार्वजनिक ऋण की विशेषताएं
1.4 सार्वजनिक ऋण का महत्व
1.5 सार्वजनिक ऋण और व्यक्तिगत ऋण में अन्तर
1.6 सार्वजनिक ऋण और कर में अन्तर
1.7 सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण
1.8 सार्वजनिक ऋणों के स्त्रोत
1.9 सारांश
1.10 शब्दावली
1.11 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.12 अभ्यास प्रश्न
1.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction):-

सार्वजनिक ऋणों का प्रारम्भ सन् 1344 में फ्लोरेन्स में हुआ था, जहाँ एडवर्ड तृतीय व अन्य को एक इटैलियन कम्पनी के द्वारा ऋण दिया गया था। नियमित रूप से सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था हॉलैण्ड ने की थी। इंग्लैण्ड में भी राज्य को ऋण प्रदान करने के लिए सन् 1694 में बैंक ऑफ इंग्लैण्ड को स्थापित किया गया था।

लोक–कल्याणकारी राज्यों के विकास के साथ ही साथ सार्वजनिक व्ययों की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी है। इस बढ़े हुए व्यय की पूर्ति के लिए सरकार अनेकानेक स्रोतों से आय प्राप्त करती है। राज्यों के व्ययों में इतनी अधिक वृद्धि हो चुकी है कि उसके द्वारा जुटाये गये सभी आय–स्रोत न्यून दिखायी देने लगे है। राज्यों को प्रति वर्ष घाटे के बजट बनाने पड़ते हैं, क्योंकि सरकार के विस्तृत (Extensive) व गहरे (Intensive) दोनों ही प्रकार के व्ययों में वृद्धि हो रही है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक सुरक्षा तथा लोक–कल्याणकारी कार्यक्रमों, यथा– शिक्षा, स्वास्थ्य, वृद्धावस्था, पेन्शन, बीमारी बीमा, बेरोजगारी जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए निरन्तर होने वाले व्ययों की पूर्ति जब सरकारी आय से नहीं होती है, तब सरकार को इसे पूरा करने के लिए ऋण लेना होता है, जिसे हम सार्वजनिक ऋण कहते हैं।

प्राचीनकाल की विचारधारा पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि उस समय ऋणों को अनावश्यक व फिजूलखर्ची को बढ़ावा देने वाला समझा जाता था। इस संबंध में एडम स्मिथ (Adam Smith) ने लिखा है कि **"सार्वजनिक ऋण से फिजूलखर्ची, बेकार के युद्ध और बुरी आर्थिक दशा उत्पन्न होती है।"** परन्तु आज प्रत्येक अर्थशास्त्री सार्वजनिक ऋणों के महत्व को स्वीकार करता है; और व्यवहार में भी यह बात देखने में आती है कि यदि सार्वजनिक ऋणों का महत्व न होता तो आज दुनिया का कोई भी राष्ट्र सार्वजनिक ऋणों की ओर आकर्षित नहीं होता।

1.1 उद्देश्य (Objectives):-

1- आय प्राप्त करना (Raising Revenue)

2- आर्थिक मन्दी से बचने के लिए (Fighting Depression)

3- चक्रीय उतार–चढ़ाव को नियन्त्रित करने के लिए (Controlling Cyclical Fluctuations)

4. मुद्रा प्रसार को नियन्त्रित करने के लिए (Controlling Inflation)

5. विकास के कार्यों के लिए वित्त का प्रबंध करना (Financing Development)

6- सार्वजनिक क्षेत्र के वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए (Meeting Financial Needs of Public Sector

7. युद्ध वित्त (War Finance)

1.2 लोक ऋण का अर्थ एवं प्रकृति (Meaning and Nature of Public Debt) :- सरकार जब सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करारोपण के द्वारा नहीं कर पाती है तथा घाटे के वित्त व्यवस्था का भी सहारा नहीं ले पाती है, ऐसे समय वहाँ सरकार सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक आय के बीच के अन्तर को लोगों से उधार लेकर ऋण के माध्य से पूरा करने का प्रयास करती है। यही लोक ऋण है। इस तरह लोक ऋण का अर्थ सरकार द्वारा लिए जाने वाले ऋण से है। सरकार द्वारा अपने देश के अन्दर तथा दूसरे देशों से लिये गये ऋण को लोक या लोक ऋण कहते हैं। लोक ऋण या तो आन्तरिक हो सकता है अथवा विदेशी सरकारों या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से लिया जा सकता है।

किसी अवधि में बजट घाटा राजस्व आय से व्यय आधिक्य है। किसी दिए हुए समय में ऋण पिछले सभी घाटों का जोड़ है। इस प्रकार ऋण पिछले राजस्व से पिछले व्यय का संचयी आधिक्य है। ऋण एक स्टॉक चर है, जिसकी माप समय के एक खास बिन्दु पर होता है। बजट घाटा एक प्रवाह चर है, जिसकी माप समय की एक अवधि में होती है।

वर्तमान में राज्य का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि सरकारें बिना ऋण के अपना कार्य नहीं चला सकती। लोक ऋण को सार्वजनिक आय की दृष्टि से 'असाधारण वित्त' कहा जाता है, क्योंकि सरकार द्वारा ऋण असाधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जाते है। आजकल मुद्रा बाजार के विकास एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वृद्धि होने के कारण लोक ऋण की प्रक्रिया काफी सुविधाजनक हो गई है। वर्तमान में, लोक ऋण सरकार की आय का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत बन चुका है, किन्तु बहुत बड़ी मात्रा में सार्वजनिक ऋणों से आय स्त्रोत प्राप्त करना उचित नहीं है।

बैस्टेबल के विचार, ''जिस प्रकार एक व्यक्ति हमेशा ऋण की सहायता से अपना काम नहीं चला सकता, उसी प्रकार सरकार भी हमेशा ऐसे साधनों से काम नहीं चला सकती।'' वर्तमान में, सरकारें आन्तरिक ऋण अथवा बाह्य ऋण अथवा दोनों लेकर अपनी अनेक विकास योजनाओं को पूरा कर रही हैं।

सरकार जो राशि ऋण द्वारा किसी वर्ष करती है, वह उसकी उस वर्ष की आय का हिस्सा बन जाती है। यह आय स्थायी नहीं होती क्योंकि इसे कुछ समय के उपरान्त वापस करना होता है। अतः ऋण को सरकार की अल्पकालीन आय का साधन कहा जाता है। दीर्घकालीन दृष्टि से यह आय नहीं कहीं जा सकती। सरकार की आय में केवल उसी आय को सम्मिलित करना उचित होगा जो सदैव ही सरकार के उपयोग में रहे और जिसे सरकार को वापस लौटाना न पड़े। सार्वजनिक आय के विपरीत सार्वजनिक ऋणों पर एक निर्धारित अवधि तक ब्याज देना पड़ता है तथा ऋण की अवधि समाप्त होने पर ऋण राशि का भुगतान करना आवश्यक होता है। इस तरह लोक ऋण की प्रवृत्ति सार्वजनिक आय की प्रकृति से सर्वथा भिन्न होती है।

जे0के0 मेहता के अनुसार, ''सार्वजनिक आय वह प्राप्ति है जिसको, उसके भुगतान कर्ताओं को वापस लौटाना सरकार के लिए आवश्यक नहीं होता, जबकि इराके विपरीत लोक ऋण के सम्बन्ध में सरकार इस बात के लिए बाध्य होती है कि उस धन को यह ऋणदाताओं को वापिस कर दें।'' वस्तुतः ऋण एक तरह का आर्थिक बोझ होता है, अतः सामान्य परिस्थितियों में ऋण लेना उचित नहीं समझा जाता।

सकल ऋण तथा निवल ऋण में अन्तर किया जाता है। निवल ऋण को जनता द्वारा धारणा किया गया ऋण भी कहा जाता है, जिसमें स्वयं सरकार द्वारा धारण किए गए ऋण को सम्मिलित नहीं किया जाता है। व्यक्ति या परिवार, बैंक, व्यवसायी, विदेशी तथा अन्य गैर–संघीय हस्तियां निवल ऋण के स्वामी होते है। सकल ऋण निवल ऋण तथा सरकार के स्वामित्व में बाण्ड का प्रयोग है।

1.3 भारतीय सार्वजनिक ऋण की विशेषताएँ (Characteristics of Indian Public Debt)

1. **ऋण की मात्रा की वृद्धि :–**भारतीय सार्वजनिक ऋण के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि यहां सार्वजनिक ऋणों का जन्म ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से हुआ। देश के ऋण भार में लगातार वृद्धि होती गयी। स्वतन्त्रता के बाद तो ऋणों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। देश में पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाने के कारण आन्तरिक व बाह्य ऋणों की मात्रा में वृद्धि होती गयी। 1950 में सार्वजनिक ऋण की राशि 2561 करोड़ रूपये से बढ़कर नवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक (31 मार्च, 2002) 934429 करोड़ रूपये हो चुकी था। सितम्बर 2005 तक विदेशी ऋण 548100 करोड़ रूपया हो गया था। इस ऋण में से 511575 करोड़ रूपये का दीर्घकालीन ऋण है तथा 36525 करोड़ रूपये का अल्पकालीन ऋण है। वर्ष 2006–07 के बजट में सरकार को जो राजस्व प्राप्त होगा उसका 21 प्रतिशत भाग ब्याज के भुगतान में किया जायेगा, यह राशि सर्वाधिक है। यदि इसकी तुलना अन्य खर्चों के साथ की जाये तो यह बात सत्य सिद्ध होती है। उदाहरण के लिए यदि सरकार के पास एक रूपये की आय होती है तो उसमें से 17 प्रतिशत करों में राज्यों का हिस्सा, 5 प्रतिशत राज्यों व केन्द्रशासित प्रदशों की गैर–योजनागत मदद, 6 प्रतिशत राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों को योजनागत सहायता, 19 प्रतिशत केन्द्रीय योजना , 12 प्रतिशत अन्य गैर–योजनागत व्यय, 7 प्रतिशत सब्सिडी, 13 प्रतिशत रक्षा तथा सर्वाधिक 21 प्रतिशत ब्याज के भुगतान पर खर्च किया जायेगा। 2008–09 में विदेशी ऋण, 2640755 करोड़ रू0 का था। 2013 जून अन्त तक यह राशि 4320644 करोड़ रूपये हो जाने की सम्भावना है।

2. **डॉलर क्षेत्र से सम्बन्ध :–** स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के स्टर्लिंग क्षेत्र से सम्बन्ध कम हुए और ये सम्बन्ध डॉलर क्षेत्र से अधिक बढ़े। इसका प्रमुख कारण यह थ्ज्ञा कि विकास कार्यक्रमों को पूरा करने हेतु सरकार को डॉलर क्षेत्रों से अधिक माल व सेवाएं प्राप्त करनी पड़ी।

3. **अल्प–बचतों का महत्व :–** आन्तरिक ऋणों में अल्प–बचत योजना का विशेष महत्व है। प्रत्येक योजना में अल्प – बचत की राशि में निरन्तर वृद्धि होती गयी तथा इससे सरकार को लम्बी अवधि के लिए कम ब्याज–दर पर पर्याप्त धनराश्ज्ञि उपलब्ध होती रही।

4. **उत्पादक ऋण :–** भारत में सार्वजनिक ऋणों का उपयोग उत्पादक ऋणों के लिए ही किया गया था। ये ऋण आन्तरिक व बाह्य दोनों प्रकार के थे, परन्तु बाह्य ऋणों की अपेक्षा आन्तरिक ऋणों की मात्रा अधिक थी।

5. **बंधे विदेशी ऋण :–** विदेशी ऋणों ने हमारे देश की अर्थव्यवस्था को अनेक प्रकार के लाभ पहुंचाये हैं। हम विदेशी ऋणों की सहायता से मशीनों से लेकर तकनीकी ज्ञान तक को प्राप्त कर सके। विदेशी ऋणों के प्राप्त होते रहने के कारण ही हम अपने देश के बड़े–बड़े उद्योग–धन्धों, नदी–घाटी योजनाओं व रेल–सेवा जैसे महत्वपूर्ण कार्यों को पूरा कर पाये हैं। इन्हीं ऋणों के कारण आज हम गैर–परम्परागत वस्तुओं के प्रमुख निर्यातक बन चुके है।

6. **विदेशी ऋणों में वृद्धि :–** भारत को विदेशी ऋण लगातार मिलते रहे है और प्रति वर्ष इनकी मात्रा में वृद्धि होती गयी। विदेशी ऋणों की प्राप्ति में मुख्य सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं का है।

1.4 सार्वजनिक ऋण का महत्व (Importance of Public Debt):–

सार्वजनिक ऋणों के बारे में भिन्न–भिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न विचार दिये हैं। जहाँ एडम स्मिथ सार्वजनिक ऋणों को फिजूलखर्ची व युद्ध को बढ़ावा देने वाला मानते हैं वहीं शिराज उत्पादक ऋण को उपयुक्त समझते हैं। उनके अनुसार, **"सरकारों को यह याद रखना चाहिए कि ऋण लेना खुशहाली का मार्ग नहीं है, और जब तक उत्पादक व्यय न हो, सार्वजनिक ऋण नहीं**

लेना चाहिए।'' ह्यूम के अनुसार, **''सरकारी ऋण एक ऐसी क्रिया है जो बिना किसी विवाद के घातक कही जा सकती है।''** जबकि जर्मन अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक ऋणों का समर्थन किया है। अन्त में, हम कह सकते हैं कि सार्वजनिक ऋणों को यदि किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए लिया जा रहा है तो इसके परिणाम बुरे नहीं होंगे तथा ऋण का महत्व भी बढ़ेगा। वर्तमान में सार्वजनिक ऋणों के बढ़ते हुए महत्व को नीचे दिया गया है :

1. **प्राकृतिक प्रकोप–** प्राकृतिक प्रकोपों की क्षतिपूर्ति के लिए ऋणों का लेना आवश्यक होता है क्योंकि करों से प्राप्त होने वाली आय का संग्रह तत्काल नहीं हो सकता है।

2. **सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि–** सरकार अपने देश के प्राकृतिक साधनों का दोहन करने तथा सार्वजनिक क्षेत्र में नये उद्योग–धन्धों की स्थापना करने व यातायात, वाहन के साधनों के विकास के लिए सार्वजनिक ऋणों को महत्व देने लगी है। सरकार द्वारा नये–नये उद्योग–धन्धों की स्थापना करने और पुराने उद्योगों को अपने हाथ में लेने से सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि होने लगी है।

3. **बाह्य आक्रमणों से रक्षा–** प्रत्येक देश अपने को बाहरी आक्रमणों से बचाना चाहता है। आज युद्ध में जितना व्यय होता है उसकी अपेक्षा युद्ध की तैयारी में कहीं अधिक व्यय हो रहा है। प्रत्येक देश को इस बात का डर बना रहता है कि न जाने कब दूसरा देश उसके ऊपर आक्रमण कर दे, इसलिए सुरक्षा व्यय में वृद्धि होने लगी है। इस सम्बन्ध में नये–नये अस्त्र–शस्त्रों की खोजबीन व आविष्कार में बहुत अधिक धन खर्च करना होता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि युद्ध लड़ने वाले राष्ट्र को युद्ध जीतने व युद्ध हारने, दोनों में ही अधिकाधिक व्यय करना होता है। महँगे युद्धों का संचालन करों की अपेक्षा ऋणों से ही सम्भव है।

4. **जनोपयोगी सेवाओं का संचालन–** लोक–कल्याणकारी राज्यों का मुख्य उद्देश्य देश के नागरिकों को अधिक सुविधा प्रदान करना है। यह सुविधा तभी प्राप्त हो सकती है, जब सरकार जनोपयोगी सेवाओं पर बड़े पैमाने पर खर्च करे; जैसे–शिक्षा, स्वास्थ्य, बीमारी, बेरोजगारी, यातायात, पौष्टिक भोजन, आवास आदि। इन सब कार्यों के अतिरिक्त संचार साधनों का विकास, लघु एवं वृहद् सिंचाई योजनाएँ, सीमेण्ट व खाद के कल–कारखानों व जल–कल की योजनाएँ आदि।

5. **राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति–** जनमत को अपनी ओर आकर्षित करने वाली क्रिया राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है। प्रायः आज लोगों में यह धारणा बनी हुई है कि कम से कम कर लगाने वाली सरकार अच्छी होती है क्योंकि करों का भार वर्तमान में व ऋणों का भार भावी पीढ़ी पर पड़ता है। इस स्थिति को सरकार जानती है और वह यह भी जानती है कि व्ययों को कम करके समस्या से बचा नहीं जा सकता है अतः इसकी पूर्ति के लिए ऋणों का लेना आवश्यक होता है।

6. **प्रशासनिक खर्चों की पूर्ति–** सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि का एक कारण प्रशासनिक व्ययों में वृद्धि होना है। प्रजातान्त्रिक शासन–व्यवस्था में पंचायतों से लेकर संसद तक सैकड़ों कार्यालय काम करते हैं। आज प्रशासन को चुस्त बनाने व विकास कार्यक्रमों में तेजी लाने के लिए देश के प्रशासन को छोटी–छोटी इकाइयों में बाँटा जाने लगा है। बड़े–बड़े प्रदेशों को छोटे–छोटे प्रदेशों में व बड़े–बड़े जिलों को छोटे–छोटे जिलों में बाँट देने से दोहरा तथा तिहरा व्यय बढ़ रहा है और यह प्रशासनिक व्यय प्रतिदिन, प्रति सप्ताह व प्रति मास होता ही रहता है। इस सब की पूर्ति के लिए ऋण लिये जाते हैं।

7. **आर्थिक स्थिरता स्थापित करने के लिए–** पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुख्य समस्या अर्थव्यवस्था में स्थिरता लाने की है। अनियन्त्रित अर्थव्यवस्था के कारण व्यापार–चक्रों का उदय होता है। कभी मुद्रा–प्रसार तो कभी मुद्रा–संकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इससे बेरोजगारी तथा मूल्य–वृद्धि की पुनरावृत्ति होती रहती है। इसलिए आर्थिक अस्थिरता को रोकना आवश्यक है। मुद्रा–प्रसार के समय सरकार लोगों के हाथों से अतिरिक्त क्रय–शक्ति को छीनने के लिए कर लगाती है। इसके अतिरिक्त सरकार ब्याज–दर में वृद्धि करके भी अतिरिक्त मुद्रा के ऋण के रूप में अपने पास ले लेती है। मन्दी के समय लोगों की क्रय–शक्ति बढ़ाने के लिए सार्वजनिक विनियोग का महत्व बढ़ जाता है। इसलिए

ऋणों की सहायता से ऐसे विकास कार्यक्रमों पर व्यय किया जाता है जिनसे उत्पादन की मात्रा दीर्घकाल में प्राप्त हो। इस प्रकार मुद्रा–प्रसार व मुद्रा–संकुलन दोनों ही दशाओं में सार्वजनिक ऋणों का महत्व बढ़ जाता है।

8. **समाजवाद व विश्व–मैत्री–** समाजवाद व विश्व–मैत्री के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण सार्वजनिक ऋणों का महत्व बढ़ने लगा है। समाजवादी समाज की स्थापना में सरकार को नये व पुराने सभी कार्यक्रमों को अपने हाथ में लेना होता है। सार्वजनिक क्षेत्र में वृद्धि तथा विस्तार होता है, जिसमें बड़े पैमाने पर सरकार को स्वयं व्यय करना होता है। इस व्यय की पूर्ति के लिए आन्तरिक व बाह्य ऋणों की आवश्यकता पड़ सकती है।

1.5 सार्वजनिक ऋण और व्यक्तिगत ऋण में अन्तर (Distinction between Public and Private Debt)

सार्वजनिक ऋण एवं व्यक्तिगत ऋणों में कतिपय मौलिक अन्तर हैं उन्हें नीचे दिया जा रहा है :

1. **साख सम्बन्धी अन्तर–** व्यक्ति की अपेक्षा सरकार की साख अच्छी होती है, क्योंकि व्यक्ति मरता है, जबकि राज्य मरता नहीं है। व्यक्ति दिवालिया हो सकता है, जबकि राज्य नहीं। व्यक्ति के साधनों की अपेक्षा सरकार के साधन अधिक होते हैं। व्यक्ति जब ऋण लेना चाहता है तो उसे ऊँची ब्याज दर पर भी आसानी से ऋण नहीं मिलता है, जबकि सरकार कम ब्याज–दर पर भी ऋण प्राप्त कर लेती है। साख में अन्तर के कारण सरकार के ऋण का क्षेत्र व्यापक होता है, जबकि व्यक्ति का सीमित।

2. **ऋण–भार में अन्तर–** सार्वजनिक ऋणों का भार ऋणदाताओं पर भी पड़ता है, जबकि व्यक्तिगत ऋणों का भार ऋणी के ही ऊपर पड़ता है। होता यह है कि जब सरकार व्यक्तियों से ऋण प्राप्त करती है तब वह एक हाथ से ऋण लेती है और दूसरे हाथ से ऋण व ब्याज के भुगतान के लिए कर लगाती है। सरकार ब्याज की रकम ऋणदाता से ही वसूल करती है जिसका आभास ऋणदाता को नहीं होता है। परन्तु व्यक्तिगत ऋणों के भुगतान का दायित्व ऋणी के ऊपर है। वह अपने भार को दूसरे के ऊपर नहीं टाल सकता है, ऋण की राशि का पूरा भुगतान उसे ही करना पड़ता है।

3. **ऋण भुगतान की प्रकृति में अन्तर–** व्यक्ति प्रभुता सम्पन्न नहीं होता है, जबकि राज्य प्रभुता सम्पन्न है। राज्य एक सर्वोच्च संस्था है जिसके द्वारा बनाये गये नियमों व कानूनों का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना होता है, जबकि व्यक्ति के लिए ये बातें लागू नहीं होती हैं। व्यक्ति ऋण प्राप्त करने के लिए किसी को बाध्य नहीं कर सकता है, जबकि सरकार व्यक्ति को ऋण की अदायगी करने व ऋण देने के लिए बाध्य कर सकती है।

4. **गोपनीयता–** व्यक्तिगत ऋण हमेशा गोपनीय होते हैं, जबकि सार्वजनिक ऋण गोपनीय नहीं होते हैं। व्यक्ति अपनी साख व प्रतिष्ठा को बचाने के लिए ऋणों की गोपनीयता रखता है। उस पर अधिकाधिक ऋण–भार पड़ने पर भी वह अपनी स्थिति को छिपाये रखता है, जबकि सरकार समय–समय पर लिये गये ऋणों के आँकड़ों को प्रकाशित करती है, ताकि देश के नागरिकों के सामने स्थिति स्पष्ट हो सके। चूँकि ऋणों का भार तो व्यक्तियों को ही सहना पड़ता है इसलिए सरकार ऋणों को गुप्त नहीं रख सकती है।

5. **ऋण का उद्देश्य–** व्यक्तिगत ऋण पारिवारिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु और सार्वजनिक ऋण सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, ऋण देने वाला व्यक्ति ऋण देने से पूर्व सरकारी ऋणों के उद्देश्यों की जाँच नहीं करता है। परन्तु व्यक्ति के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती है। जब वह ऋण लेता है, तो ऋणदाता ऋण देने से पूर्व उसके उद्देश्यों की जानकारी कर लेना चाहता है।

6. **ऋण का क्षेत्र–** व्यक्ति के ऋण का क्षेत्र सीमित होता है, जबकि सार्वजनिक ऋणों का क्षेत्र व्यापक होता है। व्यक्ति स्वयं से ऋण नहीं ले सकता है, जबकि सरकार स्वयं से व विदेशों से ऋण ले सकती है। व्यक्तिगत ऋण विदेशों से प्राप्त नहीं हो सकता है।

7. **ऋण की राशि, जमानत व अवधि में अन्तर–** व्यक्तिगत ऋण की राशि बहुत कम होती है, जबकि सार्वजनिक ऋणों की राशि अधिक होती है। व्यक्ति को बिना जमानत के ऋण नहीं मिलता है, जबकि सरकार को बिना जमानत के ही ऋण मिल जाता है। व्यक्तिगत ऋण अल्पकालीन होते हैं, जबकि सार्वजनिक ऋण दीर्घकालीन होते हैं। व्यक्ति द्वारा लिये गये ऋणों का भुगतान व्यक्ति अपने ही जीवनकाल में कर देना चाहता है। इसलिए व्यक्तिगत ऋणों की अवधि अल्प होती है, जबकि राज्य के द्वारा लिये गये ऋणों की अवधि लम्बी होती है।

8. **व्यय की प्रकृति–** व्यक्ति के व्यय की प्रकृति लोचपूर्ण होती है। वह अपने व्ययों में कमी कर सकता है, इसलिए व्यक्ति के लिए ऋण लेना अनिवार्य नहीं होता है, जबकि सरकारी व्यय बेलोच होते हैं। उन्हें कम करना असम्भव है। इसीलिए आवश्यक व्ययों के लिए ऋणों का लेना अनिवार्य है। इस प्रकार व्यक्तिगत व्यय की अपेक्षा सार्वजनिक व्यय अनिवार्य होते हैं; फलतः सार्वजनिक ऋण भी अनिवार्य होते हैं।

1.6 सार्वजनिक ऋण तथा कर में अन्तर (Difference between Public Debt and Taxation)

सार्वजनिक ऋण व कर में निम्नलिखित अन्तर हैं :

1. **दायित्व में अन्तर–** करारोपण करने का दायित्व सरकार का है, परन्तु करों के भुगतान का दायित्व करदाताओं का होता है। सार्वजनिक ऋणों व उन पर दिये जाने वाले ब्याज के भुगतान का पूरा दायित्व सरकार के ऊपर होता है। इसलिए ऋणों की अपेक्षा करारोपण अधिक उपयुक्त है।

2. **क्षेत्र सम्बन्धी अन्तर–** करों का क्षेत्र सीमित होता है जबकि सार्वजनिक ऋणों का क्षेत्र व्यापक है। कर देश की सीमा के भीतर ही लगाये जाते हैं, जबकि ऋण विदेशों से भी प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि विदेशी ऋणों का प्रभाव ऋणी राष्ट्र के ऊपर अच्छा नहीं पड़ता है। ऋण देने वाला राष्ट्र समय–समय पर ऋणी राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर हस्तक्षेप कर सकता है।

3. **भार एवं लाभ–** करारोपण का भार वर्तमान पीढ़ी को सहना पड़ता है और इसका लाभ भावी पीढ़ी को मिलता है, जबकि सार्वजनिक ऋणों का लाभ वर्तमान पीढ़ी को मिलता है, और इसका भार भावी पीढ़ी को भोगना पड़ता है।

4. **स्वभाव–** करों का स्वभाव नियमित होता है। सरकार नियमित रूप से करों को लगाती और वसूली करती है। इस प्रकार, सरकार छोटे–मोटे कार्यों का सम्पादन तो करों द्वारा ही कर लेती है, परन्तु सार्वजनिक ऋण तो असाधारण परिस्थितियों में ही लिये जाते हैं और ऋणों की राशि में आवश्यकतानुसार घट–बढ़ की जा सकती है। सार्वजनिक ऋणों का महत्व संकट के समय विशेष रूप से बढ़ जाता है।

5. **मितव्ययिता–** सरकार करारोपण से प्राप्त आय को मितव्ययता से व्यय करती है, परन्तु जब ऋण प्राप्त किये जाते हैं तब सार्वजनिक व्ययों में मितव्ययता नहीं बरती जाती है, क्योंकि ऋण आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। परन्तु करारोपण में करदाताओं को त्याग करना पड़ता है इसलिए करदाताओं के त्याग को ध्यान में रखते हुए ही मितव्ययता से व्यय किया जाता है।

1.7 सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण (Classification of public Debt) :-

समय के आधार पर वर्गीकरण – निश्चितकालीन व अनिश्चितकालीन ऋण :–

समय की अवधि के आधार पर सार्वजनिक ऋणों को निश्चितकालीन तथा अनिश्चितकालीन ऋणों में विभाजित किया जाता है। पहले प्रकार के ऋणों को दीर्घकालीन ऋण और दूसरे प्रकार के ऋण को अल्पकालीन ऋण कहा जाता है। इस प्रकार के वर्गीकरण के बारे में विद्वानों में मतभेद है। डाल्टन के अनुसार, ''अनिश्चितकालीन ऋण का जब निश्चितकालीन ऋणों से भेद किया जाता है, तथा इसका अभिप्राय उस ऋण से होता है जिसका मूलधन लौटाना अवश्यक नहीं होता है, परन्तु

जिसके ब्याज का भुगतान करने की गारण्टी दी जाती है। इसी प्रकार, निश्चितकालीन ऋण वे हैं जिनका भुगतान प्राप्ति के एक साल के भीतर करना होता है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि ऋणों के भुगतान की अवधि के आधार पर ऋणों को अल्पकालीन व दीर्घकालीन दो श्रेणियों में बांटा गया है। दीर्घकालीन ऋण वे हैं जिनके भुगतान की अवधि 10 से 15 वर्ष के बीच की होती है और अल्पकालीन ऋण वे होते हैं जिनका भुगतान दो चार वर्षों के भीतर करना होता है। अल्पकालीन ऋणों को अनेक नामों से पुकारा जा सकता है, जैसे अकोषित ऋण , अस्थायी ऋण, चल ऋण, शोधन ऋण, । दीर्घकालीन ऋणों को कोषित ऋण , स्थायी ऋण , अशोध्य ऋण आदि।

अल्पकालीन ऋणों का विशेष महत्व नहीं है। इन ऋणों को छोटे–छोटे व्ययों की पूर्ति के लिए लिया जाता है और इनका भुगतान तुरन्त करना होता है, इसलिए इनके भुगतान के लिए सरकार को किसी विशेष प्रकार के कोष की स्थापना नहीं करनी होती है। इसलिए अल्पकालीन ऋण को अकोषित ऋण भी कहा जाता है। इन ऋणों के ब्याज का भुगतान सामान्य आय अथवा नया ऋण लेकर कर दिया जाता है, इसलिए इन ऋणों को चल ऋण भी कहा जाता है। दीर्घकालीन ऋणों के भुगतान की अवधि लम्बी होती है, और इनकी राशि भी अधिक होती है। सरकार इन ऋणों के भुगतान के लिए एक कोष बनाती है जिसमें प्रति वर्ष धन की मात्रा रखी जाती है, ताकि आवश्यकता के समय ऋणों की अदायगी की जा सके। इसलिए दीर्घकालीन ऋण को कोषित ऋण कहा जाता है।

क. अल्पकालीन ऋणों के गुण :– अल्पकालीन ऋणों के मुख्य गुण निम्नलिखित हैः

1. अल्पकालीन निवेश के लिए इन ऋणों का विशेष महत्व है, क्योंकि थोड़ी धन राशि होने के कारण इन ऋणों को आसानी से जुटाया जा सकता है।
2. बैंको के लिए निवेश करने के दृष्टि से इन ऋणों का महत्व अधिक है।
3. अल्पकालीन ऋणों को सुविधानुसार दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तित किया जा सकता है।

ख. अल्पकालीन ऋणों के दोष :– अल्पकालीन ऋणों के दोष निम्न हैः

1. **फिजूलखर्ची :–**अल्पकालीन ऋणों से अपव्यय बढ़ता है। चूंकि सरकार को अल्पकालीन ऋण आसानी से मिल जाता है, इसलिए सरकार व्यय करते समय किसी प्रकार का सोच–विचार नहीं करती है।
2. **बड़ी योजनाओं के लिए अनुपयोगी :–** अल्पकालीन ऋणों की राशि बहुत थोड़ी होती है। इनका उपयोग बड़ी योजनाओं के लिए नहीं किया जाता है।
3. **समय पर भुगतान न होना :–** अल्पकालीन ऋणों के भुगतान के लिए सरकार किसी विशेष कोष की स्थापना नहीं करती है इसलिए कभी–कभी इन ऋणों का भुगतान समय पर नहीं हो पाता है। नये ऋणों को लेकर इन ऋणों का भुगतान करना होता है। कभी–कभी नयें ऋणों के न मिलने पर ऋणों का भुगतान नहीं हो पाता है, इसलिए अल्पकालीन ऋण स्थायी ऋण बन जाते है।

ग. दीर्घकालीन ऋणों के गुण :– दीर्घकालीन ऋणों के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैः

1. **तुरन्त भुगतान की समस्या नहीं :–** दीर्घकालीन ऋणों के तुरन्त भुगतान की समस्या नहीं होती है। समयावधि इतनी लम्बी होती है कि संकट के टलने के बाद इन ऋणों का भुगतान किया जा सकता है।
2. **वर्तमान पीढ़ी पर भार नहीं :–** दीर्घकालीन ऋणों का भार वर्तमान पीढ़ी के ऊपर नहीं पड़ता है, क्योंकि वर्तमान पीढ़ी संकट के भार से दबी रहती है। उसके संकट को टालने के लिए ही दीर्घकालीन ऋण लिया जाता है।
3. **भुगतान का सुविधाजनक होना :–** दीर्घकालीन ऋणों का भुगतान सुविधाजनक होता है, क्योंकि सरकार ऋण लेते समय ही एक कोष का गठन कर लेती है। इस कोष में प्रति वर्ष के भुगतान हेतु एक निश्चित राशि रख दी जाती है और प्रति वर्ष इस

कोष में वृद्धि होती है। ऋण भुगतान की अवधि आते ही ऋणों का भुगतान आसानी से कर दिया जाता है।

4. **आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त :–** आर्थिक विकास और प्राकृतिक साधनों के दोहन के लिए दीर्घकालीन ऋणों का महत्वपूर्ण स्थान, है, क्योंकि इन ऋणों के तुरन्त भुगतान की समस्या नहीं होती है तथा आर्थिक विकास के लिए बड़ी राशि में धन भी प्राप्त हो जाता है।

घ. दीर्घकालीन ऋणों के दोष :– दीर्घकालीन ऋणों के दोष निम्नलिखित हैः

1. **दुरूपयोग की सम्भावना :–** दीर्घकालीन ऋणों की राशि बहुत अधिक होती है, इसलिए इन ऋणों का दुरूपयोग हो सकता है।
2. **विदेशी हस्तक्षेप :–** दीर्घकालीन ऋणों की राशि बहुत बड़ी होती है। ये ऋण विदेशों से भी प्राप्त होते है, जिससे विदेशी हस्तक्षेप बढ़ता है। अतः राजनीतिक दृष्टिकोण से दीर्घकालीन ऋण उपयुक्त नहीं है।
3. **निजी विनियोग में ह्रास :–** दीर्घकालीन ऋणों के कारण निजी विनियोग हतोत्साहित होता है। प्रायः सरकार विनियोगकर्ताओं से भी ऋण प्राप्त करती है। एक लम्बे समय तक सरकार से ऋण की अदायगी न होने से विनियोगकर्ताओं की पूंजी सरकार के पास फंसी रहती है, जिसके कारण विनियोग में कमी आती है।
4. **लागतों में वृद्धि :–** दीर्घकालीन ऋणों की ब्याज दर ऊँची होने के कारण लागतों में वृद्धि होती है।

1.8 लोक ऋण के स्त्रोत (Sources of Public Debt):-

(अ) आंतरिक ऋण के स्त्रोत :–

1. **व्यक्तियों द्वारा :–** राज्य बाण्डों (बन्ध पत्रों) व प्रतिभूतियों के माध्यम से व्यक्तियों से ऋण प्राप्त करता है। इसके फलस्वरूप साधन निजी उपभोग से हटकर सार्वजनिक उपभोग में चले जाते है। जब व्यक्ति राज्य को ऋण प्रदान करते हैं तो सामान्तया इसका प्रभाव उनकी आय के उस भाग पर पड़ता है जिसे वे बचाते हैं। राज्य जब लोक ऋण के माध्य से लोगों की बचत को एकत्रित कर निवेश करता है तो इससे व्यक्तियों व समाज दोनों को लाभ होता है। व्यक्तियों को ब्याज प्राप्त हो जाता है तथा अर्थव्यवस्था की उत्पादकता बढ़ती है। विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में सामान्तया निम्न स्तर पर बचत करने वाले लोगों की बचतें निष्क्रिय पड़ी रहती हैं। उन्हें एकत्र कर निवेश करने का समुचित प्रयास नहीं किया जाता है। इस हेतु राज्य साधन संग्रह में सफलता हेतु कई छोटी बचत योजनायें लागू करता है।
2. **गैर– बैकिंग वित्तीय संस्थाएं :–** गैर–बैकिंग वित्तीय संस्थायें जैसे–बीमा कम्पनियाँ, यू0टी0आई0 , डाकघर आदि भी राज्य के लिए ऋण प्राप्त करने के स्त्रोत है। यद्यपि इन संस्थाओं द्वारा निजी क्षेत्र में भी निवेश किया जा सकता है किन्तु उनकी कम विश्वसनीयता के कारण संस्थाएं सरकारी बाण्ड तथा प्रतिभूतियाँ क्रय करना अधिक सुरक्षित समझती है। इन संस्थाओं को सरकारी बाण्ड व प्रभूतियों पर यद्यपि ब्याज अपेक्षाकृत कम प्राप्त होता है फिर भी जोखिम से बचने के लिए संस्थाएं सरकार को ही ऋण देना पसंद करती हैं। यहीं नहीं इन कम्पनियों की सरकारी प्रतिभूतियाँ की अधिक क्रय मात्रा लोगों में इनकी विश्वसनीयता बढ़ाती है।
3. **व्यापारिक बैंक :–** व्यापारिक बैंकों द्वारा भी सरकार को ऋण उपलब्ध हो सकता है। ऋण प्रदान करने के लिए व्यापारिक बैंक साख–निर्माण का कार्य करते हैं तथा अपने नकद–कोष के आधार पर राज्य से प्रतिभूतियाँ आदि क्रय करते रहते हैं। जब तक बैंकिंग व्यवस्था से नकद धनराशि नहीं निकाली जाती, बैंकों के खातों में घटा–बढ़ी मात्र होती रहती है क्योंकि चेकों के माध्यम से भुगतान होता रहता है। यदि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की दशा विद्यमान है तो अतिरिक्त मुद्रा निर्माण से स्फीति की दशा उत्पन्न होने का भय बना रहता हैं
4. **केन्द्रीय बैंक :–** केन्द्रीय बैंक सरकारी ऋण प्राप्ति का सबसे प्रमुख स्त्रोत है। सरकारी प्रतिभूति के आधार पर केन्द्रीय बैंक सरकार को ऋण प्रदान करता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंक के रूप में कार्य करते हैं। अतः सरकार के खाते में ऋण के रूप में दी गयी

राशि जमा कर दी जाती है। केन्द्रीय बैंक से लिए गए ऋण का अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारी प्रभाव पड़ता है जिस पर प्रभावकारी नियंत्रण रखना आवश्यक होता है।

इस तरह , ऋण के उपरोक्त स्त्रोतों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है– बाजार ऋण तथा गैर–बाजार ऋण। बाजार ऋण के अन्तर्गत उन ऋणों को रखा जाता है जो जनता से विनिमय के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों अथवा बिलों को बेचकर प्राप्त किया जाता है। इन्हें मुद्रा तथा पूंजी बाजार में बेचा जाता है तथा इनकी बाजार कीमत का उल्लेख किया जाता है जबकि वे ऋण जिन्हें गैर–विनिमय साध्य स्त्रोतों से प्राप्त किया जाता है जिन्हें बाजार में खरीदा अथवा बेचा नहीं जा सकता उसको गैर–बाजार ऋण कहा जाता है। ऐसे ऋण के उदाहरण हैं–राष्ट्रीय बचत प्रमाण पत्र तथा डाकघर के बचत खाते में जमा राशि।

तैरता अथवा अस्थायी ऋण वह होता है जिसका भुगतान ऋण जारी होने के 12 महीने के अंदर ही किया जाता है। सामान्यतः अनिधिक ऋण को तैरता ऋण कहा जाता है। स्थायी अथवा निधिक ऋण वे होते है जिनका भुगतान ऋण जारी करने की तिथि से 12 महीने बाद होता है। इस तरह के ऋण दो प्रकार के हो सकते हैं निश्चित अवधि के लिए या अनिश्चित अवधि के लिए पहले को समाप्य निधिक ऋण तथा दूसरे को असमाप्य निधिक ऋण कहा जाता है।

मुद्रा तथा पूंजी बाजार एवं आर्थिक दशाओं में भिन्नता के फलस्वरूप विभिन्न विकासशील देशों में ऋण प्राप्त करने की भिन्न–भिन्न तकनीकों का प्रयोग किया जाता है। सामान्यतया वित्तीय संस्थाओं तथा आम जनता से ऋण प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। कभी–कभी सरकारें कुछ विशेष परिस्थतियों में अनिवार्य ऋण ले सकती हैं अथवा अनिवार्य बचत योजना लागू कर सकती है।

(ब) **बाह्य ऋण के स्त्रोत :–** आधुनिक आर्थिक विकास के प्रकृति व तीव्र गति से आर्थिक विकास की आवश्यकता तथा आंतरिक साधनों की सीमितता के कारण बाह्य ऋण विकासशील देशों के लिए अनिवार्यता है। इनके बिना ये देश अपना वांछित विकास नहीं कर सकते। यही कारण है कि विकासशील अर्थव्यवस्थाएं उपलब्ध आंतरिक स्त्रोतों के साथ–साथ भारी मात्रा में अंतर्राष्ट्रीय स्त्रोतों से भी ऋण प्राप्त करने का प्रयास करती हैं।

विकासशील देशों की सरकारें अपने विकास कार्यक्रमों हेतु विकसित देशों की सरकारों से ऋण प्राप्त करती हैं, साथ ही अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएं भी इन देशों को ऋण उपलब्ध कराती है। ये संस्थाएं है– अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्वबैंक, अंतर्राष्ट्रीय विकास संघ आदि। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष क्षेत्रों के विकास हेतु भी संस्थाओं जैसे–एशियन विकास बैंक आदि से भी ऋण प्राप्त किया जा सकता है।

1.9 सारांश (Summary)

सार्वजनिक ऋण का उचित या अनुचित होना उन असंख्य परिस्थितियों और उद्देश्यो पर निर्भर करता है जिस प्रसंग में यह ऋण लिया गया है, चाहे वह आन्तरिक ऋण हो अथवा बाह्य। सार्वजनिक ऋणों से देश की पूँजी अधिक उत्पादक हो जाती है और इससे देश के उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है, उत्पादन बढ़ता है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, देश के नागरिकों का जीवन स्तर ऊँचा होता है। इसके विपरीत सार्वजनिक ऋण के दुष्परिणाम भी है, जैसे देश के साधनों का शोषण, अपव्यय की प्रवृत्ति, स्वतंत्रता के खोने का भय, आर्थिक कमजोरियों को छुपाने में सफल । विकासशील देशों की समस्याएं विकसित देशों की समस्याओं से भिन्न होती है। विकासशील देशों में आर्थिक विकास को तीव्र करना होता है। साथ ही सरकार को करारोपण, अनिवार्य ऋण एवं मुद्रा–प्रसार का सहारा लेना पड़ता है।

1.10 शब्दावली (Keyword)

1. सार्वजनिक ऋण /लोक ऋण (Public Debt)
2. भारत का लोक खाता (Public Account of India)
3. देनदारियाँ (Liabilities)
4. घरेलू / आन्तरिक ऋण (Internal debt)
5- बाह्य / विदेशी ऋण (External / Foreign Debt)

6. अल्पकालीन ऋण (Shorterm debt)
7. दीर्घकालीन ऋण (Long Term debt)
8. निधिकृत (Funded)
9. उपभोग ऋण (Consumption loans)
10. उत्पादक ऋण (Productive Loans)

1.11 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books):-

1. लोकवित्त, एच0 एल0 भाटिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा लि0 नोयडा, उ0प्र0 वर्ष–2019
2. राजस्व, डॉ0 जे0 सी0 वार्ष्णेय एवं डॉ0 प्रेममोहन श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0 आगरा , वर्ष 2002–03
3. लोक अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण अग्रवल आगरा वर्ष – 2014
4. अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त एवं डॉ0 एस0सी0 जैन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा वर्ष – 2002
5. भारतीय अर्थव्यवस्था, रमेश सिंह, मैक ग्रा हिल (प्रा0) लि0 चेन्नई वर्ष 2021

6-Allen and Borwing : Economic of Public Finance.

7-Taylor , P.F : The Economicd pg Public Finance

8-Dalton , H : Public Finance

1.12 अभ्यास प्रश्न (Practice Question):-

1. सार्वजनिक ऋण से आप क्या समझते है?
2. सार्वजनिक ऋण एवं निजी ऋण में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
3. सार्वजनिक ऋण के वर्गीकरण की विवेचना कीजिए।
4. सार्वजनिक ऋण का अर्थ एवं प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
5. सार्वजनिक ऋण के स्त्रोतों की विवेचना कीजिए।
6. सार्वजनिक ऋण के महत्व की व्याख्या कीजिए।
7. सार्वजनिक ऋण और कर में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
8. सार्वजनिक ऋण की विशेषताएं का उल्लेख कीजिए।

1.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective questions Answer)

1. व्यक्तिगत ऋण व सार्वजनिक ऋण में अन्तर को बताने वाली बात कौन सी है?

   क. दायित्व का अन्तर ख. भार एवं लाभ

   ग. क्षेत्र संबंधी अन्तर घ. साख संबंधी अन्तर

   (उत्तर क)

2. व्यक्तिगत ऋण लिया जाता है–

   क. सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ख. व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति हेतु

   ग. क्षेत्र संबंधी अन्तर घ. साख संबंधी अन्तर

   (उत्तर ख)

3. सार्वजनिक ऋण होते हैं–

   क. ऐच्छिक ख. अनिवार्य

   ग. उपर्युक्त दोनों घ. इनमें से कोई नहीं

   (उत्तर क)

4. 'सार्वजनिक ऋण से फिजूलखर्ची , बेकार के युद्ध और बुरी आर्थिक दशा उत्पन्न होती है।'' यह कथन किसका है?

क. डाल्टन　　ख. पीगू

ग. फिशर　　घ. एडम स्मिथ

(उत्तर घ)

5. सार्वजनिक ऋण के उद्देश्य हैं:

क. आय प्राप्त करना

ख. आर्थिक मंदी से बचने के लिए

ग. मुद्रा प्रसार को नियंत्रित करने के लिए

घ. उपर्युक्त सभी

(उत्तर घ)

6. सार्वजनिक ऋणों का प्रारम्भ सन् 1344 में कहां से हुआ था?

क. जेनेवा　　ख. इटली　　ग. फ्लोरेन्स　　घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर ग)

सार्वजनिक ऋण के प्रभाव, सार्वजनिक ऋण की भुगतान की विधियां एवं आर्थिक विकास

Effects of Public Debt, Methods of Redemption & Economic Development

इकाई की रूपरेखा :–

1.0 परिचय

1.1 उद्देश्य

1.2 सार्वजनिक ऋण के प्रभाव

1.3 बाह्य ऋण के प्रभाव

1.4 आन्तरिक ऋण के प्रभाव

1.5 विनियोग पर प्रभाव

1.6 सार्वजनिक ऋण के अन्य प्रभाव

1.7 सार्वजनिक ऋण की भुगतान की विधियां

1.8 सार्वजनिक ऋणों का शोधन

1.9 सार्वजनिक ऋण तथा आर्थिक विकास

1.10 सारांश

1.11 शब्दावली

1.12 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची

1.13 अभ्यास प्रश्न

1.14 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

हमारे देश के लिए बाह्य ऋणों के औचित्य को पिछली इकाई में सिद्ध कर दिया गया है। ऋणों की सहायता से हम विकास कर पाए। प्रथम पंचवर्षीय योजना के बाद हमारा संचित मुद्रा–कोष समाप्त हो गया था, जबकि योजनाओं को यहीं पर समाप्त नहीं करना था। प्रथम योजना के अधूरे कामों को पूरा करना था तथा नई योजना को शुरूआत करनी थी। ऐसी दशा में योजनाओं की सफलता के लिए विदेशी ऋणों की आवश्यकता थी। भारत ने ऋण लेते समय ऋणदाता राष्ट्र का दबाव स्वीकार नहीं किया है। हम अपनी अर्थव्यवस्था को और अधिक उत्पादक बनाये। अपने देश में उन वस्तुओं के व्यापार को बढ़ावा दें जिन्हें हम लगातार विदेशों से आयात करते आ रहे है या जिन वस्तुओं की मांग विश्व बाजार में पर्याप्त है। ऐसा करने से हमारे आयात हतोत्साहित होंगे और निर्यात प्रोत्साहित। देश से विदेशों को होने वाली पूँजी की उड़ान को रोका जा सकेगा और निर्यातवर्द्धन से विदेशी पूँजी स्वदेश में आती रहेगी। इस प्रकार विदेशी ऋणों का भार कम होता जायेगा। आर्थिक आत्मनिर्भरता के बिना विदेशी ऋणों से छुटकारा नहीं मिल सकता है। भारत के संबंध में कहना है कि वह अपने गैर विकास व्यय में कमी करें और आन्तरिक साधनों का उपयोग मितव्ययियता पूर्वक करें। व्यक्तिओं के उपयोग पर धीरे–धीरे नियंत्रण लगाया जाए तथा बेकार पड़े हुए साधनों का उचित तरीके से उपयोग किया जाए। यह भी सत्य है कि विदेशी से प्राप्त ऋणों का अनुचित उपयोग किया गया है। विशाल मात्रा में विदेश ऋणों के लेन के बाद भी जनसाधारण का कोई विशेष हित नहीं हो सका है। प्रश्न उठता है कि अतिरिक्त विदेशी सहायता तथा घरेलू साधनों के होते हुए विनियोग का स्तर इतना निम्न क्यों हो गया है ? किसी देश का काम बिना

ऋण के नहीं चल सकता है और केवल ऋणों के सहारे अपनी अर्थव्यवस्था के पाला भी नहीं जा सकता है।

1.1 उद्देश्य (Objects) :-

1. आर्थिक विकास
2. जनकल्याण में वृद्धि
3. उत्पादकता में वृद्धि
4. निर्यात को प्रोत्साहित करना
5. आयात को हतोत्साहित करना

1.2 सार्वजनिक ऋण के प्रभाव (Effect of Public Debt) :- लोक ऋण द्वारा दो तरह से प्रभाव पड़ते है जो अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते है। जब व्यक्ति सरकार को उधार देते हैं, ने अपने बजट में परिवर्तन करते हैं, करों का भुगतान सामान्यतः चालू उपभोग में कटौती करके किया जाता है। उधार की स्थिति में ऐसा नहीं भी हो सकता है। चूंकि ऋण ऐच्छिक होता है , अतः लोग अपने अतीत या वर्तमान बचत का उपयोग करके सरकारी बॉण्ड खरीद सकते हैं। इससे उनके बजट में परिवर्तन होगा।

दूसरा प्रभाव दूरवर्ती है। इसका सम्बन्ध उन लाभों से है जो लोगों से उधार ली गयी राशि के व्यय से प्राप्त होते है। यदि उधार की रकम का उपयोग सरकार उन्हीं कायों में करे जिन पर इसका उपयोग ऋण देने वाले उधार की अनुपस्थिति में करते तो दोनों से एक ही तरह के लाभ मिलेंगे, लेकिन वस्तुतः ऐसा नहीं होता। सरकार भिन्न कार्यों पर खर्च करती है। साथ ही, यह भी याद रखना होगा कि कर राजस्व का उपयोग जिन कार्यों के लिए होता है उनसे भिन्न उधार ली गयी रकम का उपयोग हो सकता है। उदाहरणाार्थ, कर राजस्व का उपयोग सरकार कर्मचारियों के वेतन पर कर सकती है जबकि ऋण से प्राप्त राशि का सड़कों एवं नहरों के निर्माण, इस्पात कारखाने, आदि पर। दोनों प्रकार के व्ययों के पृथक प्रभाव पड़ते है।

लोक ऋण के प्रभाव कई बातों पर निर्भर करते हैं, जैसे, ऋण के स्त्रोत, ऋण के उद्देश्य, ऋण की शर्तें, ऋण की मात्रा, अर्थव्यवस्था की सामान्य स्थिति, आदि। व्यक्ति तथा संस्थाओं से प्राप्त ऋण के तब तक प्रसारवादी प्रभाव नहीं पड़ेंगे जब तक बेकार पड़ी बचत सक्रिय न बनायी जाए। केन्द्रीय तथा वाणिज्य बैंको ं से प्राप्त ऋण विस्तारवादी होते हैं क्योंकि साख सृजन के कारण उनसे अतिरिक्त क्रयशक्ति की सृष्टि होती है। यदि ऋण का उपयोग अनुत्पादक कार्यों के लिए किया जाए तो इससे सामाजिक कल्याण में वृद्धि नहीं होगी क्योंकि राष्ट्रीय आय में ऐसे व्यय के कारण वृद्धि नहीं होती। कम ब्याज पर प्राप्त दीर्घकालीन ऋण के समाज के लिए अधिक लाभदायक है। इनका अब विस्तार से अध्ययन किया जाए।

1.3 बाह्य ऋण के प्रभाव (Effects of External Loans):- बाह्य ऋण के कारण अर्थव्यवस्था पर कई तरह से अनुकूल प्रभाव पड़ सकते है :

1. बाह्य ऋण की स्थिति में पूंजी वस्तुओं, उन्नत तकनीक, कच्ची सामग्री, आदि का आयात सम्भव होता है। औद्योगीकरण के लिए ये आयात अनिवार्य है।
2. बाह्य ऋण से यह भी सम्भव है कि उन वस्तुओं का आयात किया जाए, घरेलू बाजार में जिनकी कमी हो जाती है। इससे मांग एवं पूर्ति के मध्य सन्तुलन बनाए रखना सम्भव होगा तथा मुद्रा स्फीति से बचा सकेगा।
3. बाह्य ऋण के उपलब्ध होने से दुर्लभ विदेशी विनिमय रिजर्व की बचत हो सकेगी।

   किन्तु यदि विदेशी ऋण का उपयोग उत्पादक कार्यों में नहीं हुआ तो उनका अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा देश के लिए भार बन जाएगा। मूलधन की वापसी तथा ब्याज के भुगतान पर दुर्लभ विदेशी विनिमय को खर्च करना पड़ेगा।

1.4 आन्तरिक ऋण के प्रभाव (Effects of Internal Debt) :-

1. **उपभोग पर प्रभाव :–** सरकार द्वारा बॉण्ड के जारी करने से ब्याज की दर बढ़ जाती है। यदि बचत की ब्याज लोच अधिक हो, तो इससे बचत में वृद्धि होगी तथा उपभोग में कमी। जिस राशि का उपयोग निम्न बयाज दर पर उपभोग के लिए किया जाता है, अब उसी का उपयोग सरकारी बॉण्ड की खरीद पर होता है। जिस सीमा तक ऐसा होता है ऋण का प्रभाव वहीं होता है जो उपभोग करों का होगा। किन्तु, यदि लोग एक खास मात्रा में ही बचत करना चाहें, तो ब्याज दर में वृद्धि के कारण कम बचत करेंगे क्योंकि बचत की कम मात्रा पर ही उन्हें उनके लक्ष्य के अनुसार ब्याज के रूप में आय प्राप्त हो जाएगी।

अब मान लें बचत की लोच कम है अर्थात् बचत वेलोचदार है। क्या बॉण्ड के जारी करने पर वहीं सम्पत्ति प्रभाव पड़ेगा जो मुद्रा जारी करने पर पड़ता है? इसका उत्तर 'हाँ' में दिया जा सकता है, यदि यह मान लिा जाय कि बॉण्ड के धारण से लोगों की सम्पत्ति में उसी तरह वृद्धि होती है जिस तरह अतिरिक्त मुद्रा के कारण होती है। ऐसा उस परिस्थिति में होगा जब बॉण्ड के जारी करने पर लोक ऋण की कुल मात्रा में वृद्धि होती है। किन्तु, ऐसा सम्भव है कि पुराने बॉण्ड के स्थान पर नए बॉण्ड जारी किए जाए तथा लोक ऋण की कुल मात्रा स्थिर रहे। इस स्थिति में ''अतिरिक्त'' बॉण्ड के धारण का कोई अर्थ नहीं होता।

अब हम दो ध्रुवीय स्थितियों को लें। एक छोर पर हम मान लें कि विनियोगकर्ता मुद्रा तथा बॉण्ड को एक स्थिर अनुपात में रखते हैं। इस स्थिति में कुल ऋण में कोई वृद्धि नहीं होगी तथा/बॉण्ड जारी करने का प्रभाव केवल बजट दर पर पड़ेगा। इससे पुराने बॉण्ड के धारकों को पूंजी हानि होगी, जबकि नए बॉण्ड के धरकों को लाभ मिलेगा। सभी प्रकार के बॉण्ड के धारकों को मिलकार देखने पर हम कहेंगे कि कुल सम्पत्ति में कोई वृद्धि नहीं होगी, अतः कोई सम्पत्ति प्रभाव नहीं पड़ेगा।

अब दूसरे छोर को लें। विनियोगकर्ता बॉण्ड तथा मुद्रा को किसी स्थिर अनुपात में नहीं रखते है, बल्कि किसी भी अनुपात में रख सकते है।। इस स्थिति में ब्याज दर में वृद्धि नहीं होती है तथा ऋण की कुल मात्रा बढ़ जाती है। सम्पत्ति प्रभाव पूर्णरूप में क्रियाशील हो जाएगा।

वास्तविक स्थिति इन दोनों के मध्य की है। नए बॉण्ड के जारी करने पर आंशिक रूप में ब्याज में वृद्धि होगी तथा ऋण की कुल मात्रा बढ़ जाएगी। कुल धन प्रभाव का पड़ना अवश्यम्भावी है। इसलिए पीगू प्रभाव के मार्शल उपभोग में कुछ वृद्धि होगी ही।

1.5 विनियोग पर प्रभाव :– अब यह विचार किया जाए कि लोक ऋण का प्रभाव निजी विनियोग पर किस प्रकार पड़ता है। यदि नए बॉण्ड को जारी करने के कारण ब्याज दर में वृद्धि होती है तो विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। ब्याज दर में जितनी अधिक वृद्धि होगी, विनियोग में उतनी ही अधिक कमी की आशा करनी चाहिए। किन्तु, यदि धन प्रभाव के कारण उपभोग में अत्यधिक वृद्धि होती है, तो विनियोग पर प्रतिबन्धक प्रभाव हल्का ही पड़ेगा।

1.6 सार्वजनिक ऋण के अन्य प्रभाव :–

1. चूंकि व्यक्ति उधार स्वेच्छा से देते हैं, अतः इसका प्रभाव कर की तुलना में अधिक विस्तारवादी होता है। यह उम्मीद करनी चाहिए कि व्यक्ति बॉण्ड को खरीदने के लिए उपभोग में कटौती नहीं करेगे बल्कि बचत कम करेंगे। इसलिए बजट के घाटे को ऋण से पूरा करने का अर्थ यह है कि अर्थव्यवस्था में क्रयशक्ति में वृद्धि होती है। अतः प्रभाव प्रसारवादी होगा। साथ ही बॉण्ड को बड़े पैमाने पर मुद्रा में बदलने पर मुद्रा स्फीतिक प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।

2. लोक ऋण के विरोधियों का कहना है बड़े पैमाने के लोक ऋण के कारण आय के वितरण की असमानता बढ़ सकती है क्योकि बॉण्ड के धारक सामान्यतः धनी व्यक्ति होते हैं जबकि ऋण के भुगतान के लिए लगने वाला कर सभी व्यक्तियों–धनी एवं निर्धन–पर लगाया जाता है। इस विचार को कुछ संशोधन के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है। युद्ध अर्थव्यवस्था की स्थिति में उपभोग में कटौती करने की जरूरत है। इसलिए ऐसी परिस्थिति में निम्न आय पाने वालों पर कर लगाकर ऋण को वापस लिया जा सकता है। याद रहें कि युद्धकाल में

अनिवार्य ऋण की तकनीक द्वारा निम्न आय वर्ग से ऋण लिया जा सकता है। ऐसा होने पर लम्बे अरसे में पीड़ियों के मध्य आय का वितरण अधिक समान हो जाएगा।

करदाताओं तथा बॉण्ड धारकों की आय की संरचनाओं के अन्तर सम्बन्ध को भी देखना चाहिए। यदि यें संरचनाएं ऐसी हैं कि उच्च आय पाने वाले लोगों से आय का शुद्ध हस्तान्तरण निम्न आय पाने वालों को होता है तो आय के पुनर्वितरण से असमानता कम हो जाएगी। अल्विन हानसेन का कहना है कि यदि सरकार छोटी बचत करने वालों से उधार लेती है तो लोक ऋण में वृद्धि से सम्पत्ति का वितरण अधिक असमान नहीं होगा। किन्तु, यदि लोक ऋण की मात्रा में तेजी से वृद्धि होती है तो अल्प बचत करने वालों के लिए यह सम्भव नहीं होगा कि वे नयी प्रतिभूतियों एवं बॉण्ड की अधिक मात्रा खरीद सकें। अधिक खरीद धनी लोगों तथा बड़ी कम्पनियों के द्वारा ही की जाएगी। अतः लोक ऋण में तीव्र वृद्धि से असमानता के बढ़ने की आशा करनी चाहिए।

3. पारस्परिक दृष्टिकोण यही है कि लोक ऋण निजी ऋण से भिन्न नहीं है। निजी व्यक्ति की तरह सरकार भी दिवालिया हो सकती है यदि लोक ऋण के परिमाण में अत्यधिक वृद्धि होती है। यह तर्क आधारहीन है। लोक ऋण का आकार कितना भी बड़ा क्यों न हो, नए ऋण लेकर सरकार हमेशा इसका भुगतान कर सकती है। यदि ऐसा सम्भव नहीं हुआ तो सरकार मुद्रा छाप कर ऋण का भुगतान कर सकती है। इसलिए राष्ट्रीय सरकार कभी भी दिवालिया नहीं हो सकती।

4. लोक ऋण का एक और प्रभाव पड़ता है। लोक व्यय के स्तर में उतार चढ़ाव के कारण कर अनुपात में होने वाली कमी वेशी को ऋण के कारण घटाया जा सकता है। लोक व्यय में अनिश्चितता रहती है, लेकिन उसी के अनुसार कर राजस्व में अनिश्चितता नहीं रहनी चाहिए क्योंकि ऐसा होने पर अर्थव्यवस्था को गम्भीर नुकसान हो सकता है। देश की सीमा पर अप्रत्याशित तनाव, भयंकर बाढ़, भयानक सूखा, आदि के कारण लोक व्यय में उतार चढ़ाव होगा और ऐसी परिस्थितियों की पहले से ही जानकारी नहीं हो सकती है। लोक ऋण मे कमी वेशी करके करारोपण को अनिश्चितता से बचाया जा सकता है।

1.7 सार्वजनिक ऋण की भुगतान की विधियां :–

ऋण से मुक्ति पाने का ढंग यह है कि इसे अदा करने से मना कर दिया जाए अर्थात् सरकार इसकी देयता से ही मुकर जाए। परंतु स्पष्ट है कि ऐसी नीति को अपनाना किसी भी विवेकपूर्ण सरकार के लिए श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता है। ऐसा करने से इसकी साख को भी ठेस पहुंचती है। प्रत्येक विवेकपूर्ण सरकार से यही अपेक्षा की जाती है कि वह कठिनतम परिस्थितियों में भी अपनी देनदारियों के वचन को निभाएगी। एक बार भी ऐसा न करने पर सरकार दोबारा बाजार से अपनी साख के भरोसा उधार लेने की आशा नहीं कर सकती सरकार द्वारा अपने वचन का पालन न करने से देश के वित्तीय ढांचे को भी क्षति होती है। कुछ ऋणदाताओं की जीवनभर की पूंजी तथा कुछ संस्थाओं और वित्तीय व्यवसायों आदि की पूंजी का मुख्य भाग सरकारी प्रतिभूतियों में निवेशित हो सकता है। सरकार द्वारा ऋण की अदायगी से इन्कार करने पर इन सबको होने वाली क्षति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

सरकार अपनी ऋण देयताओं को निभाते हुए, सार्वजनिक ऋण से मुक्ति पाने की इच्छुक है तो इसके लिए यह आवश्यक है कि सरकार द्वारा लिया गया नया ऋण पूर्वस्थित ऋण की भुगतान–मात्रा से कम हो तथा इसमें से सर्वोत्तम नीति तो वह है जिसमें नया उधार लेना एकदम बंद कर दिया जाए। स्पष्ट है कि सार्वजनिक ऋण में निवल कटौती के लिए सरकार को बजट अधिशेष की नीति अपनानी पड़ती है। ऐसा करने के पश्चात् सरकार प्रतिवर्ष अपने उधार के एक भाग का तब तक भुगतान करती रहती है जब तक कि उधार से पूरी तरह मुक्त न हो जाए। एक अन्य मार्ग यह भी है कि सरकार अपनी बजटीय बचत को एक 'शोधन निधि' अथवा 'निक्षेप निधि' में रखती जाए तथा इस निधि में से यथाचित समय सारणी से अपने उधार का भुगतान करती रहे।

1.8 सार्वजनिक ऋणों का शोधन (Redemption of Public Debt) :– किसी न किसी रूप में सरकार ऋणों का भुगतान करती ही है। शोध्य ऋण के सम्बन्ध में, सरकार कुछ समय पश्चात ऋण की समस्त राशि का भुगतान कर देती है। जहां तक अशोध्य ऋण का सम्बन्ध है, सरकार मूलराशि को यथावत् नहीं लौटाती। परन्तु इन ऋणों पर ब्याज तो एक निश्चित दर पर बराबर दिया ही जाता है। इस प्रकार ब्याज के भुगतान के द्वारा दीर्घकाल में पूरे ऋण का भुगतान हो

जाता है। अतः शोध्य एवं अशोध्य ऋण में केवल भुगतान के तरीके व समय के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

ऋण के भुगतान करने के अनेक तरीके हैं। ऋण से मुक्ति पाने का सबसे सरल उपाय ऋण का भुगतान न करना है। परन्तु ऐसा उपाय न तो सम्मानजनक है और न स्वीकृत ही। ऐसे उपाय का सहारा लेना सरकार का उस वर्ग के प्रति अन्याय करना है जो सरकार को ऋण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त इससे सरकार की साख भी कम हो जाती है और आगे के लिए ऋण लेने का मार्ग बन्द हो जाता है। विदेशी ऋणों के सम्बन्ध में तो ऋणों का भुगतान न करना खतरे से खाली नहीं है। यह राष्ट्रीय सम्मान को धक्का पहुंचाता है तथा विदेशी पूंजी बाजार में सरकार की साख कम हो जाती है। इसके घातक परिणाम तक हो जाते है कि युद्धादि भी छिड़ जाते है।

आधुनिक युग में ऋण निषेध (Loan Repudiation) की क्रिया का प्रचलन करीब–करीब समाप्त हो चुका है। इस प्रकार की क्रिया का सहारा प्रायः युद्धों एवं क्रान्तियों के पश्चात् लिया जाता है। जैसे अमेरिका ने गृह–युद्ध एवं रूस ने क्रान्ति के पश्चात् इस क्रिया का सहारा लिया। रिकार्डो ने नेपोलियन युद्ध के उपरान्त इस कर को लगाने की सलाह दी थी। उनके अनुसार –'' एक राष्ट्र जिस पर बहुत ऋण एकत्रित हो जाते हैं, वह बहुत ही कृत्रिम स्थिति में हो जाता है। जो देश इस प्रकार की कृत्रिम स्थिति की कठिनाईयों में फंस जाता है, वह इससे छुटकारा पाने हेतु अकलमन्दी से कार्य करेगा, और अपनी सम्पत्ति को ऋण के शोधन करने के लिए त्याग करने को तत्पर होगा।'' यद्यपि ऋणों के भुगतान से मुक्ति पाने के कुछ विनम्र तरीके भी है फिर भी किसी राज्य के लिए ऋण के भुगतान से बचने का प्रयत्न करना कोई बुद्धिमानी का कार्य नहीं है। ऋणों के भुगतान की मुख्य विधियां इस प्रकार हैं–

1. ऋण का नवीनीकरण (Refunding of debt):- जब सरकार भुगतान के वायदे के आधार पर ऋण प्राप्त करती है, इसे कोषित ऋण कहते है। पुनर्कोषण उस क्रिया को कहते है जिसमें परिपक्वता प्राप्त करने वाली सिक्यूरिटीज का सरकार नवीनीकरण कर देती है। सरकार घटी हुई ब्याज की दर आदि का लाभ प्राप्त करने के लिए परिपक्वता से पूर्व ऋणों का नवीनीकरण कर देती है। ऋणों के परिपक्वता होने पर भुगतान की समस्या उठ खड़ी होती है। यदि सरकार भुगतान के लिए अपने को असमर्थ पाती है तो पुनर्कोषण का सहारा लेती है। अधिकांश कोषित ऋण तो इसी विचार से लिये जाते हैं कि वे करों के संकलन या अकोषित ऋणों के लिए जाने पर वापस कर दिये जायेंगे। परन्तु व्यय के अधिक हो जाने के कारण उक्त साधनों से इन ऋणों का भुगतान नहीं हो पाता है। अतः ऋणदाता से कम ब्याज की दर पर ऋण और समय के लिए नवीनीकरण हेतु समझौता कर लिया जाता है।

2. ऋण रुपान्तर (Debt conversion):- यह एक विशेष प्रकार का पुनकोर्षण या पुनर्शोधन है। इस पद्धति में ऋण रुपान्तर का आशय ऋण के भुगतान से नही लगाया जाता परन्तु इसमें ऋण की प्रवधि को टालने से होता है। यह क्रिया उस समय अपनायी जातीी है जब ऋण के भुगतान की तिथि आती है। किसी बैंक के ऋण का स्थानान्तरण किसी व्यक्ति या किसी संस्थागत विनियोगी को किया जाता है ताकि इनकी परिपक्वता का उचित सन्तुलन किया जा सके, इनके प्रबन्ध में सरलता लायी जा सके और ब्याज की दर कम हो सके। नये ऋण की दशायें पुराने ऋण की अपेक्षा अच्छीं हो तो ऋण का परिवर्तन लाभदायक होता है। ब्याज की दर को कम करना ही ऋण परिवर्तन का प्रधान कारण है। ब्यहूलर के अनुसार –'' ऋण परिवर्तन से आशय ब्याज दरों की राशि को कम करने के लिए तथा उसका लाभ प्राप्त करने के लिये, वर्तमान ऋणों को नवीन ऋणों में परिवर्तन करने से लगाया जाता है।'' ऋण परिवर्तन का अभिप्राय मात्र ऋण की अवधि को टालने से होता है।

वह काफी विवाद का विषय है कि क्या ऋण–परिवर्तन से ऋणों का भार कम हो जाता है और क्या वास्तव में यह लाभदायक है। ऋण परिवर्तन की क्रिया को सर्वप्रथम इंग्लैंड ने 1932 में युद्धकालीन ऋणों के भार को कम करने के लिए किया था। इस प्रकार की क्रियायें यद्यपि 19 वीं शताब्दी में भी प्रचलन में थी परन्तु इससे राजकीय कोष को कोई लाभ नहीं हुआ। डाल्टन का कहना है कि सार्वजनिक ऋण के परिवर्तन से 1889 में राष्ट्रीय बचत कोष में 1.5 मिलियन पौंड की बचत हुई। परन्तु यह कोई महत्वपूर्ण राशि नहीं है। 1932 में भी ऋण परिवर्तन से यही स्थिति रही । 1932 के पश्चात् इंग्लैंड ने 2000 मिलियन पौंड की राशि वाले ऋण को 5 प्रतिशत से 3.5

प्रतिशत वाले ऋणों में परिवर्तित कर दिया जिससे 30 मिलियन पौंड की बचत हुई । द्वितीय युद्ध के समय अमेरिका ने भी इसी नीति का अनुसरण किया । इस तरीके से युद्ध के पश्चात् कुछ लाभ अवश्य रहे हैं परन्तु डाल्टन जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि ऋण परिवपर्तन से ऋण के बोझ में कोई कमी नहीं हुई।

3. ऋण परिशोध कोष (Sinking Fund):- ऋण परिशोध कोष वह कोष है जो ऋणों के भुगतान के लिये स्थापित किया जाता है। प्रतिवर्ष सार्वजनिक आय का कुछ भाग ऋणों के भुगतान के लिये एक पृथक कोष में जमा किया जाता है, इसी कोष को ऋण परिशोध कोष कहते है। सैद्धान्तिक रूप में इस प्रकार के कोषो के निर्माण को सर्वस्वीकृति प्राप्त है क्योंकि लोगों का यह विश्वास है कि सरकार इस प्रकार के कोषों से ऋणों का उचित ढंग से भुगतान कर देती है। परिशोध कोष में सरकार की सामान्य आय में से दी जानी चाहिये।

परिशोध कोष को सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में राबर्ट वालपोल द्वारा सन् 1716 में अपनाया गया। उसे परिशोध कोष का पिता भी कहा जाता है। उसके पश्चात यह क्रिया विभिन्न राष्ट्रों द्वारा अपनायी गई। अमेरिका में संघीय परिशोध कोषों का निर्माण सन् 1792 में अलेक्जेण्डर हेमिल्टन की सिफारिशों से किया गया था। सरकार द्वारा ऋण के भुगतान के लिए स्थापित किये गये परिशोध कोष की तुलना किसी व्यापारी या उद्योगपति द्वारा मशीनों आदि की घिसावट आदि की क्षतिपूर्ति को पूरा करने के लिए स्थापित कोष से की जा सकती है। इन कोषों से ऋणों के भुगतान में सुविधा प्राप्त होती है। कुछ समय पश्चात् पूंजीगत वस्तुओं एवं मशीन आदि में काफी घिसावट हो जाती है। ऐसे समय में परिशोध कोष इनके पुर्नस्थापन हेतु पूंजी उपलब्ध कराता है। इसी प्रकार ऋणों के परिपक्व हो जाने पर परिशोध कोष उनके भुगतान के लिये राशि का प्रबन्ध करता है।

भुगतान कोषों का बंटवारा इस अवधि के आधार पर तीन प्रकार से किया जाता है। पहले में वार्षिक भुगतान बढ़ता जाता है, दूसरे में यह समान रहता है और तीसरे में यह घटता जाता है। पहली रीति में संचयी परिशोध कोष जमा होता जाता है तथा ब्याज चक्रवृद्धि की दर से बढ़ता जाता है। प्रतिवर्ष इस कोष में एक निश्चित राशि जमा की जाती है। प्रत्येक वर्ष का ब्याज भी इसी में जुड़ता जाता है। दूसरी रीति में ब्याज का पूरा भाग कोष में जमा न करके कुछ ऋणें में बांट दिया जाता है। तीसरी रीति में किसी एक वर्ष में प्राप्त हुई राशि से भी अधिक राशि का भुगतान ऋणदाताओं में कर दिया जाता है। परिणामस्वरूप ऋण का भार कम हो जाता है।

इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि परिशोध कोष सदैव सरकार की वर्तमान आय द्वारा स्थापित किये जाते है ऋण आदि लेकर नहीं। परिशोध कोष की क्रिया ऋणों के भुगतान की बहुत धीमी क्रिया है। डाल्टन परिशोध काष से तो पूंजीकर को उत्तम समझते है। टेलर का कहना है कि इसकी कार्य विधि इतनी उत्तम नहीं कि इसे स्थापित करने के सुझाव पेश किये जाएं । उनका कहना है कि यह आवश्यक नहीं कि परिशोध कोष सरकारी सिक्युरिटीज पर विनियोग करने वालों के हृदय में विश्वास पैदा करें ही। इस सम्बन्ध में डाल्टन का विचार है कि–'' एक संचयी परिशोध कोष में एक निश्चित ऋण राशि एवं कोष ब्याज पर ला दिया जाता है जिससे ब्याज के रूप में अर्जित धनाशि को परिशोधन कोष में लगा दिया जाता है। अतः वार्षिक परिशोधन कोष में चक्रवृद्धि ब्याज में वृद्धि हो जाती है।''

4. पूंजीकर (Capital Levy) :– ऋण भुगतान के लिए सरकार कोई विशेषकर या पूंजी कर भी लगा सकती है। यह कर व्यक्तियों की सम्पत्ति पर लगाया जाता है । एक निश्चित सीमा के ऊपर यह कर लगाया जाता है। यह प्रगतिशील होता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात यह कर बहुत बड़े विवाद का विषय रह चुका है। रिकार्डो का कहना है कि किसी देश को संकट से बचने के लिए शीर्घ ही ऋण मुक्त हो जाना चाहिए। चाहे ऐसा करने के लिए उसे अपनी सम्पत्ति का बलिदान ही क्यों न करना पड़े। रिकार्डो को समस्त अनुयायी ऋण भुगतान के पूंजीकर का समर्थन करते है। परन्तु कुछ लोग कड़ा विरोघ करते है। कुछ लोग इसे पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते है और कुछ विपक्ष में।

पूंजी कर के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं– 1. पूंजीकर द्वारा युद्ध ऋणों का शोधन तुरन्त ही किया जा सकता है।, 2. इस कर द्वारा आय प्राप्त करके सार्वजनिक ऋणों का एकदम शोधन किया जा सकता है। जिससे बार–बार कर नहीं लगाना पड़ता, 3. पूंजीकर से ऋण का भुगतान कर देने से देश ऋण के भार से मुक्त हो जाता है, फलतः उसे उद्योगों और व्यापार पर अधिक

करारोपण नहीं करना पड़ता है जिससे उद्योगों और व्यापार की उन्नति होती है, 4. पूंजीकर से सम्पत्ति की असमानताएं दूर होती है। 5. युद्ध काल में निर्धन और मध्य श्रेणी के लोगों को अधिक त्याग करना पड़ता है किन्तु इसके विपरीत पूंजीगत धन कमाता है। अतः पूंजीकर के माध्यम से पूंजीपतियों द्वारा कमाया गया अतिरिक्त लाभ वसूल किया जा सकता है और इस प्रकार धनी और निर्धन के त्याग से समानता मापी जा सकती है, 6. ऋणों के भार से मुक्त होकर सरकार अपनी आय का अधिक से अधिक भाग सार्वजनिक कल्याण हेतु व्यय कर सकती है।

इस कर के विपक्ष में निम्न तर्क पस्तुत किये जाते है–

1. . इससे लोगों की काम ब बचत करने की इच्छा पर प्रभाव पड़ता है।
2. इसके द्वारा पूंजी का स्थानान्तरण विदेशों को होने लगता है।
3. पूंजी के मूल्यों को आंकने में कठिनाई होती है।
4. इसके प्रबंध में अधिक मनमानी ढंग से काम लेना पड़ता है।

1.9 सार्वजनिक ऋण और आर्थिक विकास (Public Debt and Economic Development) :-

1. वित्तीय ढांचे का विकास (Development of Financial System) :-

आर्थिक विकास के साथ मुद्रा और साख की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है, जिसके दो कारण हैं:

आर्थिक गतिविधियों में बढ़ोतरी तथा उनमें मुद्राकृत गतिविधियों के अनुपात में दीर्घकालीन वृद्धि होती है। अर्थव्यवस्था में वित्तीय लेन–देन के सभी करार करेंसी की मात्राओं में होने के कारण सरकार वित्तीय ढांचे की बुनियाद का काम देती है तथा सामान्यतः करेंसी की प्रचलित मात्रा बढ़ाने के लिए सरकार को उधार लेना पड़ता है। यह भी स्मरणीय है कि यदि सरकार उधार लेने में लापरवारी बरतें, अथवा ऋण राशियों को उपभोग व्यय–मदों पर लगा दें, तो अर्थव्यवस्था का वित्तीय ढांचा लाभान्वित होने के स्थान पर क्षतिग्रस्त हो सकता है।

2. बचत एवं पूंजी निर्माण (Saving and Capital Formation) :- प्रत्येक अर्थव्यवस्था को अपनी उत्पादन क्षमता बनाए रखने के लिए बचत और निवेश की आवश्यकता होती है। एक अल्पविकसित देश की यह आवश्यकता और भी अधिक होती है। परंतु ऐसी अर्थव्यवस्था को बचत और पूंजी निर्माण में सामान्य से अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रति व्यक्ति आय के कम होने के कारण तथा गरीब लोगों की संख्या अधिक होने के कारण इसकी बचत क्षमता अति कम होती है। इसलिए इस कमी को पूरा करने के लिए सरकार से कुछ प्रभावी कदमों की अपेक्षा की जाती है। सरकार यदि अपनी राजस्व प्राप्तियों में से समुचित बचत और पूंजी निवेश करने में असमर्थ हो तो उधार लेकर उन मदों पर व्यय कर सकती है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से बचत, निवेश तथा अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करती हों।

परंतु कुछ परिस्थितियों में सरकार द्वारा उधार लेकर पूंजी निवेश बढ़ाने के की नीति के परिणाम संदिग्ध भी हो सकते हैं उदाहरणार्थ इसके द्वारा पूंजी–निर्माण के लिए बाजार से उधार लेने पर निवेश संसाधन निजी क्षेत्र से सार्वजनिक क्षेत्र में हस्तांतरित हो जाते हैं और इसके साथ यदि निजी क्षेत्र में निवेश की दर घट जाए तो देश की संयुक्त निवल निवेश दर का बढ़ाना अनिश्चित हो जाता है। इसी प्रकार का अनिश्चित परिणाम सरकार द्वारा केन्द्रीय बैंक से उधार लेने का भी हो सकता है। पश्चायुक्त स्थिति में प्रचलित करेंसी की मात्रा के साथ–साथ कीमतें बढ़ जाती हैं जिनसे निजी क्षेत्र के स्वामित्व वाले वित्तीय संसाधनों की क्रय–शक्ति घट जाती है और इससे बचत और निवेश घट सकते है।

सार्वजनिक ऋण अर्थव्यवस्था के निवेश संसाधनों का विकासोनमुख पुनर्रावंटन भी आर्थिक विकास में सहायक हो सकता है। आशा यह की जाती है कि सरकार वाणिज्यिक लाभ को प्राथमिकता न देते हुए अपने निवेश–निर्माण इस प्रकार लेगी जिससे देश की दीर्घकालीन उत्पादन–क्षमता में समुचित वृद्धि हो। उदाहरणार्थ सरकार अवसंरचनात्मक सुविधाओं के विकास

हेतु निवेश करेगी, क्योंकि वाणिज्यिक दृष्टि से लाभकारी न होते हुए भी इनसे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में बढ़ोतरी होती है। इसके विपरीत निजी क्षेत्र से यही अपेक्षा की जा सकती है कि इस की निवेश गतिविधियाँ वाणिज्यिक लाभ की संभावित के अनुरूप होगी , जिससे अर्थव्यवस्था के कई आधरभूत सुविधाओं के वंचित रह जाने का भय बना रहेगा।

ध्यानयोग्य है कि सरकार द्वारा सार्वजनिक उधार की प्राप्तियों को उपभोग व्यय एवं अन्य अनुत्पादक मदों पर लगा देने पर आर्थिक विकास के प्रोत्साहित होने की आशा नहीं की जा सकती। परंतु सार्वजनिक उधार से लोक कल्याण की योजनाओं के वित्त–पोषण की नीति विवादास्पद है। एक मतानुसार लोक कल्याण के वित्त पोषण के लिए सरकार को उधार लेकर नहीं, बल्कि कर तथा कर–भिन्न राजस्व में बढ़ोत्तरी तथा अपने अनावश्यक व्यय में कटौती द्वारा साधन जुटाने चाहिएं।

- विविध कठिनाइयों के बावजूद एक सुसंगठित और प्रभावी लोक ऋण नीति द्वारा आर्थिक विकास की बहुआयामी प्रक्रिया को प्रभावित किया जा सकता है।
- लोक ऋण में दीर्घकालीन बढ़ोत्तरी के बिना एक विकसित वित्तीय ढांचे की संरचना संभव नहीं है।
- लोक ऋण का बचत और निवेश पर प्रभाव सरकार की व्यय नीति और निजी क्षेत्र की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है।
- लोक ऋण में वृद्धि से कीमतें बढ़ने की प्रबल संभावना होती है, परंतु इससे आर्थिक विकास पर अपेक्षित प्रभाव पूर्व निश्चित नहीं है।

1.10 सारांश (Summary) :-

किसी समय यह धारणा थी कि सार्वजनिक ऋण लेना रोग था, जिससे दूर रहना ही अच्छा माना जाता है। यदि किसी कारण सार्वजनिक ऋण लेने की आवश्यकता पड़ भी जाए तो इससे यथासम्भव जल्दी छुटकारा पाने का प्रयत्न करना चाहिए। सार्वजनिक ऋण लेकर सरकारें निरर्थक युद्धों तथा विविध प्रकार की मदों पर व्यय कर देती थीं। साधारणतः सार्वजनिक ऋण सरकारी अपव्यय का एक प्रतीक माना जाता है, लेकिन वर्तमान में सरकार का उधार लेना उचित माना जाता है जैसे– संतुलित बजटीय नीति का अनुपालन करते हुए भी सरकार की प्राप्तियां और उत्तरदायित्वों में अल्पावधिक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिससे उधार लेना पड़ सकता है। साथ ही युद्ध , प्राकृतिक आपदा होने के कारण सरकार को उधार लेने की आवश्यकता पड़ सकती है। आधुनिक आर्थिक चिन्तन में सार्वजनिक ऋण का सरकार की बजटीय नीतियों को एक अग्रणी स्थान है। अधिकतर सरकारों का भी यह मत है कि उन्हें लोक–कल्याण और अर्थव्यवस्था के विकास हेतु ऋणों की आवश्यकता पड़ती है। उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इतने अधिक साधनों की आवश्यकता पड़ती है कि अधिकतर सरकारों भी कर राजस्व तथा अन्य कर–भिन्न प्राप्तियां अपर्याप्त रहती है। तथा उन्हें उधार लेना पड़ता है। इस प्रकार सार्वजनिक ऋण के भुगतान के लिए कर राजस्व में दीर्घकालीन वृद्धि की आशा की जा सकती है।

1.11 शब्दावली (Key words) :-

1. वाह्य ऋण (External Debt)
2. आन्तरिक ऋण (Internal Debt)
3. निक्षेप निधि/ऋण परिशोध कोष (Sinking Fund)
4. भुगतान की विधियां (Methods of Redemption)
5. संपत्ति प्रभाव (Wealth Effects)
6. प्रसारवादी (Expansionary)
7. पूंजी कर (Capital Levy)

8. ऋण परिवर्तन (Debt Conversion)

1.12 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :-

9. लोकवित्त, एच0 एल0 भाटिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा लि0 नोयडा, उ0प्र0 वर्ष–2019
10. राजस्व, डॉ0 जे0 सी0 वार्ष्णेय एवं डॉ0 प्रेममोहन श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0, आगरा , वर्ष 2002–03
11. लोक अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण अग्रवल आगरा वर्ष – 2014
12. अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त एवं डॉ0 एस0सी0 जैन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा वर्ष – 2002
13. भारतीय अर्थव्यवस्था, रमेश सिंह, मैक ग्रा हिल (प्रा0) लि0 चेन्नई वर्ष 2021

14- Allen and Borwing : Economic of Public Finance.

15- Taylor , P.F : The Economicd pg Public Finance

16. Dalton , H : Public Finance

1.13 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) :-

1. सार्वजनिक ऋण के प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।
2. सार्वजनिक ऋण के बाह्य एवं आन्तरिक ऋणों के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।
3. सार्वजनिक ऋण की भुगतान की विधियां से क्या आशय है?
4. सार्वजनिक ऋणों के शोधन की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
5. सार्वजनिक ऋण बहुआयामी आर्थिक विकास में योगदान दे सकता है।
6. सार्वजनिक ऋण और आर्थिक विकास के औचित्य पर एक विस्तृत लेख लिखिए।

1.28 वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर (Objective Questions Answers) :-

1. साधारण ऋणों का उपयोग किस मद में किया जाता है?

   क. उत्पादन ख. विकास कार्यो ग. प्रशासनिक

   घ. निवेश

   (उत्तर क)

2. भारतीय सार्वजनिक ऋणों की प्रमुख विशेषता क्या है?

   क. ऋण की न्यूनतम मात्रा ख. डॉलर क्षेत्र से संबंधित

   ग. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण घ. इनमें से कोई नहीं

   (उत्तर ख)

3. आन्तरिक ऋण होता है–

   क. राज्य अपने देश के लोगों एवं वहां की संस्थाओं से ऋण लेता है

   ख. राज्य विदेशों से ऋण लेता है

   ग. उपर्युक्त दोनों

   घ. इनमें से कोई नहीं

   (उत्तर क)

4. बाह्य ऋण होते है–

   क. राज्य अपने देश के लोगों से ऋण लेता है

   ख. मूलधन, ब्याज का शोधन विदेशियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को किए जाते है

   ग. समाज के निर्धन लोगों से लिया जाता है।

घ. इनमें से कोई नहीं

(उत्तर ख)

5. बाह्य ऋणों की हानियाँ है–

क. धन का पलायन

ख. दासता को जन्म देने वाला

ग. मितव्ययता में कमी

घ. उपर्युक्त सभी

(उत्तर घ)

6. निम्न में से कौन सा सार्वजनिक ऋण का उद्देश्य नहीं है?

क. जनकल्याण में वृद्धि

ख. उत्पादकता में वृद्धि

ग. आयातों को प्रोत्साहित करना

घ. आर्थिक विकास

(उत्तर ग)

भारत में सार्वजनिक ऋण का विकास
Evoluation of Public Debt in India

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारत सरकार की ऋण देयताएं
1.3 आन्तरिक ऋण के प्रमुख कारक
1.4 आन्तरिक ऋण की अन्य मदें
1.5 देनदारियों का आकार
1.6 ऋण देयताओं में वृद्धि के कारण
1.7 स्वामित्व का ढांचा
1.8 ऋण का बोझ
1.9 सारांश
1.10 शब्दावली
1.11 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.12 अभ्यास प्रश्न
1.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :-

लोक ऋण में सरकार के सभी स्तरों की वित्तीय देयताएं गिनी जानी चाहिए ; परंतु हमारा अध्ययन मुख्यतः केन्द्र और राज्यों के लोक ऋणों तक सीमित रहेगा। लोक ऋण को कई प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है तथा किसी विशेष परिभाषा का प्रयोग उसके विश्लेषणात्मक एवं कार्यात्मक लक्ष्यों एवं सीमाओं पर निर्भर करता है। सार्वजनिक ऋण की किसी संकीर्ण परिभाषा के स्थान पर इसको सरकार की समस्त वित्तीय देयताओं के अर्थों में लेंगे तथा केन्द्र और राज्य सरकारों की वित्तीय देयताओं के घटकों संबद्ध आयामों पर विचार करेंगे।

लोक ऋण का मूल अर्थ 'सरकार की वित्तीय देनदारियाँ' है। परन्तु इस सरल अर्थ में भी कई प्रश्न उठते है। क्या सरकार की सभी वित्तीय देयताएं इसका लोक ऋण हैं? क्या इसमें अंतर–सरकारीय देयताओं को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए? क्या इसमें सरकार की सरकारी संस्थाओं के प्रति देयताओं को सम्मिलित करना चाहिए?

1.1 उद्देश्य :–

1. लोक ऋण की आवश्यकता का अध्ययन
2. सरकार की सकल वित्तीय देनदारियों को जान सकेंगे।

1.2 भारत सरकार की ऋण देयताएँ (Debt Liabilities of Government of India) :-

प्रशासनिक नामावली के अनुसार केन्द्र की वित्तीय देयताओं को दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है–

क. लोक ऋण (Public Debt) ख. अन्य देयताएँ (Otber Liabilities)

क. लोक ऋण :– इसके दो भाग हैं (अ) विदेशी ऋण (ब) आंतरिक ऋण

अ. विदेशी ऋण :– भारत सरकार के विदेशी ऋण में इसके द्वारा देश के बाहर से लिए गए सभी उधार शामिल हैं। हमारे संविधान के अनुसार राज्य सरकारों को विदेशों से उधार लेने की मनाही है। किसी राज्य परियोजना के लिए विदेशी ऋण की आवश्यकता होने पर यह ऋण पहले भारत सरकार लेती है, और फिर एक ऋणदाता के तौर पर विचाराधीन राज्य सरकार को उधार देती है। इस प्रकार एक ओर भारत सरकार की विदेशी ऋणदेयता और दूसरी ओर राज्य सरकार की भारत सरकार के प्रति देनदारी में वृद्धि हो जाती है।

भारत सरकार का विदेशी ऋण तथा पूरे देश का विदेशी ऋण दो पृथक चीजें हैं। देश के विदेशी ऋण में सरकारी तथा गैर–सरकारी सभी विदेशी उधार सम्मिलित रहते है। गैर सरकारी उधारों में सरकार द्वारा गारंटीकृत तथा अन्य कई प्रकार के उधार भी हो सकते है। प्रवासी भारतीयों के जमा खाते , विभिन्न कंपनियों द्वारा निवेशों से लिए गए उधार, विदेशी निर्यात कर्ताओं द्वारा दिया गया उधार आदि गैर–सरकारी उधारों के कतिपय उदाहरण है। इसके विपरीत भारत सरकार के विदेशी ऋण में निम्नलिखित मदें रहती है :

- बहुपक्षीय और द्विपक्षीय स्त्रोतों से ऋण ;
- अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार (2000 से समाप्त) ;
- रक्षा ऋण ; और
- सरकारी प्रतिभूतियों में विदेशी वित्तीय संस्थाओं द्वारा निवेश ।

भारत सरकार के विदेशी ऋण का मुख्य भाग विदेशी मुद्राओं में देय है, अतः सरकार को ब्याज और मूल दोनों के भुगतान हेतु विदेशी मुद्रा का प्रबंध करना पड़ता है। वैसे अब तक भारत सरकार को अधिकतर विदेशी ऋण कम ब्याज पर तथा लंबी अवधि के लिए मिलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी ऋण लिए जाते रहे हैं। ज्ञातव्य है कि सरकारी खातों में विदेशी ऋण को रूपयों में परिवर्तित करने की विधि दोषपूर्ण है। इस विधि में उस विनिमय दर का प्रयोग किया जाता है जो विचाराधीन विदेशी ऋण लेते समय लागू थी। स्पष्ट है कि इस विधि में बदलती विनिमय दर के प्रभाव को अनदेखा कर दिया जाता है।

मार्च 1951 के अंत पर भारत का विदेशी ऋण (32.03 करोड रुपये) उस की कुल देयताओं (2565 करोड़ रुपये) का लगभग 1.3 प्रतिशत था। यह अनुपात कई वर्षों तक 10 प्रतिशत के आस पास रहा। 2018–19 के बजटानुसार इसके 2.8 प्रतिशत (89,58,193 से 2,54836 करोड़ रुपये) होने का अनुमान था। परन्तु विदेशी ऋण राशि की भारतीय रूपयों में परिवर्तन विधि दोषयुक्त है। इस में ऋण की प्रत्येक टुकड़ी के लिए रूपए की उस विनिमय दर का प्रयोग किया जाता है जो उस ऋण टुकड़ी को लेते समय थी।

ब. आंतरिक ऋण :– इस वर्ग में वे सब उधार सम्मिलित है जो भारत सरकार द्वारा देश के भीतर से लिए गए हों तथा जिनकी अदायगी भारत की समेकित निधि से देय हो। आंतरिक ऋण के मुख्य घटकों में बाजार उधार, रिजर्व बैंक से लिए विभिन्न प्रकार के उधार तथा वित्तीय संस्थाओं से लिए उधार सम्मिलित है।

केन्द्र के आंतरिक ऋण में अनेक कारणों से तीव्रता से वृद्धि हुई है जिनमें कीमतों में वृद्धि, नीति घटक और बजटीय आवश्यकताओं की मुख्य भूमिका रही है। 1950–51 के अंत पर आंतरिक ऋण केवल 2022 करोड़ रुपये था जो 2013–14 में बढ़कर 42, 40, 767 करोड़ रुपये हो गया और 2018–19 के अंत पर इसके 69, 96, 220 करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान था।

1.3 आन्तरिक ऋण के प्रमुख कारक :–

1. **बाजार उधार :–** भारत सरकार के आंतरिक ऋण का लगभग 61 प्रतिशत बाजार उधार के रूप में है। इनकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- ये वे उधार हैं जिनकी प्रारंभिक कालावधि 12 महीने अथवा इससे अधिक होती है। इन उधारों को कई अन्य नामों से भी जाना जात है, जैसे कि 'तिथित/दिनांकित उधार' , 'स्थायी उधार', 'निधिकृत उधार' (Funded Loan) आदि। जब किसी पूर्वस्थित अल्पावधिक उधार को तिथित (स्थायी) उधार में परिवर्तित किया जाए, तो यह प्रक्रिया विचाराधीन उधार का 'निधिकरण' (Funding) कहलाती है। राजकोषीय हुंडियों का समय–समय पर इस प्रकार से निधिकरण किया जाता रहा है।
- बाजार उधारों की प्रारंभिक कालावधि सामान्य तौर पर तीन से तीस वर्षों के बीच होती है। सामान्यतः इनकी कालावधि बाजार की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर तय की जाती है। 1986 से पूर्व शाश्वत अवधि वाले दो उधार भी थे।
- लगभग सभी बाजार उधार विक्रय होते हैं, अर्थात इनकी प्रतिभूतियों का बाजार में क्रय–विक्रय किया जा सकता है। परंतु कई ऐसे उधार भी होते है, जिनकी प्रतिभूतियों के क्रय–विक्रय की मनाही होती है। सामान्य तौर पर भारत सरकार इस प्रकार के गैर–विक्रय उधार रिजर्व बैंक से ही लेती है।

- 1992–93 तक भारत सरकार द्वारा लिए गए प्रत्येक बाजार उधार के अंकित मूल्य पर एक पूर्वानिर्धारित ब्याज–दर होती थी, जिसे पूर्वनिर्धारित कूपन के नाम से जाना जाता है। यह कूपन राशि वर्ष में दो बार पूर्वनिर्धारित तिथियों पर देय होती है। परंतु पिछले कुछ वर्षों में केन्द्र द्वारा लिखित उधार लेने की कई नई विधियाँ भी अपनाई गई हैं। उदाहरणार्थ 1992–93 में तिथित सरकारी प्रतिभूतियों के कूपन को नीलामी द्वारा निर्धारित करने की व्यवस्था को अपनाया गया। इसी प्रकार 1993–94 में केन्द्र ने दो अन्य प्रकार की अंकित मूल्य पर भुगतान तिथित प्रतिभूतियाँ जारी करना प्रारंभ किया, जो ऋणदाताओं को बट्टागत कीमतो पर मिलती थी। इसी प्रकार 2001–02 में परिवर्तनीय ब्याज दर पर सरकारी प्रतिभूतियों की नीलामी की प्रणाली प्रारंभ की गई। एक अन्य प्रकार की प्रतिभूतियाँ वे है जिन्हें पूंजी सूचकांकित बाँड कहा जाता है, और जिनमें मूलधन और कूपन दोनों के भुगतान मूल्य सूचांकीकृत होते है। इस प्रकार से प्रयोग अभी भी चालू हैं और बाजार ऋण की विशेषताओं द्वारा अभी अन्तिम रूप लेना बाकी है।
- बाजार उधारों में वे उधार भी होते है जो अल्पावाधिक ऋणों के निधिकरण से अस्तित्व में आते है।
- रिजर्व बैंक के पास विदेशी मुद्रा आने पर भारतीय करेंसी की प्रचलित मात्रा में उसके बराबर बढ़ोतरी हो जाती है। इससे मांग और कीमतें बढ़ती हैं। रिजर्व बैंक के विदेशी मुद्रा के बढ़ते स्टाक के इस दुष्परिणाम को रोकने के लिए भारत सरकार ने, भारतीय रिजर्व बैंक के परामर्श से, अप्रैल 2004 से एक बाजार स्थिरीकरण योजना (Market Stabilization Scheme) प्रारंभ की। इस योजना के अंतर्गत, एक पूर्व निर्धारित सीमा के भीतर , रिजर्व बैंक को केन्द्र की विशिष्ट प्रतिभूतियाँ जारी की जाती हैं, जिनकी मूल्य वह अपनी विदेशी मुद्रा के भंडार से अदा करता है। इस प्रक्रिया को विदेशी मुद्रा का आत्मसात करना कहा जाता है।

1. **विक्रय प्रतिभूतियों में परिवर्तित विशेष प्रतिभूतियाँ :–** विभिन्न वित्तीय संस्थाओं की सहायता हेतु केन्द्र इन्हें विशेष प्रतिभूतियाँ जारी करता रहा है। इन प्रतिभूतियों की अवशिष्ट राशि लगभग 50,000 से 70,000 करोड़ रूपये के बीच रहती है
2. **प्रतिपूर्ति और अन्य बाँड :–** ये देयताएँ केन्द्र की कई नीति–प्रेरित कदमों के कारण अस्तित्व में आई। 2005–06 में इसका मूल्य 72, 760 करोड़ था और 2018–19 के अंत पर इसकी बजटीय राशि 77, 060 करोड़ थी।
3. **राजकोषीय हुंडियाँ :–** किसी समय ये हुंडियाँ भारत सरकार के आंतरिक ऋण का एक बहुत बड़ा अनुपात होती थी। परंतु निधिकरण एवं अन्य नीतियों के परिणामस्वरूप इनका अनुपात घटकर लगभग 8.4 प्रतिशत पर आ गया है। इन हुंडियों का भुगतान उनके अंकित मूल्य पर किया जाता है तथा ऋणदाता उन्हें बट्टागत कीमत पर खरीदें है। उन्हें नीलामी अथवा किसी अन्य ढंग से बेचा जाता है। इन हुंडियों को तदर्थ वित्तीय व्यवस्था के लिए अपनाया गया था, परंतु कालांतर में सरकार की इन पर निर्भरता इतनी बढ़ती गई कि इन का अस्तित्व ही स्थायी हो गया।

कालान्तर में राजकोषीय हुंडियों के दो वर्ग हो गए। पहला वर्ग तदर्थ राजकोषीय हुंडियों का था, जिनके माध्यम से भारत सरकार रिजर्व बैंक से सीधे उधार लेती थी। इन हुंडियों को रिजर्व बैंक बाजार में नहीं बेच सकता था। इस कारण इस उधार के बराबर ही प्रचलित करेंसी की आपूर्ति भी बढ़ जाती थी। भारत सरकार इस प्रकार की हुंडियों में निवल बढ़ोतरी को बजटीय घाटे के अनुमान में भी जोड़ती थी। सितम्बर 1994 के बाद भारत सरकार और रिजर्व बैंक के करारों में यह तय किया गया कि तदर्थ राजकोषीय हुंडियों में निवल वृद्धि को कुछ वर्षों तक एक निर्धारित सीमा से न बढ़ने दिया जाए तथा धीरे–धीरे इनका अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाए। इस नीति के अनुसरण में 1997–98 के बजट के सरकार ने तदर्थ हुंडियों के स्थान पर अर्थोपाय अग्रिमों का प्रयोग करने का निश्चय किया। इसके साथ ही परंपरागत बजटीय घाटे की अवधारणा को भी लगभग त्याग दिया गया। स्मरणीय है कि 2001–02 के पश्चात सरकार ने अर्थोपाय लेना भी बंद कर दिया है। अब दूसरी प्रकार की राजकोषीय हुंडियाँ वे हैं जिनको रिजर्व बैंक के माध्यम से बाजार में बेचा जाता है। बेचने की यह प्रक्रिया नीलामी अथवा कोई अन्य हो सकती है। यह हुंडियाँ विक्रय होती है।

1988–89 तक सभी राजकोषीय हुंडियां की भुगतानावधि 13 सप्ताह की होती थी। 1988–89 में 182 दिन की कालावधि की हुंडियों अस्तित्व में आई, जिन्हें 1992–93 में हटा कर उनके स्थान पर 364 दिन की कालावधि वाली हुंडियों को जारी किया गया। 182–दिवसीय हुडियों को 1992–93 में फिर से शुरू किया गया। इन्हें रिजर्व बैंक से डिस्काऊँट नहीं करवाया जा सकता।

1.4 आंतरिक ऋण की अन्य मदें (Other Items of Internal Debt):– भारत सरकार के आंतरिक ऋणों में कई अन्य प्रकार भी सम्मिलित है। इनमें (क) रिजर्व बैंक को जारी की गई विशेष प्रतिभूतियाँ, (ख) क्षतिपूर्ति और अन्य बॉंड, (ग) अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों को जारी की गई प्रतिभूतियाँ , तथा (घ) लघु बचतों के एवज में प्रतिभूतियाँ शामिल है। बजटानुसार मार्च 2019 के अंत पर लघु बचतों के एवज में प्रतिभूतियों का अंकित मूल्य 5, 58, 199 करोड़ रूपए था।

अन्य देनदारियाँ (Other Liabilities) :– भारत सरकार की कुल देनदारियों का लगभग 19 प्रतिशत अन्य देनदारियों के रूप में है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ये भी लोक ऋण का ही एक अंग होना चाहिए, परंतु सरकार का कहना है कि इन देनदारियों की अदायगी भारत की समेकित निधि से न किए जाने के कारण उन्हें भारत के लोक ऋण का हिस्सा नहीं माना जा सकता। देनदारियों के इस वर्ग के निम्नलिखित मुख्य भाग हैं–

1. **राष्ट्रीय लघु बचत निधि (National Small Saving Fund) :–** भारतीय लोक लेखे में 1/4/1999 से एक 'राष्ट्रीय लघु बचत निधि' (NSSF) की स्थापना की गई। इस से पूर्व सभी लघु बचतें केन्द्र के लोक खाते में उधारों के रूप में आती थी और केन्द्र उनमें से राज्यों को उधार था। एन0एस0एस0एफ0 के अस्तित्व में आने के पश्चात् इस निधि की निवल प्राप्तियाँ केन्द्र और राज्यों की प्रतिभूतियों में पूर्वनिश्चित अनुपातों मे निवेशित की जाने लगीं। परिणामस्वरूप राज्यों को केन्द्र से मिलने वाले ऋणो में कमी आई।

सारणी 18.1 भारत सरकार की ऋण देयताएँ मार्च के अन्त पर

(रुपयों में)

	1950–51	2012–13	2013–14	2014–15	2015–16	2016–17	2017–18	2018–19
लोक ऋण	2054.33	3941855	4425348	4935804	5515098	5969968	6669326	7251056
(अ) आंतरिक ऋण	2022.30	3764566	4240767	4738291	5304835	5741705	6424917	6996220
1. बाजार स्थिरीकरण स्कीम				2000			80000	145000
2. बाजार ऋण	1444.95	2984309	3441641	3891734	4298784	4649487	5962887	5459133
3. विक्रय प्रतिभूतियों में परिवर्तित विशेष प्रतिभूतियाँ	358.02	76818	72817	67818	64818	64818	53818	47688
4. रिवर्ज बैंक को जारी अन्य विशेष प्रतिभूतियाँ		1489	1489	1489	1489			
5. क्षतिपूर्ति और अन्य बॉंड	6.73	13873	13628	13440	12446	25108	52748	77060
6. 14–दिवसीय राजकोषीय हुंडियाँ		118380	86816	85678	121127	126570	126570	126570
7. 91–दिवसीय राजकोषीय हुंडियाँ		105142	125761	128962	132855	214430	214430	214430

8. 182–दिवसीय राजकोषीय हुंडियाँ		64197	76417	77337	77807	85436	77857	85853
9. 364–दिवसीय राजकोषीय हुंडियाँ		130467	136956	143152	154033	142526	149989	158985
10. अर्थोपाय अग्रिम								
11. अंतराष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं को जारी प्रतिभूतियाँ	212.60	32226	35181	46395	106726	108740	101816	101687
12. लघु बचतों के बदले जारी प्रतिभूतियाँ		216808	229165	261391	313856	381291	483919	558919
ब. विदेशी ऋण	32.03	177289	184581	197514	210262	228589	243409	254836
2. अन्य देयताएँ	811.07	1128737	1244080	1306716	1386873	1466093	1564628	1707437
1.एन.एस.एस.एफ	336.87	597737	629184	64685	701369	751199	779030	843832
2.राज्य भविष्य निधियाँ	95.05	133672	143425	155334	167193	184938	199938	216938
3.अन्य खाते	16.10	257424	315421	315630	319800	321857	306046	402030
4.आरक्षित विधियाँ और जमा	363.05	139904	156051	188857	198513	208090	225614	244638
5.कुल देयताएँ	2865.40	5070592	5669429	6242521	5901971	7436061	823854	8958493
6.निवल देयताएँ	2565.40	5070292	5669129	6242321	5901671	7435761	8232654	8958193

चौदहवें वित्त आयोग के तर्कानुसार राज्यों को एन0एस0एस0एफ0 से उधार लेने को बाध्य नहीं होना चाहिए क्योंकि उन्हें बाजार से कम ब्याज दर पर उधार मिल सकता था। केन्द्र ने इस तर्क को मानते हुए निर्णय लिया कि कुछ राज्यों को छोड़कर अन्य राज्य एन0एस0एस0एफ0 से उधार न लेने में स्वतंत्र रहेंगे। ऐसे राज्य केवल पहले से लिए हुए ऋण चरणबृद्ध ढंग से 2038–39 तक एन0एस0एस0एफ0 से लिए ऋणों की अदायगी करेंगे।

2. **राज्य भविष्य निधियाँ :–** अन्य देनदारियों में इस मद का भाग 2018–19 में लगभग 12.71 प्रतिशत था।
3. **अन्य खाते :–** अन्य देनदारियों का लगभग 24 प्रतिशत इस मद–समूह के रूप में है। इनमें से लगभग आधी गैर–सरकारी भविष्य निधियों आदि की जमा राशियाँ है; तथा शेष अन्य मदों के रूप में है।
4. **प्रारक्षित निधियाँ और जमाराशियाँ :–** इस मद वर्ग में कई प्रकार की रेलवे प्रारक्षित निधियाँ, दूर–संचार प्रारक्षित निधियाँ तथा ऐसी अन्य मदें सम्मिलित है। इनमें से लगभग आधा हिस्सा निर्ब्याज है। अन्य देनदारियों मे इस मद समूह का अंशदान लगभग 14 प्रतिशत है।

1.5 देनदारियों का आकार (Size of Liabilities) :– आयोजना काल में भारत सारकार की देनदारियों में तेजी से वृद्धि हुई तथा यह वृद्धि सभी मुख्य घटकों ने दर्शाई है–

(अ.) विदेशी ऋण :– मार्च 1951 में भारत सरकार का विदेशी ऋण केवल 32.03 करोड़ रूपए था। परंतु इसके पश्चात इस मद में पहले धीमी गति से तथा फिर तेजी से वृद्धि हुई । मार्च 2019 में इसकी अनुमानित बजटीय राशि 2, 54, 836 करोड़ रुपये थी। 1960–61 में विदेशी ऋण की मात्रा 760.96 करोड़ रूपए थी, तथा मार्च 2009 में इसका बजटीय अनुमान 1, 23, 675 करोड़ रूपए था।

- भारत सरकार द्वारा लिए जाने वाले विदेशी ऋणों की मात्रा और उद्देश्य सरकार की आवश्यकताओं के अतिरिक्त राजनीतिक कारकों पर भी निर्भर करते हैं।
- अधिकतर विदेशी ऋण विदेशी मुद्राओं में देय थे , उनकी ब्याज दरें रियायती थी, तथा उनकी भुगतानावधियाँ लंबी थी।
- बदलती विनिमय दरों के कारण भरतीय करेंसी में परिवर्तित मात्राएं भ्रामक हैं।
- विदेशी ऋणों से भारत सरकार को अपने बजटीय संसाधन प्राप्त होते थे। इस कारण कई ऐसे ऋण भी लिए गए थे जिनकी वास्तव में आवश्यकता नहीं थी।

(ब.) आंतरिक ऋण :– इस घटक में आश्चर्यजनक ढंग से वृद्धि हुई है। मार्च 1951 में यह घटक केवल 2, 022 करोड़ रूपए था, परंतु मार्च 2019 में इसके 69,96,220 करोड़ रूपए हो जाने का अनुमान था। इस आधार पर इसकी 1951–2009 में वृद्धि दर 16.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी अधिक बैठती है।

- आंतरिक ऋण में वृद्धि के कई कारण हो सकते हैं, जिनमें सरकार की राजकोषीय ढील के अतिरिक्त कीमतों में वृद्धि और सकल राष्ट्रीय उत्पाद में बढ़ोतरी के साथ–साथ सरकार की बढ़ती वित्तीय आवश्यकताएं भी शामिल है।
- अतः आंतरिक ऋण की केवल परिशुद्ध राशियों पर विचार करना भ्रामक हो सकता है।
- केन्द्र के आंतरिक ऋण में तीव्र वृद्धि का मुख्य कारण इसकी अपनी राजकोषीण ढील और प्रशासनिक निष्पादन की निम्न कोटि है।
- गैर–आर्थिक सहित विविध कारणों से केन्द्र अपने व्यय में वृद्धि को राकने में असफल रहा हे। इन कारणों से प्रशासनिक कमियों की बढ़ती संख्या और उनके निष्पादन संबंधी उचित मापदंडों का अभाव भी शामिल है।

(स) अन्य देनदारियाँ :– केन्द्र की देनदारियों के इस वर्ग की वृद्धि भी काफी तीव्र रही है। मार्च 1951 में इस वर्ग का मूल्य केवल 811.07 करोड़ रूपए था, जिसके मार्च 2019 में बढ़कर 17, 07, 437 करोड़ रूपए हो गया। कुल देनदारियों में इनका अनुपात 28.03 प्रतिशत और 2019 में 19.1 प्रतिशत था।

मार्च 2019 के अंत पर अन्य देनदारियों के मुख्य घटक (क) राष्ट्रीय लघु बचत निधि , 52.5 प्रतिशत , (ख) राज्य भविष्य निधियाँ 12.7 प्रतिशत, (ग) अन्य खाते, 23.5 प्रतिशत, तथा (घ) प्रारक्षित निधियाँ और जमाराशियाँ , 14.3 प्रतिशत थे।

1.6 ऋण देयताओं में वृद्धि के कारण (Causes of Growth in Debt Liabilities) :– जिनमें से मुख्य निम्नलिखित है। संसद द्वारा 2003 में पारित राजकोषीय दायित्व और बजट प्रबंधन अधिनियम से पहले केन्द्र द्वारा उधार लेने पर कानूनी सीमाएँ नहीं थी। इस अधिनियम द्वारा भी ये सीमाएं परोक्ष रूप से ही लागू की गई है। केन्द्र की ऋणदेयताओं में तीव्र वृद्धि के कई आर्थिक और गैर–आर्थिक कारण

1. **बढ़ता व्यय :–** स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार के व्यय में तीव्रता से वृद्धि हुई है जिसके वित्त–पोषण के लिए सरकार को ऋण लेने की आवश्यकता पड़ती रही है। सरकार के व्यय में वृद्धि के कई कारण हैं:–

- सरकारी कार्यकलापों की विविधता और सघनता में अनेक कारणों से बढ़ोतरी होने के फलस्वरूप सरकारी व्यय में बढ़ोतरी होना भी स्वाभाविक था। इन बढ़ती गतिविधियों के क्षेत्र में आर्थिक सेवाओं के अतिरिक्त सामाजिक तथा सामूहिक सेंवाएं भी सम्मिलित है।
- हमारी रक्षा संबंधी आवश्यकताओं और व्यय में भी लगातार वृद्धि होती रही है तथा इस में कमी होने की भी कोई संभावना दिखाई नहीं देती ।
- सरकार के गैर–उत्पादक तथा उपभोग व्यय में लगातार वृद्धि हुई है तथा सरकार इस पर रोक लगाने में पूरी तरह असफल रही है।

- सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता में कई मदें ऐसी भी है जिन्हें आर्थिक औचित्य अथवा सामाजिक न्याय के आधार पर मान्यता नहीं दी जा सकती। कालान्तर में इन मदों पर बढ़तें व्यय के कारण सरकार को उधार लेने की आवश्यकता पड़ती है।
- सरकार अपने बढ़ते व्यय के वित्त पोषण के लिए विभिन्न प्रकार से बिना किसी कठिनाई के उधार ले सकती है। सरकार उधार लेने के लिए सदैव तत्पर रहती है तथा ऋण के सकल आकार पर 2003 तक किसी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं था।
- जब सरकार उधार लेती है तो ब्याज की दर, मुद्रा की मात्रा, मांग एवं कीमतें सभी बढ़ने की प्रवृत्ति दर्शाती है। इनके कारण भी सरकार का व्यय बढ़ता है।

2. साधन स्त्रोतों का अपूर्ण दोहन :–

- सरलीकरण के प्रयास ने हमारी कर–प्रणाली को अति जटिल बना दिया गया है। इसमें दीर्घकालीन स्थाईपन के स्थान पर लगातार गति से संशोधन किए जाते हैं। इस कारण करदाताओं को बिना कारण परेशानी झेलनी पड़ती है।
- कर प्रणाली की जटिलता और इसमें लगातार संशोधन के कारण कर की चोरी के अवसर बढ़ जाते हैं, और भारत में कर की चोरी बहुत व्यापक है।
- केन्द्र के कई लोक उपक्रम राजस्व–स्त्रोत सिद्ध होने के स्थान पर घाटे के चलते रहे हैं।

3. विदेशी ऋणों में वृद्धि :– विदेशी ऋणों में वृद्धि इसकी विवशता एवं नीतियाँ के कारण हुई है–

(क) **विवशता**–सरकार की **विवशता** संबंधी कारणों को किसी न किसी रूप में भुगतान संतुलन की समस्याओं से जोड़ा जा सकता है।

- संविधान में राज्यों को विदेशों से ऋण लेने की मनाही है। अतः केन्द्र को उनकी विदेशी वित्तीय आवश्यकताओं के लिए भी उधार लेना पड़ता है। उधार लेने के पश्चात् भारत सरकार राज्यों को ऋण देती है।
- कृषि, उद्योगों, अनुसंधान संस्थाओं आदि को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के आयात करने की आवश्यकता पड़ती है। इनका एक भाग सरकार अपने तौर पर आयात करती है तथा इस प्रक्रिया में इस पर उधार चढ़ जाता है। इस उधार को उतारने के लिए निर्यात करना आवश्यक होता है, परंतु हमारी निर्यात क्षमता में समुचित बढ़ोतरी नहीं हो पा रही है।

(ख) नीतियाँ (Policies)–भारत सरकार द्वारा अपनाई गई नीतियों के कारण हम अपनी आवश्यक आयातों का वित्त पोषण करने में असमर्थ है–

- एक लंबी अवधि तक सरकार ने आयात–प्रतिस्थापन की नीति का अनुसरण किया। परंतु इससे न तो हमारी आयात–आवश्यकताओं में कमी हो सकी और न ही अपनी निर्यात क्षमता को बढ़ा सके।
- विदेशी साधनों का अंतर्प्रवाह भुगतान संतुलन की घाटा–पूर्ति के लिए आवश्यक था। परंतु सरकार ने विदेशी निवेश के स्थान पर विदेशी ऋणों को प्राथमिकता देने की नीति अपनाई। इससे सरकार पर अनावश्यक रूप से विदेशों ऋण का बोझ बढ़ता गया।
- इस नीति को इस बात से भी बढ़ावा मिला कि विदेशी ऋणों का एक बड़ा अनुपात रियायती शर्तों पर उपलब्ध होता रहा।
- सरकार स्वयं भी उन परियोजनाओं आदि के लिए विदेशों से उधार लेने को उद्धत रहती थी, जिनके लिए आयातित वस्तुओं और सेवाओं की आवश्यकता नहीं थी।
- भारत सरकार को विदेशों से रक्षा तथा कई प्रकार की सामग्री का भी आयात करना पड़ता है। इस सामग्री का एक भाग उधार पर क्रय किए जाने के कारण भारत सरकार की विदेशी देनदारियों में बढ़ोतरी हुई है।
- निर्यात में वृद्धि विदेशी ऋण में बढ़ोतरी को रोकने का एक उत्तम उपाय है। परंतु विदेशी ऋणों का उपयोग मुख्य रूप से निर्यात–संवर्धन के स्थान पर अन्य उद्देश्यों के लिए किया गया ।

1.7 स्वामित्व का ढांचा (Pattern of Ownership) :– ऋण के स्वामित्व के ढांचे के अभिप्राय यह है कि सरकार को किन स्त्रोतों से उधार मिलता है अथवा इसके ऋणदाता कौन है। इस प्रश्न के उत्तर का संबंध लोक ऋण के मुद्रास्फीति पैदा करने की क्षमता तथा लोक ऋण के समाज पर भार से भी है। सरकार की लोक ऋण की नीति की सफलता के लिए स्वामित्व ढांचे की जानकारी आवश्यक है–

विदेशी ऋण :– भारत सरकार का अधिकतर विदेशी ऋण विदेशी सरकारों, संस्थाओं तथा अंतर्राष्ट्रीय सहायता संस्थानों से प्राप्त हुआ है। विदेशी ऋणों की प्राप्तियों के समय देश के साधन भंडार में वृद्धि तथा इनके भुगतान पर साधन भंडार में कमी आती है। अतः यदि विदेशी ऋणों का समुचित प्रयोग देश की उत्पादन तथा निर्यात क्षमता को बढ़ाने के लिए किया जाए तो विदेशी ऋण बोझ नहीं बनते, तथा विकास प्रक्रिया को सक्षम बनाते है।

आंतरिक ऋण :– भारतीय रिजर्व बैंक भारत सरकार को लोक ऋण अभिकर्ता तथा निम्नांकर (Underwriter) है। साथ ही कुछ वर्ष पूर्व तक गैर–वित्तीय कंपनियाँ, व्यक्ति तथा कुटुम्ब आदि की भारत सरकार की प्रतिभूतियों में निवेश करने में रूचि अति कम थी। इससे सरकार की प्रतिभूतियों का बाजार अति संकीर्ण था। रिजर्व बैंक ने पिछले कुछ वर्षों में सरकारी प्रतिभूतियों के बाजार के विस्तारण और विकास हेतु सफल प्रयास किया है, और इससे सकल वित्तीय ढांचे के विकास में भी सहायता मिली है। अतः जहाँ पहले सरकार को लगभग–सारा आंतरिक ऋण रिजर्व बैंक, बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थानों से ही लेना पड़ता था, अब स्थिति बदल चुकी है। स्मरणीय है कि सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार संकीर्ण होने का एक दुष्परिणाम यह है कि लोक ऋण में बढ़ोतरी के साथ–साथ देश में प्रचलित मुद्रा की मात्रा और कीमतें भी बढ़ने लगती है।

3.अन्य देनदारियाँ :– लोक ऋण के ये घटक सामान्यतः आम जनता से प्राप्त होने हैं, अर्थात इसके ऋणदाता मुख्यतः व्यक्ति, कुटुम्ब तथा कर्मी वर्गों से आते है। कुछ वर्ष पूर्व तक सरकार लोगों की अल्प बचतों तथा भविष्य निधियों आदि से उधार लेने के लिए विविध प्रकार के प्रोत्साहन देती थी। परंतु अब स्थिति बदल रही है, और सरकार इस प्रोत्साहन नीति को तेज रही है। फिर भी लोक ऋण के इस मद–समूह में आनुपातिक कमी होने के कोई विशेष संकेत दिखाई नहीं देते।

1.8 ऋण का बोझ (Burden of Debt) :–

1. **विदेशी ऋण :–** विदेशी ऋण के कारण साधनों के एक प्रवाह की उत्पत्ति होती है। इस प्रवाह की दिशा ऋण की प्राप्ति के समय विदेशों से स्वदेश की ओर, तथा इसकी अदायगी के समय स्वदेश से विदेशों की ओर होती है। अतः मूल रूप से विदेशी ऋण का भारयुक्त होना अथवा न होना इस बात पर निर्भर करता है कि ऋण का आकार क्या है, इसकी शर्तें क्या है, इसके घटक कौन से हैं, तथा उसका प्रयोग किस प्रकार किया गया है। उदाहरणार्थ विदेशी ऋणों का प्रयोग जीवन उपयोगी दवाइयों, खाद्य पदार्थों, पूंजी वस्तुओं तथा उनके संरक्षण, तथा तकनीकी जानकारी आदि के लिए किया जा सकता है। इसके विपरीत उनसे प्राप्त साधन अनावश्यक उपभोग की वस्तुओं पर अपव्ययित भी हो सकते है। इस प्रकार विदेशी ऋणों का बोझ तीन बातें पर निर्भर करता है–

- ऋणों पर ब्याज की दरें तथा अदायगी की अन्य शर्तें
- निर्यात क्षमता का सृजन
- देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि।
- भारत सरकार को अधिकतर विदेशी उधार रियायती शर्तों पर प्रापत हुए है। इनकी ब्याज की दरें कम तथा अदायगी की अवधियाँ लंबी हैं। कुछ ऋण बिना ब्याज भी है। इन बातों के कारण भारत सरकार के विदेशी ऋण का बोझ देश पर काफी कम होना चाहिए, परंतु कुछ कारणों से वास्तविकता में ऐसा नहीं है।
- भारत सरकार ने कई ऐसी परियोजनाओं और स्कीमों के लिए भी विदेशों से ऋण लिए हैं, जिनके लिए विदेशी साधनों अथवा आयातित वस्तुओं/सेवाओं की कोई आवश्यकता नहीं थी। इस नीति के कारण उच्च प्राथमिकता वाली बहुत–सी परियोजनाएं तथा स्कीमें केवल विदेशी सहायता के 'अभाव ' के कारण नहीं अपनाई गई, अथवा मंद गति से कार्यान्वित की गई।
- सरकार ने इस तथ्य पर विशेष ध्यान नहीं दिया कि हमारी निर्यात क्षमता में समुचित बढ़ोतरी के बिना विदेशी ऋणों का भुगतान करने की कठिनाईयाँ बढ़ जाती है।
- विदेशी सहायता के आधार पर तथा अन्य प्रकार से भी बहुत से ऐसे उद्योगों की स्थापना की गई जिनके कारण हमारी आयात–निर्भरता सुदृढ़ होती चली गई।

  इन सब बातों के कारण एक ऐसी स्थिति भी आई जब यह प्रतीत होने लगा कि विदेशी ऋण का आकार वहनीयता की सीमाएं लांघ चुका है और हम इसके फंदे में फस चुके हैं, अथवा कम से कम इसके कगार पर अवश्य खड़े है। परंतु सौभाग्यवश उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीति के कारण स्थिति सुधर चुकी है ; विदेशी ऋणदेयता वहनीय सीमाओं के अंदर है ; और संभवतः इसे बोझिल कहना भी उचित नहीं होगा।

2. आंतरिक ऋण :– आंतरिक ऋण से उत्पन्न संभावित बोझ को चार मापदंडों के आधार पर परखा जा सकता है–

1. साधनों का उत्पादकीय/गैर उत्पादकीय प्रयोग ;
2. आय तथा धन वितरण की असमानताओं पर प्रभाव ;
3. कीमतों पर प्रभाव, तथा
4. सरकार की बजट कार्य साधकता पर प्रभाव।

क. साधनों का प्रयोग :– लोक ऋण सरकार के उपभोग व्यय का वित्त पोषण किया जाए, अथवा इससे उन परियोजनाओं और स्कीमों का वित्त पोषण किया जाए जिनसे सरकार को राजस्व की प्राप्ति न होती हो, तो ऐसा लोक ऋण सरकार के लिए बोझ बन जाता है। सरकार आमतौर पर कुछ निर्दिष्ट परियोजनओं के लिए अलग से ऋण नहीं लती, प्रत्युत अपनी सकल वित्तीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए ऋण लेती है, तथा एकत्रित साधनों का एक भाग विभिन्न परियोजनाओं आदि पर लगाती है। लोक ऋण का उत्पादकीय प्रयोग जानने के लिए हमें सरकार के राजस्व खाते की संतुलन स्थिति पर ध्यान देना चाहिए। यदि सरकार का राजस्व खाता घाटे में है तो इसका अर्थ यह है कि सरकार अपने दैनिक व्यय की पूर्ति के लिए भी बाजार से उधार ले रही है।

एक अन्य विधि यह है कि सरकार के (1) 'पूंजी परिव्यय' और (2) 'उधार और अग्रिमों' के जोड़ की इसकी सकल देनदारियों से तुलना की जाए। इसके लिए (CLA) नामक एक अनुपात अर्थात्

(सकल देनदारियाँ–(पूंजी परिव्यय+सरकार द्वारा दिए गए उधार तथा अग्रिम + बाजार स्थिरीकरण के अंतर्गत नकद शेष)/ सकल देनदारियाँ

का अनुमान किया जा सकता है। इस अनुपात से यह पता चलता है कि एक विचारधीन तिथि पर केन्द्र की सकल देनदारियों के कितने भाग का प्रयोग परिसंपत्तियों के संग्रहण के लिए तथा कितने भाग का प्रयोग उपभोग आदि के लिए किया गया था।

भारत सरकार द्वारा ली गई उधार राशियों का उपयोग मार्च के तक की स्थिति

(रुपयों में)

	1950–51	2012–13	2013–14	2014–15	2015–16	2016–17	2017–18	2018–19
अ. पूंजी परिव्यय	1488.01	1325663	1491792	1662780	1940670	2315919	2416428	2680119
1. सामान्य सेवाएं	492.74	648489	736552	826738	918482	1017845	1119481	1230320
2. सामाजिक सेंवाएं	26.25	34226	38044	42915	48322	53618	62946	73910
3. आर्थिक सेवाएं	965.02	642948	717200	793128	973866	1114455	1231726	1871774
4. संघ क्षेत्रों को संवितरण							2275	4115
ब. केन्द्र से ऋ़ण (निवल)	220.68	754986	761835	801643	833089	883944	964693	1056720
जिस में राज्य सरकारों को	195.58	144812	145813	147167	148217	153463	162203	173195
स. (अ+ब)	1708.69	2080649	2253627	2464424	2773756	3069862	3381121	3736849
द. अल्प बचत निधि नकदी								
न. सकल देयताएँ *	2565.40	5070292	5669429	6242521	5901971	7435606	8232054	8958493
प. (न–स)	856.71	2989643	3415502	3777797	4127915	4365899	4851533	5221354

फ. (प/न) (%)	33.4	59.0	60.2	60.5	69.9	58.7	58.9	58.3

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि 1950–51 के अंत पर यह अनुपात 33.4 प्रतिशत था, अर्थात केन्द्र की परिसंपत्तियों इसकी बकाया देनदारियों से लगभग एक तिहाई कम थीं। इसके बाद के कुछ वर्षो में इस स्थिति में आंशिक सुधार आया था, परंतु शीघ्र ही स्थिति बिगड़ने लगी। वर्तमान में यह अनुपात 58 प्रतिशत के आस पास चल रहा है। निष्कर्ष यह कि इस मापदंड के अनुसार केन्द्र सरकार के द्वारा उधार ली गई राशियों का उत्पादित आर्थिक प्रयोग करने में असफल रहा है और इस कारण इसका लोक ऋण अर्थव्यवस्था पर एक बोझ का स्त्रोत है।

यह कि पूंजी परिव्यय की मद से भी सरकार को समुचित राजस्व की प्राप्ति नहीं हो पाती। अधिकतर लोक उद्यम सरकारी बजट के घाटे में वृद्धि का कारण ही बनते है। बहुत सारा परिव्यय तो ऐसी स्कीमों में लगा है जिन्हें निवेश परिव्यय में नहीं गिना जा सकता। इसी प्रकार सरकार द्वारा दिए गए उधार तथा अग्रिमों का भी उपयोग इस प्रकार नहीं किया गया कि देश की उत्पादन क्षमता में तदनुरूप बढ़ोतरी हो सके।

(ख) आय और धन वितरण की असमानताएं :– केन्द्र की देनदारियों के स्वामित्व पर दृष्टि डालने से विदित होना है कि केन्द्रीय ऋण प्रत्यक्ष रूप से वितरणीय असमानताओं में वृद्धि का कारण नहीं बनता परंतु आंतरिक ऋण परोक्ष रूप से असमानताओं को बढ़ाता है। इसका कारण यह है कि आंतरिक ऋण के एक मोटे भाग के आधार पर मुद्रा और साख में बढ़ोतरी के माध्यम से मांग और कीमतों पर दबाव बढ़ता है जिससे वितरण की असमानताएँ बढ़ती है।

कीमतों में वृद्धि :– भारत सरकार के ऋण द्वारा कीमतों पर काफी दबाव पड़ता है। इसके कई कारण है–

- केन्द्र द्वारा लिए जाने वाले उधारों की राशियाँ इतनी बड़ी होती है कि उनसे ब्याज दर में वृद्धि की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन लागत और कीमतों में भी बढ़ोतरी होती है।
- केन्द्र ने उधार राशियों का एक बड़ा अनुपात भारतीय रिजर्व बैंक से लिया है, जिससे प्रचलित मुद्रा और साख मात्रा में वृद्धि होती है तथा मांग और कीमतों पर दबाव बढ़ता है।
- केन्द्र ने उधार राशियों के एक बड़े भाग का प्रयोग अपने चालू खाते की मदों के वित्त पोषण के लिए किया है, तथा पूंजी परिव्यय तथा अन्य पार्टियों को दिए गए उधार और अग्रिमों से भी मांग की तुलना में वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धता का अभाव बनाए रखने में योगदान दिया है।

1.9 सारांश (Summary) :-

भारत के द्वारा विदेशों से जो ऋण लिए गये हैं, उनका उपयोग अनुचित ढंग से किया गया है। कुछ तर्क है कि विशाल मात्रा में विदेशी ऋणों के लेने के बाद भी जनसाधारण का कोई विशेष कल्याण नहीं हो सका है। ऋण के अतिरिक्त विदेशी सहायता तथा घरेलू साधनों के हेतु हुए भी विनियोग का स्तर इतना निम्न क्यों हो गया ? सम्भवतः विदेशी ऋणों से विलासिता को अधिक बढ़ावा मिला है। प्रशासन को सावधान होना चाहिए था तथा सरकार को चाहिए था कि वह विदेशी ऋणों को उत्पादक कार्यो में लगाती जिससे भविष्य में मूलधन व ब्याज के भुगतान की समस्या का सामना न करना पड़ता। सरकार को निर्यात संवर्द्धन पर तेजी के साथ कार्य करने की आवश्यकता है। यह भी सत्य है कि किसी देश का कार्य बिना ऋण के नहीं चल सकता है और केवल ऋणों के सहारे अपनी अर्थव्यवस्था को पाला नहीं जा सकता है। भारत को चाहिए कि वह अपने गैर – विकास व्यय में कमी करे और आन्तरिक साधनों का उपयोग मितव्ययितापूर्वक करें। व्यक्तिओं के विलासितापूर्ण उपभोग पर धीरे–धीरे नियंत्रण किया जाए तथा बेकार पड़े हुए साधनों का अधिकाधिक उपयोग किया जाय। अन्त में कहना है निर्यात को प्रोत्साहित किया जाए और आयात को जरूरत की वस्तुओं को छोड़कर हतोत्साहित किया जाना चाहिए।

1.10 शब्दावली (Keywords) :-

1. लोक ऋण (Public Debt)
2. ऋणदेयताएं (Debt Liabilities)

3. आंतरिक ऋण (Internal Debt)
4. राष्ट्रीय लघु बचत निधि ऋण (National Small Saving Fund)
5. विदेशी ऋण (Foreign Debt)
6. ऋण का बोझ (Burden of Debt)
7. आरक्षित निधियाँ और जमा (Reserve Funds and Deposit)
8. ऋण की वहनीयता (sustainability of Debt)
9. इष्टतम दोहन (Optimum Exploitation)
10. लोक ऋण (Public Debt)
11. प्रभावी राजस्व घाटा (Effective Revenue Deficit)

1.11 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :-

1. लोकवित्त; डॉ0 एस0 के0 सिंह साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
2. लोक अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण पब्लिकेशन्स, आगरा
3. लोक वित्त, एच0एल0 भाटिया, विकास पब्लिसिंग हाऊस प्र0 लि0, नोयडा भारत।
4. लोक वित्त, डॉ0 जे0सी0 वार्ष्णेय, एस0बी0टी0पी0 पब्लिसिंग, हाऊस, आगरा।

1.12 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) :-

1. भारत सरकार की ऋणदेयताओं का विस्तृत विवेचना कीजिए।
2. भारत सरकार के विदेशी और आंतरिक ऋण के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
3. आन्तरिक ऋण के प्रमुख कारकों की व्याख्या कीजिए।
4. आन्तरिक ऋण की अन्य मदों को स्पष्ट कीजिए।
5. ऋण देयताओं की वृद्धि के कारणों की विवेचना कीजिए।
6. ऋण का बोझ पर एक लघु लेख लिखिए।
7. स्वामित्व ढांचा को बताइये।
8. बाजार उधार की विशेषताएं बताइए।

1.13 वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर (Objective Questions Answers) :-

1. राष्ट्रीय लघु बचत निधि की स्थापना कब हुई थी?
   क. 01/04/199 ख. 01/04/2007
   ग. 01/04/2017 घ. 01/04/2022
   (उत्तर क)
2. लोक ऋण का मूल अर्थ है–
   क. धन का समान वितरण ख. सरकार की वित्तीय देनदारियाँ
   ग. आर्थिक सहायता घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
3. लोक ऋण को कितने भागों में बाटा गया है?
   क. 04 ख. 03 ग. 02 ध. 06
   (उत्तर ग)
4. भारतीय संविधान के अनुसार राज्य सरकारें विदेशों से ऋण ले सकती हैं?
   क. हाँ ख. नहीं ग. उपर्युक्त दोनो घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
5. भारत सरकार के विदेशी ऋण में मदें सम्मिलित रहती हैं–
   क. बहुपक्षीय और द्विपक्षीय स्त्रोतों से ऋण
   ख. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार
   ग. सरकारी प्रतिभूतियों में विदेशी वित्तीय संस्थाओं द्वारा निवेश
   घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
6. निधिकरण का अभिप्राय है–
   क. अल्पावधिक उधार को स्थायी उधार में परिवर्तित करना
   ख. दीर्घकालीन उधार को स्थायी उधार में परिवर्तित करना

ग. उपर्युक्त दोनों
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)

7. विदेशी ऋणों का बोझ किन बातों पर निर्भर करता है–
क. ऋणों पर ब्याज की दरें तथा अदायगी की शर्तें
ख. निर्यात क्षमता का सृजन
ग. देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

8. आन्तरिक ऋण के बोझ के कारण हैं:
क. साधनों का उत्पादकीय और गैर–उत्पादकीय प्रयोग
ख. आय तथा धन वितरण की असमानताओं पर प्रभाव
ग. कीमतों पर प्रभाव
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

9. आन्तरिक ऋण के प्रमुख कारक हैं:
क. बाजार उधा
ख. विशेष प्रतिभूतियाँ
ग. राजकोषीय हुंडियाँ
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

10. ऋण देयताओं के वृद्धि का कारण हैं:
क. बढ़ता व्यय
ख. साधन स्त्रोतों का अपूर्ण दोहन
ग. विदेशी ऋणों में वृद्धि
घ. उपर्युक्त सभी
(उत्तर घ)

भारत में युद्ध वित्तपोषण की प्रवृत्तियाँ
Tendencies in War Financing in India

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 युद्ध की खर्चीली प्रकृति
1.3 युद्ध की मौद्रिक लागत
1.4 युद्ध के लिए साधनों को गतिशील करना
1.5 युद्ध वित्त की महत्वपूण विधियाँ
1.6 भारत में युद्ध – वित्त
1.7 युद्ध वित्त के प्रभाव
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.11 अभ्यास प्रश्न
1.12 .वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

युद्ध पैदल सेना, वायु सेना तथा समुद्री सेना तरह से लड़ा जाता रहा है। नाभिकीय युद्ध का खतरा बढ़ जाने से यह ज्ञात करना कठिन है कि युद्ध में किस राष्ट्र की कितनी हानि हुई है। फिर भी रक्षा बजटों की बढ़ती हुई बाढ़ को देखकर यही कहा जा सकता है कि अब युद्ध लड़ना काफी महंगा हो गया है, फिर भी युद्ध लड़े जा रहे है। अमेरिका का 1984–85 का बजट 925 अरब डालर का था। इसमें से 300 अरब डालर सुरक्षा पर व्यय हुआ। अमेरिका द्वारा वर्ष 2011 में ईराक तथा अफगानिस्तान के साथ युद्ध में 644 अरब डॉलर खर्च किये जाने की सम्भावना है। यह सैनिक व्यय बजट गत वर्ष से 13 प्रतिशत बढ़त का बजट है। इस प्रकार वहां के कुल बजट का लगभग एक तिहाई केवल सैनिक सुरक्षा पर व्यय किया जायेगा। इसके अतिरिक्त, गैर सैनिक बजट में राष्ट्रीय सुरक्षा , विदेशों को सहायता, नाभिकीय अनुसन्धान और अन्तरिक्ष योजना आदि पर व्यय करने का जो प्रावधान है वह अलग। वर्ष 2013 के अमेरिकी संघीय बजट में सुरक्षा पर 672 लाख करोड़ डॉलर खर्च किये जाने का अनुमान है।

युद्ध में आने वाली लागतें लगातार बढ़ती जा रही है। प्रथम विश्व युद्ध जब हुआ था तो उस समय जो खर्चा हुआ वह खर्चा उससे पहले लड़े गये युद्धों से कहीं अधिक था। 19 वीं शताब्दी के युद्धों को लड़ने में राष्ट्रीय आय की 8 प्रतिशत से 13 प्रतिशत तक की राशि खर्च हो गयी थी। प्रथम विश्व युद्ध में तो यह खर्चा 50 प्रतिशत तक हो गया था। द्वितीय विश्व युद्ध में यह राशि बढ़कर 60 प्रतिशत से 70 प्रतिशत तक पहुंच गयी थी। एक अनुमान के अनुसार, युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में ब्रिटेन का युद्ध में औसत दैनिक व्यय 130 लाख पौण्ड था और बाद के वर्षों में तो यह खर्चा और भी अधिक बढ़ गया था।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :-

1. युद्ध की मौद्रिक लागत जान सकेंगे।
2. युद्ध के लिए साधनों की गतिशीलता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
3. आन्तरिक व बाह्य ऋणों की आवश्यकता को जान सकेंगे।
4. युद्ध में धन जुटाने के साधनों की जानकारी हो सकेगी।

1.2 युद्ध की खर्चीली प्रकृति (Costliness of war):– वर्तमान में युद्ध के बढ़ते हुए व्ययों के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैः–

1. **महंगे अस्त्र शस्त्रों का निर्माण :–** वैज्ञानिक प्रयोग ने युद्ध की सामग्री को काफी महंगा बना दिया है। प्राचीन काल का युद्ध तलवार व भाले से लड़ा जाता था परन्तु आज की लड़ाई रॉकेटों से

लड़ी जा रही है। अब सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके खर्च में कितना अन्तर है।

2. युद्ध का आकार अन्तर्राष्ट्रीय :– युद्ध छूत की बीमारी बन चुका है। जब दो राष्ट्रों के बीच युद्ध लड़ा जाता है, तो यह देखा जाता है कि कौन राष्ट्र पूंजीवादी है और कौन समाजवादी, कौन किस गुट का है। स्थिति स्पष्ट हो जाने पर शेष राष्ट्र अप्रत्यक्ष रूप से अपने अपने खेमे के राष्ट्र को आंख बन्द करके अस्त्र शस्त्रों की सहायता पहुंचाते है जिससे सहायता देने वाले राष्ट्र भी छद्म युद्ध लड़ते है। इस प्रकार युद्धों का आकार अन्तर्राष्ट्रीय होने से इनकी लागत बढ़ गयी है।

3. युद्ध का बहुत बड़े पैमाने पर लड़ा जाना :– प्राचीन काल का युद्ध आमने सामने व छोटे पैमाने पर हाथी घोड़ों की पीठ पर लड़ा जाता था, परन्तु आज पूरे राष्ट्र की शक्ति युद्ध के संचालन में लगानी होती है। आज का युद्ध नाभिकीय युद्ध है। जब तक इसे बड़े पैमाने पर नहीं लड़ा जाता है, तब तक हार जीत का निर्णय नहीं होता है। बड़े पैमाने पर युद्ध लड़ने के लिए बड़े पैमाने पर व्यय करना होता है।

4. सम्पूर्ण साधनों को गतिशील बनाना :–युद्ध लड़ने वाले राष्ट्रों को अपने सम्पूर्ण साधनों को युद्ध की ओर गतिशील करना होता है यहां तक कि उसके जो साधन विकास कार्यों पर लगे हुए हैं उन्हें भी वह युद्ध की ओर लगा देता है। साधनों को युद्ध की ओर लगाने से युद्ध व्यय स्वतः ही बढ़ जाता है।

युद्ध व्यय में वृद्धि के बारे में टेलर लिखते हैं कि ''युद्ध कला में तेजी से प्रगति के कारण युद्ध के उपकरण अत्यधिक महंगे हो गये हैं। साथ ही नित्यप्रति दिन होने वाले आविष्कारों के कारण युद्ध सामग्री जल्दी जल्दी पुरानी पड़ जाती हैं। युद्ध में घायल व्यक्तियों और उनके परिवारों की देखभाल तथा बोनस, शिक्षा और पुनर्वास के रूप में उन्हें सहायता देने के सम्बन्ध में सरकार के उत्तरदायित्वों के कारण युद्ध में होने वाले व्यय बढ़ गये है।''

वर्तमान समय का युद्ध मानवीय शक्ति की अपेक्षा मशीनी शक्ति से अधिक लड़ा जाता है। मशीनी शक्ति मानवी शक्ति से कहीं अधिक महंगी हो गयी है। अतः प्रत्येक राष्ट्र को अपने संसाधनों की सहायता से युद्ध का संचालन करना होता है।

1.3 युद्ध की मौद्रिक लागत (Money cost of war) :– युद्ध की मौद्रिक लागतों के बारे में पीगू का कहना है कि ''यद्यपि युद्ध की मौद्रिक लागतों का अनुमान लगाया जा सकता है, परन्तु युद्ध की वास्तविक लागत को ज्ञात करना सम्भव नहीं है, जो कि मानव व सम्पत्ति की होने वाली हानि के रूप में बहाये गये खून आदि के रूप में ही होती है।'' युद्धों से राष्ट्र का जो नैतिक पतन एवं मौद्रिक ह्रास होता है, उसकी सम्भवतः गणना नहीं की जा सकती है। फिर भी, युद्ध की मौद्रिक लागत की गणना युद्ध कालीन सरकारी बजटों से की जा सकती है। प्रथम विश्व युद्ध की जो मौद्रिक लागत थी, वह पहले किसी भी युद्ध की लागत से बहुत अधिक थी। 19 वी शताब्दी के युद्धों में भाग लेने वाले देशों को राष्ट्रीय आय का लगभग 8 प्रतिशत लेकर 13 प्रतिशत तक युद्ध में व्यय हुआ था। यह औसत प्रथम महायुद्ध में बढ़कर 50 प्रतिशत हो गया तथा द्वितीय महायुद्ध में 60 से 70 प्रतिशत तक हो गया।

1.4 युद्ध के लिए साधनों को गतिशील करना (Mobilising Resourses for War) :– युद्ध के समय सरकार को अपने सभी मानवीय तथा भौतिक साधनों को युद्ध में लगाना होता है। मानवीय साधनों के अन्तर्गत मानसिक एवं शारीरिक श्रम जैसे इन्जीनियर, डॉक्टर तथा मजदूर, भौतिक साधनों जैसे भूमि, भवन, खनिज, उद्योग–धन्धे, यन्त्र, रेल, यातायात, व्यापारिक प्रतिष्ठान आदि सब को युद्ध की ओर लगाना होता है। इसलिए सरकार को पूरा अधिकार है कि वह अनिवार्य रूप से इन साधनों को युद्ध में काम आने वाली वस्तुओं के उत्पादन करने का निर्देश दें। यही नहीं, यदि आवश्यकता पड़े तो व्यक्तियों को सेना में भर्ती होने के लिए भी विवश किया जा सकता है, जैसा कि वियतनाम के साथ अमेरिकी युद्ध के समय अमेरिका ने किया था।

सरकार सामान्य व्ययों की पूर्ति तो कर व ऋणों से कर सकती है, परन्तु युद्ध के समय करारोपण सुविधाजनक नहीं होता है। जहां तक ऋणों की बात है उन्हें आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अतः युद्ध लड़ने वाले राष्ट्र को आय प्राप्ति के सभी साधनों को अपनाना होता है। आज कुशल वित्त प्रबन्ध युद्ध प्रयत्नों का एक अनिवार्य अंग बन गया है। इसलिए यह आवश्यक है कि युद्ध के संचालन के लिए साधनों को गतिशील बनाया जाय, अतः इसके लिए कार्यक्रमों को अपनाया जाना चाहिए :–

1. व्यक्तिगत उपभोग में कमी करना (Reduction in Private Consumption) :– युद्ध काल में मुख्य समस्या उपभोग में कमी करने की है, क्योंकि लगभग सभी कारखानों, उद्योग–धन्धों और कृषि उत्पादन को युद्ध में काम आने वाली वस्तुओं के निर्माण की ओर लगाया जाता हैा उपभोग में कमी लाने के लिए राशिनिंग की व्यवस्था की जानी चाहिए। सन् 1965 में भारत के प्रधानमन्त्री स्वर्गीय

लालबहादुर शास्त्री ने सम्पूर्ण देश में सोमवार को भोजन न करने की अपील की थी। उस समय युद्ध में लड़ने वाले सैनिकों तथा उनके परिवारों को पर्याप्त मात्रा में राशन , कपड़ा तथा अन्य उपभोग की सामग्री देनी थी। इस प्रकार कुल मिलाकर सरकार ऐसे उपाय करती है, जिससे युद्ध लड़ने की सामग्री प्राप्त हो सके।

2. **पूंजी निवेश को अन्तरित करना (Diversion of Capital Investment to war Productions):–** युद्ध के समय यह आवश्यक है कि देश की पूंजी को वर्तमान उत्पादन से हटाकर युद्ध की ओर लगाया जाय। चालू आय में से प्राप्त होने वाली धनराशि को भी युद्धकालीन गतिविधियों की ओर मोड़ देना चाहिए। पीगू ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि '' सामान्य मरम्मत तथा पुनर्स्थापित किये जाने वाले कार्यों को रोककर रेल मार्गों की मरम्मत का कार्य स्थगित करके , पुरानी तथा घिसी हुई मशीनों को चालू रखकर और भूमि का पूर्ण शोषण करके उससे लगातार फसलें प्राप्त करके तथा भूमि में उस कमी की पूर्ति के लिए पर्याप्त खाद न देकर उन साधनों के अलावा, जो कि सामान्य रूप से धन के उत्पादन में लगाये जाते हैं, अतिरिक्त साधन प्राप्त किये जा सकते हैं और उनके युद्ध का सामना करने में लगने वाली राष्ट्र की तत्कालीन आर्थिक शक्ति में वृद्धि की जा सकती है।''

3. **उत्पादन में वृद्धि (Expansion of Production):–** शान्ति काल की अपेक्षा युद्ध के समय वस्तुओं की खपत बढ़ जाती है। अतः उत्पादन को तेजी से बढ़ाना चाहिए। खेत खलिहान व कारखानों में रात दिन काम करने के आदेश पारित किये जाने चाहिए। अतिरिक्त श्रम शक्ति व पूंजी का निवेश उन प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए किया जाना चाहिए , जो अभी तक अछूते हैं। नये व पुराने विनियोगकर्ताओं को प्रोत्साहित कर उत्पादन को बढ़ाना चाहिए। भारत में पाकिस्तान के साथ युद्ध के समय, स्वर्गीय प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने जय जवान, जय किसान' का नारा दिया था, क्योंकि जहां सैनिक युद्ध के मोर्चे पर लड़ता है वहीं किसान भी उत्पादन के मोर्चे पर लड़ रहा होता है, इसलिए किसान की भी जय होनी आवश्यक है। यहां तक कि घर के काम काज में लगी महिलाओं की सेवाओं को भी सेना में काम आने वाली वस्तुओं , जैसे कढ़ाई–बुनाई, रंगाई, डिब्बा बन्दी आदि के लिए लगाया जा सकता है। कारखानों में हड़ताल, तालाबन्दी आदि को समाप्त किया जाय। यदि सम्भव हो तो कानूनन इस पर राके लगा दी जाय। कारखानों में अधिक से अधिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए निम्नलिखित बातें भी महत्वपूर्ण हैः

1. बेकार पड़े साधनों को कारगर बनाना
2. काम के घण्टों व काम पालियों में वृद्धि करना
3. तकनीकी प्रशिक्षण से कार्य कुशलता में वृद्धि करना
4. उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन लाना तथा शान्ति काल की अपेक्षा युद्धकालीन उद्देश्य की पूर्ति करना
5. औद्योगिक अनुसन्धानों पर ध्यान देना
6. श्रम कानून में सुधार करना, आदि।

4. **विदेशी पूंजी की बिक्री (Sale of foreign capital):–** सामान्य परिस्थितियों में एक देश दूसरे देश में विनियोग करता है। परन्तु युद्ध के समय पूरा ध्यान युद्ध के संचालन व देश की सुरक्षा में लगाना होता है। युद्ध के समय विदेशों में लगी पूंजी को बेचकर युद्ध की सामग्री क्रय की जा सकती है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय इंग्लैण्ड ने अपनी पूंजी को जो अमेरिका में लगी थी, अमेरिका के हाथ बेचकर उसके बदले में युद्ध में काम आने वाली सामाग्री को क्रय कर लिया था।

5. **अन्य उपाय :–** सरकार पूंजीगत वस्तुओं को युद्ध की ओर लगाने का अधिकार अपने हाथ में ले लेती है। उपभोग में काम आने वाली वस्तुओं के संग्रह को भी युद्ध की ओर मोड़ा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त जब युद्ध का संचालन कठिन हो जाता है तब सरकार देश से कलात्मक व बहुमूल्य वस्तुओं को बेचना प्रारम्भ कर देती है, और इस प्रकार बेकार पड़ी वस्तुओं से आय प्राप्त कर समस्या का समाधान ढूंढ लिया जाता है।

1.5 युद्ध वित्त की महत्वपूर्ण विधियाँ (Important means of war finance) :– युद्ध वित्त की कुछ महत्वपूर्ण वित्तीय विधियां हैं :–

अ. कराधान (Taxation) :– युद्ध के लिए धन प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य है। इसलिए सरकार आय के लगभग सभी स्त्रोतों से धन जुटाती है। युद्ध के समय सरकार का उद्देश्य यह नहीं होता है कि उसे किस स्त्रोत से कितनी आय मिल रही है, अपितु उसका उद्देश्य यह होता है कि सभी स्त्रोतों से कुछ न कुछ आय अवश्य प्राप्त होनी चाहिए।

करों से प्राप्त होने वाली आय इस बात पर निर्भर करती है कि करों की प्रकृति कैसी है तथा लोगों की मांग की लोच व वस्तुओं की पूर्ति की लोच कैसी है। उदाहरण के लिए, आय–कर अत्यन्त लचीला होता है। इससे संकटकाल में पर्याप्त आय प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि युद्ध के समय व्यापारी वर्ग को अन्य वर्गों की अपेक्षा लाभ होता है, इसलिए उन पर आसानी से करारोपण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त व्यापारियों, ठेकेदारों, विनियोगकर्ताओं की अतिरिक्त आमदनी पर विशेष कर लगा कर भी आय प्राप्त की जा सकती है। इसमें मुख्य रूप से ऊँची आमदनियों पर अतिरिक्त कर आय कर पर अधिभार, अतिरिक्त लाभ कर , सम्पत्ति कर, मृत्यु कर आदि है। युद्ध के समय जो करारोपण किया जाता है। उसके पक्ष व विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये गये हैं:

करारोपण के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of taxation) :– करारोपण के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते है:

1. **मुद्रा प्रसार का भय कम** :– युद्ध के समय लगाये गये करों का उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना नहीं बल्कि मुद्रा प्रसार को भी रोकना है। यदि नोट छाप कर उस आय को युद्ध संचालन में लगाया जाता है तो मुद्रा प्रसार बढ़ेगा, परन्तु करारोपण से मुद्रा पर रोक लगेगी।
2. **औचित्यपूर्ण** :– युद्ध के समय धनी वर्ग को लाभ होता है, जबकि निर्धनों के परिवार युद्ध में लड़ते मरते हैं, और अपंग हो जाते है। इसलिए धनिकों पर करों का लगना उचित है।
3. **फिजूलखर्ची पर रोक** :– युद्ध के समय लोगों की क्रय शक्ति बढ जाने से व्यापारियों, निर्माण कर्ताओं, ठेकेदारों, उत्पादकों व विनियोकर्ताओं की आय में वृद्धि होती है। इस प्रकार की अप्रत्याशित आय से लोगों की फिजूलखर्ची बढ़ती है। इसलिए प्रगतिशील दरों से लगाये जाने वाले कर लोगों की फिजूलखर्ची को रोक सकते है।
4. **भुगतान की समस्या नहीं** :– ऋणों के भुगतान की समस्या होती है, परन्तु करों से आय प्राप्त करने के बाद उनके भुगतान की समस्या **नहीं है**। करों का भार भावी पीढ़ी पर भी नहीं पड़ता है। अतः करारोपण को अन्य साधनों से उपयुक्त समझा जाता है।

करारोपण के विपक्ष में तर्क (Arguments against taxations):– करारोपण के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते है:

1. **मनोवैज्ञानिक प्रभाव** :– युद्ध के समय करारोपण का प्रभाव धनी वर्ग पर अधिक पड़ता है। धनी वर्ग यह सोचता है कि त्याग व परिश्रम से प्राप्त की जाने वाली आय पर ही सरकार कर लगाती है। जो लोग काम नहीं करना चाहते उन सब को करों मे छूट दे दी जाती है। इसलिए कहा जाता है कि करारोपण सक्रिय लोगों को भी निष्क्रिय बना देता है।
2. **पर्याप्त आय का सुलभ न होना** :– करारोपण के विपक्ष में यह कहा जाता है कि जिस अनुपात से युद्ध में व्यय होता है उसकी तुलना में करों से उतनी आय प्राप्त नहीं होती है जबकि करदाताओं का त्याग बढ़ता है। यह त्याग लोगों में असन्तोष बढ़ाता है। सरकार को युद्धों का संचालन करने के लिए करों से तुरन्त आय भी नहीं मिल पाती है। इसलिए युद्ध के समय अतिरिक्त कर लगाना अनुचित है।
3. **काम करने व बचत करने की योग्यता तथा इच्छा पर बुरा प्रभाव** :– युद्ध के समय पुराने करों में वृद्धि करने व नये करों को लगाने से कर भार में वृद्धि होती है जिसके कारण व्यक्तियों की आय कम हो जाती है। इसका बुरा प्रभाव बचतों पर भी पड़ता है। दूसरी ओर, यदि सरकार एक निश्चित सीमा के बाद करारोपण की दरों मे वृद्धि करती है, तो इससे लोगों की काम करने की योग्यता घटती है। प्रायः इस प्रकार के प्रभावों के कारण अर्थव्यवस्था पर बुरे परिणाम होते है।
4. **करदाताओं को कष्ट** :– सरकार जब भी कर लगाती है, तब करदाताओं को कष्ट होता है, परन्तु युद्ध के समय लगाये गये करों का भार और भी अधिक कष्टप्रद होता है। इसलिए युद्ध के समय भी उन्हीं करों से आय प्राप्त की जानी चाहिए जो कर शान्ति के समय लगाये गये थे।

ब. ऋण (Loan) :–आय के संग्रह में करों का थोड़ा बहुत सहारा तो है, परन्तु युद्ध करों के बलबूते पर नहीं लड़ा जाता है। इसलिए सरकार को आन्तरिक एवं बाह्य ऋणों की सहायता लेनी होती है। आन्तरिक ऋण व्यक्तियों, कम्पनियों तथा बैंको से प्राप्त किये जाते है, जबकि बाह्य ऋण विदेशों से प्राप्त किये जाते है। युद्ध के संचालन के लिए ऋण लेना चाहिए अथवा नहीं, इसके पक्ष व विपक्ष में अनेक तर्क दिये गये हैं।

ऋणों के पक्ष में तर्क (Arguments in favour on Loans) :–

1. **मुद्रा प्रसार का भय** :– ऋण के पक्ष में यह कहा जाता है कि युद्ध के समय मुद्रा प्रसार होता है। जैसे मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए करारोपण उपयोगी है, ठीक उसी प्रकार सार्वजनिक ऋणों से

अतिरिक्त क्रय शक्ति प्राप्त करके मुद्रा प्रसार को रोका जा सकता है तथा सरकार को युद्ध के संचालन के लिए धनराशि उपलब्ध हो जाती है।

2. **त्याग में कमी :–** सरकार जब लोगों पर कर लगाती है तो लोगों का त्याग बढ़ता है। लेकिन ऋण पर लोगों को ब्याज मिलता है जिससे उनको किसी भी प्रकार का त्याग नहीं करना पड़ता है। इसलिए ऋण देने वाले व्यक्ति सरकार को आसानी से ऋण दे देते है।

3. **काम करने व बचत करने की इच्छा तथा योग्यता पर अच्छा प्रभाव :–** करों का तो प्रतिकूल प्रभाव देखा जा सकता है परन्तु ऋणों का प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। लोगों से ब्याज पर रूपया उधार लिया जाता है जो उनकी आय में वृद्धि करता है।

ऋणों के विपक्ष में तर्क (Arguments against Loans) :– ऋण लेने के विपक्ष के निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं:

1. **ऋण भार :–** युद्ध के समय जो ऋण लिया जाता है, युद्ध के बाद उस ऋण का भार भावी पीढ़ी पर पड़ता है। युद्ध के समय सरकार आर्थिक संकट में रहती है और युद्ध की समाप्ति के बाद उसके सामने ब्याज और मूलधन के भुगतान की समस्या आती है। यदि सरकार निश्चित अवधि के भीतर ब्याज तथा ऋणों का भुगतान नहीं कर पाती है, तो उसकी साख पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

2. **ऋण केवल साधन हो सकता है, साध्य नहीं :–** युद्ध में इतने बड़े पैमाने पर व्यय किया जाता है कि उसकी पूर्ति अकेले ऋणों से सम्भव नहीं है। ऋणों से आंशिक मात्रा में ही धन प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए ऋण युद्ध का साध्य नहीं हो सकता है।

3. **आर्थिक असमानता :–** युद्ध के संचालन के लिए जो ऋण लिये जाते है उनसे आर्थिक असमानता बढ़ती है। सरकार धनी वर्ग से ऋण प्राप्त करती है और निर्धनों पर कर लगाकर इसका भुगतान करती है। परिणामस्वरूप धनिकों की आय में वृद्धि होती है, जबकि निर्धनों की आय में कमी। इसलिए लोगों का यह मत है कि युद्ध के समय लिया गया ऋण आर्थिक असमानता को बढ़ाता है। अतः ऋण नहीं लिया जाना चाहिए।

4. **मुद्रास्फीति :–** युद्ध काल में मुद्रा प्रसार का भय रहता है, फिर सरकार जो ऋण लेती है उससे मुद्रा प्रसार और भी बढ़ता है। यह तब होता है जब ऋणदाता अपनी पूर्व बचतों से .ऋण न देकर बैंको से उधार लेते है।

5. **अपव्यय :–** युद्ध के समय जो ऋण लिया जाता है उस ऋण को लेने में न तो सरकार को त्याग करना पड़ता है और न ही उसे किसी प्रकार का कष्ट होता है, इसलिए ऋण का उपयोग अपव्ययतापूर्व कर दिया जाता है।

कर बनाम ऋण (Taxation Vs. Loans) :– युद्ध के समय कर तथा ऋण दोनों का उद्देश्य समान होता है। दोनों साधनों का ध्येय आय प्राप्त करना है और दोनों ही क्रियाओं से लोगों की क्रय शक्ति में कमी आती है, अर्थात् इन दोनों का प्रभाव मुद्रा प्रसार के विपरीत होता है। परन्तु इन दोनों का ध्येय समान होते हुए भी इन दोनों में अन्तर भी है। कुछ बातों में करारोपण उपयुक्त है तो कुछ बातों में ऋण, अतः दोनों के अन्तर को नीचे दिया जा रहा है:

1. **त्याग के दृष्टिकोण से अन्तर :–** लोगों को कर देना उतना अच्छा नहीं लगता जितना कि ऋण देना, क्योंकि करों से लोगों को त्याग करना पड़ता है जबकि ऋण के बदले में उन्हें ब्याज मिलता है और वह उनकी आय होती है। यदि सरकार ऋणों को लेना छोड़ दे और सम्पूर्ण आय करों से ही प्राप्त करना चाहे तो कर भार में वृद्धि होगी जिससे पूंजी के निर्माण में कमी आयेगी, फलतः उत्पादन घटेगा। अतः करों की अपेक्षा ऋण उपयुक्त होते हैं।

2. **सीमा के दृष्टिकोण से अन्तर :–** करों की दर निश्चित होती हैं। लोगों में कर देने की क्षमता अधिक होने पर भी वे उतना ही कर देंगे जितना उन पर लगाया गया है। ऋणों की सीमा बांधी नहीं जा सकती है। लोगों में जितनी सामर्थ्य होती है वह उतना देते हैं और पर्याप्त मात्रा में देते है। इससे सरकार के हाथों में व्यय करने के लिए अधिक धनराशि आ जाती है। अतः करों की तुलना में ऋण अधिक उपयोगी हो सकते है।

3. **भार के दृष्टिकोण से अन्तर :–** युद्ध के संचालन के लिए लगाये जाने वाले करों का सम्पूर्ण भार वर्तमान पीढ़ी को भोगना पड़ता है। एक ओर वर्तमान पीढ़ी युद्ध के परिणामों से दुख भोगती है और दूसरी ओर करारोपण का प्रभाव उनकी आर्थिक स्थिति को दयनीय बना देते है। परन्तु ऋणों के भार का अन्तरण भविष्य के लिए किया जाता है। वर्तमान में जो लोग युद्ध से दुखी हैं उन्हें ब्याज का लाभ मिल जाता है और ऋणों के भुगतान का भार भावी पीढी पर डाल दिया जाता है। युद्ध की समाप्ति के

बाद ब्याज का मूलधन की अदायगी के लिए भावी पीढ़ी पर करारोपण करके भार का न्यायोचित वितरण किया जा सकता है।

4. मितव्ययिता के दृष्टिकोण से अन्तर :– करों से प्राप्त होने वाली आय मितव्ययितापूर्वक व्यय की जाती है, क्योंकि यह जनता के परिश्रम और त्याग की कमायी है, जबकि ऋणों से प्राप्त आय को अपव्ययतापूर्वक खर्च किया जाता है। ऋण फिजूलखर्ची को बढ़ाने वाला है तथा इसकी अदायगी के समय बड़े पैमाने पर करारोपण भी करना पड़ता है।

स. हीनार्थ प्रबन्धन :– युद्ध संचालन का तीसरा महत्वपूर्ण वित्तीय साधन हीनार्थ प्रबन्ध है। युद्ध व्यय का संचालन कर व ऋणों के अतिरिक्त हीनार्थ प्रबन्ध से भी किया जाता है। आय प्राप्ति का यह आसान तरीका है, लेकिन इसे नियन्त्रित नहीं किया गया तो इसके परिणाम बुरे हो सकते हैं।

4. अन्य उपाय (Other Measures):–

1. ऐच्छिक चन्दे (Voluentry contribution):– युद्ध के समय राष्ट्र प्रेम से प्रभावित होकर लोग सरकार को अपनी सामर्थ्य के अनुसार चन्दा देते हैं यही नहीं मित्र राष्ट्र भी स्वेच्छा से अपना अंशदान देते है। इस प्रकार प्राप्त होने वाली राशि का भार सरकार पर नहीं पड़ता हैं। यह सब राष्ट्र प्रेम से प्रेरित होकर किया जाता है।

2. स्वर्ण कोषों का प्रयोग :– युद्ध के संचालन के लिए सरकार अपने स्वर्ण कोषों का भी उपयोग करती है, क्योंकि इन कोषों का उपयोग संकटकाल में ही किया जाता है। जब विदेशों से अस्त्र शस्त्रों का आयात करना होता है, तब सरकार को उनका भुगतान उस देश की मुद्रा में करना होता है। परन्तु विदेशी मुद्रा के अभाव में वह ऐसा नहीं कर सकती है। इसलिए विदेशों को सोने का निर्यात करके अपनी आवश्यकता की चीजें आयात की जाती है।

1.6 भारत में युद्ध–वित्त (War Finance in India):- अन्य देशों की तरह भारत में भी युद्ध–व्यय लगातार बढ़ रहा है। व्यय की राशि 1939–40 में 4 करोड़ रूपये थी जो 1941–45 में बढ़कर 194 करोड़ रूपये हो गयी। युद्ध के संचालन के लिए करों से आय प्राप्त की जाने लगी थी। 1961–62 में भारत का कुल रक्षा–व्यय 313 करोड़ रूपया था जो 1982–83 में बढ़कर 5,684 करोड़ रूपया हो गया। भारत सुरक्षा–व्यय के रूप में राष्ट्रीय उत्पादन का 4 प्रतिशत भाग व्यय करता है। 1984–85 के बजट में सुरक्षा–व्यय 6,800 करोड़ रूपया करने का अनुमान है। चालू वित्तीय वर्ष के संशोधित अनुमानों से यह 440 करोड़ रूपया बढ़ाया गया है।

1984–85 के बजट में सेना को 3,892 करोड़ रूपया, नौ–सेना को 503 करोड़ रूपया और वायु–सेना को 1,426 करोड़ रूपया दिया जायेगा। शेष राशि रक्षा–सेवाओं पर पूंजी लगाने और पेंशन में खर्च की जायेगी। 1987–88 के बजट में सुरक्षा पर 12 हजार करोड़ रूपया व्यय करने का प्रावधान था, जबकि 1988–89 के बजट में यह राशि बढ़कर 13 हजार करोड़ रूपया हो गयी है। देश की स्थिति को देखते हुए व्यय में कमी किया जाना उचित नहीं है। इस बात का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि चीन और पाकिस्तान की कुल आवादी के 1.85 और 1.04 प्रतिशत लोग सुरक्षा पदों में कार्यरत हैं। कुल राष्ट्रीय आय प्रतिशत के सन्दर्भ में भी भारत सुरक्षा खर्चों में बहुत पीछे है। चीन का प्रतिशत 8.6 पाकिस्तान का 6.9 और भारत का 3.4 है। 1991 में राज्यसभा में बजट पर बहस करते हुए प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने कहा था कि '' इस समय सुरक्षा बजट में कटौती का सुझाव रखना देश–विरोधी है ; जो भी ऐसा सोचता है, वह देश का शत्रु है।''

(रक्षा व्यय करोड़ में)

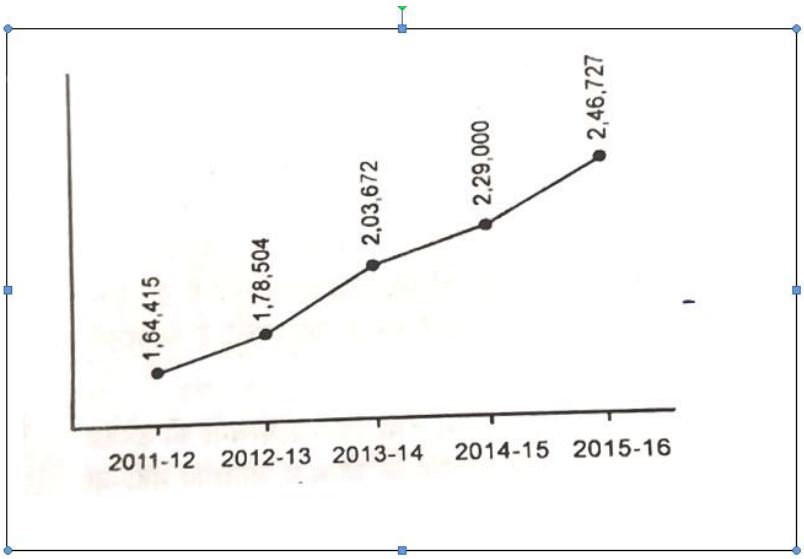

विगत वर्षों में सुरक्षा–व्यय पर जो राशि खर्च हुई है, उपर्युक्त रेखाचित्र से स्पष्ट किया गया है। 1991–92 के बजट में 17.500 करोड़ रूपया व्यय करने का प्रावधान किया गया है, जो 1990–91 के 16,350 करोड़ रूपये से 7 प्रतिशत अधिक था। 1993–94 का रक्षा–बजट 21,500 करोड़ रूपये था, जबकि 1994–95 में 23,000 करोड़ रूपये की व्यवस्था की गयी थी। 1995–96 के बजट में इस राशि को बढ़ाकर 25,500 करोड़ रूपये कर दिया गया था जो वर्ष के अन्त में बढ़कर 26,879 करोड़ रूपये हो गया। 1996–97 के बजट में रक्षा व्यय के लिए 27,798 करोड़ रूपये का प्रावधान था। दिसम्बर 1996 में बजट पर बहस के दौरान 1,200 करोड़ रूपये पुनः रक्षा व्यय के लिए स्वीकृत कर दिया गया था, जो अन्त तक बढ़कर 29,458 करोड़ रूपये हो गया। 1997–98 में रक्षा व्यय बढ़कर 36,099 करोड़ रूपये तथा 1998–99 में 41,200 करोड़ रूपये हो गया था। अप्रैल–मई 1999 से जुलाई–अगस्त तक पाकिस्तान के साथ कारगिल में जो युद्ध लड़ा गया, उस पर प्रतिदिन 300 करोड़ रूपये का जो खर्चा आया था उससे यह आशंका है कि वर्ष 1999–2000 के अन्त तक यह राशि बढ़कर 30 से 35 हजार करोड़ तक पहुंच जायेगी। 2000–2001 के बजट में रक्षा व्यय में अभूतपूर्व वृद्धि कर दी गयी थी। बजट में रक्षा व्यय के लिए 58,693 करोड़ रूपये रखा गया था।

वित्तमन्त्री जसवन्तसिंह ने सेना के आधुनिकीकरण में धन की कमी न होने देने का भरोसा दिलाते हुए वर्ष 2003–2004 के रक्षा बजट को 56 हजार करोड़ रूपये से बढ़ाकर 65 हजार करोड़ रूपये कर दिया।

वर्ष 2013–14 में कुल रक्षा बजट 2,03,672 करोड़ का रहा। वर्ष 2015–16 में कुल रक्षा बजट 2,46,727 करोड का रखा गया है जिसमें से राजस्व खर्च 1,52,139 करोड़ रूपये तथा पूंजी खर्च 94,588 करोड़ का होगा। इस बजट से थल सेना पर 1,30,874 करोड़ , वायु सेना पर 56,658 करोड़, रूपये नौ सेना पर 40,529 करोड़ रूपये DRDO पर 14,358 करोड़ तथा आयुद्ध फैक्ट्री पर 3,644 करोड़ रूपये खर्च होने का अनुमान है। Make in India की तरह रक्षा मंत्रालय न TATA, L&T , BEL तथा रोल्टा India Ltd से समझौते किये हैं।

1.7 युद्ध वित्त के प्रभाव (Effect of Bar Finance) :–

(अ) मुद्रा प्रसार (Inflation) :– युद्ध वित्त का मुख्य प्रभाव मुद्रा–प्रसार पर पड़ता है। यह प्रभाव इतना दुखदायी होता है कि लम्बे समय तक इससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता है। इसके प्रभाव से प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी व द्वितीय में चीन की अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो गयी थी।

(ब) आर्थिक प्रभाव (Economic Effects) :– शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था को युद्धकालीन अर्थव्यवस्था में व युद्धकालीन अर्थव्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थव्यव्था में परिवर्तित करना आसान नहीं है। जब युद्ध लड़ा जाता है तब सभी साधनों को युद्ध की ओर लगा दिया जाता है, जिससे सामान्य वस्तुओं का उत्पादन कम होता है और युद्ध की समाप्ति के बाद क्षतिपूर्ति व्ययों के रूप में बड़ी भारी राशि व्यय करनी होती है जिससे अर्थव्यवस्था प्रभावित हो जाती है। नये सार्वजनिक विनियोगों को प्रारम्भ करने तथा पुराने विनियोगों को चालू रखने, ऋण व ब्याज का भुगतान करने के लिए सरकार को नये कर व

ऋण प्राप्त करने होते है। इससे कार्य करने व बचत करने की इच्छा तथा योग्यता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

1.8 सारांश :– युद्ध के संचालन के लिए सरकार हर प्रकार के साधनों का उपयोग करती है। युद्ध के समय सरकार यह नहीं देखती है कि आय प्राप्ति के साधन उचित हैं या अनुचित, उसका ध्यान इसी में रहता है कि किन साधनों से किस प्रकार अधिक से अधिक आय प्राप्त किया जाय। युद्धों के प्रारिम्भक दौर में सरकार ऋणों का सहारा लेती है तथा आंशिक रूप में हीनार्थ प्रबन्ध भी कर लेती है, क्योंकि जब युद्ध की शुरूआत होती है तब सरकार को तुरन्त धन की आवश्यकता होती है। उस समय उसे इन्हीं उपायों से आय प्राप्त करनी होती है। युद्ध के समय करों की सहायता नहीं ली जा सकती है , क्योंकि करों की वसूली में अधिक समय लगता है। सरकार प्रथम चरण में उन साधनों से भी आय प्राप्त करने की चेष्टा करती है जो उपभोग में लगे होते है। अतः लोगों के उपभोग को नियन्त्रित करके आय प्राप्त की जाती है। तृतीय चरण में कराधान, ऋण व घाटे की वित्त व्यवस्था की सहायता ली जानी चाहिए , तथा विदेशों में जो पूंजीगत साजो–सामान रहता है, उसकी भी बिक्री प्रारम्भ कर दी जाती है।

जब सरकार अन्य साधनों से पर्याप्त आय प्राप्त नहीं कर सकती है, तब वह हीनार्थ प्रबन्ध की सहायता लेती है। विगत विश्वयुद्धों तथा वर्तमान में लड़े जाने वाले युद्धों का अनुभव तो यही बताता है कि सभी देशों की सरकारों ने साधनों पर नियंत्रण करके युद्ध वित्त का संग्रह किया है। इसके अतिरिक्त , ऐच्छिक बचतों को भी महत्व दिया गया था। भारत पर चीन के आक्रमण के समय तत्कालीन वित्त मन्त्री मोरारजी देसाई ने अनिवार्य बचतों को महत्व दिया था। भिन्न–भिन्न देशों ने साधनों के संग्रह के लिए उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त अलग–अलग उपायों को भी अपनाया था, जैसे जर्मनी ने समाशोधन ऋण (Clearing Debts) का संचय करके विदेशी साधन प्राप्त किये। ब्रिटेन ने विदेशों में लगी अपनी पूंजी को बेचकर पुराने ऋणों को चुकाया और नये ऋणों को प्राप्त किया। साथ ही उधार पट्टे के द्वारा तथा ऐसी ही अन्य व्यवस्थाओं के द्वारा भी विदेशी सहायता प्राप्त की। इन सब बातों से मुद्रा प्रसार की समस्या उत्पन्न हो जाती है। अतः अतिरिक्त क्रय शक्ति को रोक कर मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण लगायें जा सकते है तथा व्यवस्थित रूप से युद्ध का संचालन भी किया जा सकता है।

1.9 शब्दावली (Keywords) :-

1. खर्चीली प्रकृति (Costliness)
2. मौद्रिक लागत (Money Cost)
3. साधनों का दोहन करना (Mobilising Resourses)
4. विदेशी पूंजी (Foreign Capital)
5. अन्तरित (Diversion)
6. कमी करना (Reduction)
7. उत्पादन में वृद्धि (Expansion of Production)
8. कराधान (Taxation)
9. अतिरिक्त कर (Super Tax)
10. अधिभार (Surcharge)
11. अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax)
12. तर्क (Arguments)
13. विपक्ष (Against)
14. पक्ष (Favour)
15. ऋण (Loans)

1.10 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books)

1. सिन्हा , वी0सी0 व सिन्हा, पुष्पा (2011–12) समष्टिगत अर्थशास्त्र, रासबीपीडी पब्लिशिंग हाऊस आगरा।
2. शर्मा, हरिश्चन्द्र व सिंघई, जी0सी0 (2000) मौदिक अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
3. सिंघई , जी0सी0 व मिश्रा, जे0पी0 (2010) समष्टि आर्थिक विश्लेषण , साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
4. झिंगन, राम0एल0 (2007) : समष्टि अर्थशास्त्र, वृन्दा पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

5. लोक अर्थशास्त्र , जे0सी0पन्त, लक्ष्मीनारायण पब्लिकेशन, आगरा।
6. लोक वित्त (2019) एच0एल0 भाटिया, विकास पब्लिसिंग, हाऊस प्रा0लि0, नई दिल्ली
7. लोक वित्त (2004) एस0के0सिंह, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

1.11 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

1. युद्ध में धन प्राप्त करने के लिए आप सार्वजनिक ऋणों का सहारा लेंगे या करों का ? दोनों के गुणों व अवगुणों पर प्रकाश डालिए।
2. युद्ध – वित्त की प्रमुख विशेषताएं क्या है? इसकी व्यवस्था की विभिन्न रीतियाँ समझाइए।
3. आधुनिक समय युद्ध के अत्यधिक खर्चीले होने के कारणों की विवेचना कीजिए।
4. युद्ध संचालन के समय लिये जाने वाले ऋणों के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए।
5. युद्ध के संचालन के समय लिये जाने वाले करों के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए।

1.12 वस्तुनिष्ठ प्रश्न–उत्तर (Objective Question-Answers)

1. युद्ध संचालन क लिए निम्न में से कौन–सी आर्थिक साधन उपयुक्त नहीं है?
   क. कर ख. अनुदान
   ग. आन्तरिक ऋण घ. बाह्य ऋण
   (उत्तर क)
2. युद्ध के समय किस वर्ग को लाभ होता है?
   क. श्रमिक वर्ग ख. पूंजीपति वर्ग
   ग. सरकारी कर्मचारी घ. कृषक वर्ग
   (उत्तर ख)
3. युद्धकालीन वित्त का मुख्य प्रभाव क्या होता है?
   क. मुद्रा प्रसार ख. उत्पादन में वृद्धि
   ग. ऋण भार में कमी घ. आर्थिक असमानता
   (उत्तर क)
4. युद्ध की खर्चीली प्रकृति के कारण है–
   क. साधनों को गतिशील करना
   ख. युद्ध का आकार अन्तर्राष्ट्रीय
   ग. महंगे अस्त्र–शस्त्रयों का निर्माण
   घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
5. युद्ध की मौद्रिक लागतों का अनुमान लगाया जा सकता है–
   क. सरकार के बजट ख. सरकार के घाटा
   ग. सरकार के राजस्व घ. इनमें से कोई नही
   (उत्तर क)
6. प्रथम महायुद्ध में राष्ट्रीय आय का कितने प्रतिशत व्यय हुआ था।
   क. 60 ख. 50 ग. 8 घ. 40
   (उत्तर ख)
7. युद्ध में साधनों को गतिशील करने के लिए किन–किन कार्यक्रमों को अपनाना चाहिए–
   क. व्यक्तिगत उपभोग में कमी
   ख. पूंजी निवेश को अन्तरित करना
   ग. विदेशी पूंजी की बिक्री
   घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
8. युद्ध वित्त की महत्वपूर्ण विधियाँ है–
   क. कराधान ख. ऋण ग. हीनार्थ प्रबंधन घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
9. पाकिस्तान के साथै कारगिल युद्ध में प्रतिदिन–कितनी धनराशि का खर्चा आया था?
   क. 500 करोड़ ख. 300 करोड़ ग. 200 करोड़ घ. 100 करोड़

(उत्तर ख)

10. ''इस समय सुरक्षा बजट में कटौंती का सुझाव रखन देश–विरोधी है, जो भी ऐसा सोचना है, वह देश का शत्रु है।'' यह कथन किसका है?

क. डॉ0 आंबेडकर　　ख. अटल विहारी बाजपेई

ख. राजीव गांधी　　घ. लाल बहादुर शास्त्री

(उत्तर ग)

खण्ड–04

राजकोषीय नीति एवं बजट

इकाई–01

राजकोषीय नीति : अर्थ तथा उद्देश्य

इकाई की रुपरेखा–

1.1 राजकोषीय नीति का अर्थ
1.2 राजकोषीय नीति के प्रकार
1.3 राजकोषीय नीति के उद्देश्य
1.4 राजकोषीय नीति के घटक
1.5 विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति की भूमिका
1.6 राजकोषीय नीति में स्वर्णिम नियम
1.7 राजकोषीय नीति की विशेषताएं
1.8 निष्कर्ष
1.9 बोधात्मक प्रश्न
1.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
1.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

राजकोषीय नीति का अर्थ

आर्थिक परिस्थितियों, विशेष रूप से व्यापक आर्थिक कारकों को बदलने के प्रयास में शासी निकायों द्वारा किए गए खर्च और कर लगाने के निर्णयों को सामूहिक रूप से राजकोषीय नीति के रूप में जाना जाता है। यह वस्तुओं और सेवाओं की कुल मांग, आर्थिक विकास, साथ ही रोजगार और मुद्रास्फीति दरों को ध्यान में रखता है। जिस मुद्दे का उत्तर दिया जाना है वह यह है कि सरकार को करों से कितना पैसा मिलता है और उस पैसे का कितना हिस्सा रक्षा, कल्याण और शिक्षा पर खर्च किया जाता है।

इसके बावजूद, यह विचार मौद्रिक नीति को भी संदर्भित करता है, जिसे केंद्रीय बैंकरों द्वारा प्रबंधित किया जाता है और अर्थव्यवस्था में धन और ऋण की मात्रा को प्रभावित करता है। जब आर्थिक विस्तार धीमा होने लगता है, तो ये दोनों विचार इसे पुनर्जीवित करने और समग्र विकास को बढ़ावा देने में फायदेमंद हो सकते हैं। इसके अलावा, राजकोषीय नीति स्वास्थ्य और आय दोनों के पुनर्वितरण की प्रक्रिया में सहायक हो सकती है।

सबसे महत्वपूर्ण उपकरणों में से एक जिसका उपयोग सरकारें अपने व्यापक आर्थिक लक्ष्यों को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण और प्रभाव डालने के प्रयासों में करती हैं, उसे राजकोषीय नीति के रूप में जाना जाता है। राजकोषीय नीति, अपने सबसे बुनियादी रूप में, अर्थव्यवस्था की दिशा को प्रभावित करने के लिए सरकारी खर्च और कर नीति के उपयोग को संदर्भित करती है। यह आर्थिक विस्तार को बनाए रखने या प्रोत्साहित करने के लिए कर और व्यय जैसी राजकोषीय नीतियों का उपयोग करने वाली सरकार की प्रथा को संदर्भित करता है। दूसरे शब्दों में, जब लोग राजकोषीय नीति के बारे में बात करते हैं, तो वे सरकार की बजटीय नीति का उल्लेख करते हैं, जिसमें सरकार अर्थव्यवस्था के भीतर होने वाले खर्च और कर की मात्रा को निर्देशित करती है।

राजकोषीय नीति के प्रकार

राजकोषीय नीति के दो मुख्य प्रकार हैं। वे हैं:

- **तटस्थ राजकोषीय नीति:** जब एक निश्चित अवधि में कुल कर संग्रह और कुल सरकारी व्यय के अनुपात में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता है, तो राजकोषीय नीति को तटस्थ कहा जाता है। ज्यादातर मामलों में, इस प्रकार की रणनीति तब लागू की जाती है जब अर्थव्यवस्था संतुलन की स्थिति में होती है, जिसका अर्थ है कि यह न तो तेजी से बढ़ रही है और न ही घट रही है। इस परिदृश्य में, आर्थिक गतिविधि की मात्रा सरकार के व्यय से किसी भी तरह से प्रभावित नहीं होती है क्योंकि ऐसे व्यय पूरी तरह से कर आय द्वारा समर्थित होते हैं।
- **विवेकाधीन राजकोषीय नीति:** शब्द षविवेकाधीन राजकोषीय नीतिष उस नीति को संदर्भित करता है जिसे सरकार तब लागू करती है जब वह करों या व्यय के स्तर को समायोजित करने

का निर्णय लेती है। इसका लक्ष्य स्थिति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अर्थव्यवस्था के आकार को समायोजित करना है। इसे आगे दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

(i) विस्तारवादी राजकोषीय नीति: जब सरकार करों के माध्यम से लाने से अधिक पैसा खर्च करती है, तो इस प्रकार की राजकोषीय नीति को विस्तारवादी कहा जाता है और विवेकाधीन राजकोषीय नीति की श्रेणी में आती है। आर्थिक मंदी के समय में, प्रोत्साहन व्यय एक सामान्य प्रकार की राजकोषीय नीति है जिसे समग्र आर्थिक गतिविधि को बढ़ावा देने के प्रयास में लागू किया जाता है।

(ii) संकुचनकारी राजकोषीय नीति: जब करों में एकत्रित धन की राशि सरकार द्वारा खर्च की जाने वाली राशि से कम होती है, तो विवेकाधीन राजकोषीय नीति को संकुचनकारी कहा जाता है। इस प्रकार की राजकोषीय नीति का कार्यान्वयन राष्ट्रीय ऋण को कम करने और मुद्रास्फीति को नियंत्रण में रखने के लक्ष्य के साथ किया जाता है।

राजकोषीय नीति के उद्देश्य

राजकोषीय नीति का लक्ष्य अर्थव्यवस्था को स्थिर करना, अर्थव्यवस्था की स्थिति के रूप में पूर्ण रोजगार बनाए रखना और विकास को ऐसी गति से बनाए रखना होना चाहिए जिसे नियंत्रित किया जा सके। राजकोषीय नीति के सामान्य उद्देश्यों की सूची निम्नलिखित है:

- पूर्ण रोजगार: विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति का पहला और सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य किसी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार तक पहुँचना और उसे बनाए रखना राजकोषीय नीति का प्राथमिक लक्ष्य है। इन देशों में, बेरोजगारी को कम करने और पूर्ण रोजगार तक पहुंचने को बाकी सभी चीजों से ऊपर प्राथमिकता दी जाती है। इसलिए, सरकार को बेरोजगारी और अल्परोजगार को खत्म करने के लिए सामाजिक और आर्थिक बुनियादी ढांचे में पर्याप्त निवेश करना चाहिए। इन क्षेत्रों में निवेश से अर्थव्यवस्था में रोजगार की संभावनाएं और उत्पादकता बढ़ेगी।
- मूल्य स्थिरता: मूल्य परिवर्तन का समाज के कई अलग–अलग वर्गों पर प्रभाव पड़ता है, जिसमें ग्राहक, श्रमिक और कर्मचारी, किसान, उत्पादक और व्यापारी शामिल हैं। बढ़ती लागत का सीधा परिणाम पूरी आबादी को भुगतना पड़ता है। मूल्य वृद्धि और कमी के नकारात्मक प्रभावों को समाप्त करके, राजकोषीय नीति मूल्य स्थिरता बनाए रखने के अपने लक्ष्य की दिशा में काम करती है। सब्सिडी देकर या करों को कम करके मूल्य वृद्धि के प्रभाव को कम करना संभव है।
- आर्थिक विकास की दर को तेज करना: एक ऐसी अर्थव्यवस्था में जो अभी भी बढ़ने की प्रक्रिया में है, देश की राजकोषीय नीति का प्राथमिक उद्देश्य उस गति को तेज करना होना चाहिए जिस गति से अर्थव्यवस्था का विस्तार हो रहा है। इसके आलोक में, यह सुनिश्चित करने के लिए कि उत्पादन, उपभोग और वितरण नकारात्मक रूप से प्रभावित न हों, अन्य विकल्पों के साथ–साथ कर, सार्वजनिक उधार और घाटे के वित्तपोषण जैसी राजकोषीय नीतियों का कुशल अनुप्रयोग आवश्यक है। इसे समग्र रूप से अर्थव्यवस्था में सुधार के लिए काम करना चाहिए, जिससे राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय दोनों में वृद्धि में योगदान मिलेगा।
- संसाधनों का इष्टतम आवंटन: विभिन्न प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों में संसाधनों का वितरण करों और सार्वजनिक व्यय जैसी मौद्रिक नीतियों से गहराई से प्रभावित हो सकता है। सब्सिडी और प्रोत्साहन के रूप में सार्वजनिक धन के खर्च के माध्यम से इच्छित चौनलों में संसाधनों के वितरण पर अनुकूल प्रभाव प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, छूट और रियायतों के रूप में कर छूट पसंदीदा व्यवसायों की ओर संसाधनों को आकर्षित करने में एक बड़ी सहायता हो सकती है। दूसरी ओर, भारी करों के कारण एक निश्चित क्षेत्र के संसाधनों को दूसरे क्षेत्र में स्थानांतरित किया जा सकता है।
- आय और धन का समान वितरण: यह एक कल्याणकारी राज्य की जिम्मेदारी है कि वह यह सुनिश्चित करके सामाजिक न्याय को बनाए रखे कि धन और आय का उचित वितरण हो। अमीर और विकासशील दोनों देशों में, राजकोषीय नीति में समाजवादी लक्ष्य को पूरा करने के एक कुशल तरीके के रूप में कार्य करने की क्षमता है जिसकी व्यापक रूप से मांग की जाती है। एक अधिक प्रगतिशील कर संरचना इस लक्ष्य की दिशा में काम करने में बहुत मददगार हो सकती है। इसके अलावा, सार्वजनिक व्यय अमीरों से समाज के कम भाग्यशाली सदस्यों तक धन के पुनर्वितरण की सुविधा प्रदान करता है।

- आर्थिक स्थिरता: प्रभावी राजकोषीय नीति का प्राथमिक लक्ष्य आर्थिक स्थिरता बनाए रखना है। इस उद्देश्य के लिए पूर्ण रोजगार और कुछ हद तक स्थिर कीमतों को संरक्षित करना आवश्यक है। मुद्रास्फीति और अपस्फीति दोनों को नियंत्रित करने की आवश्यकता है। संक्षेप में, एक विकासशील देश की राजकोषीय रणनीति आर्थिक विकास और स्थिरता दोनों हासिल करना चाहती है। साथ ही जैसे–जैसे मुद्रास्फीति का दबाव कम हो रहा है, आर्थिक प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने वाले कारकों को मजबूत किया जाना चाहिए। वैश्विक अर्थव्यवस्था में अस्थायी उतार–चढ़ाव के बावजूद बजटीय नीतियां अर्थव्यवस्था को स्थिर रखने में मदद करती हैं। इन बदलावों के कारण, व्यापार संतुलन भी बदल जाता है, सबसे लाभप्रद बदलाव से अधिक स्थापित देशों को लाभ होता है और सबसे नकारात्मक बदलाव उभरते देशों को होता है। परिणामस्वरूप, अर्थव्यवस्था को आंतरिक और विदेशी दोनों झटकों से बचाने में राजकोषीय नीति महत्वपूर्ण है।
- पूंजी निर्माण: राजकोषीय रणनीति वाणिज्यिक और सरकारी दोनों क्षेत्रों में निवेश दरों को बढ़ाने का प्रयास करती है। विकासशील देशों में पूंजी निर्माण दर उच्च बेरोजगारी दर और प्रति व्यक्ति आय के निम्न स्तर जैसे कारकों से काफी बाधित है। इन देशों के सामने मुख्य समस्या गरीबी का सतत चक्र है। इसलिए, औद्योगिक देशों में अत्यधिक खर्च पैटर्न को कम करने के उद्देश्य से, राजकोषीय नीति को इस तरह से लागू किया जाता है कि उपभोग में कमी आए और बचत को बढ़ावा मिले।

उपरोक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजकोषीय नीति के उद्देश्य परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं।

राजकोषीय नीति के घटक

राजकोषीय नीति में करों, संसाधन जुटाने और खर्च से संबंधित सभी सरकारी विकल्प शामिल हैं। राजकोषीय नीति के चार मूलभूत घटक हैं, जो इस प्रकार हैं।

कराधान नीति: सरकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों के कार्यान्वयन के माध्यम से राजकोषीय संतुलन बनाए रखने का प्रयास करती है, जिससे मूल्य स्थिरता सुनिश्चित करने के साथ–साथ धन भी उत्पन्न होता है। इसलिए, सरकार के लिए करों के लिए कानूनी ढांचे का पालन करना और प्रगतिशील कर प्रणाली जैसी सटीक कर दरों को लागू करना आवश्यक है। इसका श्रेय दो कारकों को दिया जा सकता है:

(क) कर जितना अधिक होगा, लोगों की क्रय शक्ति कम होगी। इससे निवेश और उत्पादन में कमी आएगी.

(ख) कम कर से लोगों के पास अधिक पैसा बचेगा जिससे अधिक खर्च होगा और इस प्रकार उच्च मुद्रास्फीति होगी

व्यय नीति: सरकार की व्यय नीति में आय और पूंजीगत व्यय दोनों शामिल हैं। सरकार के पूंजीगत व्यय में इमारतों या विनिर्माण उपकरण जैसी टिकाऊ संपत्तियों की खरीद शामिल है, जिनसे आर्थिक लाभ प्रदान करने या सरकार के लिए अधिक राजस्व उत्पन्न करने की उम्मीद की जाती है। राजस्व व्यय उन व्ययों को संदर्भित करता है जिनके परिणामस्वरूप उत्पादक परिसंपत्तियों का निर्माण नहीं होता है। ऐसे व्ययों के उदाहरण भारत सरकार द्वारा आंतरिक और विदेशी दोनों ऋणों पर किया गया ब्याज भुगतान, साथ ही सरकारी कर्मियों को पेंशन और वेतन का वितरण हैं।

निवेश और विनिवेश नीति: निवेश और विनिवेश नीति की अवधारणा किसी अर्थव्यवस्था के अंदर बाहरी संस्थाओं द्वारा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) या विदेशी संस्थागत निवेश (एफआईआई) के रूप में धन के आवंटन के साथ–साथ सरकार के विनिवेश से संबंधित है– सार्वजनिक या निजी शेयरधारकों के पास रखी संपत्ति।

ऋण/अधिशेष प्रबंधन: जब सरकार का राजस्व उसके व्यय से अधिक हो जाता है, तो इसे अधिशेष कहा जाता है। जब सरकार का व्यय उसके राजस्व से अधिक हो जाता है, तो इसे घाटा कहा जाता है। घाटे को पूरा करने के लिए, सरकार को घरेलू या अंतर्राष्ट्रीय स्रोतों से ऋण प्राप्त करना होगा। इसके अलावा, इसमें घाटे की वित्त व्यवस्था को संबोधित करने के लिए मुद्रा उत्पन्न करने की क्षमता है।

विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति की भूमिका

एक उभरती हुई अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति का प्राथमिक उद्देश्य पूंजी निर्माण दरों को अधिकतम करने की सुविधा प्रदान करना है। उभरती अर्थव्यवस्थाओं में लागू राजकोषीय नीति को आदर्श रूप से तेज आर्थिक विकास को बढ़ावा देने और सुविधाजनक बनाने के लिए डिजाइन किया जाना चाहिए। विकासशील अर्थव्यवस्था के संदर्भ में, यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि क्षतिपूर्ति उपाय के रूप में राजकोषीय नीति की प्रभावशीलता अब व्यवहार्य नहीं है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था के संदर्भ में, यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य करता है और इसमें स्थिरता बनाए रखते हुए विकास हासिल करने की दोहरी चुनौती होती है। इस पेपर का उद्देश्य विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के संदर्भ में राजकोषीय नीति द्वारा निभाई जाने वाली कई भूमिकाओं की जांच करना है।

संसाधन जुटाना: उभरते देशों में, तीव्र गरीबी की व्यापकता के कारण खर्च करने की सीमांत प्रवृत्ति काफी बढ़ गई है। नतीजतन, विचाराधीन अर्थव्यवस्थाओं में बचत का स्तर बहुत कम है। इसलिए, करों और सार्वजनिक उधार जैसे तंत्रों के माध्यम से प्राप्त पूंजी विकास के उद्देश्य के लिए बचत के संचय को सुविधाजनक बनाने में राजकोषीय नीति महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके अलावा, कर कटौती और सब्सिडी के प्रावधान का निजी क्षेत्र के भीतर पूंजी निर्माण और बचत पर प्रभाव पड़ सकता है।

निजी क्षेत्र का विकास: विकासशील अर्थव्यवस्था के संदर्भ में, निजी क्षेत्र अर्थव्यवस्था के मूलभूत घटक के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। राजकोषीय नीति में निजी क्षेत्र के उत्पादन और उत्पादकता पर प्रभाव पड़ने की संभावना है। निजी क्षेत्र के भीतर उत्पादक गतिविधियों को प्रोत्साहित करने और बढ़ाने के साधन के रूप में कर राहत, छूट और सब्सिडी प्रदान की जा सकती है। निजी क्षेत्र के लिए संसाधनों की पर्याप्त उपलब्धता की गारंटी के लिए पूंजी बाजार को प्रोत्साहित करने के लिए राजकोषीय उपकरणों और नीतियों का उपयोग किया जा सकता है।

संसाधनों के आवंटन का अनुकूलन: उभरती अर्थव्यवस्थाओं के संदर्भ में, संसाधनों के सबसे कुशल आवंटन को प्राप्त करने के लिए राजकोषीय उपकरणों का उपयोग किया जा सकता है। अक्सर, निजी क्षेत्र के भीतर संसाधनों को उन वस्तुओं के निर्माण के लिए आवंटित किया जाता है जो मुख्य रूप से समाज के अधिक समृद्ध वर्गों की जरूरतों और प्राथमिकताओं को पूरा करते हैं। जुटाए गए संसाधनों को निवेश के पसंदीदा माध्यमों में स्थिर करने के लिए राजकोषीय उपकरणों का उपयोग किया जा सकता है। इसलिए, कई कर प्रोत्साहन उपायों और सब्सिडी कार्यक्रमों के कार्यान्वयन से पुनर्आवंटन की प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाया जा सकता है।

सामाजिक और आर्थिक उपरिव्ययों का निर्माण: उभरती अर्थव्यवस्थाओं में, मौलिक बुनियादी ढांचे को उनकी पूरी क्षमता से विकसित नहीं किया जा रहा है। जब शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल जैसे सामाजिक उपरिव्यय प्रदान किए जाते हैं तो जनसंख्या की उत्पादन क्षमता बढ़ जाती है। औद्योगीकरण को गति देने के लिए, परिवहन बुनियादी ढांचे, बिजली संयंत्रों और संचार नेटवर्क जैसे आर्थिक उपरिव्ययों पर पैसा खर्च किया जाना चाहिए। इस प्रकार सरकारों को सामाजिक और आर्थिक बुनियादी ढांचे के निर्माण के वित्तपोषण के लिए करों और व्यय योजनाओं का उपयोग करना चाहिए।

संतुलित क्षेत्रीय विकास: विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के सामने आर्थिक विकास के संदर्भ में क्षेत्रीय असमानताओं की चुनौती है। संतुलित विकास को बढ़ावा देने के लिए, आर्थिक रूप से वंचित क्षेत्रों में काम करने वाले निजी निवेशकों को विभिन्न वित्तीय साधन जैसे कर छूट, कर अवकाश, सब्सिडी और बुनियादी ढांचे के उपयोग के प्रोत्साहन की पेशकश की जा सकती है। इन उपायों का उद्देश्य इन क्षेत्रों में निजी निवेश को प्रोत्साहित करना है।

आर्थिक स्थिरता: कर और व्यय कार्यक्रम जैसे राजकोषीय उपकरणों का उपयोग आर्थिक विकास के दौरान उभरने वाले चक्रीय उतार–चढ़ाव के प्रबंधन के लिए एक व्यवहार्य तंत्र के रूप में किया जा सकता है। मुद्रास्फीतिकारी और अपस्फीतिकारी दोनों परिस्थितियों से निपटने के लिए कराधान एक शक्तिशाली उपकरण है।

असमानता में कमी: आय, धन और अवसरों के उचित वितरण का प्रावधान उभरती अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण घटक है। असमानता को कम करने में राजकोषीय नीति का कार्य महत्वपूर्ण है। आय पुनर्वितरण की प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने में कराधान उपकरणों का उपयोग महत्वपूर्ण है। आय, धन और अवसर असमानताओं को कम करने के उद्देश्य से कई राजकोषीय उपाय हैं। इन उपायों में आय और संपत्ति पर प्रगतिशील कराधान लागू करना, विलासिता की वस्तुओं पर

पर्याप्त कर लगाना, बड़े पैमाने पर उपभोग वाली वस्तुओं पर कर छूट या रियायतें देना, राहत कार्यक्रमों के लिए सरकारी धन आवंटित करना और व्यक्तियों के लिए उचित मूल्य की दुकानों के माध्यम से रियायती मूल्य पर आवश्यक वस्तुएं प्रदान करना शामिल है।

राजकोषीय नीति में स्वर्णिम नियम

राजकोषीय नीति का स्वर्णिम नियम यह है कि सरकार को उधार ली गई नकदी (ऋण) को उन पहलों में नियोजित करना चाहिए जो भविष्य की पीढ़ियों को लाभान्वित करती हैं जिन्हें ऋण वापस करना होगा। "स्वर्णिम सिंध्दान्त कहता है कि एक आर्थिक चक्र के दौरान, सरकार को केवल निवेश के लिए उधार लेना चाहिए, मौजूदा खर्च के लिए नहीं।" इस प्रकार, राजकोषीय नीति को सुनहरे नियम के तहत अंतर–पीढ़ीगत न्याय को प्राथमिकता देनी चाहिए। यह उन सरकारों के लिए विशेष रूप से सच है जो अपने बजट को पूरा करने के लिए भारी उधार लेती हैं। सुनहरे नियम का तात्पर्य यह है कि ऋण का उपयोग सरकारी मशीनरी (राजस्व व्यय), पेंशन, मजदूरी आदि का समर्थन करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए, जिससे वर्तमान पीढ़ी को लाभ होता है। राजकोषीय नीति का सुनहरा नियम यह है कि सरकार को पूरे आर्थिक चक्र में निवेश के लिए विशेष रूप से उधार लेना चाहिए, न कि वर्तमान व्यय के लिए। सीधे शब्दों में कहें तो, सरकार को भविष्य की परियोजनाओं के वित्तपोषण के लिए उधार लेना होगा।

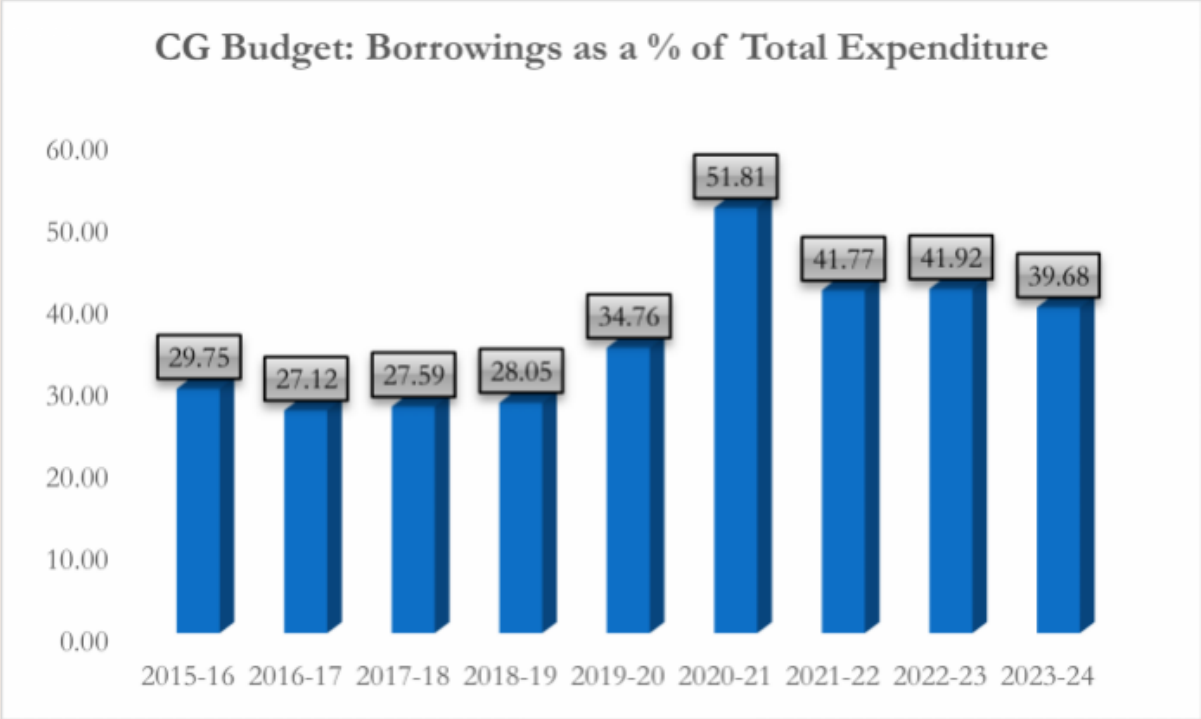

https://www-indianeconomy-net.translate.goog/splclassroom/what-is-golden-rule-in-fiscal-policy

भारत में संघीय सरकार और अधिकांश राज्यों में ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण आय अंतर रहा है। पूंजीगत बजट में अतिरिक्त राशि का उपयोग आय में कमी को पूरा करने के लिए किया जाता है। पूंजीगत बजट में इस अधिकता का कारण भारी उधारी है। यदि पूंजी बजट में अधिशेष उधार लेने का परिणाम है, तो आय में कमी बढ़ी हुई सब्सिडी, ब्याज भुगतान आदि के कारण है। वर्तमान समाज को ऐसे सभी हस्तांतरणों से लाभ होता है। हालाँकि, आने वाली पीढ़ियाँ कर्ज चुकाने के लिए जिम्मेदार होंगी। इसका समाधान यह है कि सरकार उधार ली गई धनराशि को दीर्घकालिक पहलों में निवेश करे।

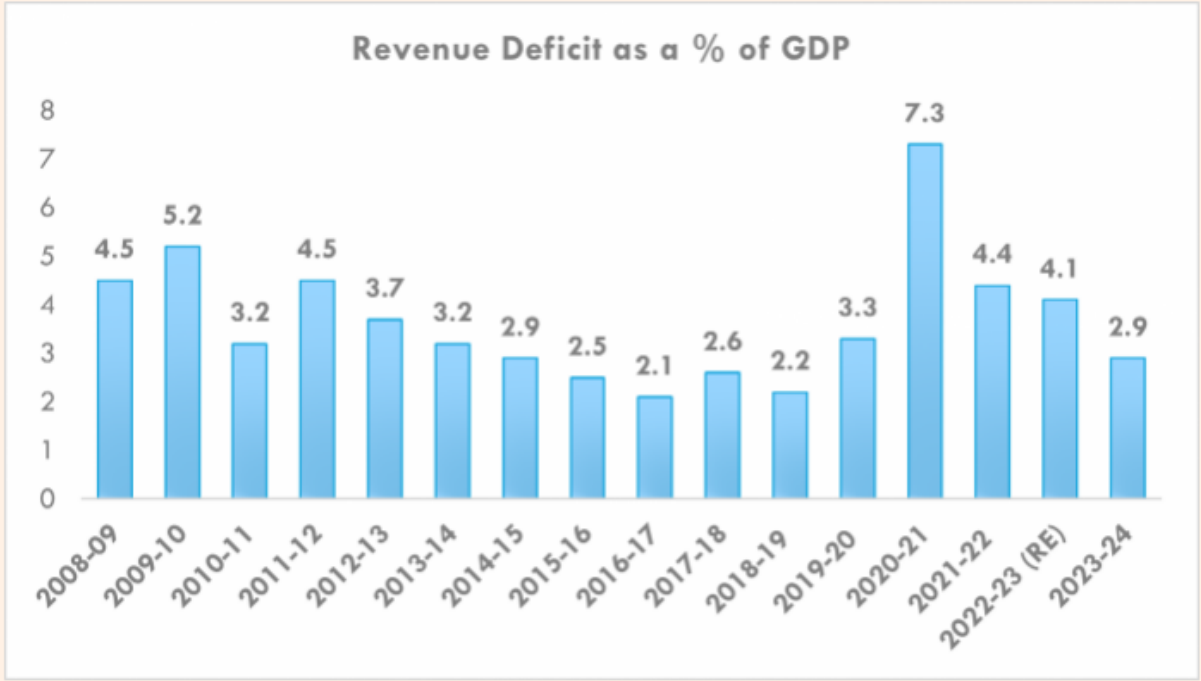

स्वर्णिम सिध्दान्त यह निर्देश देता है कि सरकार को खर्च संबंधी निर्णय लेते समय भावी पीढ़ियों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। यदि सरकार उधार ली गई नकदी का उपयोग वेतन और पेंशन जैसे चल रहे खर्चों के भुगतान के लिए करती है तो वर्तमान पीढ़ी को लाभ मिलेगा। हालाँकि, यह आने वाली पीढ़ियाँ हैं जिन्हें कर्ज चुकाने के लिए जिम्मेदार ठहराया जाएगा। इस प्रकार सरकारी उधारी और व्यय से इसका भुगतान करने के लिए जिम्मेदार समूह या आने वाली पीढ़ियों को लाभ होना चाहिए। यहां कार्रवाई का सबसे बुद्धिमान तरीका उधार ली गई धनराशि को दीर्घकालिक परिसंपत्तियों, जैसे बुनियादी ढांचे में निवेश करना है।

इसके अन्तर्गत सरकार के बजट में राजस्व में कोई कमी न हो। जब सरकार का कर और गैर–कर आय से दैनिक मुनाफा उसके दैनिक कार्यों का समर्थन करने के लिए अपर्याप्त होता है, तो राजस्व अंतर मौजूद होता है।

2022के बजट के कार्यान्वयन के बाद पूंजीगत व्यय के अनुपात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। वित्तीय वर्ष 2020– 21में, पूंजीगत व्यय का अनुपात मात्र %12था, जो बाद में वर्ष 2023– 24के अनुमानित बजट में %22 तक बढ़ गया। धनराशि का बढ़ा हुआ आवंटन सरकार के स्वर्णिम नियम के सिद्धांत के सक्रिय पालन का प्रतीक है।

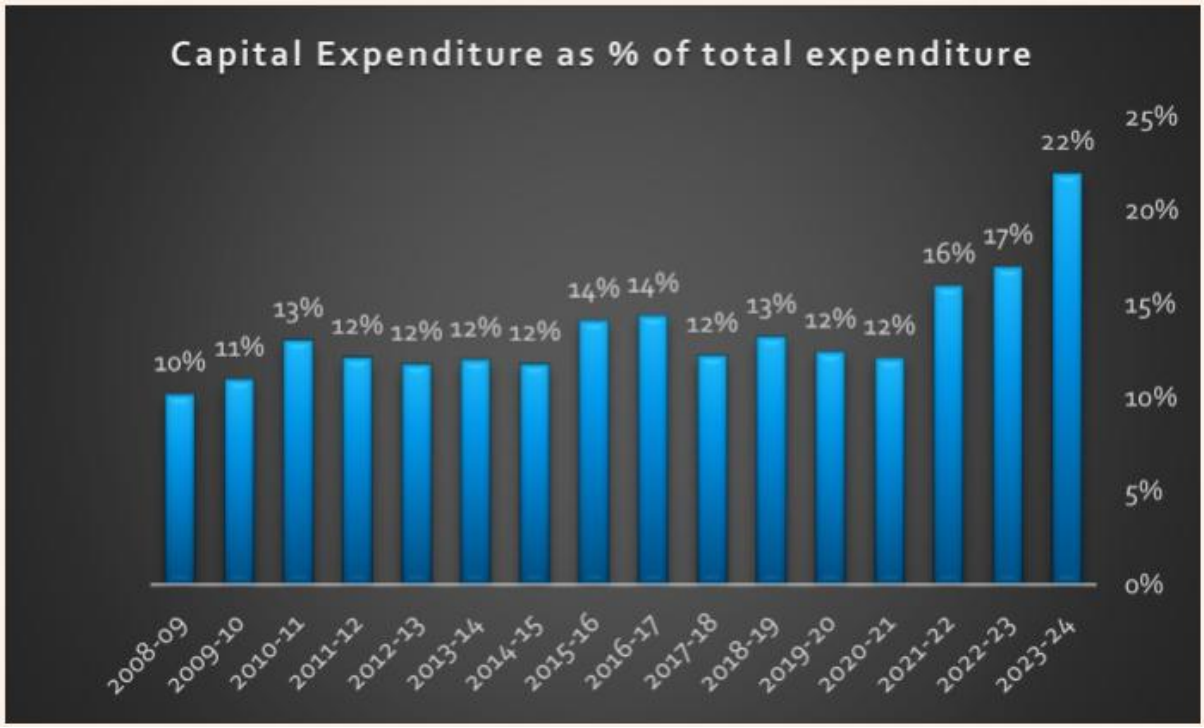

राजकोषीय नीति की विशेषताएँ

राजकोषीय नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित है–

वित्त मंत्रालय की बजट नीति को राजकोषीय नीति के रूप में जाना जाता है।

किसी देश की राजकोषीय नीति उसकी आर्थिक नीति की सहयोगी होती है और उसे पूर्व के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए प्रशासित किया जाता है।

कर खर्च, उधार और ब्याज सभी प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

यह आमतौर पर देश में रोजगार, आय, मूल्य निर्धारण या उत्पादन में सुधार की आशा से किया जाता है।

राजकोषीय नीति हस्तक्षेप के दौरान, सरकार स्वंय कदम उठाती है।

> जब सरकार का खर्च, कर, ऋण और बजट निर्माण सभी एक ही लक्ष्य – पूर्ण उपभोग, आर्थिक स्थिरता और त्वरित आर्थिक पूर्ण रोजगार – की ओर निर्देशित होते हैं, तो इसे राजकोषीय नीति के रूप में जाना जाता है। दूसरे शब्दों में, राजकोषीय नीति इस बात से चिंतित है कि पैसा कैसे सरकार से लोगों तक और फिर वापस दोनों तरफ जाता है।

निष्कर्ष

राजकोषीय नीति सरकारी व्यय और करों का एक मूलभूत घटक है, जो विशेष रूप से मैक्रोइकॉनॉमिक्स के दायरे में रहते हुए व्यापक आर्थिक परिदृश्य पर प्रभाव डालने के साधन के रूप में कार्य करती है, राजकोषीय नीति के लक्ष्यों में पूर्ण रोजगार की प्राप्ति, आर्थिक विकास को बढ़ावा देना और सरकारी अधिकारियों द्वारा कार्यान्वित उचित उपायों के माध्यम से मुद्रास्फीति के दबाव का प्रबंधन शामिल है। आर्थिक प्रबंधन के संदर्भ में, राजकोषीय नीति उपकरण, अर्थात् कर और व्यय, व्यय के लिए वित्तीय संसाधनों के प्रावधान और कुल आर्थिक विकास के प्रक्षेप पथ को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परिणामस्वरूप, सरकारों के पास मौद्रिक और राजकोषीय नीतियों दोनों के कार्यान्वयन के माध्यम से अपनी अर्थव्यवस्थाओं के प्रदर्शन को प्रभावित करने की क्षमता होती है।

बोधात्मक प्रश्न–

1. राजकोषीय नीति का अर्थ एवं उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

   .....

   .....

2. राजकोषीय नीति के घटक बताइए।

   .....

   .....

3. राजकोषीय नीति के महत्व को बताएं।

   .....

   .....

अभ्यासार्थ प्रश्न–

1. राजकोषीय नीति क्या है?
2. राजकोषीय नीति के प्रकार बताइए।
3. राजकोषीय नीति के उद्देश्य बताइए।
4. राजकोषीय नीति एवं मौद्रिक नीति में सम्बन्ध बताइए।
5. विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति का उद्देश्य बताइए।
6. भारत में राजकोषीय नीति के औचित्य की विवेचना कीजिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- डॉ. बलराज सराफ, राजकोषीय नीति और उसके महत्व पर एक अध्ययन, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंस इन्वेंशन (आईजेएचएसएसआई), खंड 8 अंक 01 क्रमांक, द्वितीय, जनवरी 2019, पीपी. 88–90
- बेन बाउजियन, एम., चिबी, ए., और शोकोरी, एस.एम. (2017), अल्जीरिया में राजकोषीय नीति के झटके के व्यापक आर्थिक प्रभाव: एक व्यावहारिक अध्ययन, शोध पत्र, अर्थशास्त्र संकाय, अबी बक्र बल गेद विश्वविद्यालय, तल्मसन, अल्जीरिया।
- कब्बोर, एन.ए. (2018), आर्थिक विकास पर राजकोषीय नीति की भूमिका: एक मॉडल के रूप में अल्जीरिया, एम.ए. शोध प्रबंध. अर्थशास्त्र संकाय, फराहत अब्बास विश्वविद्यालय, अल्जीरिया
- ओक्रान, एम.के. (2017), दक्षिण अफ्रीका में राजकोषीय नीति और आर्थिक विकास, जर्नल ऑफ इकोनॉमिक स्टडीज, 38(5), 604–618
- खलोट, एफ. (2014), वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय विकास के तहत विकासशील देशों में आर्थिक स्थिरता और विकास प्राप्त करने में राजकोषीय नीति की भूमिका, एम.ए शोध प्रबंध, विधि एवं अर्थशास्त्र संकाय। बस्करा: मोहम्मद खेदर
- लार्च, एम. और जे. नोगीरा मार्टिंस (2009), यूरोपीय संघ में राजकोषीय नीति निर्माण: वर्तमान अभ्यास और चुनौतियों का आकलन, रूटलेज
- हैनसेन, बेंट (2003), राजकोषीय नीति का आर्थिक सिद्धांत, खंड -3रूटलेज
- घोष, ए.आर., किम, जे.आई., मेंडोजा, ई.जी., ओस्ट्री, जे.डी., और कुरेशी, एम.एस. (2013), उन्नत अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय थकान, राजकोषीय गुंजाइश और ऋण स्थिरता, द इकोनॉमिक जर्नल, 123(566), एफ4–एफ30
- हेनीमैन, एफ., मोएसिंगर, एम.–डी., येटर, एम. (2018), क्या राजकोषीय नियम राजकोषीय नीति को बाधित करते हैं? एक मेटा–रिग्रेशन–विश्लेषण, ईयूआर, जे. पोलित. इकोन. 51,69 –92

- कोपिट्स, एम.जी., सिमांस्की, एम.एस.ए. (1998), राजकोषीय नीति नियम. अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष।

- https://jncollegeonline-co-in/attendence/classnotes/files/1627067195-pdf

- स्टुपक, जे.एम. (2019), राजकोषीय नीति, आर्थिक प्रभाव. कांग्रेसनल रिसर्च सर्विस, रिपोर्ट, 1–11

- पडोअन, पी.सी. (2009), संकट में राजकोषीय नीति: प्रभाव, स्थिरता, और दीर्घकालिक निहितार्थ, एडीबीआई वर्किंग पेपर श्रृंखला, संख्या 178 दिसंबर 2009

सार्वजनिक बजट, राजस्व , पूंजी बजट तथा भारत में बजट प्रक्रिया (Public Budget, Revenue, Capital Budget & Budget Process in India):-

इकाई की रूपरेखा :–

1.0 परिचय

1.1 उद्देश्य

1.2 बजट की परिभाषा

1.3 बजट का निर्माण

1.4 बजट निर्माण प्रक्रिया

1.5 सार्वजनिक व्यय पर संसदीय नियंत्रण

1.6 भारत सरकार की बजट नीति

1.7 स्वतंत्रता के बाद आर्थिक नियोजन से पूर्ण की बजट नीति

1.8 योजना काल में बजट नीति

1.9 बजट के उद्देश्य

1.10 बजट का बदलता स्वरूप

1.11 बजट सिद्धान्त

1.12 विकासशील देशों में बजट की भूमिका

1.13 सारांश

1.14 शब्दावली

1.15 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची

1.16 प्रश्नो के उत्तर दीजिए

1.17 बहुविकल्पीय प्रश्न उत्तर

1.0 परिचय (Introduction) :-

'बजट' शब्द का उद्गम फ्रान्सीसी शब्द श्ठवनहमजजमश अर्थात् चमड़े के थैले से हुआ है। बजट में आय व व्यय के अनुमान लगाये जाते हैं। इसमें व्ययों को करने के लिए विभिन्न साधनों व पद्धतियों को प्रयोग किया जाता है। यह आय व व्यय का एक वार्षिक विवरण है। भारतीय संविधान के अनुसार यह वार्षिक लेखा लोकसभा व राज्यसभा के सम्मुख प्रस्तुत करना होता है। इस लेखे पर बहस के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है। पक्ष तथा विपक्ष के सभी सदस्य बहस में भाग लेते हैं। हमारे देश के बजट में गत वर्ष की वास्तविक राशि, चालू वर्ष की अनुमानित राशि, चालू वर्ष के संशोधित अनुमान तथा अगले वर्ष के अनुमान प्रस्तुत किये जाते हैं। वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से प्रारम्भ होता है और 31 मार्च को प्रतिवर्ष समाप्त हो जाता है।

1.1 उद्देश्य (Objective) :-

1. लेखा देयता
2. कार्यकलाप बजट पद्धति
3. राजकीय नीति का उपकरण
4. कार्यात्मक दृष्टिकोण

5. योजना से संबंधित

1.2 बजट की परिभाषा (Definition of Budget)

विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न–भिन्न प्रकार से बजट की परिभाषा की गयी है। मुख्य परिभाषाएँ इस प्रकार हैं:

1. किंग (ज्ञपदह) के अनुसार, ''बजट एक प्रशुल्क योजना है, जिसके द्वारा व्यय को आय से सन्तुलित किया जाता है।''
2. शिराज (ैपततें) के शब्दों में, ''बजट आय तथा व्यय का विवरण है। यह सरकार द्वारा अनुमानित व्यय को पूरा करने के लिए बनाया जाता है। इसमें सामान्यतया दो वित्तीय अवधियाँ होती हैं– समाप्त होने वाली अवधि तथा आगामी अवधि। संक्षेप में, बजट में पिछले वर्ष के आय–व्यय का अनुमान तथा घाटों को पूरा करने और बचत को वितरित करने के लिए प्रस्ताव होते हैं।''
3. टेलर (च्थ्थ् ज्लसवत) के अनुसार, ''बजट सरकार की मास्टर वित्तीय योजना है।''
4. विलोबी (ज्ण्च्च्ैपससवनहीइल) के अनुसार, ''बजट एक साथ एक रिपोर्ट, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव है। यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वित्तीय प्रशासन की सभी विधियों को सम्बन्धित किया जाता है, उनकी तुलना की जाती है और उनमें समन्वय स्थापित किया जाता है।''
5. शाही जन–प्रशासन संस्था के अनुसार, ''बजट का महत्व आर्थिक नियोजन के यन्त्र के रूप में बताया गया है। राष्ट्रीय विकास में सम्भाव्य विकास को निर्धारित करने के साधन के अतिरिक्त यह मुद्रा–प्रसार के भय तथा आर्थिक मन्दी के डर को दूर करने हेतु करों के निर्माण एवं शासकीय व्ययों को नियन्त्रित करने से सम्बन्धित है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि बजट राष्ट्रीय आय–व्यय का वार्षिक लेखा–जोखा है, जिसमें व्यवस्थित रूप से हर पक्ष का उल्लेख होता है, जो एक नियोजित व वैज्ञानिक व्यवस्था है।

1.3 बजट का निर्माण (Preparation of the Budget)

भारत में बजट को कार्यकारिणी सभा द्वारा बनाया जाता है। बजट तैयार करने से पूर्व विभिन्न विभागों को एक नोट भेजा जाता है जिसमें विभागों के अध्यक्षों से यह अनुरोध किया जाता है कि वे अपने–अपने विभाग के आय तथा व्ययों के लेखों का अनुमान लगाकर वित्त–मन्त्रालय को भेजें। वित्त–मन्त्रालय अगस्त तक विभिन्न मन्त्रालयों को एक अनुमान फॉर्म भेज देता है। इस अनुमान फॉर्म को भरकर अन्य मन्त्रालय वित्त–मन्त्रालय के पास अक्टूबर के प्रथम सप्ताह तक भेज देते हैं। अनुमान फार्म को दो भागों में विभाजित किया जाता है–प्रथम भाग में वर्तमान आय तथा व्यय से सम्बन्धित अनुमान होते हैं, जबकि दूसरे भाग में आने वाले वर्ष के आय–व्यय सम्बन्धी अनुमान होते हैं। इस प्रकार प्रथम भाग का सम्बन्ध वर्तमान से होता है और दूसरे भाग का सम्बन्ध भविष्य से। पहले भाग में आय और व्यय अलग–अलग दिखाये जाते हैं, जिनके मुख्य शीर्षक निम्नवत् हैं :

(प) पिछले वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय,

(पप) चालू वर्ष के आय तथा व्यय सम्बन्धी स्वीकृत अनुमान,

(पपप) चालू वर्ष तथा पिछले वर्ष के वास्तविक आय–व्यय सम्बन्धी आँकड़े,

(पअ) भावी वर्ष के बजट अनुमान, तथा

(अ) चालू वर्ष के दुहराये हुए आय–व्यय अनुमान।

बजट के निर्माण में सावधानियाँ– बजट बनाने से पूर्व निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

1. **बजट सन्तुलित होना चाहिए–** संकट–काल को छोड़कर सामान्य काल में बजट सन्तुलित होना चाहिए। लगातार घाटे के बजटों का परिणाम अर्थव्यवस्था के लिए हितकर नहीं हो सकता है।

2. **बजट में सभी प्रकार की आय सम्मिलित करनी चाहिए–** बजट में सभी प्रकार की आय सम्मिलित होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो देश की आर्थिक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पायेगा। यदि अलग–अलग विभाग अपना अलग–अलग बजट बनाने लगें तो इससे अपनी आपसी समन्वय नहीं रहेगा। बजट बही खाते के आधार पर नहीं बनाया जाना चाहिए, बल्कि उसका आधार नकद होना चाहिए।

3. **अनुमान काल्पनिक नहीं होने चाहिए–** बजट बनाते समय आय–व्यय के जो अनुमान लगाये जाते हैं वे काल्पनिक न होकर वास्तविकता के आस–पास ही होने चाहिए। यह कार्य कठिन तो है परन्तु असम्भव नहीं है। कर्मचारियों का हमेशा यही प्रयत्न रहता है कि वे अपने अनुमानों में आय की अपेक्षा व्यय के अनुमान अधिक लगाते हैं। बजट अनुमान पूर्व के होते हैं, इसलिए ये वास्तविकता से दूर हो सकते हैं। फिर भी, प्रयत्न करके इन्हें वास्तविक स्वरूप प्रदान किया जा सकता है।

4. **समाप्ति के नियम का आधार–** बजट में जिस वर्ष के लिए जिस मद में जितनी राशि व्यय करने के लिए स्वीकृत की जाती है उस राशि को उसी वर्ष व्यय करना होता है। बची हुई राशि को दूसरे वर्ष व्यय करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। जो राशि व्यय करने से बच जाती है उसे अगले वर्ष के लिए समाप्त समझा जाना चाहिए। यदि ऐसी व्यवस्था न की गयी तो बजटों में स्वीकृत राशि को प्रतिवर्ष व्यय नहीं किया जायेगा और वर्तमान व्यय को भविष्य के लिए टाल दिया जायेगा। इसलिए समाप्ति के नियम को आधार मानकर जिस वर्ष के लिए व्यय की राशि स्वीकृत होती है उस राशि को उस वर्ष व्यय किया जाना चाहिए। यही व्यवस्था उत्तम व्यवस्था है और भारत में इसी व्यवस्था को लागू किया गया है।

1.4 बजट–निर्माण प्रक्रिया (Budgetary Procedure)– बजट बनाने से पूर्व उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके बाद बजट बनाने की प्रक्रिया शुरू करनी चाहिए। भारत के सन्दर्भ में बजट की प्रक्रिया को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है :

1. **बजट की तैयारी (Preparation of the Budget)–** बजट की शुरूआत अगस्त से हो जाती है। वित्त–मन्त्रालय विभिन्न मन्त्रालयों से अनुमानित आय–व्यय के लेखे माँगता है। विभिन्न विभाग अक्टूबर के प्रथम सप्ताह तक वित्त–मंत्रालय को अपने–अपने अनुमानित लेखे भेज देते हैं। भारत में संघीय शासन–व्यवस्था होने के कारण राज्यों व केन्द्र के अलग–अलग बजट होते हैं। 1911 के बाद भारत में रेलवे बजट को अलग से प्रस्तुत किया जाने लगा है।

2. बजट पेश करना (Presentation of the Budget)– बजट के बन जाने के बाद उसे राज्यसभा व लोकसभा के द्वारा पारित किया जाता है। जब तक बजट स्वीकृत नहीं हो जाता है तब तक वह प्रभावी नहीं माना जाता है। लोकसभा द्वारा बजट का पारित होना अनिवार्य है। संसद के सामने वित्त–मन्त्री के द्वारा बजट का लेखा प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करते समय वह अपना बजट–भाषण भी देता है, जिसमें पूरे वर्ष की आर्थिक नीति की समीक्षा होती है। बजट–भाषण में नये करों व नये व्ययों का विवरण दिया जाता है, और ऐसा करने का उद्देश्य भी स्पष्ट किया जाता है। बजट घाटे और बचत के हो सकते हैं अतः वित्त–मन्त्री को इस बात पर प्रकाश डालना होता है कि उसने ऐसा बजट क्यों बनाया, इस प्रकार के बजट की क्या आवश्यकता पड़ गयी और इससे सामान्य जनता को क्या लाभ होने वाला है, आदि। इन सभी बातों का स्पष्टीकरण बजट–भाषण में दिया जाता है। वित्त–मन्त्री द्वारा सदन में जो भाषण सुनाया जाता है, उसकी छपी हुई एक–एक प्रति सदस्यों में वितरित की जाती है।

3. **सामान्य बहस (General Discussion)–** जब वित्त–मन्त्री अपना पूरा भाषण पढ़ लेते हैं तब उस भाषण पर बहस के लिए अलग से दिन निश्चित कर दिया जाता है। बजट पर

बहस का दिन निश्चित कर लेने के बाद फिर उस पर पक्ष–विपक्ष के सदस्यों के द्वारा सामान्य रूप से चर्चा की जाती है। सदस्य बजट के अनुमानों व उसकी मदों की आलोचना कर सकते हैं, या उसकी सराहना भी कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि करारोपण की दर बढ़ायी गयी है या कोई नया कर लगा दिया गया है या आय–कर में राहत न दी गयी, तो ऐसी दशा में कुछ सदस्यों को यह कहते हुए सुना जा सकता है कि बजट ने सामान्य व्यक्तियों की कमर तोड़ दी है। और कुछ सदस्य यह भी कह सकते हैं कि बजट ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास का द्योतक है। जो भी हो, बजट पर तीन–चार दिन तक खुलकर वाद–विवाद होता रहता है। अन्त में, वित्त–मन्त्री सदस्यों की शंकाओं का समाधान करता है।

4. **मतदान (Voting)–** बजट पर सामान्य बहस हो जाने के बाद विभिन्न विभागों के मन्त्री अपने–अपने विभागों के लिए अनुदानों की माँग करते हैं और इन पर अलग–अलग बहस होती है। व्यय की कुछ मदें ऐसी होती हैं जिनके लिए संचित कोष से प्रत्यक्ष माँग की जाती है। इन मदों पर सदस्यों को मतदान करने का अधिकार नहीं होता है, परन्तु इन मदों पर चर्चा हो सकती है। इस चर्चा का लाभ यह होता है कि सरकार को यह पता लग जाता है कि बजट के प्रति सदस्यों की क्या धारणा है। नियम बनाने वाली सभा के सदस्यों को सरकार के प्रत्येक खर्चे पर अपनी राय प्रकट करने का अधिकार नहीं है। हमारे देश के संविधान की धारा 115 में ऐसी मदों की गणना की गयी है, जो निम्नलिखित हैं :

(प) राष्ट्रपति का वेतन तथा उस पर होने वाले अन्य खर्चे;

(पप) विधानसभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का वेतन तथा लोक सभा के स्पीकर व डिपुटी–स्पीकर के वेतन व भत्ते;

(पपप) ऋण सम्बन्धी मूलधन तथा ब्याज का भुगतान;

(पअ) ऋण लेने तथा उसका हिसाब लेने पर होने वाले खर्चे;

(अ) सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को प्राप्त होने वाले वेतन, भत्ते तथा पेन्शन;

(अप) सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था का व्यय तथा उसके कर्मचारियों के वेतन, भत्ते तथा पेन्शन;

(अपप) कन्ट्रोलर तथा ऑडीटर–जनरल के भत्ते तथा पेन्शन और उसके कार्यालयों के प्रशासन सम्बन्धी व्यय तथा कार्यालयों में काम करने वाले कर्मचारियों के वेतन, भत्ते और पेन्शन; तथा

(अपपप) कोई भी अन्य व्यय जिसे विधान तथा राष्ट्रपति ने इस श्रेणी में रख दिया हो।

प्रत्येक विभाग का मन्त्री अपने विभाग के लिए माँग प्रस्तुत करता है और अपने भाषण में उस माँग के औचित्य को स्पष्ट करता है। जिन सदस्यों को बहस में रुचि होती है वे उसमें भाग ले सकते हैं। जिस दिन जिस मद पर बहस पूरी नहीं होती है उसे दूसरे दिन के लिए छोड़ दिया जाता है। कभी–कभी अनुदानों की माँग में कटौती लाने का प्रस्ताव भी पेश किया जाता है। कटौती का उद्देश्य मितव्ययिता होता है। इस स्थिति को वित्त–मंत्री के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। वह यह बताता है कि अमुक–अमुक मद में अमुक–अमुक कारणों से कटौती नहीं हो सकती है, या हो भी सकती है। यदि वित्त–मन्त्री के स्पष्टीकरण से सदस्य सन्तुष्ट न हों तो वे उस पर मतदान करा सकते हैं। यदि कटौती का प्रस्ताव पारित हो जाता है तो इसका अभिप्राय सरकार के प्रति अविश्वास का मत हो सकता है। परन्तु ऐसी दशा में सरकार अपने पद से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य नहीं है। यदि कटौतियों के सम्बन्ध में वित्त–मन्त्री का स्पष्टीकरण सदस्यों को सन्तुष्ट कर देता है तो वे कटौती का प्रस्ताव वापस ले लेते हैं और मतदान नहीं होता है।

जब माँगों पर वोटिंग समाप्त हो जाती है तब केन्द्र में राष्ट्रपति और राज्यों में राज्यपाल की स्वीकृति ली जाती है। इन लोगों को यह भी अधिकार होता है कि जिन व्ययों की मदों को संसद व विधानसभा ने स्वीकार नहीं किया है उनके लिए वे स्वीकृति दे सकते हैं। यदि वे चाहें तो बजट को पुनः विचार के लिए संसद व विधानसभा को लौटा भी सकते हैं।

6. **वित्त विधेयक (Finance Bill)–** बजट की माँगों पर बहस के बाद एक विनियोग विधेयक रखा जाता है, जिसमें करों के लगने के सब प्रस्ताव होते हैं। यह प्रक्रिया साधारण विधेयक की ही भाँति होती है। नये कर लगाने तथा वर्तमान करों की दरों में वृद्धि करने के प्रस्तावों पर लोकसभा में बहस होती है। हमारे देश में केन्द्रीय सरकार कर सम्बन्धी प्रत्येक प्रस्ताव को एक वित्त–विधेयक के द्वारा पेश करती है, जिसमें उन सब परिवर्तनों को स्पष्ट कर दिया जाता है जो करारोपण के लिए आवश्यक हैं। इस प्रकार के बिलों को नये वित्त वर्ष से पूर्व ही पारित कर लिया जाता है। पुराने करों को कम करने तथा नये करों को लगाने के संबंध में जो भी संशोधन करना होता है उस संशोधन की रूपरेखा सरकार के सामने विरोधी दलों के द्वारा प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार के संशोधनों को यदि सरकार उचित समझती है तो स्वीकार कर लेती है। जब लोकसभा में वित्त–विधेयक पारित हो जाता है तब उसे स्वीकृति के लिए राज्यसभा में भेज दिया जाता है। हमारे देश में इस सम्बन्ध में दो प्रकार के बिल प्रस्तुत किये जाते हैं–एक वित्त–बिल और दूसरा द्रव्यिक बिल। पहले बिल में कर व व्यय के अतिरिक्त अन्य बातों का समावेश होता है, जबकि दूसरे द्राव्यिक बिल में केवल कर व व्यय–सम्बन्धी प्रस्ताव ही शामिल होते हैं। इन बिलों में भेद केवल स्पीकर ही करता है। वित्त–बिल बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के प्रस्तुत नहीं किया जाता है, जबकि द्राव्यिक बिल के लिए मात्र स्पीकर का ही प्रमाण–पत्र काफी होता है। ये दोनों बिल लोकसभा में पेश किये जाते हैं और उसके बाद राज्यसभा में स्वीकृति के लिए भेजे जाते हैं। यदि राज्यसभा इन बिलों में कोई संशोधन करती है तो ऐसी दशा में फिर से ये बिल पुनः विचार के लिए लोकसभा में आ जाते हैं। जब कभी दोनों सदनों में इन बिलों के बारे में मतभेद पैदा होता है तब दोनों सदनों के सदस्यों की एक संयुक्त सभा बुला ली जाती है। इस सभा के बहुमत से इस बिल को पारित कर लिया जाता है।

7. **अनुपूरक मांगें (Supplementary Demands) :-** कभी–कभी सरकार का व्यय निर्धारित व्यय से अधिक होता है इसलिए पूरे वर्ष के लिए पूर्व–स्वीकृत व्यय पूरा नहीं पड़ता है, अर्थात् स्वीकृत राशि वर्ष के बीच में ही समाप्त हो जाती है और शेष अवधि के लिए अधिक राशि का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसके लिए सदन के सम्मुख अनुपूरक मांगे रखी जाती है। इन अनुपूरक मांगों का अनुमान उसी प्रकार लगाया जाता है जैसे सामान्य बजट के व्ययों का अनुमान लगाया गया था। अनुपूरक मांगों को पारित करने के सम्बन्ध में भी वही विधि अपनायी जाती है जो सामान्य बजट को पारित करने के समय अपनायी गयी थी।

8. **सांकेतिक मांगे (Token Grants) :-** कभी–कभी सरकार को ऐसी मदों पर व्यय करना पड़ता है जिनके लिए बजट में कोई प्रावधान नहीं था। जब बजट बनाया जा रहा था उस समय वे मदें सरकार के सामने नहीं आयीं या जिन मदों पर अब सरकार व्यय करना चाहती है वे मदें यकायक आ जाती है अतः इन मदों के लिए अतिरिक्त व्यय की व्यवस्था की जाती है। ये मदें इतनी महत्वपूर्ण होती है कि इन पर बिना संसद की स्वीकृति के व्यय नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सरकार एक रूपये तक की मांग को संसद के सामने प्रस्तुत करेगी। कभी–कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि वर्ष के अन्त में इस बात का पता चलता है कि कुछ मदों में व्यय की राशि स्वीकृति राशि से अधिक हो गयी है। अतः ऐसे खर्च को उचित बताने के लिए अतिरिक्त अनुदानों की व्यवस्था की जाती है। अनुदानों की मांग करने से पहले इन्हें राजकीय हिसाब समिति के सामने रखा जाता है और समिति से स्वीकृति मिल जाने पर इस अतिरिक्त खर्च को पास कर दिया जाता है।

9. **बजट का कार्यान्वयन (Execution of the Budget):-** जब बजट की मांगों पर बहस समाप्त हो जाती है तब एक विनिमय बिल रखा जाता है जिसका मुख्य उद्देश्य पारित की गयी मांगों को कानूनी रूप प्रदान करना तथा संचित कोष में से धन निकालने का अधिकार प्राप्त करना होता है। भारतवर्ष में करों से प्राप्त होने वाली आय को संचित कोष में जमा किया जाता है और बाद में इस राशि को धीरे–धीरे निकाला जाता है। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर संसद द्वारा पारित की गयी मांगों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, वे मांगे स्थायी रूप ले लेती हैं। विनियोग बिल के पारित हो जाने पर केन्द्रीय आय बोर्ड को आय एकत्र करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस बोर्ड के

विभिन्न विभाग आय को प्राप्त करके कोषागार में जमा करा देते हैं और बाद में इस राशि का उपयोग होने लगता है।

बजट के पास हो जाने के बाद कार्यकारिणी सभा इस बात पर नजर रखती है कि बजट में व्यय के लिए जो राशि स्वीकृत की गयी है उस राशि को व्यय किया जा रहा है अथवा नहीं। इस लेखे की जाचं करने के लिए एक 'राजकीय हिसाब समिति' होती है जो इसकी जांच करती है। बजट के पास हो जाने पर उसकी सूचना विभिन्न विभागों को भेज दी जाती है। इसके बाद कोई भी अधिकारी स्वीकृत राशि को तब तक व्यय नहीं कर सकता है। जब तक कि वह ऐसा करने के लिए अपने से उच्च अधिकारियों की स्वीकृति न ले लेता हो।

1.5 सार्वजनिक व्यय पर संसदीय नियन्त्रण ;Parliamentary Control over Public Expenditure) :-

संसद व्यय पर नियन्त्रण के लिए दो बातें चाहती है–1. व्यय मितव्ययितापूर्ण होना चाहिए, तथा 2. जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए व्यय राशि स्वीकृत की गयी है उन्हें उद्देश्यों में व्यय होना चाहिए। संसद एक ऐसी संस्था है जो इनके कार्यों की स्वयं देखभाल नहीं कर सकती है। इसलिए वह अपनी ओर से कार्य का संचालन करने के लिए निम्न समितियों का गठन करती है और उसे अधिकार देती है कि समिति उसकी ओर से निरीक्षण कार्य करें। ये समितियां निम्नलिखित हैः

1. **जनलेखा समिति (Public Account Committee) :–** जनलेखा समिति संसद के द्वारा तय होती है। इसके निर्वाचन में आनुपातिक प्रतिनिधित्व का आधार होता है। संसद में जिस राजनीतिक दल का जितना प्रतिनिधित्व होता है उसी के आधार पर जनलेखा समिति मे उस दल के सदस्यों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इस समिति का अध्यक्ष भारत में शासक दल का कोई सदस्य होता है, जबकि ब्रिटेन में इस समिति का अध्यक्ष विरोधी दल का कोई सदस्य होता है। इस समिति में दोनों सदनों के सदस्य सम्मिलित होते है। यह समिति निम्नलिखित कार्यों को देखती हैः

   (क) जो राशि व्यय के लिए स्वीकृत की गयी है उससे अधिक राशि व्यय तो नहीं की जा रही है।

   (ख) जिन मदों के लिए व्यय स्वीकृत किया गया है उन्हीं मदों पर व्यय हो रहा है अथवा नहीं ;

   (ग) व्यय उसी अधिकारी के द्वारा किया जा रहा है या नहीं जो इस व्यय को करने का सक्षम अधिकारी है ;

   (घ) प्रत्येक व्यय उन नियमों के अनुसार किया जा रहा है अथवा नहीं जो सरकार द्वारा बनाये गये हैं।

   प्रत्येक मन्त्रालय से सम्बन्धित अलग–अलग रिपोर्ट मांगी जाती है।यह कार्य महालेखाकार के प्रतिवेदन पर किया जाता है। मन्त्रालयों के सचिवों के लिए यह आवश्यक है कि ऑडिट में उठायी गयी आपत्तियों का वे स्पष्टीकरण दें। महालेखा परीक्षक की सेवाएं भी समिति के पास रहती है। समिति का मार्गदर्शन महालेखा परीक्षक के द्वारा किया जाता है। समिति तथा महालेखा परीक्षक के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। समिति का यह अधिकार है कि वह वित्तीय मामलों में किसी भी व्यक्ति को बुला सकती है अथवा किसी भी हिसाब–किताब की जांच कर सकती है। समिति अनियमितताओं, अपव्ययों तथा हानि से सम्बन्धित मामलों की आलोचना कर सकती है। यदि किसी नीति के पालन में अव्यवस्था होती है तो समिति उसकी आलोचना कर सकती है , परन्तु नीति–विषयक मामलों में वह अपना मत नहीं दे सकती है।

2. **प्राक्कलन समिति (Estimates committee) :–** भारतवर्ष में इस समिति का गठन सर्वप्रथम सन् 1950 में किया गया था। तब से इस समिति का गठन प्रति वर्ष किया जाता है। इस समिति में अधिक से अधिक 30 सदस्य होते है। समिति में केवल

लोकसभा के सदस्य ही आमंन्त्रित किये जाते है। इस समिति मे सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व की एकल हस्तान्तरणीय मत पद्धति द्वारा किया जाता है। किसी भी मन्त्री को इसकी सदस्यता नहीं दी जाती है। समिति का अध्यक्ष निर्वाचित सदस्यों में से ही स्पीकर के द्वारा मनोनीत किया जाता है। प्राक्कलन समिति के कार्यों का ब्यौरा निम्नवत् हैः

1. बजट के लिए अनुमान निर्धारित किये जाते हैं उन अनुमानों में निहित नीति को ध्यान में रखते हुए मितव्ययिता, कार्यकुशलता तथा प्रशासनिक सुधारों के लिए आवश्यक सुझाव देती है।
2. प्रशासन में सुधार लाने के लिए नयी नीतियों के बारे में सुझाव देना।
3. समिति इस बात पर भी विचार करती है कि अनुमानों में वांछित तथ्यों को ठीक प्रकार से रखा गया है अथवा नहीं।
4. समिति इस बात की जांच करती है कि प्रशासनिक क्रियाओं में जो धन लगा हुआ है वह अनुमानों के अनुसार है अथवा नहीं।

प्राक्कलन समिति में तीन प्रकार की सिफारिशें होती हैं :

क. संगठन में सुधार की सिफारिश ;

ख. मितव्ययिता के सम्बन्ध में सिफारिश ; तथा

ग. प्राक्कलन समिति के प्रस्तुतीकरण में निर्देशन देने से सम्बन्धित सिफारिशें।

प्राक्कलन समिति जनलेखा समिति के ही समान नीति सम्बन्धी बातों में अपना मत प्रकट नहीं करती है। इस समिति के दो महत्वपूर्ण उद्देश्य होते हैं– 1. मितव्ययिता, और 2. कार्यकुशलता।

3. **सार्वजनिक उद्यमों पर समिति :–** भारत में सार्वजनिक क्षेत्र में उत्तरोतर वृद्धि के कारण यह विचार सामने आया कि एक ऐसी समिति का गठन किया जाय जो सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों का निरीक्षण कर सके। परिणामस्वरूप श्री कृष्ण मेनन के एक प्रतिवेदन पर 1963 में इस समिति का गठन किया गया था। इस समिति में कुल 15 सदस्य हैं, जिनमें से 10 सदस्य लोकसभा से और 5 सदस्य राज्यसभा से लिये जाते है। सदस्यों की नियुक्ति आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आघार पर होती है। इस समिति को निम्नलिखित कार्य करने होते है।
   1. सार्वजनिक उपक्रमों के प्रतिवेदन व लेखों की जाँच करना
   2. सार्वजनिक उपक्रमों के बारे में यदि महालेखा परीक्षक की कोई रिपोर्ट हो तो उसका परीक्षण करना।
   3. सार्वजनिक उपक्रमों की स्वायत्तता तथा कुशलता के संबंध में जांच करना और उनके व्यापारिक सिद्धान्तों के बारे में सुझाव देना।
   4. उन सभी कार्यों को करना जो समय–समय पर स्पीकर के द्वारा इस समिति को सौंपे जाते है।

सार्वजनिक उद्यमों पर जो समिति गठित की जाती है उसका कार्यकाल पांच वर्ष होता है और प्रति वर्ष उसके आधे सदस्य अवकाश प्राप्त कर लेते है। यह समिति अन्य समितियों की तरह सरकार की नीतियों व उनके प्रशासन पर विचार नहीं कर सकती है। यह समिति समय समय पर सार्वजनिक उपक्रमों के संबंध में अपनी रिपोर्ट देती है और उसी के आधार पर सरकार भी अपनी नीति में परिवर्तन लाती है।

1.6 भारत सरकार की बजट–नीति (Budgetary Policy of the Govt. of India) :- किसी देश के बजट में उस देश की आर्थिक नीति की झलक दिखायी देती है। देश की बजट नीति से देश में वस्तुओं व सेवाओं की मांग प्रभावित होती है। बजटों पर रोजगार व आय–स्तर, यहां तक कि उपभोग–स्तर भी निर्भर करता है। बजट में थोड़ा सा परिवर्तन बहुत बड़ा तूफान खड़ा

कर सकता है। राजकोषीय नीति में परिवर्तन करने से देश की रूपरेखा ही परिवर्तित हो सकती है। किसी देश की अर्थव्यवस्था उस देश की बजट–नीति पर पूर्णतया निर्भर करती है। इस संबंध में समय–समय पर भारत सरकार की बजट–नीतियों का वर्णन करेंगे।

क. स्वतन्त्रता के पूर्व बजट–नीति :– विदेशी सरकार भारत के आर्थिक विकास के संबंध में हमेशा उदासीन ही रही है। उस समय सरकार की बजट–नीति सीमित तथा संकीर्ण थी। जैसा कि हमें ज्ञात है, ब्रिटिश सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति का हमेशा समर्थन किया । इस नीति के अन्तर्गत वह हमेशा भारत से कच्चा माल आयात करती रही और अपने यहां का बना माल भारत में बेचती रही। उनकी इस नीति से भारत का औद्योगिक विकास नहीं हुआ। स्वतन्त्रता से पूर्व के किसी भी बजट में लोक–कल्याणकारी कार्यों की झलक नहीं दिखायी दी। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के प्रति कोई विशेष रूचि नहीं दिखायी गयी थी। जो राशि ब्रिटिश साम्राज्य के हितार्थ व्यय की जाती थी प्रायः उसी राशि को भारत के हिस्से में डाल दिया जाता था। करारोपण से आय प्राप्त करके सामान्य प्रशासन का खर्चा चलाया जाने लगा था। उस समय बजट का बहुत बड़ा भाग सामान्य प्रशासन व प्रतिरक्षा पर व्यय किया जाता था। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त सन 1935 के बाद बजट नीति में थोड़े नीति में सुधार किये गये थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तो प्रतिरक्षा व्यय में भारी वृद्धि हुई । यह व्यय बढ़कर 460 करोड़ रूपये तक पहुंच गया था। भारत में जो अमेरिकी फौजें रखी गयी थीं उन पर भी भारत को व्यय करना पड़ा। इस प्रकार, भारत में दिन–प्रतिदिन प्रतिरक्षा व्यय बढ़ता गया । बढ़ते हुए व्ययों की पूर्ति के लिए भारत सरकार को नये–नये कर लगाने पड़े और करों की दर में भी वृद्धि की जाने लगी। आयकर, अतिकर व निगम कर में भारी वृद्धि की गयी। सीमा शुल्कों व उत्पादन शुल्कों में परिवर्तन किये जाने लगे। बाजार ऋण में वृद्धि की गयी। सरकार के द्वारा पत्र मुद्रा का मुद्रण बढ़ाया जाने लगा और अल्प बचत योजनाओं पर जोर दिया जाने लगा। रेलों से भी सरकार अधिकाधिक आय प्राप्त करने लगी थी। युद्ध कोष का निर्माण किया गया और लोगों से स्वेच्छा से चन्दा मांगा जाने लगा। इस प्रकार बाजार ऋण का भार बढ़ता गया। 1939–40 में लगभग 198 करोंड़ रूपयें के नोट चलन में थें, जो 1945–46 में बढ़कर 1,163 करोड़ रूपये के हो गये थे। द्वितीय विश्वयुद्ध में उसके बाद भारतीय अर्थव्यवस्था को एक नहीं अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा।

1.7 स्वतन्त्रता के बाद आर्थिक नियोजन से पूर्व की बजट नीति (Budgetary Policy after Independence and before Econmic Planning :-

स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार की बजट–नीति में अभूतपूर्व परिवर्तन आये। राष्ट्रीय सरकार ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बजटों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दियां उसके मुख्य उद्देश्य देश में बेरोजगारी को दूर करना, आय की असमानता को दूर करना तथा लोक–कल्याणकारी कार्यों का संचालन करना था। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को लागू किया गया। देश के आर्थिक विकास के लिए ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाने लगे। उत्पादन के साधनों का मितव्ययितापूर्वक उपयोग करने तथा सार्वजनिक उपक्रमों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्न किये जाने लगे। व्यक्तिगत आयकर को प्रोत्साहित करने के लिए नये–नये उपाय किये जाने लगे। प्रशुल्क नीति में बड़े भारी परिवर्तनों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। रोजगार प्रदान करना सरकार का मुख्य उद्देश्य बन गया। लोगों का आर्थिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए राहत के कार्यों को भी प्रमुख स्थान दिया जाने लगा। कुल मिलाकर लोक–कल्याणकारी राज्य को कल्पना को साकार करना ही सरकार का मुख्य उद्देश्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए देश की राजकोषीय व बजट–नीति का महत्वपूर्ण स्थान हो गया। इस प्रकार सार्वजनिक व्यय, कराधान, सार्वजनिक ऋण, वित्तीय प्रशासन की व्यवस्था आदि में अनेकानेक परिवर्तन करने पड़े और उसी के अनुरूप बजटों का निर्माण होने लगा।

1.8 योजना काल में बजट नीति (Budgetary Policy during Planning Period) :-

भारत में 1951 से पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ किया गया था। अब भारत के सामने एक नये कार्यक्रम को अपनाने की चुनौती आ खड़ी हुई थी। उसके व्यय भार बढ़ने प्रारम्भ हो गये । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीति का महत्वपूर्ण स्थान हो गया। योजनाकाल में भारत सरकार के राजस्व व पूंजीगत खातों में आय–व्यय बढ़ने लगा। पांचवीं योजना तक राजस्व खाते

के आय और व्यय में लगभग आठ गुना वृद्धि हो चुकी थी। समाजवादी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए महत्वपूर्ण सेवाओं पर बड़े पैमाने पर व्यय किया जाने लगा। बार–बार के युद्धों के कारण प्रतिरक्षा व्यय में वृद्धि होने लगी, उसी प्रकार राज्य सरकारों के व्ययों में भी वृद्धि होने लगी क्योंकि राज्य सरकारों को भी अपने–अपने क्षेत्रों में अनेक प्रकार के कार्यक्रमों को अपनाना था। राज्यों के आय के साधन बेलोच थे, जबकि उनका व्यय लोचदार। परिणामस्वरूप राज्यों की केन्द्र के प्रति निर्भरता लगातार बढ़ती गयी और केन्द्र के द्वारा राज्यों को दिया जाने वाला अनुदान भी बढ़ता गया। वित्त आयोगों द्वारा राज्यों के आर्थिक हितों की रक्षा करने के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये जाने लगे जिन्हें केन्द्रीय सरकार को स्वीकार करना पड़ा। इस प्रकार केन्द्र का व्यय भार और अधिक बढ़ गया। यदि केन्द्रीय सरकार वित्त आयोगों की सिफारिशों को स्वीकार न करती तो राज्यों व केन्द्र के बीच मनमुटाव होता रहता है। यदि हम आज से 30 वर्ष पूर्व भारतीय बजटों का अध्ययन करें तो आज की तुलना में हम पायेंगे कि बजटों की नीति पूर्णतया बदल चुकी है और भविष्य में भारतीय बजट का स्वरूप कैसा होगा, यह कहा नहीं जा सकता है। आर्थिक नीतियों में परिवर्तन के साथ–साथ बजटों में परिवर्तन आना स्वाभाविक है।

भारत सरकार की अब तक की बजट नीति में मिश्रित प्रभाव देखने को मिले है। भारत की बजट नीति आर्थिक विकास के लिए साधनों को गतिशील बनाने की दृष्टि से अनुकूल रही है, भले ही इसके स्फीतिक प्रभाव भी देखने में आये है। इसके अतिरिक्त, आय की असमानता व मूल्यों में निरन्तर वृद्धि जारी रही, फिर भी सरकार का यह प्रयत्न रहा है कि देश में एकाधिकार तथा आर्थिक केन्द्रीकरण कम से कम हो। आय की असमानता को दूर करने के लिए ऊँची आय वालों पर ऊँची दर से करारोपण किया जाने लगा। अनार्जित आय के संबंध में भी इसी प्रकार की नीति अपनायी जाने लगी। बड़े पैमाने पर व्यय करने के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में रोजगार के अवसर सुलभ कराये जाने लगे। ग्रामीण क्षेत्रों में भी छिपी बेरोजगारी दूर होने लगी। इतने पर भी जनसंख्या की वृद्धि के कारण बेरोजगारी की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। फिर भी प्रत्येक बजट में ऐसा प्रयास किया जा रहा है कि हम उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही बेरोजगारी की समस्या को हल कर सकें और आर्थिक विकास के कार्यक्रम को भी तेजी से लागू करें। इतना सब होने व करने के बाद भी भारत में प्राकृतिक प्रकोपों ने भारत के विकास में रोड़े उत्पन्न कर दिये है। वर्तमान में सम्पूर्ण भारत सूखे की चपेट में आ चुका है। अरबों रूपयों की क्षति का अनुमान लगाया गया है। ऐसी दशा में विकास कार्यक्रमों की जगह राहत कार्यक्रमों पर अधिक व्यय किया जाने लगा है। इस प्रकार हम जितना आगे बढ़ना चाहते हैं उतना ही पीछे चले जाते है। फिर भी प्रयत्न जारी है। आर्थिक विकास के लिए कठोर संघर्ष करना होगा, तभी उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकेगी।

बजट के कुछ महत्वपूर्ण पहलु निम्नवत् हैः

1. यह भावी योजना या कार्यक्रम है। अतीत के अनुभव तथा उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर इस योजना का निर्माण किया जाता है। सरकार की आर्थिक एवं सामाजिक नीति एवं विचारधारा का मार्गदर्शन करती है। बजट योजना को मौद्रिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।
2. बजट केवल प्रारम्भिक प्रस्ताव नहीं है बल्कि क्रिया करने की योजना है। चूंकि बजट प्रस्तावों को विधान सभा पारित करती है, अतः वे वजनी हो जाते हैं तथा क्रियान्वयन के योग्य।
3. बजट मद केवल अनुमान होते हैं, वास्तविक नहीं।
4. सरकार की क्रियाओं के सम्बन्ध में बजट एक विस्तृत योजना है। इसके अन्तर्गत सरकार के सभी विभागों तथा एजेन्सियों की क्रियाएं शामिल रहती है।
5. सामान्यतः बजट वार्षिक योजना होती है। कभी–कभी इसे साल से अधिक लम्बी अवधि के लिए भी तैयार किया जाता है।
6. बजट का निर्माण कार्यकारिणी द्वारा होता है तथा इसे विधान सभा के समक्ष मतदान के लिए पेश किया जाता है।

7. बजट में अक्सर चालू व्यय, पूंजी व्यय तथा सार्वजनिक आर्थिक उद्यमों के मध्य अन्तर किया जाता है। चालू व्यय की वित्त व्यवस्था सामान्यतः कर राजस्व द्वारा होती है, जबकि लोक ऋण के द्वारा पूंजी व्यय के लिए वित्त जुटाया जाता है तथा दोनों प्रकार के व्यय को पृथक–पृथक दिखाया जाता है क्रमशः राजस्व बजट तथा पूंजी बजट में।

   जब लोक उद्यम आर्थिक उद्यमों की तरह होते हैं तथा उन्हें नियमित सरकारी विभागों के अन्तर्गत रखा जाता है, उनकी आय और व्यय को सामान्य बजट के अंग के रूप में दिखाया जाता है। कभी–कभी इन उद्यमों की व्यवस्था अलग लोक निगमों के रूप में की जाती है। इस स्थिति में इनके बजट को सामान्य बजट से पृथक दिखाने की प्रथा यूरोप के देशों तथा भारत में है।

8. कभी–कभी बजट पर मतदान होने तथा क्रियान्वयन के बाद संशोधन की आवश्यकता हो जाती है। ऐसा कई कारणों से हो सकता है, जैसे, लोक व्यय में अचानक वृद्धि या राजस्व में अप्रत्याशित कमी या अप्रत्याशित संकट।

9. जिस राशि का व्यय नहीं हो जाता है उसे एक ही विभाग में एक अवधि से दूसरी अवधि में या एक विभाग से दूसरे विभाग मे हस्तान्तरित किया जा सकता है। एक ही विभाग में हस्तान्तरण केवल विभागीय अध्यक्ष की मर्जी से नहीं होता है बल्कि प्रमुख कार्यपालिका के निरीक्षण में। अन्तर्विभागीय हस्तान्तरण के लिए विधायिका की स्वीकृति आवश्यक है।

10. नयी क्रियाओं के उपस्थित होने या मौजूदा सेवाओं में विस्तार होने पर बजट जरूरी हो जाता है।

1.9 बजट के उद्देश्य (Objectives of budget) :– बजट के माध्यम से कई उद्देश्यों को प्राप्त करने की कोशिश की जाती है। जिनके प्रमुख उद्देश्य हैः

1. नीति निर्माण के लिए बजट ढांचा तैयार करता है। इसके लिए उद्देश्यों तक पहुंचने के लिए जो कार्य करना होगा उनके सम्बन्ध में निर्णय लिया जाता है। निर्णय यह लेना होता है कि विभिन्न प्रतिस्पर्धी वैकल्पिक प्रस्तावों में से किसे चुना जाय ताकि विशेष राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। इस बात का भी निर्णय लेना है कि क्या अनेक उद्देश्यों को एक साथ प्राप्त किया जा सकता है।

2. नीति को लागू करने का बजट एक माध्यम है? यहां कार्यक्षमता तथा मितव्ययिता के मापदण्ड को लागू किया जाता है अर्थात नीति सम्बन्धी निर्णयों को न्यूनतम लागत द्वारा करने का प्रयत्न किया जाता है।

3. बजट कानूनी नियन्त्रण का एक माध्यम है। बजट सम्बन्धी सभी निर्णय अधिनियमों का रूप लेते हैं कानूनी नियन्त्रण पर बल देने का कारण है अधिकारों का दुरूपयोग रोकना तथा सार्वजनिक फण्ड को गलत इस्तेमाल से बचाना।

4. बजट दस्तावेज अतीत की क्रियाओं , वर्तमान निर्णयों तथा भावी सम्भावनाओं के विषय में लोगों को जानकारी प्रदान करने का स्त्रोत हो सकता है। बजट प्रक्रिया कार्यपालिका तथा विधायिका को अवसर प्रदान करती है कि वे अपने निर्णयों तथा कार्यों के औचित्य को समझा सकें।

उपरोक्त से स्पष्ट है कि बजट के अनेक उद्देश्य होते है तथा कभी–कभी उनमें संघर्ष हो सकता है। चूंकि सभी उद्देश्य महत्वपूर्ण है, अतः उनसे आपसी संघर्ष को समझौते के द्वारा सुलझाना जरूरी है।

1.10 बजट का बदलता स्वरूप;Changing Character of Budgeting) :–

वर्तमान सदी में बजट के स्वरूप में सरकार के कार्य में आमूल परिवर्तन हुए है। किन्तु, यह विकास कोई योजनाबद्ध रूप में नहीं हुआ है, बल्कि स्वतः हुए हैं। इन परिवर्तनों पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ा है, जैसे, राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक सिद्धान्त, प्रबन्धकीय दृष्टिकोण, लेखा सिद्धान्त तथा लोक प्रशासन का आचरण। इस सामान्य तत्वों के अतिरिक्त कुछ विशेष घटनाओं का भी प्रभाव पड़ता है। निम्न प्रमुख घटनाएं हैः–

1. दो विश्वयुद्ध तथा इसके परिणामस्वरूप लोक व्यय में वृद्धि ;
2. 1930 की आर्थिक मन्दी और इसके फलस्वरूप राज्य तथा राजकोषीय नीति के दृष्टिकोण में परिवर्तन।
3. द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात लोक व्यय में अत्यधिक वृद्धि।
4. आर्थिक स्थिरीकरण की आवश्यकता तथा पूर्ण रोजगार की प्राप्ति, और
5. आर्थिक विकास तथा वृद्धि तथा उसमें राज्य की भूमिका।

सरकारी बजट के पारम्परिक अध्ययन में दो तत्वों पर विशेष ध्यान दिया जाता था, यथा, (क) सरकारी बजट तथा लेखा व्यवस्था का पूर्ण विवरण, तथा (ख) विधायिका तथा ऑडिट के क्रियाकलाप। इस वर्ग में स्टोर्म ;जवनतउद्ध की फ्रांसीसी व्यवस्था, डयूरेल ;क्नतमससद्ध की ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था तथा विलोबी ;पससवनहीइलद्ध की अमरीकी व्यवस्था के अध्ययन को रखा जा सकता है। 1920 तथा 1930 के दशकों में सरकारी बजटों में निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता था

1. प्रशासकीय प्रक्रिया का विश्लेषण ;
2. बजट तथा वित्तीय एजेन्सियों के तथा व्यय करने वाले विभागों के मध्य सम्बन्ध ; तथा
3. स्वायत्तता के मामले एवं कार्यपालिका तथा विधायिका के मध्य और कार्यपालिका की विभिन्न शाखाओं के मध्य अधिकारों को सौंपना।

केन्स की क्रान्ति के फलस्वरूप राष्ट्रीय आय लेखा का विशद अध्ययन शुरू हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि बजट का निर्माण समष्टि आर्थिक ढांचे के अन्तर्गत किया जाने लगा। दो विश्वयुद्ध के मध्य की एक प्रमुख घटना थी 1920 के दशक के उत्तरार्द्ध में केन्द्रीय योजना का अपनाया जाना। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विकासशील देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विकास योजना को अपनाया। इस कारण बजट के समक्ष नये मसले आ गये। इन सबका परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक तथा विकासशील देशों में बजट, प्रक्रिया में सुधार किये गये इसी सिलसिलें में निष्पादन बजट योजनाकरण, प्रोग्रामिंग तथा बजेटिंग व्यवस्था एवं शून्य आधार बजट का विकास हुआ।

पारम्परिक बजट में निम्न बातों पर बल दिया जाता था :

1. **एकता (Unity):–** सरकार की सभी प्राप्तियों को समेकित रूप में एक सामान्य निधि के अन्तर्गत सभी लोक व्यय के वित्त पोषण के लिए रखना।
2. **नियमितता (Regularity):–** प्रतिवर्ष बजट का निर्माण।
3. **यथार्थता (Accuracy) :–** किसी ठोस वित्तीय व्यवस्था के लिए बजट अनुमान का सही तथा विश्वासी होना जरूरी है। बजट अनुमानों को जानबूझकर न तो कम दिखाना चाहिए और न ही अधिक। भारतीय बजट के सम्बन्ध में अवसर यह कहा जाता है कि राजस्व अनुमान को कम करके दिखाया जाता है तथा लोक व्यय को बढ़ा चढ़ाकर बताया जाता है। यह अनुचित है। अतः यह जरूरी है कि यथासंभव कर एवं व्यव सम्बन्धी बजट अनुमान वास्तविकता के निकट हो।
4. **स्पष्टता (Clarity) :–** बजट इस तरह से तैयार किया जाना चाहिए कि समाज तथा जनता के प्रतिनिधि इसे समझ सकें तथा इसकी विवेचना कर सकें।
5. **प्रचार (Publicity):–** बजट सार्वजनिक दस्तावेज है, अतः इसकी विषय सूची की जानकारी समाज को हानी चाहिए।
6. **परिचालन पर्याप्तता (Opeational Adequacy):–** बजट सरकार के अन्तर्गत प्रशासन का यन्त्र है, अतः इसे परिचालन योग्य होना चाहिए।

7. **उत्तरदायित्व (Accountability) :–** राजस्व एवं व्यय अनुमानों की विधायिका द्वारा स्वीकृति। आज का बजट विधायिका के प्रति उत्तरदायी तो होता ही है, साथ ही इसमें योजना तथा प्रबन्ध के तत्व को भी शामिल कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त, बजट राष्ट्रीय नीति निर्धारण का प्रमुखयंत्र भी हो गया है। ऐसे बजट निम्न तीन उद्देश्यों को सन्तुष्ट करते हैं–

(क) उत्तरदायित्व :– बजट के इस पहलू पर लोक प्रशासन, राजनीतिशास्त्र तथा लेखा का प्रभाव है। लोक प्रशासन का प्रभाव मन्त्रालयों, लेखा तथा लेखा परीक्षा एजेन्सियों पर पड़ता है। राजनीतिशास्त्र की सहायाता से विधायिका सरकार के सम्बन्धों, साधनों के आवण्टन के निर्धारिण की राजनीतिक प्रक्रिया, आदि की विवेचना की जाती है। लेखा में ऑडिट, प्रबन्धकीय लेखा, आदि शामिल है।

(ख) **कार्यक्षमता सम्बन्धी नियन्त्रण** (Efficiency Control) :– बजट के इस पहलू पर अर्थशास्त्र, लेखा लोक प्रशासन तथा राजनीति शास्त्र का प्रभाव पड़ता है। आबन्टन में कार्यक्षमता, उत्पादन तथा वितरण जैसे क्षेत्र अर्थशास्त्र के दायरे में आते हैं। लागत की माप लेखा के उपयोग एवं लोक प्रशासन से सम्बन्धित है। राजनीति शास्त्र के क्षेत्र में जो विषय आते है वे हैं सरकार का दायरा, लोक व्यय की सीमा तथा निजीकरण।

(ग) **आर्थिक नियन्त्रण** (Economic Control) :– यह केवल अर्थशास्त्र के दायरे में आता है। यहां राजकोषीय नीति, वार्षिक बजट का आर्थिक ढांचा, कर तथा व्यय भार एवं वितरण सम्बन्धी मामलों की विवेचना की जाती है।

यद्यपि बजट प्रक्रिया का विश्लेषण राजनीतिशास्त्र का अंग है तथापि अर्थशास्त्रियों के लिए आर्थिक नीति के यन्त्र के रूप में अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

1.11 बजट सिद्धान्त (Budgetary Theory) :– इस शीर्षक के अन्तर्गत इस विषय का अध्ययन किया जाता है कि बजट सन्तुलित होना चाहिए अथवा असन्तुलित। इस सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों की चर्चा की जाती है।

(क) क्लासिकल दृष्टिकोण : संतुलित cTkV (Classical Viewpoint : Balance Budget):– क्लासिकल लेखकों के अनुसर बजट का सार है राजस्व तथा व्यय के मध्य सन्तुलन।यह धारणा व्यक्तिगत आचरण के सादृश्य पर आधारित है। जिस प्रकार व्यक्ति को अपनी आय से अधिक खर्च नहीं करना चाहिए उसी प्रकार सरकार को चाहिए कि वह अपने व्यय को आय की सीमा के अन्दर ही सीमित रखे। एडम स्मिथ के शब्दों में, ''प्रत्येक सीमित परिवार के आचरण में जो समझदारी है वह एक बड़े राज्यों के सम्बन्ध में शायद ही मूर्खता हो सकती है।'' युद्ध जैसी संकटकालीन स्थिति ही इस सिद्धान्त का अपवाद हो सकती है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदियों के चिन्तन को इसी धारणा ने प्रभावित किया। बेस्टाब्ल ने निम्न शब्दों में इस विचार को स्पष्ट किया है :

''सामान्य परिस्थितियों में, वित्तीय क्रियाओं के इन दो पक्षों के मध्य सन्तुलन होना चाहिए। आय की तुलना में व्यय को अधिक नहीं होना चाहिए ..... कर राजस्व को उतना ही वसूल करना चाहिए जितना व्यय की अदायगी के लिए जरूरी है।''

बजट में घाटा की सम्भावनाओं से बचने के लिए बैस्टावल ने सलाह दी कि सरकार को बजट में मामूली अतिरेक ;नतचसनेद्ध का लक्ष्य रखना चाहिए। ऐसा बताया गया कि यदि सन्तुलित बजट के लक्ष्य को त्याग दिया गया तो परिणाम होगा अपव्यय जिससे देश की समृद्धि रूक जायगी और अन्ततः वित्तीय सर्वनाश की ओर कदम बढ़ेगा।

फ्रांस में एडम स्मिथ को लोकप्रिय बनाने वाले अर्थशास्त्री जे0 बी0 से भी असन्तुलित बजट के उतने ही कट्टर विरोधी थे। उनका कहना था कि अपव्ययी लोक खर्च के कारण ही बजट में घाटा होता है। लुट्ज ने सन्तुलित बजट को वित्तीय स्थिरता का प्रतीक माना। साथ ही, यह भी बताया कि ऐसा बटट निजी प्रयासों को दीर्घकालीन प्रेरणा प्रदान करता है असन्तुति बजट ऐसा करने में अक्षम है।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का सन्तुलित बजट सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है। इन अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी कि पूर्ण रोजगार सामान्य स्थिति है। पूर्ण रोजगार की स्थिति में बजट घाटा के लिए वित्त लोक उधार प्राप्त होता है। लोक ऋण अर्थ है निजी रोजगार से हटाकर साधनों को सार्वजनिक क्षेत्र में लगाना। सम्पूर्ण क्लासिकल अर्थशास्त्र की यही मान्यता रही है कि सार्वजनिक उपयोग की तुलना में निजी क्षेत्र में साधनों का अधिक उत्पादक उपयोग होता है। दूसरा तर्क यह था कि ऋण के द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था कर की तुलना में कम कष्टदायक है। अतः बजट घाटा उत्तरदायित्वहीनता को जन्म देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि असन्तुलित बजट के अन्तर्गत लोक व्यय का अनावश्यक विस्तार होगा। तीसरी बात यह है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की धारणा लोक व्यय के सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों से भिन्न है। लोक ऋण के कारण लोक व्यय के लिए और अधिक वित्त जुटाना कठिन हो जाता है। कारण यह है कि ऋण पर न केवल ब्याज का भुगतान करना पड़ता है, बल्कि मूलधन को वापस भी करना होता है और इन सब के लिए अतिरिक्त कर लगाने की जरूरत होती है।

सन्तुलित बजट के सिद्धान्त में यह स्वीकार नहीं किया गया कि बेरोजगारी का समाप्त करना बजट नीति का लक्ष्य है। इसलिए बजट सम्बन्धी इस धारणा को किसी विशेष समस्या का सामना करना नहीं पड़ा किन्तु केन्सियन क्रान्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि सन्तुलन में होते हुए भी अर्थव्यवस्था में अनैच्छिक बेरोजगारी बड़े पैमाने पर विद्यमान रह सकती है। यह भी बताया कि पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए मौद्रिक नीति भी अधिक कारगर नहीं होती है। अतः बजट नीति की सहायता लेनी पड़ेगी और तब सन्तुलित बजट के सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं रह जाता है।

संतुलित बजट में लोक व्यय लोक राजस्व से अधिक नहीं होता है। डाल्टन का कहना है कि यहां तीन प्रारम्भिक प्रश्न उठते हैं। 1. लोक व्यय में क्या–क्या शामिल करना चाहिए। 2. राजस्व में क्या–क्या शामिल करना चाहिए? 3. किस अवधि में बजट को संतुलन में रहना चाहिए?

लोक व्यय के सम्बन्ध में डाल्टन का कहना है कि इससे लोक ऋण के सभी भुगतान को पृथक रखना चाहिए। उसी तरह वैसे लोक निर्माण पर खर्च, जिसका वित्त पोषण ऋण के द्वारा होता है, को भी शामिल नहीं करना चाहिए। उनका कहना है कि बजट का चालू बजट तथा पूंजी बजट में विभाजन कठिन नहीं है। डॉल्टन के कहने का तत्पर्य यह है कि सिर्फ चालू बजट को ही संतुलित होना चाहिए। राजस्व के सम्बन्ध में अधिक कठिनाई है। कर राजस्व को तो शामिल करना ही है, किन्तु सभी पूंजीगत प्राप्तियों को अलग रखना चाहिए। सार्वजनिक पूंजीगत सम्पत्ति में कमी मृतक भार लोक ऋण ;क्मंक ूमपहीज च्नइसपब कमइजद्ध में वृद्धि के समान है। इसलिए उन्होंने संतुलित बजट की निम्न परिभाषा की :

हम उसे संतुलित बजट कहेंगे जिसमें लेखा अवधि में शुद्ध मृतक भार से सार्वजनिक ऋण में वृद्धि नहीं होती है।

अनेक विकासशील तथा कुछ विकसित देशों में सरकारी बजट को दो भागों में विभाजित किया जाता है यथा, चालू या राजस्व बजट तथा पूंजी या विनियोग बजट अर्थात प्राप्ति पक्ष तथा व्यय पक्ष है। नीचे दोनों बजटों की प्राप्ति तथा व्यय पक्षों में शामिल विभिन्न मदों को दिखाया गया हैं–

राजस्व बजट (Revenue Budeget)

राजस्व (Revenue)	व्यय (Expenditure)
1. कर राजस्व	1. वस्तुओं तथा सेवाओं की चालू खरीद
2. गैर–कर राजस्व	2. ब्याज का भुगतान
क. लोक उद्यमों के लाभ	3. लोक उद्यमों को सब्सिडी तथा हस्तान्तरण भुगतान
ख. प्रशासनिक फीस	4. पूंजी उपयोग व्यय
ग. जुर्माना तथा जब्ती	5. अन्य

घ. सरकारी सम्पत्ति की बिक्री

ड. अन्य

राजस्व –व्यय त्र निवल चालू अतिरेक या घाटा–निवल बचत या घाटा

पूंजी बजट (Capital Budget)

प्राप्तियां (Receipts)	व्यय (Expenditure)
1. चालू राजस्व से प्राप्त अतिरेक	1. भौतिक निवेश
2. पूंजी उपभोग भत्ता	2. मौजूदा परिसम्पत्ति की खरीद
3. निवल ऋण (Net Borrowing)	3. निवल उधार (Net loans)
4. विदेशों से प्राप्त अनुदान	
प्राप्तियां – व्यय त्र नकट शेष में परिवर्तन	

पूंजी उपभोग भत्ता (Capital consumption) भौतिक पूंजी के मूल्य–ह्रास का अनुमान है जो अप्रचलन (Obsolescence) तथा घिसावट के परिणाम होते हैं। यह राजस्व बजट के लिए व्यय है, तो पूंजी बजट के लिए आय। कई देशों में इस मद को बजट में दिखाया ही नहीं जाता है।

संतुलित बजट के निम्न अर्थ हो सकते हैः

1. राजस्व बजट में राजस्व प्राप्तियों का व्यय के बराबर होना। अतः इस बजट में न तो अतिरेक होगा और न ही घाटा। यदि व्यय की तुलना में राजस्व अधिक हो तो उसे अतिरेक बजट कहा जाएगा। इसके विपरीत राजस्व की तुलना में व्यय के अधिक होने पर उसे घाटे का बजट कहा जाता है। सन्तुलित बजट की स्थिति में निधिक ऋण की आवश्यक नहीं होती है (निधिक ऋण एक वर्ष के अन्दर वापिस ;थ्नदकमक क्मइजद्ध कर दिया जाता है)।
2. संतुलित बजट के सम्बन्ध में दूसरी धारणा यह है कि चालू व्यय का वित्त पोषण चालू राजस्व के द्वारा होता है तथा पूंजी बजट दोनों ही संतुलन में रहते हे।
3. संतुलित बजट की तीसरी धारणा वह है जहां समग्र संतुलन (Overall balance) की बात कही जाती है। ऐसे संतुलन के विश्लेषण में राजस्व एवं पूंजी बजटों को साथ मिलाकर देखा जाता है तथा राजस्व एवं पूंजी बजटों में अलग–अलग संतुलन की बात नहीं कही जाती है। संतुलित बजट की इस धारणा के अनुसार राजस्व बजट में अतिरेक या घाटा हो सकता है। ऐसा अतिरेक या घाटा पूंजी बजट में हस्तान्तरित हो जाएगा।

समग्र बजट संतुलन

प्राप्तियां (Receipts)	व्यय (Expenditure)

1. राजस्व (कर एवं गैर कर)	C. चालू व्यय
3. निवल ऋण	D.वास्तविक एवं वित्तीय परिसम्पत्ति का अर्जन (नकद को छोड़कर)
	E. नकद में वृद्धि + या कमी (–)
संतुलन : A+B = C+D+E	

पारम्परिक धारणा यह है कि प्रतिवर्ष बजट में संतुलन होना चाहिए। डाल्टन का कहना है कि वार्षिक संतुलन में विशेष गुण नहीं है, यद्यपि यही सर्वाधिक उपयुक्त अवधि है। वाइनर का कहना है कि ''आर्थिक परिस्थिति पर ध्यान दिये बिना बजट में वार्षिक संतुलन की बात करना एक भ्रांति है। यदि प्रतिवर्ष संतुलन की जरूरत है, तो प्रति मास या प्रति सप्ताह या प्रति घंटा क्यों नहीं ?'' आर्थिक परिस्थितियों पर विचार करते हुए बजट में चक्रीय संतुलन की धारणा का जन्म हुआ। इसके अनुसार व्यापार चक्र की सम्पूर्ण अवधि को देखना चाहिये और सम्पूर्ण अवधि में कुल मिलाकर बजट को संतुलन में रहना चाहिए–व्यापार चक्र के समृद्धि काल में बजट में अतिरेक तथा मन्दी काल में घाटा।

यद्यपि कई देशों, जैसे, जापान, इंडोनेशिया तथा फिलिपीन्स में संविधान में ही संतुलित बजट का समावेश किया गया है। इस प्रावधान के अनुसार संतुलित बजट एक संवैधानिक अनिवार्यता हो जाता है। ऐसा ही एक प्रस्ताव अमरीकी संसद के समक्ष लाया गया था जिसे House of Representatives ने 11 जून, 1992 को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसे सुपर बहुमत (Super majority) नहीं मिल सका। इस प्रस्ताव को लाने का प्रमुख कारण था पिछले सिर्फ 12 वर्षों में अमरीकी लोक ऋण का 1,000 बिलियन डॉलर से बढ़कर 4,000 विलियन डॉलर हो जाना जबकि पिछली दो सदियों में कुल ऋण बजट घाटा के कारण केवल 1,000 बिलियन डॉलर तक ही पहुंच सका था।

(ख.) आधुनिक धारणा : असंतुलित बजट :– सन्तुलित बजट की धारणा की चमक उस समय कम हो जाती है जब बड़े पैमाने पर अनैच्छिक बेरोजगारी विद्यमान रहती है। इसलिए केन्स, हान्सेन, बेवरीज, डाल्टन, आदि का कहना है कि बजट नीति का उद्देश्य पूर्ण रोजगार की प्राप्ति होना चाहिए। यह विचार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की धारणा से भिन्न है क्योंकि वे पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए बजट नीति के उपयोग की बात नहीं करते।

क्लासिकल तथा आधुनिक विचारों के अन्तर को समझने के लिए यह आवश्यक है कि सार्वजनिक बचत के सम्बन्ध में दो धारणाओं में फर्क को समझा जाए। क्लासिकल व्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर प्राप्त सम्पूर्ण आय को उपभोग तथा विनियोग पर फिर से खर्च कर दिया जाता है। बचत स्वतः विनियोग में परिवर्तित हो जाती है। अतः आयोजित बचत हमेशा आयोजित विनियोग के बराबर होती है। ऐसी व्यवस्था में सभी सरकारी राजस्व–कर तथा ऋण–निजी व्यय में कमी करते हैं। यह कमी उपभोग या विनियोग में कटौती के माध्यम से होती है। इसलिए लोक व्यय के माध्यम से समग्र मांग में कोई वृद्धि नहीं हो सकती।

केन्सीय व्यवस्था में बचत की धारणा पृथक है। इसमें न तो निजी क्षेत्र के द्वारा स्वतः पूर्ण रोजगार की स्थापना होती है और न ही बचत स्वतः आयोजित विनियोग के समान हो जाती है। इसलिए बजट में घाटा बेरोजगारी को समाप्त करने के लिए जरूरी है। बजट घाटा समग्र आय में वृद्धि करने के लिए सकारात्मक यन्त्र के रूप में देखा जाने लगा ताकि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को अधिक व्यय करने के लिए प्रेरणा मिल सके।

बजट में घाटा असंतुलित बजट का एक रूप है। दूसरा रूप है बजट में अतिरेक केन्स, हान्सेन, बेवरीज, डाल्टन, आदि अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि पूर्ण रोजगार बजट नीति का

उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बजट में घाटे को स्वीकार किया जा सकता है।

1.12 विकासशील देशों में बजट की भूमिका :– विकासशील देशों में बजट की भूमिका औद्योगिक देशों की तुलना में काफी भिन्न है। विकसित देशों में बजट के द्वारा समग्र मांग के सही स्तर को कायम रखते हुए व्यापार चक्रीय उतार–चढ़ाव को न्यूनतम किया जा सकता है। विकासशील देशों में बेरोजगारी की प्रकृति चक्रीय नहीं होती है, बल्कि चिरकालिक है जो अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक अवरोध का परिणाम है। इसलिए इसका समाधान समग्र मांग में वृद्धि नहीं है, अपितु पूंजी निर्माण तथा विनियोग के स्तर में वृद्धि है। इसलिए इन देशों में बजट विकास योजना का एक अभिन्न अंग हो जाता है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की अपेक्षा बजट नीति की भूमिका अधिक सबल है। इन देशों में वित्तीय बाजार या तो अनुपस्थित है या अच्छी तरह विकसित नहीं है। अर्थव्यवस्था के एक बड़े भाग में मुद्रा का प्रयोग नहीं होता है। अतः मौद्रिक नीति की कार्यक्षमता घट जाती है। दूसरी ओर, सार्वजनिक क्षेत्र को आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की जाती है। विकासशील देशों के समक्ष मुद्रा–स्फीति तथा भुगतान शेष की समस्याएं भी काफी गम्भीर है। इन सभी मसलों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि मौद्रिक नीति की तुलना में बजट नीति अधिक कारगर होगी।

बजट नीति के महत्व को देखते हुए अब इस विषय पर विचार किया जाय कि विकासशील देशो में यह नीति कैसी रही है।

कुछ विकासशील देशों में ऐसे नियम बनाये गये जिनके अनुसार राष्ट्रीय बजट का संतुलित होना जरूरी है। ऐसे नियम कमजोर आर्थिक तर्कों पर आधारित है। आवश्यकता इस बात की है कि बजट का मुद्रा –स्फीति, लोक–.ऋण तथा निजी क्षेत्र की विकास–दर के लक्ष्यों के साथ मेल होना चाहिए। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बजट सन्तुलित होना जरूरी नहीं है। अनुभव यह हैं कि इन नियमों का पालन अत्यधिक कठिन कार्य है। एक कठिनाई का सम्बन्ध इस बात से है कि बजट सन्तुलन की परिभाषा किस तरह की जाय? लोक उद्यमों के लेखा को बजट में शामिल किया जाय या नहीं ? फिर बजट का किस अवधि में सन्तुलित होना जरूरी है– प्रतिवर्ष या व्यापार चक्र के दौरान या अन्य किसी अवधि में ?

यदि बजट सन्तुलित नहीं रहता है, तो इसमें घाटा होने की ही अधिक सम्भावना है और वास्तविकता भी यही है। अब प्रश्न यह उठता है कि किस मात्रा में बजट घाटा को समझदारी पूर्ण घाटा कहा जायगा। इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि बाह्य विश्वसनीयता, निजी विनियोग की वृद्धि तथा स्फीति के नियन्त्रण जैसे समष्टि आर्थिक उद्देश्यों के साथ बजट घाटा का मेल होना चाहिए। इसके लिए वित्त व्यवस्था को इसके घटकों ;ब्वउचवदमदजेद्ध में विभाजित करने की जरूरत है। महत्वपूर्ण विभाजन इस बात से सम्बन्धित है कि अर्थव्यवस्था में किये जाने वाले सभी विनियोगों का जोड़ नागरिकों तथा विदेशियों की बचत के योग के बराबर होना चाहिए।

1. सार्वजनिक विनियोग + निजी विनियोग त्र सार्वजनिक बचत + निजी बचत + विदेशी बचत
2. बचत घाटा त्र सार्वजनिक विनियोग –सार्वजनिक बचत;
3. निजी अतिरेक त्र निजी बचत–निजी विनियोग
4. चालू लेखा घाटा त्र विदेशी बचत;
5. बजट घाटा त्र निजी अतिरेक+बजट का चालू घाटा।

विदेशियों की बचत से तात्पर्य विदेशियों की घरेलू अर्थव्यवस्था में प्राप्त आय तथा उनका इसी अर्थव्यवस्था में किये गये खर्च का अन्तर है। यही अन्तर भुगतान शेष घाटा के बराबर होता है। निजी बचत को प्राप्त करने के लिए समग्र राष्ट्रीय आय में से करों तथा निजी उपभोग को घटाना पड़ता है। सार्वजनिक बचत सार्वजनिक चालू राजस्व तथा सार्वजनिक व्यय का अन्तर है इसलिए सार्वजनिक बचत के अन्तर को बचत घाटा कहा जाता है। समझदारीपूर्ण बजट घाटा जिन तत्वों पर निर्भर करेगा वे है निजी बचत का स्तर, निजी

विनियोग का वांछित स्तर तथा चालू लेखा घाटा का वांछित स्तर। निर्यात, मुद्रा की वास्तविक मांग तथा समस्त वित्तीय बचत की दर जितनी अधिक होगी बजट का घाटा उतना ही अधिक हो सकता है। सामान्यतः आर्थिक विकास की ऊंची दर की स्थिति में बजट का घाटा भी ज्यादा हो सकता है क्योंकि इस स्थिति में निर्यात तथा मुद्रा की मांग अधिक तेजी से बढ़ेगी। धीमी गति से विकसित होने वाली अर्थव्यवस्था में बजट घाटा का विवेकपूर्ण स्तर ;च्तनकमदज समअमसद्ध निम्न होगा क्योंकि ऐसी स्थिति में वित्तीय बचत का स्तर नीचा होगा तथा निर्यात अवरूद्ध रहेगा।

1.4 सारांश (Summary) :-

भारत में बजट के आंकड़ो, नीतियों और प्रस्तावों को अंतिम क्षण तक पूर्ण रूप से गोपनीय रखने को प्रथा है जबकि यह विषय विवादित है। गोपनीयता के विपक्ष में काफी सक्षम तर्क प्रस्तुत किए जा सकते है। बजट वह है जो समाज और अर्थव्यवस्था द्वारा चयन्ति उद्देश्यो की प्राप्ति में सहायक हो। भारत सरकार की प्राप्तियां जो अपने स्वामित्व में हैं। भारत की समेकित निधि में रखा जाता है। निधि से देयताएं भारत सरकार का लोक ऋण कहलाती है। वित्तीय प्राप्तियां भारत के लोक खाते में रखी जाती है और खाते से देय ऋण को अन्य देनदारियां कहा जाता है। भारत सरकार की आकस्मिकता निधि अनापेक्षित व्यय की पूर्ति के वित्त पोषण के लिए है। प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था वाले देशों में बजट वनाने की समान विधि प्रयोग में लायी जाती है। बजट की प्रक्रिया के चरण है, जैसे–बजट की तैयारी, बजट प्रस्तुतीकरण सामान्य बहस, मतदान, विनियोजक विधेयक, वित्त विधेयक बजट निष्पादन लेखा अनुदान है।

1.5 शब्दावली (Key words) :-

1. बजट की तैयारी (preparation of budget)
2. बजट की प्रस्तुतिकरण (presentation of the budget)
3. सामान्य बहस (General disucusion)
4. मतदान (voting)
5. मतदान आयोग्य (Not voting items)
6. कटौती प्रस्ताव (Cut motion)
7. पूरक बजट (Supplementary budget)
8. सांकेतिक मांगे (Token grants)
9. विनियोजक विधेयक (Appropriaton bill)
10. बजट का निष्पादन (Execution of the Budget)

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Reference Book)

17. लोकवित्त, एच0 एल0 भाटिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा लि0 नोयडा, उ0प्र0 वर्ष–2019
18. राजस्व, डॉ0 जे0 सी0 वार्ष्णेय एवं डॉ0 प्रेममोहन श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0 आगरा , वर्ष 2002–03
19. लोक अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण अग्रवल आगरा वर्ष – 2014
20. अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त एवं डॉ0 एस0सी0 जैन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा वर्ष – 2002
21. भारतीय अर्थव्यवस्था, रमेश सिंह, मैक ग्रा हिल (प्रा0) लि0 चेन्नई वर्ष 2021

22- C.F Bastable : Public Finance

23- A. Premchand : Government Budgeting and Expenditure controls

24- R. Goode : Government finance in developmening countries.

1.16 प्रश्नों के उत्तर दीजिए (Answer the question) :-

1. बजट की अवधारणा को समझाइये।
2. बजट की प्रक्रिया की विवेचना कीजिए।
3. बजट के महत्व की विवेचना कीजिए।
4. बजट के कार्यान्वयन पर किस प्रकार नियन्त्रण रखा जा सकता है।?
5. विकासशील देशों में बजट की भूमिका बताइऐ।
6. बजट के विभिन्न रूपो की व्याख्या कीजिए।
7. बजट की आधुनिक धारणा की व्याख्या कीजिए।
8. बजट की क्लासिकल धारणा की विवेचना कीजिए।
9. बजट को उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।
10. बजट को बदलता स्वरूप पर ध्यान आकर्षित कीजिए।
11. बजट के निर्माण पर विचार कीजिए।
12. बजट के निर्माण में सावधानियों पर विचार कीजिए।

1.8 बहुविकल्पीय प्रश्न उत्तर (Objective type questions) :-

1. एक अच्छा बजट बनाया जाता है–
   क. लेखा रूप में ख. विवरण रूप में
   ग. खाते के रूप में घ. रोकड. के रूप में
   (उत्तर ख)
2. बजट देश की आर्थिक स्थिति का होता है–
   क. दर्पण ख.. प्रतिबिम्ब ग. प्रतिलिपि घ. आकार
   (उत्तर क)
3. बजट पर सामान्य बहस चलती हैः
   क. दो दिन ख. चार दिन ग. तीन दिन घ. पांच दिन
   (उत्तर ग)
4. सरकारी बजट हैः लोक अर्थवयवस्था का :
   क. आखिरी बिन्दु ख. केन्द्र बिन्दु ग. मध्य बिन्दु
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
5. ''बजट सरकार की मास्टर वित्तीय योजना है।'' यह कथन किस अर्थशास्त्री का है?
   क. किंग ख. टेलर ग. विलोबी घ. शिराज
   (उत्तर ख)
6. भारत में रेलवे बजट को अलग से किस वर्ष से प्रस्तुत किया गया था?
   क. 1950 ख. 1989 ग. 2011 घ. 1911
   (उत्तर घ)

7. भारत में करों से प्राप्त आय को किस कोष में जमा करते है?

   क. चालू खाता ख. सावधि जमा ग. संचित कोष

   घ. इनमें से कोई नहीं

   (उत्तर ग)

8. भारत में प्राक्कलन समिति का गठन सर्वप्रथम किस सन में हुआ था?

   क. 1950 ख. 1990 ग. 2017 घ. 2022

   (उत्तर क)

9. सार्वजनिक उद्यमों पर गठित समिति का कार्यकाल कितने वर्ष का होता है?

   क. 05 ख. 03 ग. 02 घ. 04

   (उत्तर क)

10. ''प्रत्येक समिति परिवार के आचरण में जो समझदारी है वह एक बड़े राज्य के संबंध में शायद ही मूर्खता हो सकती है।'' यह कथन किस अर्थशास्त्री का है?

    क. पीगू ख. एडम स्मिथ ग. मार्शल घ. डाल्टन

    (उत्तर ख)

घाटे की वित्त–व्यवस्था (Deficit Financing)

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 घाटे की वित्त व्यवस्था के उद्देश्य
1.2 घाटे की वित्त व्यवस्था का अर्थ
1.3 घाटे की वित्त व्यवस्था के प्रभाव
1.4 घाटे की वित्त व्यवस्था के मुद्रा स्फीतिक प्रभाव
1.5 घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमा
1.6 विकसित राष्ट्रों में घाटे की वित्त व्यवस्था
1.7 विकासशील राष्ट्रो में घाटे की वित्त व्यवस्था
1.8 अस्फीतिक घाटे की वित्त व्यवस्था
1.9 घाटे की वित्त व्यवस्था एवं मुद्रा–प्रसार
1.10 घाटे की वित्त व्यवस्था मूल रूप में मुद्रा–प्रसार को जन्म देती है?
1.11 भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था की स्थिति
1.12 सारांश
1.13 शब्दावली
1.14 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.15 अभ्यास प्रश्न
1.16 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) –

वर्तमान समय में राजकीय आय की तुलना में राजकीय व्यय अधिक होने लगा है। आज लोक–कल्याणकारी राज्य की नीति में बचत के बजट का कोई महत्व नहीं रह गया है। प्रति वर्ष सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि के कारण सरकारों को घाटे के बजट बनाने होते हैं। इन घाटों की पूर्ति के लिए सरकार अतिरिक्त साधन जुटाती है और उन साधनों में से मुख्य साधन घाटे की वित–व्यवस्था है। प्राचीन काल में न तो घाटे के बजट बनते थे और न ही 'हीनार्थ प्रबन्ध' का कोई विशेष महत्व था। सन् 1936 में, जब से कीन्स की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ है, हीनार्थ प्रबन्धन का महत्व बढ़ गया है।

1.1 घाटे की वित्त–व्यवस्था के उद्देश्य (Objectives of Deficit Financing) :-

(1) आर्थिक मन्दी–काल को दूर करना – आर्थिक मन्दी को दूर करने का सबसे आसान तरीका घाटे की वित्त–व्यवस्था है, क्योंकि इससे मूल्य स्तर में वृद्धि होती है, व्यापारी लाभान्वित होता है और आर्थिक विकास में तेजी आती है। सरकार जब अपने बजट घाटों की पूर्ति केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर करती है तो बैंक में पड़ी निष्क्रिय पूँजी सक्रिय हो जाती है और यह मूल्य–स्तर में वृद्धि करती है। इस प्रकार घाटे की वित्त–व्यवस्था से ही द्रव्य की पूर्ति नहीं बढ़ती, बल्कि केन्द्रीय बैंक के द्वारा जो रूपया बाहर निकाला जाता है उस रूपये से भी मुद्रा का प्रसार होता है। अतः मन्दी के समय हीनार्थ प्रबन्ध ही मूल्य–स्तर में वृद्धि कर सकता है।

(2) युद्ध का संचालन – युद्ध के संचालन के लिए बहुत बड़े पैमाने पर धन की आवश्यकता पड़ती है। इस समय करारोपण से भी एकाएक आय प्राप्त नहीं हो सकती है और अतिरिक्त करों को लगाना भी सम्भसव नहीं होता है, क्योंकि देश के लोग पहले ही युद्ध के भार से दबे रहते हैं। अतिरिक्त करों को लगाने से देश के नागरिक आक्रोशित होते हैं। अतः युद्ध के समय और अधिक करों का लगाया जाना उचित नहीं है। तब युद्ध लड़ने वाले राष्ट्र के पास नोट छापने के अलावा दूसरा चारा नहीं रह जाता है।

(3) बेरोजगारी को रोकना – कीन्स (Keynes) ने बेरोजगारी को दूर करने का एकमात्र उपाय हीनार्थ प्रबन्ध बताया था। सार्वजनिक व्ययों को बढ़ाकर ऐसा किया जा सकता है। मन्दी के समय क्रय–शक्ति के घट जाने से उपभोग में कमी आती है। परिणामस्वरूप नये विनियोग नहीं होते हैं और

पुराने विनियोग हतोत्साहित होने लगते हैं। ऐसी दशा में सरकार अतिरिक्त व्यय करके लोगों की क्रय–शक्ति में वृद्धि कर सकती है। इससे प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होगी, व्यापारी वर्ग लाभान्वित होगा और रोजगार में वृद्धि होगी।

(4) प्राकृतिक साधनों का दोहन – हीनार्थ प्रबनध का उपयोग प्राकृतिक साधनों के दोहन के लिए भी किया जा सकता है। इससे नये–नये प्राकृतिक साधनों की खोज की जाती है और नये उद्योग–धन्धे स्थापित किये जा सकते हैं। ऐसा करने से विकासशील राष्ट्रों में भी औद्योगीकरण तेजी से होने लगता है।

(5) आर्थिक विकास – विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त–व्यवस्था सर्वाधिक सहायक होती है। घाटे की व्यवस्था को नियन्त्रित करके ये देश आसानी से अपना आर्थिक विकास कर सकते हैं।

1.2 घाटे की वित्त–व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Deficit Financing):-

सामान्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि घाटे की वित्त–व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमें सरकार अपनी आय की तुलना में व्यय अधिक करती है। इस व्यवस्था में सरकार अपने धाटों की पूर्ति नोट छापकर करती है। वैसे घाटे की पूर्ति ऋण अथवा करों द्वारा भी की जा सकती है, परन्तु यह 'हीनार्थ प्रबन्ध' नहीं कहा जा सकता है। वर्तमान समय में 'हीनार्थ प्रबन्ध' के बारे में निम्नलिखित तीन विचारधाराएँ मुख्य हैं :–

(1) घाटे का राजकीय ऋण सम्बनधी विचार – जब सरकार का कुल व्यय कुल आय की तुलना में अधिक होता है, और इस व्यय की पूर्ति के लिए वह ऋण लेती है तथा ऋण की राशि घाटे की राशि के बराबर है, तो इस व्यवस्था को 'हीनार्थ प्रबन्ध' अथवा 'घाटे की वित्त–व्यवस्था' कहा जाता है।

(2) बजट के घाटों का ऋण सम्बन्धी विचार – जब सरकार शुद्ध सम्पत्ति में होने वाले ह्रास को पूरा करने अथवा सम्पत्ति में शुद्ध वृद्धि करने के लिए बजट के घाटों को ऋण द्वारा पूरी करती है तो उस व्यवस्था को भी 'हीनार्थ प्रबन्ध' कहा जाता है।

(3) मुद्रा–पूर्ति का विचार (Money Supply Concept) – यह विचार भारतवर्ष में अधिक प्रचलित है। उपर्युक्त दो विचार तो पाश्चात्य देशों के हैं, परन्तु भारतवर्ष में घाटे की वित्त–व्यवस्था का अभिप्राय मुद्रा की पूर्ति से लगाया जाता है। इस विचारधारा के अनुसार जब सरकार की कर–आय तथा पूँजीगत आय, दोनों मिलकर कुल व्यय से कम हो और इस कमी को पूरा करने के लिए सरकार रिजर्व बैंक में जमा अपने नकद कोषों में से धन निकालती है या रिजर्व बैंक तथा व्यापारिक बैंकों से ऋण प्राप्त करती है या नये नोट छापती है, तो इसे 'घाटे की वित्त–व्यवस्था' कहते हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था कुल मिलाकर मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करती है।

घाटे की वित्त–व्यवस्था की परिभाषा करते हुए योजना आयोग ने लिखा है कि ''हीनार्थ प्रबन्ध'' शब्द का प्रयोग बजट के घाटे द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यय में प्रत्यक्ष वृद्धि से किया जाता है, चाहे यह कमी आयगत हो या पूँजीगत खाते में हो।'' योजना आयोग द्वारा दी गयी परिभाषा के दो आधार हैं : प्रथम, बजट के घाटे को ज्ञात करते समय साधारण व्यय एवं पूँजीगत व्यय दोनों को ही ध्यान में रखा जाना चाहिए। द्वितीय, हीनार्थ प्रबन्ध का अर्थ करारोपण व ऋण आदि से प्राप्त आय की तुलना में अधिक व्यय करने से होता है। डॉ0 वी.के.आर.वी. राव ने घाटे की वित्त–व्यवस्था की परिभाषा इस प्रकार से दी है : ''घाटे की वित्त–व्यवस्था की पश्चिमी देशों में प्रयोग उस वित्तीय प्रबन्ध के लिए किया जाता है जिससे लोक–आय और लोक–व्यय के मध्य जानबूझकर रखे अन्तर अथवा बजट घाटे को पूरा किया जाता है। इसलिए वित्त–व्यवस्था के लिए ऋण की ऐसी व्यवस्था की जाती है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय–स्रोत अथवा व्यय में वृद्धि होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि ऋण के फलस्वरूप या तो बैंकों अथवा निजी व्यक्तियों के पास फालतू पड़े धन का उपयोग होने लगता है, अथवा नवीन जमा का बैंकों के पास निर्माण सरकारी प्रतिभूतियों के कार्य के रूप में होता है।''

ध्यान रहे, घाटे की वित्त–व्यवस्था से मुद्रा का चलन वेग बढ़ता है। इतना ही नहीं, इस चलन के फलस्वरूप मुद्रा की पूर्ति के बढ़ जाने से मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इससे मुद्रा–स्फीतिक दशाएँ उत्पन्न हो जायें।

1.3 घाटे के वित्त–प्रबन्ध के प्रभाव (Effects of Deficit Financing):-

(1) साख उपयोग में वृद्धि (Expansion in credit use) – घाटे की वित्त–व्यवस्था से मुद्रा का चलन–वेग बढ़ जाता है। यह वेग केवल नोट छापकर ही नहीं बल्कि बैंकों द्वारा जारी ऋणपत्रों व साख–सृजन से भी बढ़ता है।

(2) मन्दी–काल में घाटे की वित्त–व्यवस्थ (Deficit Financing during the period of Depression) – कीन्स ने अपनी पुस्तक 'रोजगार का सामान्य सिद्धान्त' में इस बात की विस्तार से व्याख्या की है कि मन्दी के समय 'प्रभावपूर्ण माँग' घटती है। वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य लगातार गिरने लगता है जिससे व्यापारी वर्ग को हानि होती है। नये निवेशकर्ता निवेश करने से हतोत्साहित हो जाते हैं और पुराने उद्यमियों के द्वारा उतपादन घटा दिया जाता है।

1936 में कीन्स ने मन्दी को मिटाने तथा लोगों को रोजगार देने के लिए सार्वजनिक व्यय को अधिक महत्व दिया है। मन्दी के समय कीमतें गिरती हैं, निजी उद्योगपति उत्पादन बन्द कर देते हैं। अतः सरकार स्वयं पूँजीगत वस्तुओं पर निवेश कर के मंदी को दूर कर सकती है।

(3) युद्ध–काल में घाटे की वित्त–व्यवस्था (Deficit Financing during war period) – युद्धकाल में जब सार्वजनिक व्ययों की पूर्ति अन्य स्त्रोतों से नहीं हो पाती है, तब हीनार्थ प्रबन्ध से उत्पादन के साधनों को युद्ध की ओर मोड़ा जा सकता है। हीनार्थ प्रबन्ध से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती है। अतः वस्तुओं की माँग घट जाती है और उत्पादन के साधनों को युद्ध सामग्री के उत्पादन की ओर मोड़ा जा सकता है।

(4) आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त–व्यवस्था (Deficit Financing for Economic Development)– विकासशील देशों में पूँजी–निर्माण की कमी, बचतों का अभाव, परम्परावादी अर्थव्यवस्था, अशिक्षा, जनसंख्या की अधिकता, निर्धनता, आदि कारणों से आर्थिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। आय के साधनों की कमी घाटे की वित्त–व्यवस्था की ओर आकर्षित करती है। अतः आज विकासशील देशों में आर्थिक विकास के लिए घाटे की वित्त–व्यवस्था का महत्व बढ़ गया है। परन्तु इस क्रिया से लगातार मूल्य–स्तरों में वृद्धि होने लगती है। निम्नलिखित बातों से मूल्य–स्तर में अधिक अधिक वृद्धि हो जाती है :

(i) विकासशील देशों में उपभोग प्रवृत्ति अधिक होती है। मुद्रा–प्रसार के कारण इस प्रवृत्ति को और अधिक बढ़ावा मिलता है।

(ii) हीनार्थ प्रबन्ध तो तुरन्त किया जा सकता है, परन्तु जिस अनुपात में मुद्रा का चलन–वेग बढ़ता है, उस अनुपात में उत्पादन को नहीं बढ़ाया जा सकता है, परिणामस्वरूप मूल्य–स्तर में वृद्धि होती है।

उपर्युक्त प्रभावों के अतिरिक्त निम्नांकित प्रभाव भी हो सकते हैं :–

(i) उपभोग प्रवृत्ति – घाटे की वित्त–व्यवस्था से मुद्रा का चलन–वेग बढ़ता है, लोगों की क्रय–शक्ति बढ़ जाती है, परन्तु उत्पादन के उतना न बढ़ने से मूल्य–स्तर में वृद्धि होती है।

(ii) धन–संचय – यदि देश में धन–संचय या बचत करने की प्रवृत्ति कम होती है, तो घाटे की वित्त–व्यवस्था सफल नहीं होगी। यदि धन–संचय या बचत करने की प्रवृत्ति यथावत् रहती है, तो प्रभाव बुरे नहीं होंगे।

(iii) सार्वजनिक व्यय – सार्वजनिक व्यय में वृद्धि से लोगों की मौद्रिक आय में वृद्धि होगी और घाटे की वित्त–व्यवस्था का प्रभाव बुरा होगा।

(iv) सरकारी नियन्त्रण – घाटे की वित्त–व्यवस्था का प्रयोग करते समय सरकारी नियन्त्रणों का होना आवश्यक है। समुचति सरकारी नियन्त्रणों के अभाव में घाटे की वित्त–व्यवस्था अनियन्त्रित हो जायेगी।

(v) साधनों का विदोहन – यदि घाटे की वित्त–व्यवस्था को प्राकृतिक साधनों के विदोहन पर व्यय किया गया, तो इससे उत्पादन बढ़ेगा और बुरे प्रभाव भी नहीं होंगे। साधनों के विदोहन न होने पर उत्पादन नहीं बढ़ेगा और मुद्रा–प्रसार अधिक हो जायेगा।

(vi) जन–सहयोग – जन–सहयोग से भी घाटे की वित्त–व्यवस्था के प्रभाव को रोका जा सकता है। यदि जनता का सहयोग प्राप्त नहीं होता है, तो इसके प्रभावों को कम करना कठिन हो जायेगा।

1.4 घाटे की वित्त–व्यवस्था के मुद्रा–स्फीतिक प्रभाव के उपाय :–

(1) उत्पादक योजनाओं पर व्यय – मुद्रा–प्रसार का कारण उत्पादन का कम होना है, इसलिए ऐसी योजनाओं को प्रारम्भ किया जाना चाहिए जिनसे तुरन्त उत्पादन प्राप्त किया जा सके। अतः जिस प्रकार की योजनाओं को मन्दी के समय शुरू किया गया था उसके विपरीत त्वरित उत्पादन देने वाली योजनाओं पर व्यय किया जाना चाहिए।

(2) उपभोगजन्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि – मुद्रा–प्रसार के समय पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने की समस्या नहीं होती है, बल्कि उपभोग में काम आने वाली वस्तुओं – कपड़ा, अनाज,

आदि–के उत्पादन को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि इन वस्तुओं के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती है। चूँकि ये आवश्यक वस्तुएँ मुद्रा–प्रसार के समय निर्धनों को आसानी से नहीं मिल पाती हैं, इसलिए इन वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना आवश्यक है।

(3) आर्थिक नियन्त्रण – मुद्रा–प्रसार के समय अनेक प्रकार के नियन्त्रण लगाये जाने चाहिए। इनमें से निर्यातों को कम करना, अनिवार्य बचतों को प्रोत्साहित करना, राशनिंग को अपनाना तथा उपभोग में कमी लाना आदि।

(4) मौद्रिक नियन्त्रण – मुद्रा–प्रसार के समय अनेक प्रकार के मौद्रिक नियन्त्रण लगाये जाने चाहिए। बैंकों को साख नियन्त्रण करने के आदेश देने चाहिए तथा मुद्रा का उपयोग सट्टे के लिए अवैध कर देना चाहिए। इस सबसे मुद्रा के चलन–वेग को कम किया जा सकता है।

(5) मजदूरी व वेतन वृद्धि पर रोक – मुद्रा–प्रसार के समय मजदूरी व वेतन वृद्धि पर रोक लगा देनी चाहिए। इस सन्दर्भ में 'वेतन जाम' वाली नीति उपयुक्त बतायी जाती है, परन्तु मजदूर तथा कर्मचारी संगठित होकर महँगाई की आड़ में अपना वेतन बढ़ा लेते हैं, अतः वेतन व महँगाई की दरों में वृद्धि तो कर दी जाये, परन्तु उस राशि को अनिवार्य जमा योजना के अन्तर्गत जमा कर दिया जाना चाहिए। इससे मजदूरी व वेतन की माँग करने वालों की माँग भी पूरी हो जायेगी और मुद्रा का चलन–वेग भी कम हो जायेगा।

(6) बचत के बजट बनाना – मुद्रा–प्रसार के समय सरकार को स्वयं मितव्ययी होना चाहिए। उसे अपने प्रशासनिक व्ययों में कमी करनी चाहिए। परन्तु ऐसे कार्यक्रमों के व्ययों में कमी नहीं की जानी चाहिए जो तुरन्त उत्पादन कर सकते हों।

उपर्युक्त उपायों को अपनाकर मुद्रा–प्रसार को कम किया जा सकता है।

1.5 घाटे की वित्त–व्यवस्था की सीमा (Limitation of Deficit Financing):-

(1) हीनार्थ प्रबन्ध का उपयोग – हीनार्थ प्रबन्ध से जो अतिरिक्त मुद्रा अर्जित की जाती है उसका उपयोग उत्पादक कार्यों में होना चाहिए। इससे मूल्य–स्तर में वृद्धि नहीं होगी। यदि अनुत्पादक कार्यों में व्यय बढ़ाया गया तो मुद्रा–प्रसार बढ़ेगा, इसलिए घाटे की वित्त–व्यवस्था की सीमा यह होगी कि उस राशि का उपयोग केवल त्वरित लाभ देने वाली योजनाओं पर ही हो।

(2) क्रय–शक्ति को निष्क्रिय करना – मुद्रा–प्रसार की सीमा यही होगी कि एक बिन्दु के बाद लोगों की क्रय–शक्ति पर रोक लगा दी जानी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो लोग मनमाने ढ़ंग से मुद्रा के चलन–वेग को बढ़ाने लगेंगे और यह मूल्य–स्तर में वृद्धि करेगी।

(3) मुद्रा की मात्रा तथा स्फीतिक प्रभाव – घाटे की वित्त–व्यवस्था की सीमा का पता उसके द्वारा उत्पन्न स्फीति की मात्रा से लगाया जा सकता है। यदि घाटे की वित्त–व्यवस्था आंशिक रूप में हो और कीमतों पर रोक लगायी जाती है, तो स्फीतिजनक प्रभाव कम पड़ेंगे। अतः घाटे की वित्त–व्यवस्था की सीमा वहाँ होगी जहाँ कीमतें न बढ़ सकें।

(4) घाटे की वित्त–व्यवस्था के बाद मुद्रा की पूर्ति में कमी – घाटे की वित्त–व्यवस्था से मुद्रा की मात्रा में जो अतिरिक्त वृद्धि होती है उस पर रोक लगा दी जानी चाहिए। जैसे, सरकार केन्द्रीय बैंक की विदेशी विनिमय की सुरक्षित निधियों का उपयोग करें तो मुद्रा की पूर्ति में कमी आयेगी। जैसे भारत में द्वितीय योजना–काल में 948 करोड़ रूपये के घाटे का प्रबन्ध किया गया था, जबकि मुद्रा की पूर्ति 705 करोड़ रूपये तक ही हुई। क्योंकि सरकार ने अपने संचित कोषों का उपयोग करके ऐसा किया था। परिणामस्वरूप स्फीतिजनक प्रभाव बहुत कम हुए थे।

(5) मुद्रा व उत्पादन की मात्रा में वृद्धि – मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के साथ–साथ यदि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है, तो मुद्रा–प्रसार के प्रभाव कम होंगे।

(6) बढ़ती हुई आय की सरकार द्वारा वसूली – मुद्रा–प्रसार की सीमा इस बात पर भी निर्भर करती है कि लोगों के पास जो अतिरिक्त आय आ रही है सरकार उस आय को अपनी ओर कितनी मात्रा में आकर्षित कर सकती है। यदि सरकार कराधान तथा अनिवार्य बचतों के द्वारा मुद्रा के चलन–वेग को कम कर सके तो मुद्रा–प्रसार का प्रभाव कम होगा। यदि सरकार ऐसा नहीं कर सकी तो मुद्रा–प्रसार की सीमा कम हो जायेगी।

(7) त्याग–भावना – त्याग–भावना मुद्रा–प्रसार की सीमा को निर्धारित करने वाला एक प्रधान तत्व है, बशर्ते लोग अपनी उपभोग की प्रवृत्तियों पर रोक लगायें। यदि लोग ऐसा नहीं करेगे तो स्फीति के प्रभावों से अर्थव्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जायेगी। यदि लोगों में ऐसा सोचने की इच्छा न हो तब मुद्रा–प्रसार की सीमा कम होगी।

उपर्युक्त बातें घाटे की वित्त–व्यवस्था की सीमाओं का निर्धारण कर सकती हैं। यदि इन बातों पर ध्यान नहीं दिया गया तो अर्थव्यवस्था अनियन्त्रित हो सकती है।

1.6 विकसित राष्ट्रों में घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing in Developed Countries):-

(1) नोट छाप कर – मन्दी के समय सार्वजनिक निवेश के लिए सरकार को करों से आय प्राप्त नहीं होती है। अतः सरकार नोट छापकर उस राशि को निवेश में लगाती है। इससे बेकार पड़ी श्रम–शक्ति को रोजगार मिलता है और उनके द्वारा नयी माँग को जन्म दिया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप मन्दी धीरे–धीरे समाप्त होने लगती है।

(2) ऋण तथा बचतों का महत्व – मन्दी–काल में निर्धन वर्ग के पास पैसा तो कम होता है, परन्तु मुद्रा का मूल्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि वे कम से कम धनराशि से भी अपना काम चला लेते हैं और बचतें भी कर लेते हैं। दूसरी ओर, धनिकों के पास पूर्व बचतों की संचित राशि रहती है। यदि सरकार इन बचतों का उपयोग बड़े पैमाने का विनियोग करके करें, तो इससे मूल्य–स्तर व रोजगार की मात्रा में वृद्धि होगी।

1.7 विकासशील राष्ट्रों में घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing in Underdeveloped Countries):-

(1) कृषि पर निर्भरता – विकासशील देशों का मुख्य पेशा कृषि है। देश की पूरी श्रम–शक्ति इसी पर लगी रहती है। चूँकि कृषि–व्यवस्था परम्परागत होती है, इसलिए हीनार्थ प्रबन्ध की सहायता से उद्योग–धन्धों को विकसित करना व नये उद्योगों को खोलना असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त, यहाँ साहसियों का भी अभाव होता है, इसलिए उत्पादन का बढ़ना सम्भव नहीं होता है। दूसरी ओर, हीनार्थ प्रबन्ध से जो रूपया चलन में आयेगा वह मूल्य–स्तर को बढ़ायेगा। मूल्य–वृद्धि का प्रभाव किसानों द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर पड़ेगा, अनाज के मूल्यों में वृद्धि होगी और किसानों की आय बढ़ेगी। किसानों की आय में वृद्धि से उपभोग–व्यय में वृद्धि होगी, परिणामस्वरूप यह स्थिति मूल्य–स्तर को और अधिक बढ़ाने वाली होगी।

(2) मूल्य–नियन्त्रण का अभाव – विकासशील देशों का शासन–तन्त्र इतना शक्तिशाली नहीं होता है कि वह मूल्य–स्तर को रोक सके। यदि मुद्रा–प्रसार किया गया तो मूल्य–स्तर में अधिक वृद्धि हो जाती है, इसलिए विकासशील देशों में बड़े सोच–विचार के बाद ही हीनार्थ प्रबन्ध करने की आवश्यकता है, तभी ये देश अपने उद्देश्यों में सफल हो सकते हैं।

1.8 अस्फीतिक घाटे की वित्त व्यवस्था :–

(1) बजट घाटे का भुगतान घाटे के बराबर करके – देश में बजट घाटे को भुगतान घाटे के बराबर करने से स्फीतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं होंगी। इसके विपरीत, यदि आयात निजी क्षेत्र में है और भुगतान घाटा भी निजी क्षेत्र में है तो उसके भुगतान के लिए बैंक से ऋण लिया जायेगा जिससे मुद्रा–प्रसार होगा। यदि प्राकृतिक प्रकोपों, बाढ़, भूकम्प आदि से देश को घाटा हो रहा है तो हीनार्थ प्रबन्ध से मुद्रास्फीति अवश्य होगी।

(2) बचत प्राप्त करके – प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का एक निश्चित भाग बचत में लगाता है। यदि इन बचतों को विकास कार्यों में लगाया जाये तो इससे स्फीति में रोक लग सकती है। यदि हीनार्थ प्रबन्ध की राशि वास्तविक बचतों से अधिक होती है तो स्फीति स्वतः ही उत्पन्न हो जायेगी। अतः यहाँ ऐसे उपाय करने चाहिए जिनसे देश में स्फीतिक परिस्थितियों को रोका जा सके।

1.9 घाटे की वित्त व्यवस्था एवं मुद्रा–प्रसार :–

(1) मौद्रिक घटक – घाटे की वित्त–व्यवस्था से जिस अनुपात में मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है उसकी तुलना में उत्पादन नहीं बढ़ाया जा सकता है, जिससे मूल्य बढ़ता है। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति का स्फीति पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

(2) जनता का व्यवहार – जनता के व्यवहार पर भी हीनार्थ प्रबन्ध निर्भर करता है। मूल्यों में वृद्धि होने से नवीन निवेशों को प्रोत्साहन मिलता है। जिसके कारण मुद्रा–प्रसार बढ़ जाता है, क्योंकि अल्पकाल में उत्पादन को एकाएक नहीं बढ़ाया जा सकता है।

(3) आर्थिक व्यवहार – व्यक्तियों के आर्थिक व्यवहार के ऊपर भी मुद्रा–प्रसार निर्भर करता है। यदि जनता में व्यय करने की प्रवृत्ति अधिक है तो मुद्रा–प्रसार में वृद्धि होगी, क्योंकि व्यय करने से वस्तुओं

के मूल्यों में वृद्धि होगी। विकासशील देशों में उपभोग की प्रवृत्ति बहुत ऊँची होती है तथा वस्तुओं की मात्रा के कम होने से निश्चित रूप में मुद्रा–प्रसार बढ़ जाता है।

1.10 घाटे की वित्त व्यवस्था मूल रूप में मुद्रा–प्रसार को जन्म देता है?(Does Deficit Financing Inevitably Leads to Inflation ?)

प्रायः यह कहा जाता है कि हीनार्थ प्रबन्ध से मुद्रा–प्रसार होता है, क्योंकि हीनार्थ प्रबन्ध से नयी मुद्रा बाजार में प्रवेश करती है, जो मूल्य–स्तर में वृद्धि करती है। ऐसा तभी होता है जब उत्पादन की तुलना में मुद्रा की मात्रा बढ़ती है। ध्यान रहे कि प्रत्येक मुद्रा–प्रसार मूल्य–वृद्धि को जन्म नहीं देती है। इस बात को आगे स्पष्ट किया जा रहा है :

मुद्रा–प्रसार की स्थिति – मुद्रा–प्रसार कब होगा, यह निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर करेगा :

(1) उत्पादन का बेलोच होना – एक ओर घाटे की वित्त–व्यवस्था और दूसरी ओर लोचहीन उत्पादन मुद्रा–प्रसार को जन्मदेता है। संक्षेप में, जब उत्पादन बढ़ती हुई मुद्रा की मात्रा के अनुपात में नहीं बढ़ता है तब घाटे की वित्त–व्यवस्था मुद्रा–प्रसार को जन्म देती है।

(2) निवेश की प्रवृत्ति – नयी मुद्रा को जिस विनियोग कार्य में लगाया गया है यदि वह त्वरित फलदायी है, तो मुद्रा–प्रसार का जन्म नहीं होगा। निवेश की प्रवृत्ति 'समय–अन्तराल' की होने पर मुद्रा–प्रसार होगा।

(3) साख–निर्माण – हीनार्थ प्रबन्ध से जो नयी मुद्रा बाजार में आती है, उसके आधार पर साख की मात्रा का जितना अधिक विस्तार होगा उतना ही अधिक मुद्रा–प्रसार होगा।

(4) उपभोग–प्रवृत्ति – घाटे की वित्त–व्यवस्था से मुद्रा–प्रसार होगा अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि यदि समाज की उपभोग–प्रवृत्ति बहुत अधिक है, तो मुद्रा–प्रसार होगा अन्यथा नहीं।

(5) अपर्याप्त विदेशी विनिमय – विकासशील देशों में विदेशी विनिमय की कमी रहती है। वस्तुओं की माँग को विदेशी आयात पर निर्भर रहना पड़ता है, फलतः मुद्रा–प्रसार होने लगता है।

1.11 भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था की स्थिति :–

योजना काल में परिव्यय, घाटे की वित्त व्यवस्था या राष्ट्रीय आय की स्थिति

योजना	वर्ष	योजना परिव्यय (क0रू0में)	योजनाकाल में राष्ट्रीय आय वृद्धि का लक्ष्य % में	वार्षिक लक्ष्यः में	वार्षिक प्राप्ति % में	हीनार्थ प्रबन्ध (क0रू0में)	हीनार्थ प्रबन्ध का %
प्रथम योजना	1951–56	1.960	18.0	3.6	3.0	420	17
द्वितीय योजना	1956–61	4.600	25.0	5.0	3.9	1,200	20
तृतीय योजना	1951–66	8,630	25.0	5.0	2.5	8,630	13
वार्षिक योजनाएं	1966–69	6,665	–	–	–	686	10
चतुर्थ योजना	1969–74	15,902	27.5	5.5	3.3	3,750	13
पंचम योजना	1974–79	39,303	22.0	4.4	5.2	2,784	03
छठी योजना	1980–85	97,500	26.0	5.2	5.2	5,000	0.5
सातवीं योजना	1985–90	1,80,000	25.0	5.0	5.8	14,000	7.8

आठवी योजना	1992–97	3,20,000	28.0	5.6	6.8	49,000	05
नवीं योजना	1997–2002	8,59,000	32.5	6.5	6.5	–	–
दसवीं योजना	2002–2007	15,22,639	35.0	8.0	7.7	–	–

दसवीं पंचवर्षीय योजना जो 2002 से 2007 तक चली। उसका कुल परिव्यय 15,25,639 करोड़ रूपये है, लेकिन संसाधन 15,92,300 करोड़ रूपये आंका गया है। हीनार्थ प्रबन्ध का प्रतिशत 4.7 है।

1.12 सारांश (Summary) :-

हमारे देश में हीनार्थ प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध मूल्य स्तरों से जुड़ा है। प्रथम योजना को छोड़कर शेष योजनाओं में हीनर्थ प्रबन्ध से मूल्य स्तर में वृद्धि होती रही। हमारे देश में हीनार्थ प्रबन्ध की व्यवस्था विवादास्पद रही है। कुछ लोगों का कहना था कि योजनाओं की सफलता के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था की सहायता लेनी होगी, परन्तु दूसरा मत इसके विपरीत था। दूसरे मत के अनुसार प्रथम योजना के बाद घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण देश में मूल्य स्तर लगातार बढ़ते गये और साख–नियन्त्रण के लिए अपनाये गये सभी प्रयोग विफल हो गये।

भारत में हीनार्थ प्रबन्ध के दुष्परिणाम सामने आये है। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि देश में अब हीनार्थ प्रबन्ध की सीमा आ सचुकी है ; उसे अब और हीनार्थ प्रबन्ध नहीं करना चाहिए। परन्तु स्थिति सरकार के बूते के बाहर है, न चाहते हुए भी घाटे की वित्त व्यवस्था को अपनाया जा रहा है। यदि अनायास घाटे की राशि में कटौती कर दी गयी तो इससे उपभोग, रोजगार व प्रभावोत्पादक मांग में कमी आयेगी। यदि सरकार सावधानी के साथ उपयुक्त समय पर उपयुक्त मात्रा में हीनार्थ प्रबन्ध की सहायता लेती है, तो इसके परिणाम बुरे नहीं होगे। भूतपूर्व प्रधानमन्त्री मोराजी देसाई ने हीनार्थ प्रबन्ध को देश के लिए अहितकर बताते हुए कहा था कि ''अच्छी योजना के लिए भी हीनार्थ प्रबन्ध अवश्य ही संकट को जन्म देता है। ऐसा विगत वर्षो में हुआ।'' हीनार्थ प्रबन्ध की व्यवस्था को रोकने के बारे में चाहे प्रधानमन्त्री वक्तव्य दें या वित्तमन्त्री, इसे रोकना सम्भव नहीं । हाँ, हीनार्थ प्रबन्ध के साथ–साथ कुछ ऐसे प्रभावकारी अंकुश अवश्य लगाने चाहिए जो इसके दुष्परिणमों को रोक सकें।

योजना काल में हीनार्थ प्रबन्ध की स्थिति को उपरोक्त तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है :

1.13 शब्दावली (Keywords) :-

घाटे की वित्त व्यवस्था (Deficit Financing) , मुद्रा पूर्ति का विचार (Money Supply concept) , साख उपयोग (Use Credit) , मन्दीकाल (Depression) , युद्धकाल (War Period) , सीमाऐं (Limitation) , प्रभावपूर्ण मांग (Effecting Demand) , मौद्रिक घटक (Monetary Factors) , मुद्रा–प्रसार (Money Inflation)

1.14 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :-

25. लोकवित्त, एच0 एल0 भाटिया, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा लि0 नोयडा, उ0प्र0 वर्ष–2019
26. राजस्व, डॉ0 जे0 सी0 वार्ष्णेय एवं डॉ0 प्रेममोहन श्रीवास्तव, साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0 आगरा , वर्ष 2002–03
27. लोक अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त, लक्ष्मी नारायण अग्रवल आगरा वर्ष – 2014
28. अर्थशास्त्र, डॉ0 जे0सी0 पन्त एवं डॉ0 एस0सी0 जैन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा वर्ष – 2002
29. भारतीय अर्थव्यवस्था, रमेश सिंह, मैक ग्रा हिल (प्रा0) लि0 चेन्नई वर्ष 2021

1.15 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

1. घाटे की वित्त – व्यवस्था का सविस्तार कीजिए।
2. घाटे की वित्त व्यवस्था के उद्देश्यों को समझाइये।
3. घाटे की वित्त व्यवस्था के प्रभावों की विवेचना कीजिए।
4. घाटे की वित्त व्यवस्था के मुद्रा–स्फीतिक प्रभाव को रोकने के उपाय बताइए।
5. घाटे की वित्त व्यवस्था की सीमाएं बताइए।
6. विकसित एवं विकासशील देशों में घाटे की व्यवस्था की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
7. घाटे की वित्त व्यवस्था और मुद्रा–प्रसार पर लघु नोट लिखिए।

1.16 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Question)

1. घाटे की व्यवस्था का महत्व कब से अस्तित्व में आया था?
   क. 1776 ख. 1936 ग. 1914 घ. 1925
   (उत्तर ख)
2. घाटे की वित्त व्यवस्था का क्या उद्देश्य है?
   क. मौद्रिक नियंत्रण ख. बचत करना
   ग. मन्दीकाल को दूर करना घ. सरकारी नियन्त्रण
   (उत्तर ग)
3. घाटे की वित्त व्यवस्था से प्रभावित होता है
   क. युद्ध ख. बेरोजगारी
   ग. उपभोग घ. सरकारी नियन्त्रण
   (उत्तर ग)
4. घाटे की वित्त व्यवस्था के बारे में यह बात किसने कही है?
   ''वित्त व्यवस्था, शब्द का उपयोग बजट के घाटे द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय व्यय में प्रत्यख वृद्धि से किया जाता है, चाहे कमी आयगत हो या पूंजीगत खाते से हो।''
   क. डॉ. वी. के. आर. वी. राव. ख. योजना आयोग
   ग. प्रो0 जे0 के0 मेहता घ. कीन्स
   (उत्तर ख)

खण्ड – 05
इकाई – 01

रोजगार का क्लासिकल सिद्धान्त : बाजार का नियम
Classical Theory of Employment

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 पूर्ण रोजगार का अर्थ
1.3 पूर्ण रोजगार की प्रतिष्ठित अवधारणा
1.4 पूर्ण रोजगार का केन्सीय एवं आधुनिक विचार
1.5 रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
1.6 सिद्धान्त की मान्यताएं
1.7 'से' का बाजार नियम
1.8 'से' के बाजार नियम के निष्कर्ष
1.9 पीगू का दृष्टिकोण : श्रम मांग एवं श्रम विश्लेषण
1.10 प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की आलोचना
1.11 सारांश
1.12 शब्दावली
1.13 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.14 अभ्यास प्रश्न
1.15 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 प्रस्तावना (Introduction):-

समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत रोजगार के सैद्धान्तिक विश्लेषण का महत्व जॉन मैनार्ड कीन्स की 1936 में प्रकाशित पुस्तक "General Theory of Emplomentं , Interest and Money" द्वारा प्रकट हुआ। कीन्स की पूर्ववर्ती क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने बेरोजगारी की समस्या को विशेष महत्व नहीं दिया तथा इस सन्दर्भ में, उन्होंने आशावादी दृष्टिकोण को अपनाया और इस मान्यता को स्वीकार करते रहे कि दीर्घकाल में अर्थव्यवस्था में सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति रहती है। इनके दृष्टिकोण से सामान्य अत्युत्पादन और इसी कारणवश सामान्य बेरोजगारी असम्भव होती है। क्लासिकल अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार को सामान्य दशा तथा उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन असामान्य दशा का द्योतक समझते थे। उनके अनुसार यदि अल्पकाल में बेरोजगारी उत्पन्न भी होती है तो तुरन्त उसका प्रतिकार करने के लिए अर्थव्यवस्था में शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं, लेकिन केन्सीय विश्लेषण ने यह प्रकट किया कि अर्थव्यवस्था की समष्टिभावी शक्तियां कुछ इस प्रकार समन्वित होती है कि पूर्ण रोजगार की अवस्था सामान्य नहीं रह जाती। इस प्रकार, कीन्स ने उस परम्परावादी विचारधारा का खण्डन किया, जो एक शताब्दी से अधिक समय तक प्रचलित रही थी और बड़ी मन्दी से पहले तक आर्थिक विचारधारा तथा नीति पर अपना प्रभुत्व बनाए थी। केन्सोत्तर विश्लेषण में क्लासिकल एवं केन्सीय सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयास किया गया है।

रोजगार के सैद्धान्तिक विश्लेषण से पूर्व यह जानना आवश्यक होगा कि रोजगार, पूर्ण रोजगार तथा बेरोजगारी से हमारा क्या आशय है।

सामान्य अर्थों में जब कोई व्यक्ति किसी कार्य में लगा होता है तो कहा जाता है कि वह व्यक्ति रोजगार में है, परन्तु रोजगार से तात्पर्य किसी भी क्रिया में लगा रहना नहीं बल्कि उत्पादन क्रिया में लगा रहना होता है। किसी व्यक्ति को रोजगार में होना तभी कहा जाएगा जबकि उसके कार्य से राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि हो। राष्ट्रीय उत्पादन में अंशदान ही रोजगार का मापदण्ड माना जाता है। इस

तरह, यदि कोई व्यक्ति ऐसी क्रिया में लगा हो जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है तो वह बेरोजगार कहा जाएगा।

1.1 उद्देश्य :–

1. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति के बारे में समझ सकेंगे।
2. 'से' का बाजार नियम का समझ सकेंगे।
3. श्रम मांग एवं श्रम विश्लेषण पर पीगू के दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।
4. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कठिनाइयों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
5. बेरोजगारी के प्रकारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
6. मांग–पूर्ति के सन्तुलन की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
7. वस्तु, श्रम, पूँजी बाजार की स्थिति समझ सकेंगे।

1.2 पूर्ण रोजगार का अर्थ (Meaning of Full Employment) :–

किसी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार वह अवस्था होती है जब चालू मजदूरी दर पर काम चाहने वाले हर समर्थ व्यक्ति को काम मिल जाता है। सामान्य अर्थों में बेरोजगारी की पूर्णतया अनुपस्थिति ही पूर्ण रोजगार का द्योतक होती है, परन्तु आर्थिक विश्लेषण का अर्थ शून्य बेरोजगारी नहीं होता है। विभिन्न कारणों से अर्थव्यवस्था में थोड़ी बहुत बेकारी तो बनी ही रहती है। यथा–यह सम्भव है कि रोजगार के अवसर तो उपलब्ध हों, परन्तु लोग चालू मजदूरी दर पर काम ही न करना चाहें। कुछ लोग रोजगार के अवसरों की अनभिज्ञता, मशीनों की टूट–फूट तथा मौसमी बेरोजगारी के कारण कुछ समय तक बेकार रह सकते है। अन्य शब्दों में, व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ण रोजगार की अवधारणा के साथ–साथ थोड़ी बहुत बेरोजगारी असंगत नहीं होती। अतः पूर्ण रोजगार की अवधारणा को स्पष्ट करने से पूर्व हमें बेरोजगारी के उन विभिन्न प्रकारों की जानकारी प्राप्त करना उचित होगा जो कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में सामान्यतया पाई जाती हैं।

1. **ऐच्छिक बेरोजगारी (Voluntary unemployment):–** जब रोजगार के अवसर उपलब्ध होते हुए भी लोग चालू मजदूरी दर पर कार्य नहीं करना चाहते और बेकार रहते हैं तो यह ऐच्छिक बेरोजगारी की स्थिति होती है। स्थायी संचित सम्पत्तिधारी व्यक्ति, सेठ, साहूकार, आदि सम्पन्न वर्ग के ऐसे लोग जो अपनी सम्पत्ति की आय पर निर्भर रहते है, ऐच्छिक बेरोजगारी के उदाहरण है। इसी प्रकार भिक्षावृत्ति पर निर्भर रहने वाले भिखारी को भी ऐच्छिक बेरोजगार कहा जाएगा, क्योंकि भिखारी भी चालू मजदूरी दर पर कोई उत्पादन सम्बन्धी कार्य नहीं करना चाहता।
2. **अनैच्छिक बेरोजगारी (Involuntary Unemployment):–** अनैच्छिक बेरोजगारी उस स्थिति में पाई जाती है जब लोग प्रचलित दर पर कम करने को तैयार रहते है, परन्तु उन्हें काम नहीं मिलता। किसी देश के सम्मुख वास्तविक समस्या, बेरोजगारी की इसी समस्या से छुटकारा पाना रहता है।
3. **घर्षणात्मक बेरोजगारी (Frictional Unemployment):–** घर्षणात्मक बेरोजगारी की स्थिति तब पाई जाती है जब श्रम के लिए मांग तथा उसकी पूर्ति के मध्य समायोजन की कमी रहती है। अन्य शब्दों में, इस तरह की बेरोजगारी श्रम की गतिहीनता, रोजगार के अवसरों के सम्बन्ध में, श्रमिकों की अनभिज्ञता मशीनों की टूट–फूट , कच्चे माल की कमी, विशिष्ट सेवा के लिए वांछित योग्यता का अभाव तथा औद्योगिक संघर्ष, आदि कारणों से उत्पन्न होती है।
4. **मौसमी बेरोजगारी (Seasonal Unemployment) :–** मौसमी बेराजगारी मांग में मौसमी उतार चढ़ावों से उत्पन्न होती है। जैसे बर्फ के कारखानों में नौकरी केवल ग्रीष्म ऋतु के लिए होती है। इसी तरह चीनी उद्योग में कार्यरत श्रमिकों को भी वर्ष भर कार्य नहीं मिलता, कृषि श्रमिकों को कटाई–बुवाई के दिनों में काम मिलता है, वर्ष के शेष दिनों में वे बेरोजगार रहते है।
5. **प्राविधिक अथवा तकनीकी बेरोजगारी (Technologycal & Unemployment) :–** इस प्रकार की बेरोजगारी उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन होने के कारण उत्पन्न होती है। आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया मूलतः प्रावैगिक है, जहां नव–प्रवर्तनों के कारण, नई मशीन तथा आवष्किार अपनाएं जाते है। नवीन तकनीकों के प्रयुक्त किए जाने पर श्रमिकों का विस्थान होता है और लोग बेरोजगार हो जाते हैं। अन्य शब्दों में, जब स्वचल यन्त्रीकरण

होता है अथवा पुरानी प्रौद्योगिकी को नई प्रौद्योगिकी से विस्थापित किया जाता है तब पहले की अपेक्षा कम श्रमिकों की आवश्यकता पड़ती है जिससे प्रावैगिक अथवा तकनीकी बेरोजगारी उत्पन्न होती है।

6. **संरचनात्मक बेरोजगारी (Structural Unemployment) :–** अर्थव्यवस्था में जब कभी संरचनात्मक परिवर्तन होते हैं, तो इस तरह की बेरोजगारी पाई जाती है। यथा–देश के निर्यात व्यापार में दीर्घकालीन गिरावट आने पर निर्यात वस्तु उद्योगों में बेरोजगारी फैलेगी। इसके अतिरिक्त विविध उद्योगों के उत्पादनों के लिए मांग के बदलते ढांचे को भी इस प्रकार की बेरोजगारी का कारण माना जाता है।
7. **चक्रीय बेरोजगारी :–** चक्रीय बेरोजगारी अर्थव्यवस्था में चक्रीय उतार–चढ़ाव के कारण उत्पन्न होती है। एक स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था बेरोजगारी से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकती। पूर्ण रोजगार की दशा में भी घर्षणात्मक, मौसमी, संरचनात्मक अथवा ऐच्छिक बेरोजगारी न्यूनाधिक मात्र में पाई जाती है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि पूर्ण रोजगार एक सापेक्षिक स्थिति है।

1.3 पूर्ण रोजगार की क्लासिकीय अवधारणा (Classical Concept of full employment) :–

क्लासिकल अथवा परम्परवादी अर्थशास्त्री इस धारणा के समर्थक थे कि पूर्ण रोजगार युक्त समाज में घर्षणात्मक, सामयिक तथा ऐच्छिक बेरोजगारी विद्यमान रह सकती है। उनके अनुसार अनैच्छिक बेरोजगारी की अनुपस्थिति ही पूर्ण रोजगार की दशा का द्योतक है। 'से' के बाजार नियम को स्वीकार करके प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियां ने पूर्ण रोजगार को एक स्वयंसिद्ध या दी हुई स्थिति माना लिया था जिसमें अनैच्छिक बेरोजगारी के लिए कोई स्थान नहीं था। उनके अनुसार अनैच्छिक बेरोजगारी अर्थव्यवस्था की स्वतन्त्र क्रियाशीलता में हस्तक्षेप का परिणाम होता है। यदि इन हस्तक्षेपों को दूर कर दिया जाए तो आर्थिक प्रणाली स्वतः समायोजन की प्रवृत्ति के कारण इस बेरोजगारी को दूर कर देगी। क्लासिकल अर्थशास्त्री मजदूरी कटौंती को बेरोजगारी का उपचार मानते थे। पीगू के अनुसार, मजदूरी ढांचे की दृढ़ता, ट्रेड यूनियन, विधान तथा न्यूनतम मजदूरी, आदि के रूप में स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था के कार्यकरण में हस्तक्षेप से बेरोजगारी उत्पन्न होती है।

1.4 पूर्ण रोजगार का केन्सीय एवं आधुनिक विचार (Keynesian and modern concept of full Employment :–

यह कि कीन्स ने पूर्ण रोजगार को भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है तथापि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की भांति वे भी घर्षणात्मक, ऐच्छिक एवं संरचनात्मक बेरोजगारी को पूर्ण रोजगार के साथ संगत मानते थे। कीन्स भी यह मानते थे कि पूर्ण रोजगार का अर्थ है, अनैच्छिक बेरोजगारी का अभाव। कीन्स के अनुसार ''पूर्ण रोजगार अर्थव्यवस्था की वह स्थिति है जिसमें प्रभावपूर्ण मांग की वृद्धि उत्पादन एवं रोजगार की मात्रा में वृद्धि नहीं करती, बल्कि कीमत स्तर में वृद्धि उत्पन्न कर देती है।'' इस तरह पूर्ण रोजगार वह बिन्दु होता है जिस पर अर्थव्यवस्था के सभी उपलब्ध एवं इच्छुक साधनों को रोजगार मिल चुका होता है तथा रोजगार की मात्रा उस बिन्दु से आगे नहीं बढ़ाई जा सकती है। अतः यदि प्रभावपूर्ण मांग को और अधिक बढ़ाया जाता है, तो कीमत में वृद्धि होने लगती है। ए0पी0 लर्नर के अनुसार, ''पूर्ण रोजगार से अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमें प्रचलित मजदूरी दर पर कार्य करने के इच्छुक व्यक्तियों को बिना किसी विशेष कठिनाई के रोजगार मिल जाता है। बिना किसी विशेष कठिनाई से तात्पर्य यह है कि जब तक कुल व्यय में वृद्धि करके बिना स्फीति उत्पन्न किए रोजगार के अवसरों में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है। इस तरह, पूर्ण रोजगार वह स्थिति है जिसे प्राप्त करने के बाद कुल व्यय में वृद्धि मुद्रा स्फीति का कारण बनती है।

लार्ड बिवरिज के अनुसार, ''पूर्ण रोजगार एक ऐसी स्थिति है, जहां सेवानियुक्ति व्यक्तियों की अपेक्षा रिक्त स्थान अधिक हो ताकि एक नौकरी छूटने और दूसरी नौकरी मिलने के में समय अन्तराल बहुत ही कम हो।''

अमेरिकन एसोसिएशन कमेटी के अनुसार, ''पूर्ण रोजगार का आशय यह है कि योग्यता प्राप्त व्यक्ति जो प्रचलित दरों पर नौकरी प्राप्त करना चाहते हैं, बिना किसी अधिक विलम्ब के उत्पादन संक्रियताओं में नौकरियां पा लेते हैं।'' **संयुक्त राष्ट संघ के विशेषज्ञों के अनुसार,** ''पूर्ण रोजगार को ऐसी स्थिति माना सकता है जिसमें रोजगार को प्रभावी मांग में वृद्धि करके नहीं बढ़ाया जा सकता और बेरोजगारी उस न्यूनतम सीमा से नहीं बढ़ती जिसकी गुंजाइश घर्षण तथा मौसमी साधनों के लिए छोड़नी चाहिए।''

इस तरह कहा जा सकता है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों से लेकर आधुनिक अर्थशास्त्रियों तक पूर्ण रोजगार की परिभाषा के सम्बन्ध में एक मत नहीं है। इस सम्बन्ध में **प्रो0 एक्ले** का कथन है कि यह एक बहुत ही पेचीदा अवधारणा है। इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय कीन्स को है तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत इसे सार्वजनिक नीति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्देश्य माना जाने लगा है।

1.5 रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Classcial Theory of Employment) :–

रोजगार का क्लासिकल सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित था कि यदि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत प्रणाली को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने दिया जाए तथा अर्थव्यवस्थाओं में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाता तो श्रम सहित उत्पादन के सभी साधन पूर्णतया सेवा नियुक्त रहते है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण रोजगार के स्तर पर अर्थव्यवस्था के दीर्घकालीन सन्तुलन को सामान्य स्थिति माना । यह मानते थे कि कभी–कभी कुछ ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो जाती है जबकि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार पर सन्तुलन में नहीं होती है, परन्तु उनका विश्वास था कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार होने की प्रवृत्ति अवश्य विद्यमान रहती हे। जैसे ही यह असामान्य स्थितियां समाप्त हो जाती है पूर्ण रोजगार पुनः स्थापित हो जाता है।

क्लासिकल विचारधारा में पूर्ण रोजगार एक स्वतः स्थिति थी। अतः इन अर्थशात्रियों ने रोजगार की समस्या को कोई विशेष महत्व नहीं दिया। उनके अनुसार पूर्ण रोजगार की दशा एक सामान्य दशा है और इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन असाधारण दशा का द्योतक है। यदि अल्पकाल में बेरोजगारी उत्पन्न भी होती है तो तुरन्त उसका प्रतिकार करने के लिए अर्थव्यवस्था में शक्तियां क्रियाशील हो जाती हैं और बेरोजगारी की स्थिति समाप्त हो जाती है।

इस तरह क्लासिकल अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थायी होगी, अल्परोजगार अथवा बेरोजगारी की स्थिति अस्थायी होगी और पुनः पूर्ण रोजगार की स्थिति वापस आ जाएगी। क्लासिकल व्यवस्था में वस्तु बाजार (Product Maket) , पूंजी बाजार (Capital Market), तथा श्रम बाजार (Labour Market) में पूर्ण निकासी की स्थिति होगी। अन्य शब्दों में, सभी बाजारों में मांग पूर्ति के बराबर होगी। वस्तु बाजार में मांग एवं पूर्ति के बराबर रहने के फलस्वरूप न तो अत्युत्पादन होगा और न ही बेरोजगारी उत्पन्न होगी। क्लासिकल अवधारणा में अनैच्छिक बेरोजगारी अनुपस्थित रहेगी तथा प्रचलित मजदूरी दर पर हर चाहने वाले व्यक्ति को काम मिल जाएगा।

अनैच्छिक बेरोजगारी का अर्थ यह हुआ कि श्रम बाजार में पूर्ण निकासी (Full Celaring) नहीं हुई है अर्थात श्रम की पूर्ति मांग से अधिक है। परन्तु प्रतिष्ठित सिद्धान्त में इस तथ्य को नकार दिया गया है। यदि श्रम की पूर्ति श्रम की मांग से अधिक हुई तो मजदूरी में गिरावट होगी और यह गिरावट तब तक होती जाएगी जब तक कि श्रम की मांग श्रम की पूर्ति के बराबर नहीं हो जाती । प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र के अनुसार बेरोजगारी की स्थिति तभी पाई जाएगी जबकि श्रम संघों तथा न्यूनतम मजदूरी कानून के कारण वास्तविक मजदूरी नीचे गिरावट की दृष्टि से कठोर अथवा लोच रहित हो जाए। इस तरह यदि श्रम बाजार में काम करने वाली मांग तथा पूर्ति की शक्तियों के स्वतन्त्र क्रियाशीलता पर कोई रूकावट नहीं होती तो श्रम बाजार पूर्ण निकासी की स्थिति में होगा और अनैच्छिक बेरोजगारी नहीं होगी। पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहने के लिए श्रम बाजार के साथ–ही–साथ न केवल वस्तु बाजार बल्कि पूंजी बाजार भी पूर्ण निकासी की स्थिति में होना चाहिए। पूंजी बाजार पूर्ण निकासी की स्थिति में तब होगा जबकि बचतों की पूर्ति विनियोग की मांग के बराबर हो अर्थात I=S । ऐसा नहीं होने पर आय के चक्रीय प्रवाह से बचत के रूप में जितना निकाला जाएगा पूरा उसमें विनियोग के रूप में नहीं जाएगा। यदि अर्थव्यवस्था में बचत विनियोग से अधिक है तो अर्थव्यवस्था में समग्र मांग में कमी होगी, फलस्वरूप वस्तु बाजार में अधिक उत्पादन होगा और श्रम बाजार में बेरोजगारी की स्थिति होगी, परन्तु प्रतिष्ठित मॉडल में यह मान लिया गया है कि मूल्य प्रणाली प्रत्येक बाजार में स्वतन्त्र रूप से कार्य करती है। मूल्य तथा मात्रा के बीच समायोजन बिना किसी बाधा के होता है, फलस्वरूप सभी बाजार पूर्ण निकासी की स्थिति में होंगे और अनैच्छिक बेरोजगारी की स्थिति नहीं होगी।

अब हम इस तथ्य की विवेचना करेंगे कि क्लासिकल विचारधारा में किस तरह अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति हमेशा बनी रहती है। रोजगार के सन्दर्भ में क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा अलग से कोई सिद्धान्त नहीं प्रतिपादित किया गया, लेकिन उनके विश्लेषण का यदि अध्ययन करें, कुछ विशिष्ट तत्वों को मिलाकर, कुछ निश्चित पूर्व– धारणाओं को देखें तो इसका एक पूर्ण सिद्धान्त बनता है, जैसे –:

1. 'से' का बाजार नियम।
2. क्लासिकल ब्याज सिद्धान्त।

3. श्रम की मांग एवं पूर्ति का सिद्धान्त।

1.6 सिद्धान्त की मान्यतांए (Assumptions) :– क्लासिकल सिद्धान्त निम्नलिखित पूर्ण धारणाओं पर आधारित हैः

1. अर्थव्यवस्था बन्द है अर्थात विदेशी सौदों का अस्तित्व नहीं है।
2. आर्थिक क्रियाओं पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अर्थव्यवस्था मुक्त है।
3. श्रम तथा पूंजी पूर्णतया गतिशील हैं तथा सभी बाजारों में पूर्ण प्रतियोगिता है।
4. ब्याज दर, मजदूरी दर तथा कीमतें पूर्णतः परिवर्तनशील है।
5. बचत केवल व्यक्तियों द्वारा की जाती है, निगम तथा कम्पनियां कोई बचत नहीं करती।
6. अर्थव्यवस्था में मुद्रा भ्रांति नहीं है अर्थात व्यक्ति वस्तुओं एवं सेवाओं में मौद्रिक मूल्यों से नहीं बल्कि वास्तविक मूल्यों से ही प्रभावित होते है।
7. तकनीक दी हुई है , इसलिए अर्थव्यवस्था में वास्तविक आय रोजगार के स्तर पर निर्भर है।
8. सभी व्यक्ति इस दृष्टि से विवेकशील (Rational) है कि उपभोक्ता, उद्यमी एवं साधनों के स्वामी क्रमशः उपयोगिता, लाभ एवं आय को अधिकतम प्राप्त करना चाहते है।

इन पूर्ण धारणाओं के अन्तर्गत क्लासिकल रोजगार सिद्धान्त के तीनों तत्वों को विश्लेषित किया जा सकता है।

1.7 'से' का बाजार नियम :– 'से' का बाजार नियम रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का मर्म हैं यह नियम वस्तु बाजार में मांग एवं पूर्ति के सन्तुलित रहने की व्याख्या करता है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ के प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक बैपिस्त से (Jean Bapiste Say) ने अपने ग्रन्थ "Trainted d' Economic Politique" में इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि '' पूर्ति सदैव अपनी मांग स्वतः ही उत्पन्न करती है तथा उत्पादन ही वस्तुओं के बाजार का सृजन करता है।'' इस कारण सामान्य अति उत्पादन तथा सामान्य बेरोजगारी की दशाएं उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। 'से' के शब्दों में, ''उत्पादन ही वस्तुओं के लिए बाजार उत्पन्न करता है। जैसे ही किसी वस्तु का उत्पादन होता है, त्यों ही उसी क्षण से, वह अपने मूल्य के बराबर मात्रा में अन्य वस्तुओं के लिए बाजार प्रदान करती है। दूसरी वस्तु की पूर्ति जितना एक वस्तु की मांग में अनुकूल होती है, उतना कुछ और नहीं।''

'से' का बाजार नियम मूलतः वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था पर लागू होता है, जहां अन्ततः वस्तुओं के बदले वस्तुओं का विक्रय होता है। 'से' ने यह माना है कि कोई भी उत्पादक दो उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही किसी वस्तु का उत्पादन करता है। 1. उस वस्तु द्वारा अपने उपयोग की आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिए, तथा 2. अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुओं को इन वस्तुओं के बदले प्राप्त करने के लिए। यदि उसे किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता न हो तो वह अतिरिक्त उत्पादन करेगा ही नहीं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार था कि लोग संग्रह करने के लिए वस्तुओं का उत्पादन नहीं करेंगे व इस तरह प्रत्येक के पास अतिरिक्त उत्पादन दूसरे के अतिरिक्त उत्पादन को प्राप्त करने के लिए ही होगा। इसी तरह का व्यवहार समस्त उत्पादक करेंगे। ऐसी दशा में सामान्य अति उत्पादन अथवा अल्प उत्पादन का भय नहीं रहेगा। 'से' इस बात को स्वीकार करते हैं कि उत्पादक द्वारा किसी विशिष्ट वस्तु की मांग के सम्बन्ध में गलत अनुमान लगा लेने से अस्थायी रूप से उस वस्तु का अत्युत्पादन सम्भव हो सकता है, परन्तु यह स्थिति अस्थायी होती है, क्योंकि कालान्तर में, उत्पादन घटाकर उस विशिष्ट वस्तु के अतिरिक्त उत्पादन में संशोधन किया जा सकता है। इस तरह, 'से' के अनुसार सामान्य अत्युत्पादन की अवस्था सम्भव नहीं है। जे0एस0मिल0 ने 'से' के इस नियम को इस तरह व्यक्त किया है– ''उपभोग, उत्पादन का सह–विस्तारी है तथा मांग का कारण तथा एकमात्र कारण उत्पादन ही होता है। .....वार्षिक उत्पादन की मात्रा चाहे कितनी भी क्यों न हो, वह वार्षिक मांग की मात्रा से बढ़ नहीं सकती।''

मुद्रा–अर्थव्यवस्था (Money Economy) में भी यह आधारभूत नियम कार्यशील रहता है। प्रो0 हेन्सन ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि , 'से' का बाजार नियम, अधिक व्यापक रूप में स्वतन्त्र वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था की ही व्याख्या है। इस दृष्टिकोण से यह नियम इस सत्य में प्रकाशित होता है कि मांग का मुख्य स्त्रोत साधन–आय का वह प्रवाह है, जो स्वयं, उत्पादन की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है।'' इस तरह, वस्तु की बाजार मांग का प्रमुख स्त्रोत उत्पादन के विभिन्न साधनों को प्राप्त होने वाली आय होती है जो कि उत्पादन की प्रक्रिया में स्वतः ही उत्पन्न होती है। इस तरह, किसी भी उत्पादन प्रक्रिया के दो प्रभाव होते है– 1. उत्पादन प्रक्रिया मे उत्पादन में लगे साधनों को पारिश्रमिक का भुगतान किया जाता है जिससे अर्थव्यवस्था में आय प्रवाह का सृजन होता है तथा 2. एक निश्चित मात्रा में उत्पादन प्राप्त होता है जो बाजार में बिकने के लिए भेज दिया जाता है। इस

प्रकार प्रत्येक उत्पादन मात्रा के साथ, परिचलन (Cirulation) में उतनी ही क्रय शक्ति का समावेश हो जाता है। अतः जितना माल तैयार होता है वह स्वतः बिक जाता है। स्पष्टतः, 'से' के बाजार नियम के अनुसार कुल पूर्ति कुल मांग के सदैव बराबर होती है। न अल्प उत्पादन होगा और न ही अत्युत्पादन । इस प्रकार की पूर्ति अपनी मांग पैदा कर लेती है। परिणामतः सामान्य बेरोजगारी सम्भव नहीं है।

अल्पकाल में ऐसा हो सकता है कि उत्पादन के किसी क्षेत्र में पूर्ति मांग से अधिक हो जाय तथा दूसरे में मांग पूर्ति से अधिक हो जाय, परन्तु यह दीर्घकाल में अथवा स्थायी रूप से नहीं हो सकता है क्योंकि जिस क्षेत्र में मांग पूर्ति से अधिक होगी वहां मूल्य भी उंचा होगा जिसके फलस्वरूप उत्पादक पूर्ति बढ़ाएगा, दूसरे क्षेत्र से साधनों को स्थानान्तरित करेगा और वह ऐसा तब तक करेगा जब तक कि मांग पूर्ति के बराबर न हो जाए। जिन वस्तुओं को वह बेच नहीं पाएगा, उसका उत्पादन बन्द कर देगा तथा उन वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाएगा जिनको वह बेच सकता है। इस तरह, 'से' के अनुसार अर्थव्यस्था में व्यय की मात्रा इतनी पर्याप्त होगी कि उत्पादन के साधनों को पूर्ण रोजगार बनाए रखा जा सके।

उपर्युक्त तर्क इस धारणा पर आधारित है कि उत्पादन का कोई साधन निष्क्रिय मुद्रा के रूप में आय का संग्रह नहीं करेगा। इस बात को गार्डनर ऐक्ले इस तरह व्यक्त करते हैं–''किसी–किसी सनकी कंजूस को छोड़कर लोग मुद्रा को मात्र अपने निमित्त नहीं चाहते। यदि वे अपने उत्पाद अथवा सेवाओं को मुद्रा के बदले बेचते हैं, तो वह मुद्रा शीघ्र ही अन्य वस्तुओं पर खर्च कर दी जाएगी।'' प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की धारणा थी कि आय का जो भाग खर्च नहीं होता वह बच जाता है और उसका स्वतः विनियोजन हो जाता है। विनियोजन का मांग पर वही प्रभाव पड़ता है जो कि उपभोग का यदि बचत तथा विनियोजन में किसी तरह का अन्तर होता है तो ब्याज दर उसमें समानता स्थापित कर देती है। इस तरह समग्र बचत, समग्र विनियोजन के बराबर होगी। इसका आश्वासन क्लासिकल ब्याज सिद्धान्त में निहित है।

बचत एवं विनियोग में समानता –बचत तथा विनियोजन में समानता अर्थात पूंजी बाजार में सन्तुलन की स्थिति को चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

क्लासिकल विचारधारा में बचत तथा विनियोग को ब्याज सापेक्ष माना गया है। उनके अनुसार बचत, ब्याज दर का सकारात्मक तथा विनियोग, ऋणात्मक फलन है। इस तरह, ब्याज दर अधिक होने पर बचत अधिक होगी तथा विनियोग कम। चित्र में SS बचत वक्र तथा II निवेश वक्र, बचत तथा ब्याज दर के ऐसे ही सम्बन्ध को दिखाते है।

सन्तुलन ब्याज दर OR है जिस पर बचत तथा विनियोग दोनों OM के बराबर हैं। किसी समय यदि बचत, विनियोग से अधिक है। तो ब्याज दर गिर जाएगी और तब तक कम होती जाएगी जब तक पूर्ण रोजगार स्तर पर पहुंच कर बचत विनियोग के बराबर नहीं हो जाती। इस तरह, ब्याज दर पूंजी बाजार में सन्तुलन का कारण बनती

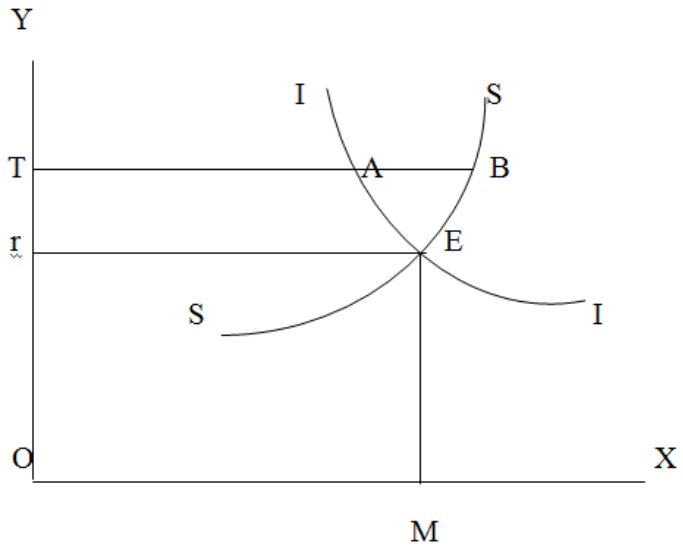

बचत एवं विनियोग के सम्बन्ध में मैक्कोनल का कथन है कि , '' इस सम्बन्ध में क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की धारणा थी कि अर्थव्यवस्था बड़े भारी स्नान–टब (Bath-Tab) के समान है जिसमें जल स्तरांक उत्पादन (Water Mark) तथा रोजगार के स्तर की माप करता है। यदि बचत के निर्गम

मार्ग से कोई स्राव होता है, तो वह विनियोजन की टोंटी के माध्यम से वापस टब में पहुंचा दिया जाएगा। ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि जल निर्गम नल तथा टोंटी को ब्याज दर मिलाती है।''

1.8 'से' के बाजार नियम मुख्य बातें :–

1. अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली में स्वतः समायोजन कार्यशील होता है। इसी स्वतः समायोजन के फलस्वरूप पूर्ति अपनी मांग स्वयं उत्पन्न करती है।
2. अर्थव्यवस्था में सामान्य अत्युत्पादन की दशा का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है।
3. अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की दशा विद्यमान रहती है।
4. बचत एवं विनियोग में समानता होती है।
5. अर्थव्यवस्था में लोचशीलता निहित (Built-in-Flexibility) होती है तथा सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती।

1.9 पीगू का दृष्टिकोण : श्रम मांग एवं श्रम विश्लेषण :–

प्रो0 पीगू ने श्रम बाजार के सन्दर्भ में 'से' के नियम की व्याख्या कर रोजगार के क्लासिकल सिद्धान्त को अन्तिम रूप प्रदान किया। पीगू के अनुसार स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अन्तर्गत आर्थिक प्रणाली की प्रवृत्ति श्रम बाजार में स्वतः पूर्ण रोजगार प्रदान करने की रहती है। उनका मत था कि अनैच्छिक बेरोजगारी मजदूरी ढांचे के बेलोच होने तथा स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था के कार्यकरण में हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न होती है। मजदूरी दर में वृद्धि के लिए श्रमिक संगठनों के प्रयास, न्यूनतम मजदूरी दिलाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप, आदि को समाप्त कर दिया जाए और आर्थिक प्रणाली को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने दिया जाए तो मजदूरी दरों को घटा बढ़ाकर पूर्ण रोजगार की दशा को प्राप्त किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में पीगू ने लिखा है कि, ''पूर्णरूप से स्वतन्त्र प्रतियोगिता रहने पर सदैव एक ऐसी प्रवृत्ति प्रबल रूप से कार्यरत रहेगी जिससे मजदूरी की दरें मांग के साथ इस तरह सम्बद्ध होंगी कि प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार प्राप्त हो जाएगा।'' इस प्रकार, पीगू के अनुसार यदि मजदूरी लोचदार हो तो मजदूरी दर में कटौंती करके बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है।

पीगू का तर्क

स्वतन्त्र प्रतियोगिता वाली अर्थव्यवस्था में जब मजदूरी घटाई जाती है तो इससे उत्पादन लागत कम हो जाती है फलस्वरूप वस्तुओं की कीमतें घट जाती है। कीमत कम होने से वस्तुओं की मांग और विक्रय बढ़ेगा। उत्पादन बढ़ाने के लिए और अधिक श्रम को काम पर लगाना आवश्यक हो जाएगा। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह धारणा थी कि मौद्रिक मजदूरी तथा वास्तविक मजदूरी में प्रत्यक्ष एवं आनुपातिक सम्बन्ध होता है। अतः जब मुद्रा मजदूरी घटती है तो वास्तविक मजदूरी भी घट जाती है अर्थात मुद्रा मजदूरी घटने पर कीमतें घट जाती हैं, परन्तु यह मान लिया गया है कि मुद्रा मजदूरी में होने वाली कमी की अपेक्षा कीमतों में कम गिरावट होती है। इसके फलस्वरूप लाभों में वृद्धि होगी, जो उद्यमियों को अधिक उत्पादन करने और इस तरह, श्रमिकों को अधिक रोजगार प्रदान करने की प्ररेणा देगी। इस प्रकार मुद्रा मजदूरी में कटौंती, कीमतों में कमी तथा लाभ प्राप्त करने की प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर नहीं पहुंच जाती अर्थात–

$$N = \frac{q.y}{w}$$

जहां , N= रोजगार में लगे श्रमिकों की संख्या, q= राष्टीय आय का वह भाग जो मजदूरी तथा वेतन के रूप में दिया जाता है। Y= राष्टीय आय तथा w= मजदूरी की दर।

पीगू ने मत व्यक्त किया कि रोजगार में वृद्धि करने के लिए Y या q में वृद्धि अथवा w में कमी करना आवश्यक होगा। Y स्वतन्त्र रूप से नहीं बढ़ सकता तथा q तकनीकी कारकों पर निर्भर करता है और यह नियोक्ता के नियन्त्रण से परे है। अतः w को ही घटाकर N को बढ़ाया जा सकता है। इस तरह, पूर्ण रोजगार प्राप्ति का क्लासिकल नुस्खा यह है कि मुद्रा मजदूरी घटा दी जाए।

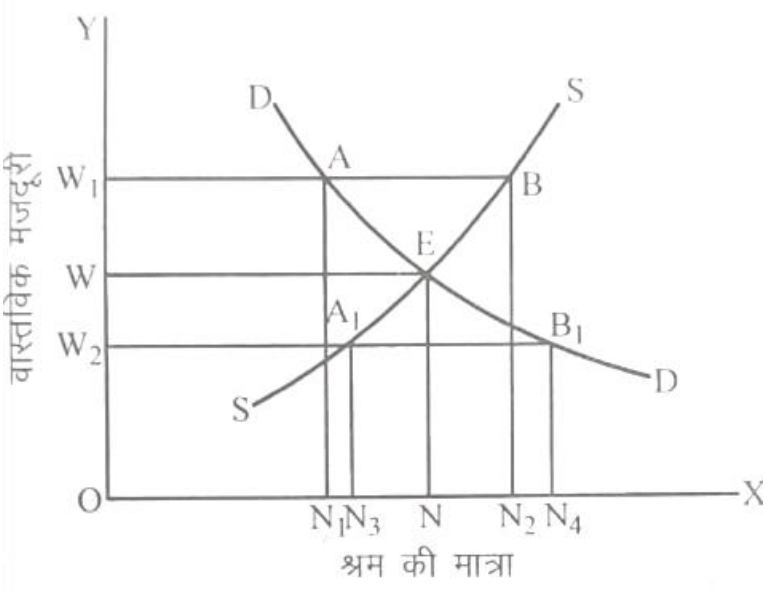

OX अक्ष पर श्रम की मात्रा तथा OY अक्ष पर वास्तविक मजदूरी दर को प्रदर्शित किया गया है। क्लासिकल विश्लेषण में श्रम मांग एवं श्रम पूर्ति दोनों ही वास्तविक मजदूरी दर के फलन है। DD श्रम का मांग वक्र है जो वास्तविक मजदूरी का ऋणात्मक फलन है। कम मजदूरी दर पर श्रम की मांग अधिक तथा अधिक मजदूरी दर पर श्रम की मांग कम होगी। SS श्रमपूर्ति वक्र है जो वास्तविक मजदूरी दर का सकारात्मक फलन है। ऊँची वास्तविक मजदूरी दर पर श्रमिकों द्वारा श्रम की अधिक पूर्ति तथा नीची वास्तविक मजदूरी दर पर श्रम की कम पूर्ति की जाती है। वास्तविक मजदूरी (w/p) दी हुई पूर्व धारणाओं के अन्तर्गत श्रम की सीमान्त उत्पादकता (MP)के बराबर होगी।

उपर्युक्त चित्र में श्रम मांग वक्र DD तथा श्रमपूर्ति वक्र SS एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते है। जिससे सन्तुलन रोजगार ON तथा सन्तुलन वास्तविक मजदूरी दर OW निर्धारित होती हे। ऐसे रोजगार निर्धारण में अनैच्छिक बेरोजगारी का प्रश्न नहीं उठता। OW वास्तविक मजदूरी दर पर ON श्रम रोजगार चाहता है और उसे रोजगार मिल जाता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार ऐसी अवस्था में केवल ऐच्छिक अथवा घर्षणजनित बेरोजगार ही सम्भव है। चित्र से स्पष्ट है कि जब वास्तविक मजदूरी दर (OW_1) सन्तुलन वास्तविक मजदूरी दर OW से अधिक होती है तो श्रम की पूर्ति, उसकी मांग से अधिक होगी। चित्र में श्रम की मांग ON_1 तथा श्रम की पूर्ति ON_2 है। ऐसी दशा में AB अनैच्छिक बेरोजगार होंगे। ऐसी दशा में श्रमिकों में रोजगार प्राप्ति के लिए परस्पर प्रतियोगिता होगी, जिससे वास्तविक मजदूरी दर में कमी आएगी जो अन्ततः घटकर OW के बराबर हो जाएगी। वास्तविक मजदूरी दर OW पर श्रम बाजार में सन्तुलन है क्योंकि यहां श्रम की मांग तथा श्रम की पूर्ति दोनों ON के बराबर हैं। इस तरह OW वास्तविक मजदूरी दर पर पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाएगी। इसके विपरीत, यदि वास्तविक मजदूरी दर OW_2 हो, जो सन्तुलन मजदूरी से कम है तो श्रम की मांग, श्रम की पूर्ति से अधिक होगी, क्योंकि श्रमिक इस मजदूरी दर पर स्वेच्छा से बेरोजगार रहना पसन्द करेंगे, क्योंकि यह दर उनकी अनुपयोगिता को पूरा करने में पर्याप्त नहीं होगी। अन्ततः मजदूरी दर ऊपर उठती है और सन्तुलन की स्थिति स्थापित हो जाएगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रम बाजार में सन्तुलन की स्थिति पूर्ण रोजगार के स्तर पर श्रम की मांग तथा श्रम की पूर्ति की समानता पर होगी। इसमें किसी प्रकार की असमानता श्रम बाजार में असन्तुलन उत्पन्न करेगी, परन्तु असन्तुलन की यह स्थिति अस्थायी होगी तथा स्वतन्त्र प्रतियोगिता श्रम बाजार में पुनः सन्तुलन स्थापित कर देगी। इस तरह, प्रो0 पीगू का तर्क है कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में जब आर्थिक प्रणाली को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दिया जाता है तब मजदूरी की दर तब तक गिरती जाएगी जब तक कि प्रचलित मजदूरी दर पर कार्य करने के इच्छुक सभी श्रमिकों को रोजगार नहीं मिल जाता और अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं आ जाती।

1.10 प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Classical theory of employment) :–

रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की अवास्तविक अवधारणाओं के आधार पर कीन्स के नेतृत्व में आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। निरन्तर आने वाली आर्थिक मन्दियों के सन्दर्भ में ऐसी आलोचनाओं का उदय हुआ कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगारर बनाए रखने की निश्चित क्षमता नहीं है। प्रतिष्ठित विचारधारा के प्रखर आलोचक कीन्स ने 1936 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ''रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त'' में रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कटु आलोचना की। उन्होंने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में ही 'से' के बाजार नियम पर घातक प्रहार किए तथा मत व्यक्त किया कि ''प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त कुछ विशिष्ट दशाओं में ही लागू होता है तथा विशेष स्थिति की जिन विशिष्टिताओं को मानकर यह सिद्धान्त चलता है वे उस आर्थिक समाज में नहीं पाई जाती है जिसमें हम वास्तव में रहते है। यदि हम अनुभव से प्राप्त तथ्यों के सन्दर्भ में इस सिद्धान्त पर विचार करें तो यह पाएंगे कि इसकी शिक्षाएं भ्रामक तथा विनाशकारी है।'' रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कीन्स द्वारा की गई कुछ प्रमुख आलोचना निम्न हैः

1. कीन्स ने अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार सन्तुलन की धारणा को अवास्तविक बताया। उनके अनुसार पूर्ण रोजगार एक विशिष्ट स्थिति है। अर्थव्यवस्था में सामान्य स्थिति अल्प रोजगार की होती है, क्योंकि पूंजीवादी समाज 'से' के नियमानुसार काम नहीं करता और पूर्ति सदैव मांग से बढ़ जाती है। हम देखते है कि वर्तमान मजदूरी दर पर या उससे भी कम पर, लाखों श्रमिक काम करने को तैयार रहते है, पर उन्हें काम नहीं मिलता। इस प्रकार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में अनैच्छिक बेरोजगारी का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि अल्परोजगार सन्तुलन एक सामान्य स्थिति है और पूर्ण रोजगार की स्थिति असाधारण तथा आकस्मिक है।
2. कीन्स ने 'से' के बाजार नियम का खण्डन किया कि पूर्ति स्वयं अपनी मांग पैदा करती है। उनके अनुसार लोग अपनी अर्जित आय का कुछ भाग बचा लेते हैं जो अपने आप विनियोजित नहीं हो जाता है, क्योंकि बचत तथा निवेश अलग–अलग कार्य है। अतः जब समस्त अर्जित आय उपभोक्ता वस्तुओं पर खर्च नहीं होती और उसका कुछ अंश बचा लिया जाता है, तो कुछ मांग में कमी हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप अति उत्पादन हो जाता है, क्योंकि वह सब बिक नहीं पाता जिसका उत्पादन हुआ है, इसलिए सामान्य बेरोजगारी आती है। इस प्रकार कीन्स ने इस नियम का सहारा लेकर, कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति एक से कम होती है, 'से' के नियम को निरर्थक ठहराया ।
3. कीन्स यह भी स्वीकाार नहीं करते कि आर्थिक प्रणाली स्वचालित एवं स्वयं व्यवस्थायी होती है। उनके विचारानुसार , वास्तव में वह कभी भी स्वयं समायोजित नहीं हो पाती। अतः मांग एवं पूर्ति में सन्तुलन बनाए रखने के लिए, राजकोषीय तथा मौद्रिक नीति के माध्यम से राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक होता है।
4. परम्परावादियों का यह विश्वास था कि पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत तथा निवेश बराबर होते है। यदि उनमें किसी प्रकार का विचलन हो, तो ब्याज दर उनमें बराबरी ला देती है। कीन्स का मत था कि बचत का स्तर ब्याज दर पर नहीं बल्कि आय के स्तर पर निर्भर करता है। इसी प्रकार, विनियोजन को ब्याज की दर ही नहीं पूंजी की सीमान्त दक्षता भी निर्धारित करती है। यदि व्यापार प्रत्याशाएं कम हों, तो ब्याज की नीची दर से विनियोजन नहीं बढ़ेगा।
5. कीन्स ने पीगू के इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया कि मजदूरी में कटौंती करने से अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार उपलब्ध किया जा सकता है। पीगू के विश्लेषण में सबसे बड़ी भ्रान्ति यह रही कि उसने इस तर्क को, जो एक विशिष्ट उद्योग पर लागू होता है, समस्त अर्थव्यवस्था पर लागू कर दिया। कीन्स के अनुसार समस्त अर्थव्यवस्था के लिए इस प्रकार की नीति से रोजगार घट जाता है। जब मजदूरी में सामान्य कटौंती होती है तो श्रमिकों की आय घट जाती है परिणामतः कुल मांग गिर जाती है जिससे रोजगार में कमी आती है।
   व्यावहारिक दृष्टि से भी कीन्स ने मजदूरी में कटौंती करने की नीति का कभी समर्थन नहीं किया । वर्तमान समय में श्रमिकों ने मजबूत ट्रेड यूनियनें बना ली हैं जो मजदूरी घटाने की नीति का विरोध करती है। वे इसके विरोध में हड़तालें करेंगे।
6. परम्परावादी स्वयं समायोजन प्रक्रिया के माध्यम से दीर्घकाल में पूर्ण रोजगार में विश्वास करते थे। कीन्स में इतना धैर्य नहीं था कि दीर्घकाल की प्रतीक्षा कर सकें, क्योंकि वह तो मानता था कि ''दीर्घकाल में तो हम सब मर जाते है।''

7. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को तटस्थ मानकर उत्पादन, रोजगार तथा ब्याज के सिद्धान्त को मौद्रिक सिद्धान्त से पृथक कर दिया , परन्तु कीन्स ने उक्त विचारधारा की आलोचना करते हुए मूल्य सिद्धान्त तथा मौद्रिक सिद्धान्त में समन्वय स्थापित किया। इन आलोचनाओं के अतिरिक्त कीन्स ने अपने 'सामान्य सिद्धान्त' में अनेक ऐसी आधारभूत बातों का स्पष्टीकरण किया है जिससे क्लासिकल रोजगार सिद्धान्त सम्बन्धी सम्पूर्ण विश्लेषण अवास्तविक तथा महत्वहीन हो जाता है। इस प्रकार, रोजगार का क्लासिकल सिद्धान्त अवास्तविक और पूंजीवादी जगत की आज की आर्थिक समस्याओं को हल करने में असमर्थ है।

1.11 सारांश (Summary) :–

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति की मान्यता पर आधारित है इस पूर्ण रोजगार स्थिति से कोई भी विचलन अस्थायी, अल्पकालीन तथा असमान्य स्थिति है तथा अर्थव्यवस्था में कभी भी अल्प उत्पादन अथवा अतिउत्पादन नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता है तो अर्थव्यवस्था में मांग तथा पूर्ति की शक्तियाँ स्वचालित रूप से उसे पुनः पूर्ण रोजगार की स्थिति में ले जायेंगी इस प्रकार रोजगार को प्रतिष्ठित सिद्धान्त में उत्पादन मात्रा तथा रोजगार स्तर का निर्धारण श्रम बाजार, वस्तु बाजार तथा पूंजी बाजार में एक साथ होता है। क्लासिकल सिद्धान्त के अनुसार अर्थव्यवस्था बन्द है अर्थात विदेशी सौदों का अस्तित्व नहीं पाया जाता है।

1.12 शब्दावली (Keywords) :–

1. ऐच्छिक बेरोजगारी (Voluntary Unemployment)
2. अनैच्छिक बेरोजगारी (Involuntary Unemployment)
3. मौसमी बैरोजगारी (Seasonal Unemployment)
4. संरचनात्मक बेरोजगारी (Structural Unemployment)
5. चक्रीय बेरोजगारी (Cyclical Unemployment)
6. पूंजी बाजार (Capital Market)
7. श्रम बाजार (Labour Market)
8. पूर्ण निकासी (Full Clearing)
9. वस्तु बाजार (Product Market)
10. मुद्रा अर्थव्यवस्था (Money Economy)

1.13 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :–

1. अहूजा, एच0एल0 : एडवाइन्स मैक्रोइकोनामिक थीयरी, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, रामनगर, नई दिल्ली।
2. लाल, एस0 एन0 : समष्टिभावी आर्थिक विश्लेषण (सिद्धान्त , समस्यायें तथा नीतियाँ) शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
3. द्विवेदी, डी0एन0: मैक्रोइकोनामिक्स : थीयरी एण्ड पॉलिसी, टाटा मैक्ग्रा–हिल पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली।
4. J.M Keynes : General Theory of Employment, Interest And Money.
5. Stonier and Hague :A text book of economic Theory.
6. R.G.D Allen: Macro – Economic Theory, 1970
7. Edward Shapiro : Macroeconomic Analysis, 1984

1.14 अभ्यास प्रश्न (Practice questions)

1. ''पूर्ति अपनी मांग का सृजन स्वयं करती है।'' इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार एक आर्थिक प्रणाली में सदैव पूर्ण रोजगार स्थिति बनी रहती है, यदि मूल्य यन्त्र का स्वतन्त्र क्रियाशीलन हो। विवेचना कीजिए।
3. बेरोजगारी के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।
4. पूर्ण रोजगार की प्रतिष्ठित अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
5. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से आप क्या समझते है।
6. रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की मान्यताएँ लिखिए।

7. श्रम मांग एवं श्रम विश्लेषण में पीगू के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
8. प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।

1.15 वस्तुनिष्ठ प्रश्न–उत्तर (Objectvie Questions Answers)

1. किसने कहा ? ''पूर्ति अपनी मांग का सृजन स्वयं करती है।''
   क. एडम स्मिथ ख. माल्थस ग. जे0वी0 से घ. रिकार्डो
   (उत्तर ग)
2. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार, अर्थव्यवस्था में सामान्य .....तथा..... की स्थिति असम्भव है।
   क. अतिउत्पादन , बेरोजगारी
   ख. अधि उपभोग, अल्प उपभोग
   ग. बचत , विनियोग
   घ. संस्थति, बेरोजगारी
   (उत्तर क)
3. किसी अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी को दूर करने के लिए पीगू ने क्या सुझाव दिया?
   क. उपभोग में कमी
   ख. मजदूरी में कटौंती
   ग. विनियोग में वृद्धि
   घ. बचतों में कमी
   (उत्तर ख)
4. 'से' का बाजार नियम संस्थिति की स्थिति दिखाता है–
   क. पूंजी बाजार में
   ख. श्रम बाजार में
   ग. वस्तु बाजार में
   घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर ग)
5. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मानते हैं कि एक अर्थव्यवस्था सदैव.....की स्थिति में बनी रहती है।
   क. पूर्ण रोजगार
   ख. अल्प रोजगार
   ग. बेरोजगारी
   घ. अधिरोजगार
   (उत्तर क)

खण्ड – 05
इकाई– 02

विनियोग तथा बचत विश्लेषण तथा कीन्स का रोजगार सिद्धान्त

(Keynesian Theory of Employment)

1.1 उद्देश्य
1.2 रोजगार का निर्धारण
1.3 प्रभावपूर्ण माँग
1.4 प्रभावपूर्ण माँग का निर्धारण
1.5 प्रभावपूर्ण माँग अथवा रोजगार के सन्तुलन स्तर का निर्धारण
1.6 प्रभावपूर्ण माँग के निर्धारक
1.7 कीन्स का बचत एवं विनियोग सिद्धान्त
1.8 बचत एवं निनियोग सिद्धान्त की विशेषताएं
1.9 आय अथवा बचत विनियोग सिद्धान्त की श्रेष्ठता
1.10 बचत एवं विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाएं
1.11 सारांश
1.12 शब्दावली
1.13 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.14 अभ्यास प्रश्न
1.15 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्रस्तावना(Introduction) :-

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बेरोजगारी की समस्या पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था। उनके अनुसार दीर्घकाल में सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति रहती है। पूर्ण रोजगार की दशा एक सामान्य दशा है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन असाधारण दशा का द्योतक है। यदि किसी समय विशेष में अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की वास्तविक स्थिति मौजूद न हो तो भी उसमें पूर्ण रोजगार की प्रवृत्ति सदैव विद्यमान रहती है। इस तरह प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने जे0बी0 से के बाजार नियम को स्वीकार करके बेरोजगारी से सम्बन्धित प्रश्नों को टाल दिया और ऐसी परिस्थिति का विवेचन किया जिसमें बेरोजगारी का अस्तित्व ही नहीं था।

कीन्स ने ''से'' के नियम पर घातक प्रहार किया तथा प्रतिष्ठित विचारधारा को अस्वीकृत करते हुए बेरोजगारी के कारणों की अधिक व्यवस्थित एवं सही व्याख्या प्रस्तुत की। कीन्स ने बताया कि एक स्वतंत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था की सामान्य दशा पूर्ण रोजगार संतुलन की नहीं, बल्कि न्यून रोजगार संतुलन की होती है। उन्होंने ''जनरल थ्योरी'' में उन घटकों का विश्लेषण किया जो अर्थव्यवस्था में आय एवं रोजगार के स्तर को निर्धारित करते है। कीन्स ने अपने प्रतिपादन को ''रोजगार का सामान्य सिद्धान्त'' कहा। उनके अनुसार क्लासिकल सिद्धान्त उसका केवल विशिष्ट रूप है।

कीन्स का रोजगार सिद्धान्त संरचनात्मक दृष्टि से अत्यंत क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित सिद्धांत है जिसके अंग–प्रत्यंग परम्पर घनिष्ठता पूर्वक जुड़े हुए है। स्टोनियर एवं हेग के अनुसार, ''कीन्स–कृत बेरोजगारी के विश्लेषण को पूर्णरूपेण समझने का प्रयास करना एक भवन निर्माण के समान है। प्रारंभ में इस विश्लेषण के विभिन्न अवयवों के अर्थ एवं महत्व को समझना होगा। इसके उपरांत ही इन सबको एक साथ समन्वित कर सम्पूर्ण भवन को समग्र रूप में देखा जा सकेगा।''

1.1 उद्देश्य (Objectives) :–

1. कीन्स के रोजगार सिद्धन्त का अध्ययन कर सकेंगे।
2. रोजगार निर्धारण को समझ सकेंगे।

3. प्रभावपूर्ण माँग को समझ सकेंगे।

1.2 रोजगार का निर्धारण (Determination Of Employment) :–

कीन्स के अनुसार, अर्थव्यवस्था में रोजगार का स्तर कुल उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करता है। अर्थात् जितना ही अधिक उत्पादन होगा, रोजगार की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी और उत्पादन जितना कम होगा, रोजगार की मात्रा में उतनी ही कम होगी। कुल उत्पादन मात्रा प्रभावपूर्ण मांग की मात्रा पर निर्भर करती है। अन्य शब्दों में रोजगार की मात्रा प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करती है। प्रभावपूर्ण माँगमें कमी के कारण ही बेरोजगारी फैलती है। अतः यदि बेरोजगारी को दूर करना है तो प्रभावपपूर्ण मांग में वृद्धि की जानी चाहिए। इस तरह प्रभावपूर्ण मांग कीन्स के रोजगार सिद्धांत का प्रारम्भ बिन्दु है।

1.3 प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand) :–

सामान्य बोलचाल की भाषा में मांग का अर्थ है इच्छा। वह मांग तभी प्रभावी बनती है जब उपभोग वस्तुओं तथा विनियोग वस्तुओं को क्रय करने में आय खर्च की जाती है। कीन्स ने प्रभावपूर्ण मांग शब्द का प्रयोग ''रोजगार के विभिन्न स्तरों पर वस्तुओं एवं सेवाओं की समस्त मांग को'' व्यक्त करने के लिए किया है। रोजगार के विभिन्न स्तर मांग के विभिन्न स्तरों को प्रकट करते है। रोजगार का एक स्तर ऐसा भी हो सकता है जहां समग्र मांग, समग्र पूर्ति के बराबर हो। यही प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु होता है। कीन्स के शब्दों में ''समग्र मांग फलन के जिस बिन्दु पर समग्र पूर्ति फलन उसे काटता है उस बिन्दु पर समस्त मांग का मूल्य प्रभावर्पूण मांग कहलाता है।'' अन्य शब्दों में, समग्र मांग एवं समग्र पूर्ति का संतुलन जो कि रोजगार के संतुलन स्तर को निर्धारित करता है, प्रभावपूर्ण मांग कहलाता है। स्टोनियर एवं हेग के अनुसार, ''प्रभावपूर्ण मांग वह कुल मांग कीमत है जो कुल पूर्ति के बराबर होने के कारण प्रभावपूर्ण बन गयी है। इसलिए यह एक अल्पकालिक संतुलन व्यवस्था है।''

1.4 प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण (Determination Of Effective Demand) :–

प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण जिन दो प्रमुख तत्वों से होता है केन्स ने उन्हें 1. समग्र मांग क्रिया तथा 2. समग्र पूर्ति क्रिया कहा है।

(अ) समग्र मांग क्रिया (Aggregate Demand Function, ADF) :– कीन्स ने अर्थव्यवस्था में कुल रोजगार को समग्र उत्पादन से सीधा सम्बद्ध किया है और उसकी बिक्रीगत ''प्रत्याशित कुल मौद्रिक प्राप्ति'' को समग्र मांग की संज्ञा दी है। इस प्रकार समग्र मांग मुद्रा की वह मात्रा होती है जिसे अर्थव्यवस्था के समस्त उद्यमकर्ता मिलकर वास्तव में प्राप्त करने की आशा करते है।

समग्र मांग अनुसूची (Aggregate Demand Schedule) :–

रोजगार के विभिन्न स्तरों पर उत्पाद की बिक्री से प्राप्त संभावित आय की सूची अथवा विवरण को समग्र मांग अनुसूची कहा जाता है। कीन्स के अनुसार, ''समग्र मांग फलन रोजगार के किसी दिए हुए स्तर को प्रत्याशित आय के साथ सम्बद्ध करता है।'' उद्यमी रोजगार के स्तर को तब तक बढ़ाते जाएंगे जब तक प्रभावपूर्ण मांग का स्तर उन्हें अधिकतम बिक्रीगत आय नहीं प्रदान करता। रोजगार के विभिन्न स्तरों तथा उनसे प्राप्त संभावित आय को निम्न सारणी में प्रदर्शित किया गया है–

समग्र मांग अनुसूची :

रोजगार का स्तर (लाखों में)	प्रत्याशित बिक्रीगत आय (करोंड़ों में)
2.0	20
2.5	21
3.0	22
3.5	23
4.0	24
4.5	25
5.0	26

उपर्युक्त अनुसूची से यह स्पष्ट है कि रोजगार के स्तर में वृद्धि होने से प्रत्याशित आय बढ़ती है तथा रोजगार के अपेक्षाकृत निम्न स्तरों पर वह घटती जाती है। जब 2 लाख व्यक्तियों को सेवा नियुक्त किया जाता है तो समग्र मांग कीमत अथवा प्रत्याशित बिक्रीगत आय 20 करोड़ रूपए है और जब 5 लाख व्यक्तियों को काम पर लगाया जाता है तो वह 26 करोड़ रूपए हो जाती है। कीन्स के अनुसार, ''समग्र मांग फलन रोजगार के स्तर का वर्धमान फलन है'' अर्थात $D=f(N)$ जहां , D वह आय है जिसे उद्यमी लोग N व्यक्तियों को सेवानियुक्त कर प्राप्त करने की आशा रखते है।

उपरोक्त दी हुई समग्र मांग अनुसूची के आधार पर समग्र मांग वक्र खींचा जा सकता है :–

समग्र मांग वक्र

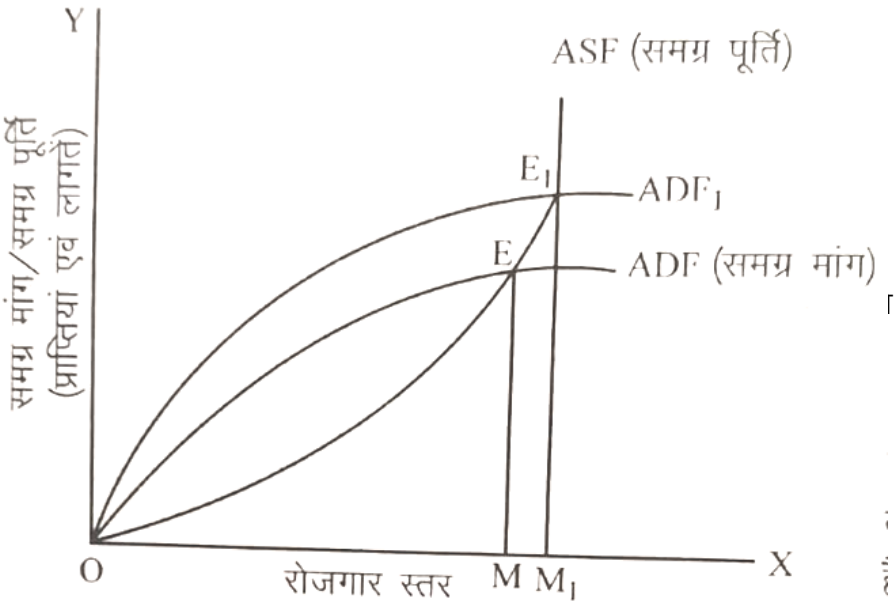

। प्रदर्शित

किया गया है जबकि OX अक्ष पर रोजगार में लगे हुए श्रमिकों की मात्रा को दर्शाया गया है। चित्र में AD कुल अथवा समग्र मांग है जो मूल बिन्दु O से प्रारंभ होकर नीचे से उपर बाएं से दाहिने को जाती है जो यह प्रकट करता है कि रोजगार में वृद्धि के साथ–साथ बिक्रीगत आय भी बढ़ती जाती है। उल्लेखनीय है कि AD वक्र प्रारंभ में तेजी से उपर उठता है जो इस बात का सूचक है कि जब रोजगार में वृद्धि होती है तब उत्पादन और बिक्रीगत आय की प्रत्याशा में तेजी से वृद्धि हो जाती है। परन्तु एक सीमा के बाद जिस अनुपात में कार्यरत व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होती है उसी अनुपात में प्रत्याशित आय में वृद्धि नहीं होती। अन्य शब्दों में, समग्र मांग रेखा ह्यसमान गति से उठती हुई होती है। इसका कारण यह है कि जब अधिक व्यक्तियों के कार्य पर लगाया जाता है तो उत्पादन बढ़ता है जिससे उत्पाद के बाजार मूल्य के गिरने की संभावना रहती है। इस तरह उत्पादन को कम मूल्य पर बेचे जाने से प्रत्याशित आय में अनुपात से कम वृद्धि होती है। प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि होने पर समग्र मांग वक्र ऊपर उठकर AD1, हो जाता है जबकि प्रभावपूर्ण मांग के कम होने से समग्र मांग वक्र गिरकर AD2का स्वरूप ले लेता है। इस तरह, समग्र मांग फलन स्थिर नहीं रहता हे। अल्प काल में उपभोग स्थिर रह सकता है परन्तु विनियोग की मात्रा में कमी होती रहती है। अतः विनियोग में वृद्धि के साथ समग्र मांग क्रिया में वृद्धि तथा विनियोग में कमी से समग्र मांग क्रिया में भी कमी हो सकती है।

(ब) समग्र पूर्ति क्रिया (Aggregate Supply Function, ASF):–

कीन्स ने एक निश्चित रोजगार से संबद्ध समग्र उत्पाद की ''प्रत्याशित मौद्रिक लागत'' को 'समग्र पूर्ति कीमत' की संज्ञा दी है। अन्य शब्दों में वह कुल उत्पादन व्यय के बराबर होती है। रोजगार के दिए हुए स्तर पर, उद्यमकर्ता यदि समग्र पूर्ति कीमत या उत्पादन लागत निकालने की आशा नहीं करते तो इतने श्रमिकों को काम पर रखना उनके लिए लाभप्रद नहीं होगा। फलस्वरूप, रोजगार की मात्रा कम हो जाएगी।

कीन्स के अनुसार, ''अर्थव्यवस्था के सभी उद्यमी श्रमिकों की एक निश्चित संख्या को जब सेवा में नियुक्त करते हैं तो श्रमिकों द्वारा उत्पादित कुल वस्तुओं को बेचकर उन्हें उतनी कुल संभावित राशि अवश्य प्राप्त होनी चाहिए, ताकि वे श्रमिकों को काम पर लगाए रखें, उसे समग्र पूर्ति कीमत कहते है।''

स्टोनियर एवं हेग के शब्दों में, ''श्रमिकों के रोजगार के निश्चित स्तर पर समग्र पूर्ति कीमत मुद्रा की वह कुल राशि है जो अर्थव्यवस्था में सभी उद्यमियों को उस उत्पादन को बेचने से अवश्य प्राप्त होनी चाहिए, जो उत्पादन श्रमिकों की निश्चित संख्या द्वारा उत्पादित किया गया है, ताकि वे इन श्रमिकों को सेवा नियुक्त किए रहें।''

इस तरह वह न्यूनतम धनराशि जिसकी प्राप्ति उत्पादक एक निश्चित संख्या में श्रमिकों को काम पर लगाने के लिए चाहता है– समग्र पूर्ति क्रिया कहलाती है। स्पष्टतया समग्र पूर्ति कीमत मुद्रा की वह

न्यूनतम मात्रा है जो श्रमिकों की दी हुई संख्या द्वारा वस्तु की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन करने मे व्यय होती है।

समग्र पूर्ति अनुसूची (Aggregate Supply Schedule):–

रोजगार के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न समग्र पूर्ति कीमतों को प्रकट करने वाला विवरण समग्र पूर्ति कीमत अनुसूची अथवा समग्र पूर्ति फलन कहलाता है।

प्रो0 डिलर्ड (Dillard) के शब्दों में, ''समग्र पूर्ति फलन उस बिक्री की न्यूनतम मात्राओं की अनुसूची है जो रोजगार की विविध मात्राओं को प्रेरित करने के लिए आवश्यक होती है।'' इस तरह समग्र पूर्ति अनुसूची रोजगार के विभिन्न स्तरों तथा न्यूनतम बिक्री राशि में सम्बन्ध को दर्शाती है। काल्पनिक समग्र पूर्ति अनुसूची निम्नवत् है :–

समग्र पूर्ति अनुसूची

कुल रोजगार का स्तर (लाख में)	समग्र पूर्ति कीमत (करोड़ में) रोजगार के एक दिए हुए स्तर पर उत्पादन की कुल लागत
2.0	20.0
2.5	35.0
3.0	50.0
3.5	65.0
4.0	80.0
4.0	95.0
4.0	110.0

उपरोक्त सारणी से यह स्पष्ट होता है कि रोजगार के स्तर में वृद्धि के साथ –साथ समग्र पूर्ति कीमत बढ़ती है। यदि उद्यमकर्ता 2 लाख श्रमिकों को रोजगार प्रदान करते हैं तो उन्हें उन श्रमिकों द्वारा उत्पादित उत्पाद के बेचने से 20 करोड़ रू0 अवश्य प्राप्त होने चाहिए। वे और अधिक श्रमिकों को रोजगार तभी प्रदान करेंगे , जब उत्पादित वस्तु की बिक्री से उन्हें न्यूनतम धनराशि प्राप्ति की आशा रहेगी। परन्तु जब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुँच जाती है तो समग्र पूर्ति कीमत तो बढ़ती रहती है परन्तु रोजगार में और वृद्धि नहीं होती। कीन्स के अनुसार समग्र पूर्ति फलन, रोजगार के स्तर का वर्धमान फलन है, अर्थात $Z= \emptyset(N)$जहां , Z= समग्र पूर्ति कीमत, N= सेवानियुक्त व्यक्तियों की संख्या अथवा रोजगार का स्तर है, $\emptyset =$ फलनात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

समग्र पूर्ति वक्र

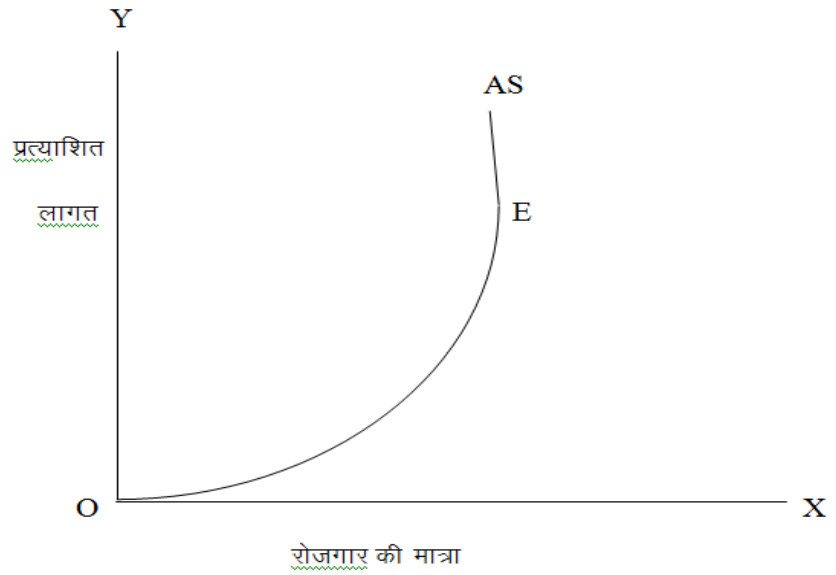

समग्र पूर्ति अनुसूची के आधार पर समग्र पूर्ति वक्र खींचा जा सकता है यह बाएं से दाएं ऊपर की ओर ढालू होता है क्योंकि ज्यों–ज्यों रोजगार के स्तर में वृद्धि की जाती है कुल पूर्ति कीमत भी बढ़ती जाती है। अन्य शब्दों में, उत्पादन के अधिक होने पर सीमांत लागत वृद्धि के कारण समग्र पूर्ति रेखा वर्धमान गति से उपर उठती है। परन्तु जब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर पहुंच जाती है तो समग्र पूर्ति वक्र लम्बवत् हो जाता है। समग्र पूर्ति कीमत में वृद्धि होने पर भी और अधिक लोगों को रोजगार प्रदान करना संभव नहीं है क्योंकि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त कर चुकी है। रोजगार की मात्रा इस स्तर से उपर नहीं जा सकती। चित्र में AS समग्र पूर्ति वक्र है जो E बिन्दु के उपरांत लम्बवत हो जाता है।

1.5 प्रभावपूर्ण मांग अथवा रोजगार के संतुलन स्तर का निर्धारण(Determination Of Effective Demand Or Equilibrium Level Of Employment) :–

किसी अर्थव्यवस्था में समग्र पूर्ति क्रिया उद्यमियों की कुल लागतों तथा समग्र मांग क्रिया उनकी कुल प्राप्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। यदि रोजगार के किसी स्तर पर उद्यमकर्ताओं की कुल प्राप्तियां, कुल लागतों की अपेक्षा कम होंगी तो वे उत्पादन बंद कर श्रमिकों को काम देने से इन्कार कर देंगे। इसके विपरीत, यदि प्राप्तियां, लागतों से अधिक रहेंगी तो उद्यमकर्ता बढ़ाकर रोजगार की मात्रा में वृद्धि करते जाएंगे। यह क्रम तब तक जारी रहेगा जब तक कि प्राप्तियां एवं लागतें समान नहीं हो जाती । रोजगार के संतुलन स्तर का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहां समग्र मांग एवं समग्र पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते है। यह कटाव बिन्दु ही प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु होता है।

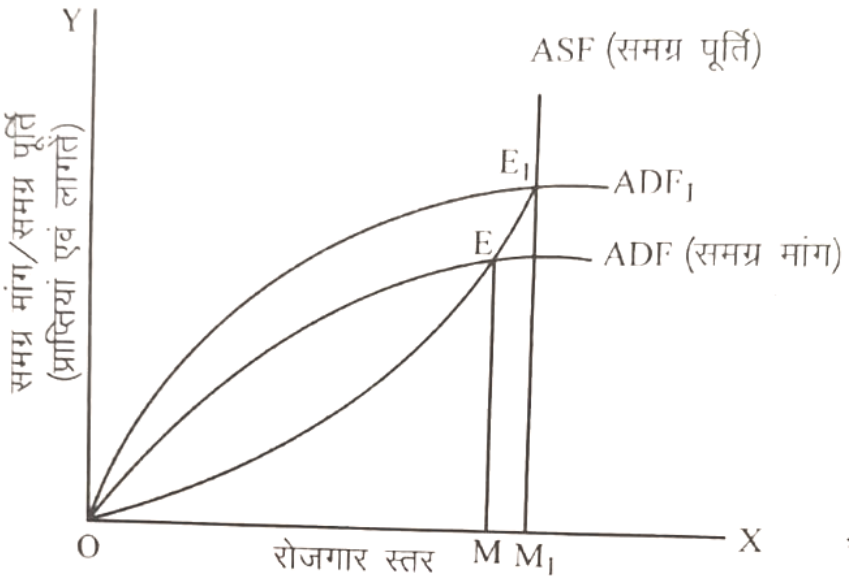

चित्र में, OX अक्ष पर रोजगार का स्तर तथा OY अक्ष पर प्राप्तियां एवं लागतें दिखाई गयी है। ADF समग्र मांग तथा ASF समग्र पूर्ति क्रिया को प्रदर्शित करता है। चित्र में ADF तथा ASF वक्र एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते है। E बिन्दु प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु है तथा OM रोजगार की मात्रा है जिस पर संतुलन स्थापित होता है चित्र में, E बिन्दु से पहले तक ADF वक्र ASF के ऊपर रहता है जिसका अर्थ है कि प्रत्याशित आय लागतों से अधिक है। अतः रोजगार की मात्रा बढ़ाई जाती है जब तक कि वह OM से आगे रोजगार बढ़ाना लाभप्रद नहीं रहता क्योंकि E बिन्दु के बाद ASF वक्र ADF वक्र के ऊपर हो जाता है। अर्थात समग्र मांग की अपेक्षा समग्र पूर्ति अधिक हो जाती है। यह आधिक्य उत्पादकों को होने वाले प्रत्याशित घाटे को दिखाता है।

न्यून रोजगार संतुलन :–

यद्यपि E बिन्दु पर समग्र मांग एवं समग्र पूर्ति की समानता के कारण, रोजगार के OM संतुलन स्तर का निर्धारण होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह संतुलन पूर्ण रोजगार के स्तर पर ही हो। जिस स्थिति में, एक अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर पर संतुलन में होती है, वह एक तरह से

अनुकूलतम स्थिति होती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इसे एक सामान्य दशा मान लिया था। पूर्ण रोजगार वह स्थिति होती है जिसके आगे कुछ भी व्यय करके उत्पादक एक भी श्रमिक नहीं प्राप्त कर सकता है। पूर्ण रोजगार बिन्दु के आगे समग्र पूर्ति रेखा शीर्ष हो जाती है। कीन्स ने अपने ''न्यून रोजगार संतुलन'' सिद्धान्त के द्वारा क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के इस भ्रम का खण्डन करते हुए बताया कि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार से कम की दशा में भी संतुलन में हो सकती है। चित्र में E बिन्दु न्यून रोजगार संतुलन की स्थिति का द्योतक है। हम देखते है कि रोजगार चाहने वाले व्यक्तियों की मात्रा OM_1है जिसमें संतुलन दशा में केवल OM मात्रा ही रोजगार पाती हैं संतुलन की दशा में MM_1अनैच्छिक बेरोजगारी की मात्रा है। इन्हें रोजगार दिलाने के लिए समग्र मांग में वृद्धि की जानी चाहिए। यह स्थिति तब उत्पन्न होगी जब हम समग्र मांग रेखा के रूप को बदल दें। फलतः यदि वह उपर उठ जाय जैसा कि चित्र में दिखा गया है तो नयी समग्र मांग रेखा, समग्र पूर्ति रेखा को पूर्ण रोजगार के बिन्दु E पर काट सकती है। इस प्रकार, प्रभावपूर्ण मांग के E बिन्दु पर अर्थव्यवस्था न्यून रोजगार संतुलन की दशा में थी।

1.6 प्रभावपूर्ण मांग के निर्धारक (Determinants Of Effective Demand):–

कीन्स के अनुसार समग्र पूर्ति क्रिया को स्थिर मानते हुए प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण ADF के द्वारा किया जाता है। जैसा कि हम जानते है, ADF या समग्र मांग क्रिया रोजगार के विभिन्न स्तरों पर उद्यम कर्ताओं की समग्र प्रत्याशित आय होती है अथवा वैकल्पिक रूप में यह क्रेताओं के समग्र प्रत्याशित व्यय को प्रदर्शित करती है।

प्रभावपूर्ण मांग जो कि रोजगार की निर्धारक होती है, साधनों की आय के रूप में देखी जा सकती है। इसका कारण यह है कि उद्यमकर्ता जो भी द्रव्यराशि प्राप्त करते हैं वह मजदूरी, लगान, ब्याज तथा लाभ के रूप में साधनों को चुका दी जाती है। इस प्रकार प्रभावपूर्ण मांग समाज के सभी सदस्यों की कुल आय अर्थात राष्ट्रीय आय के बराबर होती है। यह समाज के कुल उत्पादन मूल्य को भी सूचित करती है। चूंकि कुल उत्पादन में उपभोग वस्तुएं तथा निवेश वस्तुएं सम्मिलित रहती है। अतः प्रभावपूर्ण मांग एक ओर उपभोग तथा निवेश की वस्तुओं पर किए गए कुल राष्ट्रीय व्यय के बराबर होती है तो दूसरी ओर यह उपभोग तथा निवेश वस्तुओं से प्राप्त कुल राष्ट्रीय आय(जो कि कुल उत्पादन के मूल्य के बराबर होती है के तुल्य होती है :–

प्रभावपूर्ण मांग = कुल उत्पादन =कुल राष्ट्रीय आय

(E.D) = (Total Output) = (Total National Income)

= कुल राष्ट्रीय व्यय(Total National Expenditure)

यदि प्रभावपूर्ण मांग अर्थात राष्ट्रीय आय को (Y) से तथा कुल निजी उपभोग व्यय को (C) से, कुल निजी निवेश को (I) से तथा कुल सरकारी व्यय (उपभोग व्यय+निवेश व्यय) को G से दिखाएं तब,

$$E.D = Y=C+I+G$$

इस तरह ,C, I और G ही प्रभावी मांग के निर्धारक चर हैं। इनके परिवर्तनों से ही प्रभावी मांग (और इसलिए रोजगार) को बढ़ाया जा सकता है। रोजगार में वृद्धि के लिए प्रभावी मांग बढ़ाना आवश्यक है।

(अ) उपभोग व्यय :– निजी उपभोग व्यय आय और उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। उपभोग प्रवृत्ति समाज की प्रचलित आदतों, रूचियों, रीति–रिवाजों तथा सामाजिक ढांचे पर निर्भर करती है। सामाजिक ढांचा आय के वितरण को निर्धारित करता है। ये सभी तत्व अल्पकाल में स्थिर रहते हैं यदि आय वितरण इस प्रकार से बदले कि आय धनी वर्ग से निर्धन व्यक्ति को मिले तो निर्धन व्यक्ति की उपभोग प्रवृत्ति अधिक होने से समग्र उपभोग बढ़ सकेगा। कीन्स ने इस तरीके को विशेष महत्व नहीं दिया। उपभोग प्रवृत्ति आय तथा कुल उपभोग के सम्बन्ध को व्यक्त करती है। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि जब किसी व्यक्ति की आय में वृद्धि होती है तो वह अपनी समस्त बढ़ी हुई आय को प्रायः व्यय नहीं करता बल्कि उसमें से कुछ बचा लेता है। इस कारण कुल आय तथा उपभोग के मध्य एक खाई उत्पन्न हो जाती है। यदि आय, उत्पादन तथा रोजगार के स्तर को स्थिर रखना है तो इस खाई को पाटना होगा। कीन्स का विचार है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में सामान्यतया इतना निवेश नहीं हो पाता कि आय तथा उपभोग के इस अंतर को दूर किया जा सके। निवेश की इस कमी के कारण ही बेरोजगारी बनी रहती है।

(ब) निवेश व्यय – निवेश क्रिया अथवा निवेश व्यय प्रभावपूर्ण मांग का दूसरा महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है। केन्सीय अर्थ में निवेश से अभिप्राय वास्तविक पूंजीगत परिसम्पत्ति की वृद्धि से है। निजी निवेश पूंजी की सीमांत दक्षता तथा ब्याज दर पर निर्भर करता है। निवेश वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि या तो पूंजी की सीमान्त दक्षता बढ़ाई जाय अथवा ब्याज दर घटाई जाय।

(स) पूंजी की सीमान्त दक्षता– पूंजी परिसम्पत्ति की एक अतिरिक्त (सीमांत) इकाई से , लागतों को निकालकर प्राप्त होने वाली अधिकतम भावी आय की दर को MEC संभावी प्राप्ति और परिसम्पत्ति की लागत पर निर्भर करती है। पूंजी की परिसम्पत्ति की लागत अर्थात पूर्ति कीमत से तो उद्यमकर्ता अवगत रहता है परन्तु संभावी प्राप्ति प्रत्याशाओं पर निर्भर है, इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, यह अनिश्चित होता है। इस तरह, पूंजी की सीमांत दक्षता को इच्छानुसार परिवर्तित नहीं किया जा सकता।

ब्याज दर, मुद्रा की मांग और मुद्रा की पूर्ति पर निर्भर है। मुद्रा की मांग समाज के तरलता अधिमान द्वारा मौद्रिक एवं साख नीतियों के माध्यम से निर्धारित की जाती है। मुद्रा की मांग समाज के तरलता अधिमान पर निर्भर करती है। कीन्स ने तरलता अधिमान के तीन हेतु बताए हैं– 1. व्यावसायिक हेतुक 2. सुरक्षा हेतुक तथा 3. सट्टा हेतुक। इनमें से प्रथम दो हेतुकों के अन्तर्गत मांग की जाने वाली मुद्रा की मात्रा या तरलता अधिमान आय की मात्रा पर निर्भर करता है। इसका अनुमान अपेक्षाकृत सरल है। परन्तु सट्टा हेतुक मांग जो कि ब्याज दर से प्रभावित होती है, स्वभाव से अस्थिर तथा अनिश्चित होती है। तरलता अधिमान एवं ब्याज दर में प्रत्यक्ष एवं सीधा सम्बन्ध होता है। जबकि मुद्रा की पूर्ति एवं ब्याज दर में विपरीत सम्बन्ध होता है। मुद्रा की पूर्ति बढ़ाकर ब्याज की दर को कम किया जा सकता है। परन्तु, एक निश्चित न्यूनतम ब्याज दर पर मुद्रा का मांग वक्र क्षैतिज हो जाता है तब मुद्रा की पूर्ति बढ़ाकर ब्याज दर को कम नहीं किया जा सकता।

सामान्यतया ब्याज की नीची दर पर निवेश अधिक और ऊँची दर पर कम होता है। कीन्स का विचार है कि ब्याज की ऊंची दर पर भी यदि पूंजी की सीमान्त दक्षता अधिक है अर्थात लाभ प्राप्ति की संभावना है तो लोग निवेश करेंगे तथा ब्याज की नीची दर पर भी लोग निवेश करना पसंद नहीं करेंगे यदि पूंजी की सीमांत दक्षता कम है अर्थात लाभ की प्रत्याशा कम है।

(द) सरकारी व्यय :– यदि अब तक निजी उपभोग व्यय और निजी निवेश व्यय से पूर्ण रोजगार का स्तर नहीं प्राप्त हुआ है तो आय और रोजगार में वृद्धि के लिए प्रभावपूर्ण मांग के तीसरे महत्वपूर्ण निर्धारक सरकारी व्यय को अपने विश्लेषण में सम्मिलित कर लेना चाहिए। सरकारी व्यय स्वतंत्र आर्थिक चरों पर निर्भर नहीं करता। अतः सरकारी व्यय को नियोजित किया जा सकता है। सरकारी व्यय, निजी निवेश की तरह लाभ के उद्देश्य से शासित न होकर राजनीतिक तत्वों से शासित होता है। सरकारी व्यय में यह वृद्धि गुणक प्रभाव से आय में वृद्धि करती है। चूंकि सरकारी व्यय में इच्छानुसार वृद्धि की जा सकती है अतः केन्सीय विश्लेषण में इसका विशेष महत्व है।

(ई) गुणक प्रभाव :–कीन्स के रोजगार सिद्धांत में गुणक–प्रक्रिया का विशेष महत्व है। कीन्स की धारणा थी कि विनियोग अथवा निवेश में वृद्धि करने से आय में गुणक गुना वृद्धि हो जाती है।

अर्थात ,$\Delta Y = K\Delta I$

जहां $\Delta Y =$ आय में वृद्धि ,$\Delta I =$ निवेश में वृद्धि , K= निवेश गुणक

गुणक का आकार सीमांत उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। MPC के अधिक होने पर गुणक का मूल्य अधिक तथा MPC के कम होने पर गुणक का मूल्य भी कम होता है।

$$K = \frac{1}{1-mpc} = \frac{1}{mps}$$

गुणक सिद्धांत की मूलभूत विचारधारा यह है कि निवेश में वृद्धि से पूंजीगत उद्योगों के साथ–साथ उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में भी रोजगार का विस्तार होता है गुणक के कार्यकरण से रोजगार में वृद्धि की यह क्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि पूर्ण रोजगार की दशा नहीं उत्पन्न हो जाती है।

1.7 कीन्स का बचत एवं विनियोग सिद्धान्त(Keynesion Saving and investment Theory) :-

आय सिद्धान्त क्यों (Why income Theory?)-मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करके कीमत–स्तर को नियन्त्रित किया जा सकता है परन्तु अनुभव बताता है कि सन् 1929 ई0 की विश्वव्यापी मन्दी के समय मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर भी वस्तु के मूल्य गिरते गये।

इस सम्बन्ध में क्राउथर ने लिखा है कि ''घोड़े को पानी पीने से रोका जा सकता है परन्तु यदि उसे प्यास नहीं है तो कितना ही पानी के समीप ले जाइए, वह पानी नहीं पियेगा।'' वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने यह विचार छोड़ दिया है कि मुद्रा की मात्रा कीमत स्तर को प्रभावित करती है, उल्टे वे यह मानते हैं कि मुद्रा की कुल मात्रा मूल्यों का परिमाण होती है। कीन्स के अनुसार मन्दी के समय मुद्रा की मात्रा अधिक होते हुए भी मूल्य–स्तर कम होने का कारण यह है कि लोगों के पास खर्च करने के लिए आय नहीं होती। अगर समाज में व्यक्तियों को आय मिलती है तो व्यक्ति वस्तुओं को खरीदेंगे, व्यापारिक कार्यों में वृद्धि होती, बैंको द्वारा साख–निर्माण होगा और मूल्य – स्तर प्रभावित होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल्य स्तर को प्रभावित करने के लिए आय महत्वपूर्ण है। कीन्स के शब्दों में, मूल्य ''मुद्रा के परिमाण पर आश्रित नहीं होता बल्कि वह तो लोगों की आय, उनकी बचाने की शक्ति, बचत तथा विनियोग के सम्बन्ध पर निर्भर रहता है।''

1.8 बचत एवं विनियोग सिद्धान्त की आधारभूत विशेषताएं :–

1. **आय व व्यय का निरन्तर प्रवाह :–** यदि हम समस्त अर्थव्यवस्था को लें तो समस्त आय व व्यय को एक निरन्तर प्रवाह के रूप में मान सकते हैं अर्थात एक व्यक्ति का व्यय ही दूसरे व्यक्ति की आय बन जाती है और यह आय पुनः व्यय का आधार बन जाती है। यदि हम यह मान लें कि एक अवधि में उत्पन्न आय दूसरी अवधि में स्वतः ही व्यय बन जाती है तो आय व व्यय का स्तर, व्यापारिक क्रियाओं का स्तर व कीमतों का स्तर स्थिर रहेगा।

आय का स्तर– आय का स्तर कम या अधिक भी हो सकता है। कम या अधिक भी हो सकती है। उदाहरण के लिए, व्यय की मात्रा में वृद्धि अर्थात कीन्स के शब्दों में, प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि, समाज की आय में विस्तार उत्पन्न कर देगी जिससे व्यय में और भी अधिक विस्तार हो जायेगा। फलतः अर्थव्यवस्था में विस्तार होगा, उत्पादन , रोजगार व व्यापार बढ़ेगा और कीमत–स्तर में वृद्धि होगी।

इसके विपरीत, यदि समाज कम व्यय करना चाहता है तो प्रभावपूर्ण मांग कम हो जायेगी फलतः आय का स्तर गिरेगा जिससे व्यय में और भी कमी होगी और अर्थव्यवस्था में संकुचन प्रारम्भ होगा तथा कीमतें गिरने लगेंगी। अतः मुद्रा के आय सिद्धान्त के अनुसार, कीमत–स्तर में परिवर्तन कोई पृथक घटना नहीं है, बल्कि अर्थव्यवस्था में सामान्य परिवर्तन का ही एक अंग है। अतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यय अर्थात प्रभावपूर्ण मांग में विस्तार व संकुचन क्यों होता है? वे तत्व कौन से हैं जिन पर समाज का आय व व्यय निर्भर होता है।

2. **बचत एवं विनियोग में समानता :–** कीन्स के विचार में आय (Y) , विनियोग (I) और उपभोग (C) का योग होता है।

$$Y=C+I$$

आगे चलकर कीन्स ने यह सिद्ध किया कि कुल बचत(S) , कुल आय (Y) और कुल उपभोग (C) का अन्तर है। इसलिए

$$S=Y-C\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(1)$$
$$Y=S+C\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots(2)$$
$$C=Y-S$$

अथवा

प्रथम एवं द्वितीय समीकरणों से स्पष्ट है कि

$$S+C=C+I$$
$$S=I$$

3. **साम्य की स्थिति :–** कीन्स का कहना है कि यदि बचत व विनियोग बराबर हैं (S=I) तो अर्थव्यवस्था 'साम्य' की स्थिति में रहती है। कारण समाज आय प्रवाह में से जितना बचत के रूप में निकलता है, उतना ही विनियोग के रूप में जोड़ देता है। अधिक स्पष्ट शब्दों में बचत का अभिप्राय यह है कि उपभोग पर व्यय नहीं हो रहा है जिससे आय के प्रवाह में अन्तर आ जाता है। यह अन्तर तभी रोका जा सकता है, जब बचत जितना हो, विनियोग व्यय के रूप अर्थव्यवस्था में खर्च किया जाय। यदि बचत, विनियोग का रूप धारण कर लेती है तो कुल आय कुल व्यय के बराबर होगी और आय–व्यय की समानता बनी रहेगी । ऐसी परिस्थिति में प्रभावपूर्ण मांग स्थिर रहेगी और उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा में परिवर्तन करने का कोई भी कारण नहीं होगा। फलतः कीमतें स्थिर रहेंगी और मुद्रा का मूल्य

भी स्थिर रहेगा। अतः अर्थव्यवस्था में यह शर्त S=I पूरी होनी चाहिए, यदि आय, उत्पादन रोजगार में उतार – चढ़ाव को रोकना है।

4. प्रत्याशित बचत व प्रत्याशित विनियोग में अन्तर :– देश में बचतें और विनियोग की क्रियाएं समाज के अलग–अलग वर्गों द्वारा भिन्न – भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की जाती है। जहां बचतों की मात्रा बचतकर्ताओं की आय, दूरदर्शिता , ब्याज दर, परिवार के सदस्यों की संख्या, पारिवारिक स्नेह आदि पर निर्भर करती है, वहीं विनियोग की मात्रा उत्पादकों को लाभ की आशा, उत्पादन के साधनों का पुरस्कार, ब्याज दर और व्यापारिक भविष्य पर निर्भर करती है। इस प्रकार बचत और विनियोग दो अलग–अलग क्रियाएं है और अलग–अलग वर्गों द्वारा सम्पादित होती है तथा उनको प्रभावित करने वाले तत्व भी भिन्न भिन्न हैं। फलतः बचत व विनियोग में अन्तर हो सकता है।

5. बचत और विनियोग में असाम्यता के परिणाम :–बचत और विनियोग में असाम्यता के निम्न परिणाम होते हैं :

1. जब विनियोग बचत से अधिक होता है :– विनियोग बचत से अधिक उसी समय हो सकता है, जबकि साहसी जितना समाज बचाने के लिए उद्यत है, उससे अधिक विनियोग करने का निर्णय लेता है। इसके लिए विनियोगकर्ता पूर्व बचतों को उपयोग में ले सकता है या बैंको से नये ऋण ले सकता है। जब विनियोग बचत से अधिक रहता है, तब पूंजीगत उद्योगों में उत्पादन बढ़ता है , उनमें अधिक श्रमिकों को रोजगार मिलता है, श्रमिकों की आय बढ़ती है और वे उपभोक्ता वस्तुओं पर अधिक व्यय करते हैं जिसका फल यह होता है कि उपभोक्ता उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि होती है और ऐसे उद्योगों में भी रोजगार की मात्रा बढ़ जाती है। संक्षेप में, यदि विनियोग बचत से अधिक है तो अनेक बेकार साधनों को कार्य मिलेगा, उत्पादन बढ़ जायेगा, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और मूल्य–स्तर बढ़ जायेगा अर्थात मुद्रा का मूल्य घट जायेगा।

क्या सदैव कीमतों में वृद्धि होती है, जब विनियोग बचत से अधिक रहता है– इसका उत्तर इस पर निर्भर करेगा कि विनियोग किस समय किया जा रहा है। यदि मन्दी के समय किया जा रहा है, जबकि अर्थव्यवस्था में अप्रयुक्त साधन रहते हैं तो विनियोग का प्रभाव यह होगा कि बेकार श्रमिकों और अप्रयुक्त पूंजी को कार्य मिलेगा जिससे उत्पादन में वृद्धि होगी। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से ब्याज की दर गिरेगी और यदि लाभदायक विनियोग के अवसर उपलब्ध है तो विनियोग में भी वृद्धि होगी। पूंजीगत उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की आय बढ़ेगी और वे उपभोक्ता वस्तुओं पर अधिक व्यय करेंगे। जिसका फल यह होगा कि उपभोक्ता उद्योगों के उतपादन में भी वृद्धि होगी और ऐसे उद्योगों में भी रोजगार की मात्रा बढ़ जायेगी और व्यक्तियों की आय में वृद्धि होगी। उपभोक्ता वस्तुओं की बढ़ी हुई मांग पुनः पूंजीगत वस्तुओं के लिए मांग पैदा कर देगी और यह प्रक्रिया इसी प्रकार से चलती रहेगी। अतः मन्दी से जब अर्थव्यवस्था पुनरूत्थान की ओर जाती है तो उस समय मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के साथ–साथ उत्पादन में भी वृद्धि हो जाती है और इसलिए कीमतें बढ़ती है परन्तु बहुत कम। जबकि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति में पहुंच गयी है तो मुद्रा की मात्रा में वृद्धि उत्पादन और रोजगार में वृद्धि नहीं करती बल्कि कीमत स्तर में वृद्धि कर देती है और कीमतें बढ़ने लगती है।

विनियोग के बचत से अधिक होने पर, जब आय बढ़ती है तो बचत भी, जोकि आय का एक स्थिर फलन है, बढ़ने लगती है। इस प्रकार बचत और विनियोग के बीच का अन्तर घटने लगता है। अतः रोजगार व आय में उस समय तक वृद्धि होती रहेगी जब तक बचत बढ़कर पुनः विनियोग के बराबर नहीं हो जाती है। इस प्रकार बचत और विनियोग के मध्य नया साम्य एक ऊँची कीमत के स्तर पर होता है।

इस तथ्य का स्पष्टीकरण कि जब विनियोग बचत से अध्का होता है। $(I > S)$ तो बचत और विनियोग के बीच समानता अपेक्षाकृत ऊँची आय के स्तर पर होती है। चित्र में SS विनियोग रेखा है। बचत की मात्रा आय पर निर्भर करती है। आय अधिक होने पर बचत भी अधिक होती है इसीलिए SS बचत रेखा दाहिनी ओर ऊपर उठती हुई है जो यह प्रदर्शित करती है कि आय बढ़ने के साथ–साथ बचत भी बढ़ रही है। विनियोग को आय स्वतन्त्र माना गया है, इसलिए II विनियोग रेखा क्षैतिज सरल रेखा है जो यह प्रदर्शित करती है कि दी हुई परिस्थिति में विनियोग की मात्रा स्थिर रहती है। बचत और विनियोग एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते है जहां आय का स्तर OM है।

चित्र बनना है 381 पेजन समष्टि अर्थशास्त्र बुक

मान लीजिए, किन्हीं कारणों से विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो जाती है और विनियोग रेखा ऊपर खिसककर I_1I_1 हो जाती है। ऐसी स्थिति में आय बढ़कर OM_1 हो जाती है और बचत और विनियोग के

बीच में नया सन्तुलन E_1बिन्दु पर स्थापित होता है। इस प्रकार पुराना सन्तुलन बिन्दु E और पुराना आय का स्तर OM नया सन्तुलन बिन्दु E_1व नया आय का स्तर OM_1स्पष्टतः बचत और विनियोग के बीच नया सन्तुलन अपेक्षाकृत ऊँची आय के स्तर पर हुआ है।

जब बचत विनियोग से अधिक होती है(S-I)– बचत विनियोग से अधिक तभी हो सकती है, जबकि समाज अधिक बचाने का निर्णय करे या जब उद्यमकर्ता कम विनियोग करने का निर्णय करें। मुद्रा को जमीन के अन्दर गाड़कर रखने के कारण भी बचत विनियोग से अधिक हो सकती है।

यदि बचत विनियोग से अधिक है तो इसका अर्थ यह है कि नयी उत्पादित वस्तुओं पर किया गया कुल खर्च उस समय की आय से अपेक्षाकृत कम है जो इन वस्तुओं का उत्पादन करने के परिणामस्वरूप उत्पादन साधनों को प्राप्त होती है। अतः उत्पादक देखेंगे कि अधिक बचत के कारण उनकी वस्तुओं के लिए मांग अपर्याप्त है तथा उनमें से कुछ को हानि भी हो रही है। इसलिए वे उत्पादन घटा देंगे, फलतः रोजगार तथा राष्ट्रीय आय में भी कमी हो जायेगी और मूल्य–स्तर गिर जायेगा अर्थात मुद्रा का मूल्य बढ़ जायेगा।

मानलीजिए , समाज की कुल आय (Y) 400 रू0 है जिसमें से समाज 320 रू0 का उपभोग (C) कर लेता है और 80 रू0 बचत (S) के रूप में रखता है जिसे विनियोग कर दिया जाता है तो :

$$Y = C + I$$
$$400 = 320 + 80$$

मानलीजिए, अब समाज 120 रू0 बचाने का निश्च करता है तो उपभोग 320 रू0 से घटकर 280 रू0 हो जायेगा । अतः बचत में वृद्धि का तत्काल प्रभाव समाज के उपभोग में कटौती होगी। पर यदि विनियोग में उसी राशि से वृद्धि कर दी जाती है तो राष्ट्रीय आय पूर्वस्तर अर्थात् 400 रूपये पर बनी रहेगी अर्थात्

$$Y = C + I$$
$$400 = 280 + 120$$

परन्तु विनियोग के समान रहने या गिरने की भी आशा की जा सकती है क्योंकि साहसी जब यह देखते हैं कि लोग अधिक बचा रहे है ं और उपभोग कम हो गया है तो वे विनियोग बढ़ाने के लिए उत्सुक नहीं होंगे। अतः यदि बढ़ी हुई बचत के कारण उपभोग घट जाता है और विनियोग की राशि पूर्ववत् रहती है तो दूसरी अवधि में उत्पन्न आय की मात्रा पूर्व अवधि की अपेक्ष कम होगी अर्थात स्थिति इस प्रकार होगी :–

$$Y = C + I$$
$$360 = 280 + 80$$

स्पष्ट है कि बचत की अधिकता आय संकुचन को पैदा करती है। कि जब बचत बढ़ती है तो उपभोग व्यय और विनियोग दोनों के कम होने की आशा की जा सकती है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय गिर जाती है और फलतः गिरी हुई आय में से बचत की मात्रा भी गिरेगी। विनियोग के कम होने से राष्ट्रीय आय के कम होने पर बचत के कम होने की प्रक्रिया उस समय तक चलेगी जब तक कि बचत विनियोग के बराबर नहीं हो जाती है। बचत और विनियोग में यह समानता अपेक्षाकृत नीची आय के स्तर पर होगी।

चित्र बनना है 382

चित्र में SS बचत रेखा, I-I विनियोग रेखा और साम्य बिन्दु E है। अब यदि विनियोग यथास्थिर रहता है परन्तु बचत में वृद्धि हो जाती है तो बचत रेखा S_1S_1 हो जाती है और बचत तथा विनियोग का नया सन्तुलन बिन्दु E_1हो जाता है। स्पष्टतः पुराना सन्तुलन बिन्दु E और आय का स्तर OM है तथा नया सन्तुलन बिन्दु E_1है और नया आय का सन्तुलन स्तर OM_1 है। स्पष्टतः जब बचत विनियोग से अधिक हो जाता है, तब दोनों के बीच में समानता अपेक्षाकृत नीची आय के स्तर पर होती है।

यदि बचत स्थिर रहती है परन्तु विनियोग कम हो जाता है तो भी बचत विनियोग से कम हो जायेगी और दोनों के बीच सन्तुलन एक निम्न आय के स्तर पर स्थापित होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि यदि कुल बचत कुल विनियोग के बराबर है (S=1) तो राष्ट्रीय आय में कोई परिवर्तन नहीं होग, कीमतें स्थिर रहेगी तथा मुद्रा का मूल्य भी स्थिर रहेगा।

(ब) यदि बचत विनियोग से अधिक है तो अनेक उत्पादन साधन बेकार हो जायेंगे, राष्ट्रीय आय कम हो जायेगी तथा मूल्य स्तर गिर जायेगा अर्थात मुद्रा का मूल्य बढ़ जायेगा।

(स) यदि विनियोग से बचत अधिक है तो अनेक बेकार साधनों को कार्य मिलेगा, उत्पादन बढ़ जायेगा, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और मूल्य स्तर बढ़ जायेग अर्थात मुद्रा का मूल्य घट जायेगा।

निष्कर्ष :– उपर्युक्त विवेचन से मुद्रा के आय सिद्धान्त के अग्रिलिखित तत्वों का आभास होता हैः

1. कीमत स्तरों में परिवर्तन या मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन पृथक घटना न होकर अर्थव्यवस्था में सामान्य परिवर्तन के ही अंग होते है।
2. कीमत स्तरों या मुद्रा के मूल्य में परिवर्ततन अर्थव्यवस्था में आय व व्यय के स्तरों में परिवर्तन पर निर्भर होते हैं, न कि मुद्रा के परिमाण पर, जैसाकि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त ने बताया है।
3. ये आय व व्यय के स्तरों मे परिवर्तन बचत व विनयोग सम्बन्धों के कारण उत्पन्न होते है। यदि बचत विनियोग से अधिक है तो कीमत स्तर में कमी होती है और मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है, इसके विपरीत, यदि विनियोग बचत से अधिक है तो कीमत स्तर में वृद्धि हो जाती है अर्थात मुद्रा का मूल्य घट जाता है।
4. आय सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि मुद्रा के मूल्य में मुद्रा की मात्रा के कारण परिवर्तन नहीं होता वरन बचत तथा विनियोग के अनुपात में परिवर्तन से होता है।

1.9 आय अथवा बचत तथा विनियोग सिद्धान्त की श्रेष्ठता :– आधुनिक अर्थशास्त्री बचत, विनियोग अथवा आय सिद्धान्त को मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते है। उसकी पुष्टि में निम्न तर्क दिये जा सकते हैः

1. **अधिक व्यापक :–** कीन्स का यह सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में अधिक व्यापक है क्योंकि यह मुद्रा मूल्य पर प्रभाव डालने वाले सभी तत्वों का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यह आय, बचत, विनियोग, उपभोग एवं लागत आदि सभी शक्तियों के प्रभावों को समन्वित करता है।
2. **व्यावहारिक एवं सरल :–** यह सिद्धान्त मूल्यों में परिवर्तनों के कारणों की विधि एवं क्रम के साथ–साथ विभिन्न तत्वों के पारस्परिक सम्बन्ध में ताल मेल बैठाकर सिद्धान्त को सरल बनाता है।
3. **पूर्ण रोजगार की मान्यता :–**परम्परावादी मुद्रा सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर अधारित है। प्रो0 कीन्स ने पूर्ण रोजगार को एक अपवाद माना और बेरोजगारी और उत्पादन भी इसी वृद्धि के अनुपात में बढेगा और जब पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जायेगी तो कीमतें मुद्रा की मात्रा में होने वाली वृद्धि के अनुपात में बढ़ेगी।
4. **व्यापार चक्रों की सन्तोषजनक व्याख्या :–** यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि व्यापार चक्र की मन्दी वास्तव में विनियोग की कमी के कारण मौद्रिक आय के अभाव से उत्पन्न होती है, मुद्रा की कमी के कारण नहीं। क्राउथर के शब्दों में, ''मन्दी की घोरतम अवस्था में स्पष्टतः जिस चीज की तेजी की उच्चतम अवस्था की तुलना में अभाव होता है, वह मुद्रा नहीं बल्कि लोगों की व्यक्तिगत आयों का जोड़ है।
5. **मुद्रा के चलन वेग का महत्व :–** बचत एवं विनियोग सिद्धान्त मुद्रा के चलन वेग पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है। यदि बचत, विनियोग से अधिक हो जाती है तो मुद्रा का संचय (Hoarding) होने लगता है और मुद्रा की चलन गति कम हो जाती है। ऐसे हाल में यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ायी भी जाय तो वह बचत का रूप धारण कर लेगी और MV ज्यों का त्यों रह जायेगी। इसके विपरीत, जब विनियोग, बचत से अधिक होता है तो मुद्रा संचित कोषों से निकलने लगती है और उसी प्रकार उसकी चलन गति बढ़ जाती है।
6. **समीकरण के तत्वों की गणना :–** इस सिद्धान्त की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके समीकरण में Y,S,I और C सभी तत्वों की शुद्ध गणना की जा सकती है।
7. **मौद्रिक एवं रोजगार नीति का आधार :–** यह सिद्धान्त न केवल मुद्रा मूल्य की व्याख्या करता है बल्कि इससे नीति निर्धारकों को उचित मार्ग दर्शन मिलता है।
8. **समष्टि अर्थशास्त्र का आधार :–** यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र की जटिलताओं को समझने में योगदान देता है और यह समष्टि अर्थशास्त्र का आधार है।

1.10 बचत एवं विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाएं (Criticisms Of The Theory) :–

1. यह सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता है कि अर्द्ध–विकसित देशों में पूर्ण रोजगार को प्राप्त होने के पूर्व ही मूल्य स्तर में वृद्धि होने लगती है।
2. क्लार्क का यह मत है कि कीन्स का यह कहना है कि यह सिद्धान्त प्रावैगिक है, ठीक नहीं है।
3. प्रो0 लुट्ज के अनुसार, कीन्स ने बचत और विनियोग की जो परिभाषाएं दी है, वे प्रावैगिक परिवर्तनों व साख नीति के अध्ययन में बेकार और अव्यावहारिक है।

4. इस सिद्धान्त की लेवन्तीफ ने आलोचना की है कि बचत और विनियोग प्रत्येक दशा में समान नहीं होते है न उन्हें मापना ही सरल है कि वे बराबर है या नहीं।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त एवं आय सिद्धान्त दोनों का ही अपना महत्व है। जहां परिमाण सिद्धान्त मूल्य की दीर्घकालीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है। वहीं आय सिद्धान्त मूल्य स्तर के अल्पकालीन परिवर्तनों को स्पष्ट करता है। वास्तव में, मूल्य स्तर के परिवर्तनों को पूर्ण रूप से समझने के लिए दोनों सिद्धान्त आवश्यक है।

क्राउथर के शब्दों में, '' मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, समुद्र के सामान्य स्तर का विश्लेषण करता है, जबकि बचत एवं विनियोग का सिद्धान्त ज्वार भाटे की उग्रता को स्पष्ट करता है।''

1.11 सारांश (Summary) :–

1.12 शब्दावली (Key Words) :–

– निरन्तर प्रवाह (Continuous Flow)
– समानता (Equality)
–साम्य की स्थिति (Equilibrium Position)
– प्रत्याशित बचत विनियोग (Anticipated Planned Saving-Investment)
– व्यावहारिक एवं सरल (Practical & Easy)
– अधिक व्यापक (More Comprehensive)
–चलन वेग (Velocity)
– प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand)
–समग्र मांग क्रिया (Aggregate Demand Function)
– समग्र पूर्ति क्रिया (Aggregate Supply Function)
– अनुसूची (Schedule)

1.13 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books)

1.14 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

1. कीन्स के रोजगार सिद्धन्त की व्याख्या कीजिए।
2. कीन्स के बचत और विनियोग सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
3. प्रभावपूर्ण मांग को स्पष्ट कीजिए।
4. प्रभावपूर्ण मांग अथवा रोजगार के सन्तुलन स्तर का निर्धारण कीजिए।
5. प्रभावपूर्ण मांग के निर्धारक तत्वों की व्याख्या कीजिए।
6. बचत एवं विनियोग सिद्धन्त की आधारभूत विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
7. आय अथवा बचत तथा विनियोग सिद्धन्त की श्रेष्ठता स्पष्ट कीजिए।
8. बचत एवं विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाएं बताइये।

1.15 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objectives Questions) :–

1. रोजगार का स्तर किसकी मात्रा पर निर्भर करता है –
(क) उत्पादन (ख) पूंजी (ग) मानवीय शक्ति (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर–(क)
2. कुल उत्पादन की मात्रा किस कारक पर निर्भर करती है –
(क) पूंजी (ख) पूर्ति (ग) प्रभावपूर्ण मांग (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर–(ग)
3. प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु होता है –
(क) समग्र मांग= समग्र पूर्ति
(ख) समग्र मांग >समग्र पूर्ति
(ग) समग्र मांग < समग्र पूर्ति
(घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर– (क)
4. प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण कितने प्रमुख तत्वों से होता है –

(क) 02 (ख) 04 (ग) 06 (घ) 03
उत्तर– (क) 02
5. ''समग्र मांग फलन रोजगार के स्तर का वर्धमान फलन है'' यह कथन किसका है ?
(क) एक्ले (ख) कीन्स (ग) स्टोनियर (घ) जे0 बी0 से
उत्तर–(ख)
6. निवेश क्रिया किन तत्वों पर निर्भर करती है –
(क) पूंजी की सीमान्त दक्षता (ख) ब्याज दर (ग) उपर्युक्त दोनों
(घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर–(ग)
7. ब्याज की दर किन–किन तत्वों से प्रभावित होती है –
(क) मुद्रा की मात्रा (ख) तरलता अधिमान (ग) उपर्युक्त दोनों
(घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर–(ग)
8. कीन्स के अनुसार अर्थव्यवस्था साम्य की स्थिति में रहती है
(क) बचत = विनियोग (ख) बचत >विनियोग (ग) बचत <विनियोग
(घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर– (क)
9. बचत और विनियोग में असमानता के कारण है –
(क) जब विनियोग बचत से अधिक होता है।
(ख) जब बचत विनियोग से अधिक होता है।
(ग) उपर्युक्त दोनों
(घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर– (ग)

आय का निर्धारण, कीन्स का रोजगार सिद्धान्त (Determination of Income, Keynes's Employment Theory) :-

इकाई की रूपरेखा :–

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 कीन्स के सिद्धान्त की व्याख्या
1.3 प्रभावपूर्ण माँग के निर्धारिक तत्व
1.4 प्रभावपूर्ण माँग का निर्धारण
1.5 रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण
1.6 रोजगार का मुख्य निर्धारक तत्व, कुल माँग किया
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.10 अभ्यास प्रश्न
1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction):–

1936 में प्रकाशित अपनी पुस्तक जनरल थ्योरी में कीन्स ने, क्लासिकल रोजगार सिद्धान्त की कटु आलोचना की। कीन्स ने क्लासिकल रोजगार सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की कि क्लासिकल सिद्धान्त अतार्किक मान्यताओं पर आधारित है, उसके निष्कर्ष तथा आर्थिक नीतियां वास्तविक जगत में लागू नही की जा सकती। उनके अनुसार क्लासिकल सिद्धान्त की पूर्ण रोजगार की मान्यता एक विशेष दशा में ही लागू होती है सामान्य दशा में नही।कीन्स ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक में रोजगार तथा आय निर्धारण के लिए एक क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया तथा उन कारणों पर प्रकाश डाला, जो किसी अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा रोजगार के स्तर को अल्पकाल में प्रभावित करते है। अपने रोजगार सिद्धान्त को प्रतिपादित करते समय कीन्स ने आर्थिक विश्लेषण के लिए कुछ नए यन्त्रों का प्रयोग किया जैसे उपभोग फलन, उपभोग की प्रवृत्ति , विनियोग फलन, पूंजी की सीमान्त दक्षता, गुणक, प्रभावपूर्ण मांग आदि। इस बात पर विशेष ध्यान देना अत्यंत ही आवश्यक है कि कीन्स का रोजगार सिद्धान्त अल्पकाल की मान्यता पर आधारित है। अल्पकाल में यह मान लिया जाता है कि पूंजीगत सम्पत्तिया, तकनीकी ज्ञान, श्रमिक की उत्पादकता तथा श्रमशक्ति आदि चरों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अतः कीन्स के अनुसार रोजगार का स्तर, राष्ट्रीय आय तथा उत्पादन स्तर पर निर्भर करेगा तथा उत्पादन की मात्रा को रोजगार के स्तर में वृद्धि करके बढ़ाया जा सकता है। कीन्स के अनुसार ''राष्ट्रीय आय अधिक होने का अर्थ है रोजगार का ऊँचा स्तर।'' अतः कीन्स का सिद्धान्त रोजगार निर्धारण सिद्धान्त भी है तथा राष्ट्रीय आय के निर्धारण का भी। क्योंकि राष्ट्रीय आय तथा रोजगार दोनों का निधारण करने वाले तत्व एक ही है।

बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लॉर्ड जे,एम. कीन्स ने अपनी पुस्तक ''The General Theory of Employment Interest and Money '' (रोजगार, ब्याज और मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त, 1936) में रोजगार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। लॉर्ड कीन्स के अनुसार,एक पूँजीवादी विकसित अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति सामान्य स्थिति नहीं है। वास्तव में, हर अर्थव्यवस्था में बेरोजगारी पायी जा सकती है। कीन्स के सिद्धान्त का जन्म 1931–1935 की विश्वव्यापी मन्दी के कारण हुआ, जबकि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की आशा के विरूद्ध लाखों की संख्या में श्रमिक रोजगार प्राप्त करने के लिए भटक रहे थे लेकिन उनको 'रिक्त स्थान नहीं है' के बोर्ड देखने को मिलते थे। ब्याज की दर निम्नतम स्तर पर पहुंच गई थी लेकिन विनियोग की मात्रा नहीं बढ़ पा रही थी। ऐसे समय में

कीन्स ने अपनी पुस्तक 'सामान्य सिद्धान्त' का प्रतिपादन कर उन घटकों का विश्लेषण किया जो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में रोजगार व उत्पादन स्तर को प्रभावित करते है। कीन्स का विश्लेषण एक अल्पकालीन विश्लेषण है।

1.1 **उद्देश्य :–**

1. यह कि क्लासिकल रोजगार सिद्धान्त में क्या कमियां थी।
2. कीन्स ने उन कमियों को दूर कैसे किया तथा सामान्य सिद्धान्त द्वारा अधिक व्यवहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।
3. प्रभावपूर्ण मांग के अर्थ को समझ सकेंगे।
4. बन्द तथा खुली अर्थव्यवस्था में रोजगार व आय निर्धारण की प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकेंगे।
5. आर्थिक क्षेत्र में कीन्स के योगदान का महत्व समझेंगे।
6. राष्ट्रीय उपभोग, बचत , विनियोग आदि धारणाओं को स्पष्ट रूप से समझेंगे।

1.2 कीन्स के सिद्धान्त की व्याख्या(Explalaion of Keynes's Theory) :–

रोजगार का प्रारम्भिक बिन्दु : प्रभावपूर्ण मांग (Starting point of employment : Effective Demand) लार्ड कीन्स के रोजगार सिद्धान्त के अनुसार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अल्पकाल में कुल उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय रोजगार के स्तर पर निर्भर करती है क्योंकि अल्पकाल में उत्पादन के अन्य साधन, जैसे– पूँजी तकनीक आदि स्थिर रहते है। रोजगार का स्तर प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करता है। प्रभावपूर्ण मांग कुल मांग के उस स्तर को कहते है जिस पर वह कुल पूर्ति के बराबर होती है।

प्रभावपूर्ण मांग से अभिप्राय अर्थव्यवस्था में मांग के उस स्तर से है जिसके लिए पूर्ति उपलब्ध है और जिसके कारण उत्पादक उत्पादन को और बढ़ाने के लिए तत्पर नहीं है अर्थात यदि उत्पादन को और बढ़ाना हो तो अर्थव्यवस्था में मांग के स्तर में और वृद्धि करनी पड़ेगी। उदाहरण के लिए, मान लीजिए, किसी देश के दो लाख लोगों को रोजगार पर लगाने से यदि एक निश्चित समय में कुल पूर्ति कीमत 400 करोड़ रू0 है तथा समय की उस अवधि में कुल मांग कीमत भी 400 करोड़ रू0 है तो उस स्थिति में कुल मांग कीमत कुल पूर्ति कीमत के बराबर होगी। अतएव 400 करोड़ रू0 की कुल मांग कीमत को प्रभावपूर्ण मांग कहा जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रभावपूर्ण मांग कुल मांग के उस स्तर को कहते है जिस पर वहकुल पूर्ति के बराबर होती है।दूसरे शब्दों में, प्रभावपूर्ण मांग कुल मांग वक्र पर स्थित वह बिन्दु है जहां कुल पूर्ति वक्र इसे काटता है।

1. **प्रभाव मांग कुल उत्पादन की मांग को सूचित करता है(Effective demand Is representative of Aggregate Production) :–** प्रभावपूर्ण मांग अर्थव्यवस्था में मांग के उस स्तर को व्यक्त करती है जिसकी पूर्ति उपलब्ध है इसलिए प्रभावपूर्ण मांग समाज में होने वाले कुल उत्पादन या राष्ट्रीय उत्पादन की कीमत को भी सूचित करती है–अर्थात

   प्रभावपूर्ण मांग = राष्ट्रीय उत्पादन या कुल उत्पादन का मूल्य

2. **प्रभावपूर्ण मांग राष्ट्रीय आय के बराबर होती है (Effective demand is equal to national income) :–** इसकी वजह यह है कि राष्ट्रीय उत्पादन का कुल मूल्य और उद्योगपतियों द्वारा माल की बिक्री से प्राप्त होने वाली आय में कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए प्रभावूपर्ण मांग कुल उत्पादन के साथ–साथ राष्ट्रीय आय के बराबर भी होती है। अतः प्रभावपूर्ण मांग को राष्ट्रीय आय या उत्पादन के साधनों की कुल आय (मजदूरी+किराया +ब्याज + लाभ) के रूप में भी प्रदर्शित किया जा सकता है–अर्थात्

   प्रभावपूर्ण = राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य = राष्ट्रीय आय

3. **प्रभावपूर्ण मांग अर्थव्यवस्था के कुल व्यय के रूप में प्रदर्शित की जाती है(Effective Demand reflects the total expenditure of Economy) :–** उत्पादन के साधनों को जो आय प्राप्त होती है,उसे अर्थव्यवस्था में उत्पन्न वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने में व्यय करते है। इसलिए प्रभावपूर्ण मांग एक तरफ तो उपभोग की वस्तुओं पर किये गये राष्ट्रीय व्यय के बराबर होती है , दूसरी तरफ, यह विनियोग की वस्तुओं पर किये गये राष्ट्रीय व्यय के बराबर होती है अर्थात्

   प्रभावपूर्ण मांग = राष्ट्रीय उत्पादन = राष्ट्रीय आय = राष्ट्रीय व्यय (C+I)

ED = NP = NI = NE

इससे स्पष्टहै कि :–

1. राष्ट्रीय आय (Y) रोजगार के स्तर (N) पर निर्भर करती है अर्थात्

   Y=f(N)

2. रोजगार का स्तर (N) प्रभावपूर्ण मांग (ED) पर निर्भर करता है अर्थात्

   N=f(ED)

3. प्रभावपूर्ण मांग (ED) कुल मांग कीमत (AD) तथा कुल पूर्ति कीमत (AS) पर निर्भर करती है अर्थात्

   ED=AD = AS

4. प्रभावपूर्ण मांग बढ़ने से रोजगार, उत्पादन व राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।
5. प्रभावपूर्ण मांग घटने से रोजगार, उत्पादन व आय में कमी होती है।
6. प्रभावपूर्ण मांग उपभोग की वस्तुओं और विनियोग की वस्तुओं पर किये गये खर्च की मात्रा के बराबर होती है।
7. रोजगार उपभोग खर्च की मात्रा और विनियोग खर्च की मात्रा पर निर्भर करता है।
8. यदि उपभोग स्थिर रहता है और विनियोग में वृद्धि होती है तो रोजगार भी बढ़ता है।
9. इसके विपरीत, यदि विनियोग स्थिर रहता है और उपभोग में वृद्धि होती है तो भी रोजगार बढ़ता है।

1.3 प्रभावपूर्ण मांग के निर्धारक तत्व(Determinants of Effective Demand) :-4

मार्शल के अनुसार कीमत मांग तथा पूर्ति की बाजार की शक्तियां निर्धारित होती है, जबकि कीन्स के अनुसार प्रभावपूर्ण मांग कुल मांग तथा कुल पूर्ति की परस्पर समानता द्वारा निर्धारित होती है। अतः कीन्स के रोजगार सिद्धान्त के दो निर्धारक तत्व निम्न है

1. कुल मांग क्रिया या फलन (Aggregate demand function)
2. कुल पूर्ति क्रिया या फलन (Aggregate supply function)

1. कुल मांग क्रिया या फलन :–

एक अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं की सम्पूर्ण मांग को ही कुल मांग या प्रभावपूर्ण मांग कहते है। वस्तुओं या सेवाओं की कुल मांग दो कारणों से की जाती है–

(अ) उपभोग के लिए (ब) विनियोग के लिए।

उपभोग के लिए मांग निजी ग्रहस्थों द्वारा और सरकार द्वारा की जाती है। निजी गृहस्थों द्वारा उपभोक्ता वस्तुओं की मांग को निजी उपभोग कहते है। इसी प्रकार सरकार द्वारा सार्वजनिक वस्तुओं की पूर्ति हेतु अनेक वस्तुओं और सेवाओं जैसे–सीमेण्ट, लोहा, बैंकिंग, यातायात, मनोरंजन आदि की मांग की जाती है, जिसे सार्वजनिक उपभोग कहते है। निजी एवं सार्वजनिक उपभोग को मिलाकर ही वस्तुओं एवं सेवाओं की उपभोग मांग का निर्माण होता है।

कुल मांग का दूसरा महत्वपूर्ण अंग विनियोग की मांग अर्थात पूंजीगत वस्तुओं की मांग है। विनियोग की मांग भी निजी एवं सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों के द्वारा की जाती है। निजी एवं सार्वजनिक विनियोग की मिलाकर अर्थव्यवस्था की कुल विनियोग को लिए मांग प्राप्त होती है।

इस प्रकार अर्थव्यवस्था की कुल उपभोग मांग (C)तथा विनियोग (I) का योग ही कुल मांग या सामूहिक मांग कहलाती है अर्थात्कुल मांग = उपभोग मांग (C) +विनियोग मांग (I)

इसका अभिप्राय यह है कि कुल उपभोग तथा कुल विनियोग में वृद्धि अथवा कमी करके कुल मांग में भी वृद्धि या कमी की जा सकती है।

कुल मांग को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी आंका जा सकता है कि एक व्यक्ति का व्यय ही दूसरे व्यक्ति की आय बन जाता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्थव्यवस्था का कुल व्यय अर्थव्यवस्था की कुल आय को व्यक्त करता है अर्थात कुल व्यय से उन फर्मों को आय प्राप्तहोती है जो कि वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति करती है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के कुल व्यय को फर्मों की आय के रूप में भी प्रकट किया जा सकता है।

उपर्युक्त आधार पर कुल मांग अथवाकुल व्यय सभी फर्मों की प्राप्तियों की वह राशि है जो वे अपने उत्पाद को, जोकि उन्होंने निर्दिष्ट श्रमिकों की सहायता से उत्पन्न किया है, बेचकर प्राप्त करने की आशा करते है। यदि फर्में अधिक आय प्राप्त करने की आशा करती है तो निश्चित रूप से उन्हें अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करके उत्पादन में वृद्धि करनी होगी। इस प्रकार रोजगार के विभिन्न

स्तरों पर उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से प्रत्याशित मौद्रिक आय की अनुसूची को कुल मांग फलन कहते है। दूसरे शब्दों में, कुल मांग अथवा कुल व्यय अथवा कुल आय रोजगार के स्तर के अनुरूप घटती बढ़ती है।

कुल मांग अनुसूची– रोजगार के विभिन्न स्तरों तथा उन पर उत्पाद की बिक्री से प्राप्त आय की एक अनुसूची तैयार करेंगे जिसे कुल मांग अनुसूची अथवा कुल मांग फलन कहते है जैसा नीचे दर्शाया गया है :

कीन्स का रोजगार सिद्धान्त : आय एवं रोजगार के निर्धारक

कुल मांग अनुसूची

रोजगार का स्तर(N) (करोड़ व्यक्तियों में)	प्रत्याशित बिक्री आय या कुल मांग(AD) (करोड़ रू0 में)
0	30
1	50
2	60
3	70
4	80
5	90
6	95

उपर्युक्त अनुसूची से स्पष्ट है कि :

अ.जब रोजगार की मात्रा शून्य है तो भी कुल मांग 30 करोड़ रू0 है। इसका अभिप्राय यह है कि बेरोजगार श्रमिको को भी अपने उपभोग पर कम से कम 30 करोड़ रू0 खर्च करने की सम्भावना है।

ब.इसके पश्चात जैसे–जैसे रोजगार की मात्रा बढ़ायी जाती है, वैसे–वैसे कुल प्रत्याशित बिक्री आय भी बढ़ती जाती है। अन्य शब्दो में , रोजगार की मात्रा N और प्रत्याशित बिक्री आय या कुल मांग कीमत (ADP)में सीधा सम्बन्ध है अर्थात कुल मांग रोजगार स्तर पर फलन होता है अर्थात

$$AD=f(N)$$

कुल मांग वक्र (Aggregate Demand Curve):- कुल मांग अनुसूची को जब वक्र द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो उसे कुल मांग वक्र कहते है।

AD रेखा कुल मांग रेखा है जो से आरम्भ न होकर उसके ऊपर से आरम्भ हो रही है जिससे यह सिद्ध होता है कि रोजगार का स्तर शून्य होने पर भी उपभोग पर व्यय किया जाता है। **स**कल मांग रेखा का ढलान नीचे से ऊपर की ओर दायीं ओर उठता हुआ है जो यह सिद्ध करता है कि रोजगार बढ़ने के साथ–साथ कुल मांग अर्थात प्रत्याशित बिक्री आय भी बढ़ रही है।

1. अर्थव्यवस्था में किये गये कुल उपभोग व्यय और विनियोग व्यय के योग को ही कुल मांग कहते है।
2. एक व्यक्ति का व्यय दूसरे व्यक्ति की आय होती है अतः एक अर्थव्यस्था का कुल व्यय अर्थव्यवस्था की कुल आय को व्यक्त करता है अर्थात् कुल व्यय से उन फर्मों को आय प्राप्त होती है जो कि वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति करते है।
3. अतः कुल मांग वह प्रत्याशित बिक्री से प्राप्त आय है जो फर्म निर्दिष्ट श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तु के विक्रय से प्राप्त होने की आशा करती है।
4. रोजगार के विभिन्न स्तरों पर उत्पादन की बिक्री से प्राप्त सम्भावित आय की अनुसूची को मांग अनुसूची या मांग फलन कहते है।
5. जैसे–जैसे रोजगार की मात्रा बढ़ायी जाती है, वैसे–वैसे प्रत्याशित बिक्री आय की राशि भी बढ़ती जाती है अर्थात्

$$AD = f(N)$$

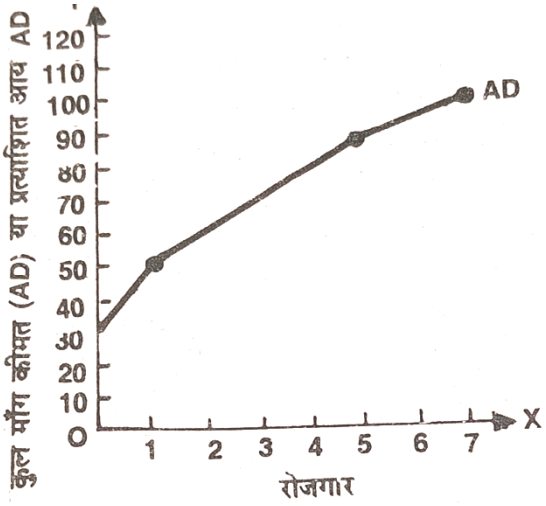

कुल पूर्ति क्रिया या फलन :–अब प्रभावपूर्ण मांग के दूसरे निर्धारक तत्व कुल पूर्ति क्रिया या फलन के सम्बन्ध में विचार करेंगे। एक अर्थव्यवस्था मे उपभोग एवं विनियोग के लिए उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं की कुल मात्रा को ही कुल पूर्ति कहते है। अर्थव्यवस्था में उत्पादित अन्तिम वस्तुओं या सेवाओं के मौद्रिक मूल्य को राष्ट्रीय उत्पाद कहते है। अतः यदि अर्थव्यवस्था के उत्पादित सभी वस्तुओं और सेवाओं को उपभोग अथवा विनियोग के लिए उपलब्ध कराया जाये तो राष्ट्रीय उत्पाद राष्ट्रीय आय के समान होगा। अतः कुल पूर्ति = राष्ट्रीय उत्पाद = राष्ट्रीय आय।विभिन्न साधनों को प्राप्त होने वाली आय फर्मों के द्वारा एक निर्दिष्ट रोजगार के स्तर पर उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की लागत के बराबर होती है। फर्में उसी अवस्था में रोजगार के इस स्तर को बनाये रख सकती है जबकि उन्हें वस्तुओं व सेवाओं की बिक्री से उतनी आय अवश्य प्राप्त हो जाये जिससे कि वे उत्पादन के साधनों को भुगतान कर सकें। दूसरे शब्दों में, फर्मों को रोजगार एवं उत्पादन का वर्तमान स्तर बनाये रखने के लिए उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की बिक्री से न्यूनतम आय अवश्य प्राप्त होनी चाहिए । अतः फर्मों को निर्दिष्ट उत्पादन और रोजगार के स्तर को अपनाने के लिए जो न्यूनतम बिक्री आय प्राप्त होनी चाहिए, उसे 'कुल पूर्ति मूल्य' कहते है।

कुल पूर्ति अनुसूची :– कुल पूर्ति अनुसूची रोजगार के विभिन्न स्तरों तथा न्यूनतम बिक्री राशि में सम्बन्ध को दर्शाती है।

कुल पूर्ति अनुसूची

कुल रोजगार का स्तर (करोड़ रूपये में)	रोजगार के एक दिये हुए स्तर पर, उत्पादन की कुल लागत अर्थात कुल आय (करोड़ रूाये में
0	0
1	30
2	45
3	60
4	75
5	90
6	105

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि रोजगार में वृद्धि के फलस्वरूप कुल पूर्ति मूल्य में वृद्धि होती जाती है।

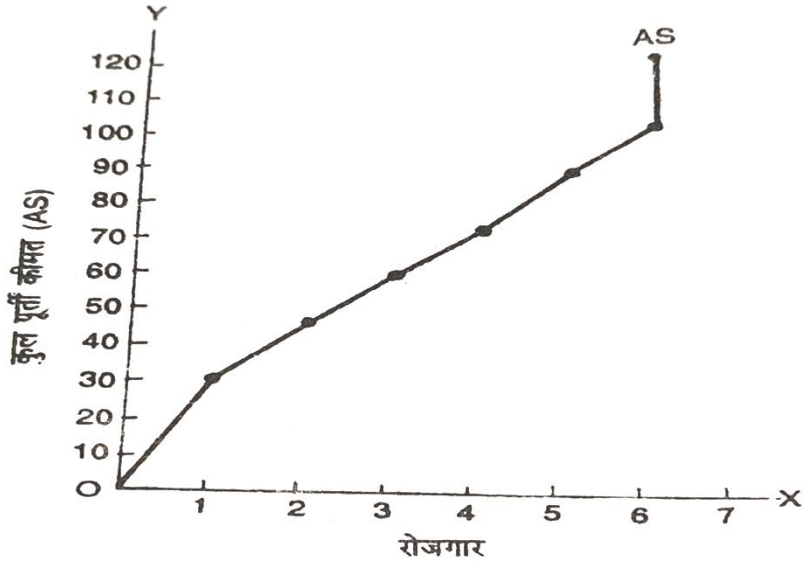

कुल पूर्ति वक्र (Aggregate Supply curve):–

जब कुल पूर्ति अनुसूची को रेखाचित्र द्वारा व्यक्त किया जाता है तो उसे कुल पूर्ति वक्र कहते है। चित्र में X अक्ष पर उद्यमियों द्वारा प्रस्तुत किये गये, रोजगार के विभिन्न स्तरों को दर्शाया गया है तथाY अक्ष पर रोजगार के विभिन्न स्तरों से प्राप्त निश्चित आय को लिया गया है। कुल पूर्ति कीमत का रोजगार स्तर से धनात्मक सम्बन्ध है। जब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त कर लेती है तो कुल पूर्ति फलन पूर्णतया लोचहीन बन जाता है, क्योंकि पूर्ण रोजगार स्तर को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उत्पादन में वृद्धि की कोई सम्भावना नहीं रह जाती है।

1. एक अर्थव्यवस्था में उपभोग एवं विनियोग के लिए उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं की कुल मात्रा को ही कुल पूर्ति या कुल राष्ट्रीय उत्पाद या राष्ट्रीय आय कहते है।
2. विभिन्न साधनों को प्राप्त होने वाली आय फर्मों के द्वारा एक निर्दिष्ट रोजगार के स्तर पर उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की लागत के बराबर होती है।
3. अतः कोई भी फर्म अपने उत्पादन को बेचकर कम से कम वह न्यूनतम धनराशि अवश्य प्राप्त करना चाहेगी जो श्रमिकों की दी हुई संख्या द्वारा उत्पादन करने में व्यय होती है। इस प्रकार कुल पूर्ति मूल्य न्यूनतम बिक्री राशि से सम्बन्धित है।

1.4 प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण(Determination of Effective Demand) :–

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में रोजगार का निर्धारण कुल मांग के उस स्तर पर होगा जिस पर वह कुल पूर्ति के बराबर होती है। इस स्तर को सन्तुलन का स्तर अथवा प्रभावपूर्ण मांग कहा जाता है।

1. जब उद्यमी साहसियों की कुल प्रत्याशित आय अर्थात कुल मांग (AD) कुल लागत और कुल पूर्ति मूल्य (ASP) से अधिक होती है, साहसियों को उत्पादन बढ़ाने और अधिक व्यक्तियों को रोजगार देने को प्रोत्साहन मिलता है।
2. जब प्रत्याशित बिक्री आय कुल लागत से कम होती है तो उत्पादन व रोजगार घटने लगता है।
3. कुल मांग (AD) (प्रत्याशित बिक्री आय) और कुल पूर्ति मूल्य(AS) (कुल लागत) समान होते है। इस स्थिति में रोजगार का सामान्य स्तर बना रहता है। यही सन्तुलन या प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु है जिससे अर्थव्यवस्था में रोजगार की मात्रा निश्चित होती है।

प्रभावपूर्ण मांग का निर्धारण

सम्भावित रोजगार स्तर (करोड़ में)	कुल मांग कीमत (ADF)	कुल पूर्ति कीमत (ASF)	रोजगार की प्रवृत्तियाँ
0	30	0	**AD>AS**
1	50	30	**AD>AS**

2	60	45	**AD>AS**
3	70	60	**AD>AS**
4	80	75	**AD>AS**
5	90	90	**AD=AS**
6	95	105	**AD<AS**

इससे स्पष्ट है कि :–

1. जब रोजगार की मात्रा शून्य है तो भी कुल मांग 30 करोड़ रू0 तथा कुल पूर्ति शून्य है। इसका कारण यह है कि बेरोजगार व्यक्ति भी उपभोग पर कुछ न कुछ अवश्य ही खर्च करता है।
2. रोजगार की 4 करोड़ संख्या तक कुल मांग के साथ–साथ कुल पूर्ति भी बढ़ रही है परन्तु कुल मांग कुल पूर्ति से अधिक है। इसलिए उत्पादन अधिक करेंगे। इसके फलस्वरूप अधिक श्रमिकों को रोजगार प्राप्त होगा।
3. रोजगार की 5 करोड़ संख्या पर कुल मांग **AD** कुल पूर्ति **AS** के बराबर है अर्थात 90 करोड़ रू0 है। यह सन्तुलन की स्थिति होगी। अर्थव्यवस्था में रोजगार की सन्तुलन मात्रा यहीं पर निर्धारित होगी।
4. रोजगार की 5 करोड़ संख्या के पश्चात जैसे–जैसे अधिक श्रमिकों को रोजगार दिया जा रहा है, कुल मांग कुल पूर्ति से कम हो जाती है। इसलिए उत्पादक 5 करोड़ श्रमिकों से अधिक श्रमिकों को रोजगार देना पसन्द नहीं करेगी। 5 करोड़ से अधिक लोगों को रोजगार उसी समय मिलेगा जबकि कुल मांग **AD** अर्थात प्रत्याशित बिक्री आय में वृद्धि होगी।

1.5 रेखा चित्र द्वारा स्पष्टीकरण :–

1. **AS** कुल पूर्ति वक्र और **AD** कुल मांग वक्र है जो एक दूसरे को **E** बिन्दु पर काटते है। अतः **ON** रोजगार के स्तर पर **E** प्रभावपूर्ण मांग का सन्तुलन बिन्दु है जहां प्राप्तियां = लागतों इस बिन्दु के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा बिन्दु नहीं है जहां ये दोनों वक्र सन्तुलित हो सके। **E** बिन्दु पर **AS** व **AD** की समानता का अर्थ है कि इस स्थिति में उत्पादन की प्रत्याशित आय अधिकतम होगी।
2. $\mathbf{ON_1}$रोजगार स्तर पर कुल प्राप्तियां $\mathbf{BN_1}$कुल लागतों (AN_1)से अधिक है। अतः लाभ अधिक होने के कारण रोजगार बढ़ाया जायेगा।
3. इसी प्रकार $\mathbf{ON_2}$रोजगार का स्तर सम्भव ही नही है क्योंकि यहां कुल लागते (DN_2) कुल प्राप्तियों (CN_2)से अधिक हो चुकी है।

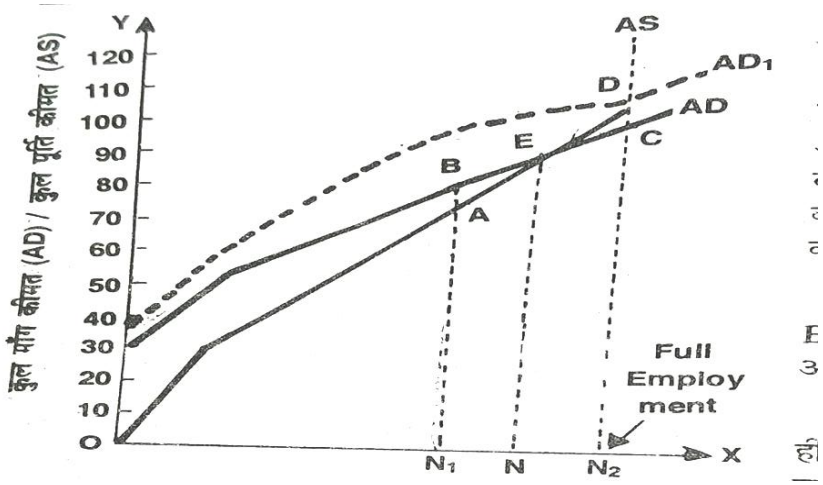

1.6 रोजगार का मुख्य निर्धारक तत्व कुल मांग क्रिया :–

कीन्स ने अपने रोजगार सिद्धान्त में कुल पूर्ति क्रिया की अपेक्षा कुल मांग क्रिया को अधिक महत्व दिया है। कीन्स ने अल्पकाल में कुल पूर्ति को स्थिर माना था। इसका कारण यह है कि कुल पूर्ति में परिवर्तन, पूंजी, श्रम की उत्पादकता तथा तकनीकी तत्वों **(Technical Factors)** पर निर्भर करता है। अल्पकाल में इन तीनों में ही परिवर्तन करना सम्भव नहीं है। अतः अल्पकाल में कुल मांग क्रिया में ही परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार कीन्स ने अपने सिद्धान्त में कुल पूर्ति क्रिया को स्थिर मानकर सम्पूर्ण ध्यान कुल मांग क्रिया पर ही केन्द्रित किया है। कुल मांग क्रिया स्वयं दो बातों से प्रभावित होती हैः

(अ). उपभोग प्रवृत्ति एवं विनयोग प्रेरणा(Inducement to investment) :-

इस प्रकार कीन्स के अनुसार रोजगार का स्तर उपभोग की वस्तुओं तथा विनियोग की वस्तुओं की मांग पर आधारित है। अतः यदि रोजगार में वृद्धि करनी है तो हमें उपभोग एवं विनियोग दोनों ही वस्तुओं पर होने वाले में वृद्धि करनी पड़ेगी।

(ब.) उपभोग मांग तथा उपभोग प्रवृत्ति (Consumption demand and propensity to consume) :–

कीन्स के रोजगार तथा आय सिद्धान्त में उपभोग प्रवृत्ति का विचार काफी महत्वपूर्ण है। उपभोग की वस्तुओं की मांग कुल मांग का एक अंश होती है और यह निम्न दो बातों पर निर्भर होती हैः–

1. आय का आकार 2. उपभोग वस्तुओं पर व्यय किया जाने वाला आय का भाग।

संक्षेप में, उपभोग प्रवृत्ति कुल आय और कुल उपभोग के सम्बन्ध को व्यक्त करती है।

उपभोग मांग उपभोग की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। कीन्स का विश्लेषण 'उपभोग के मनोवैज्ञानिक नियम' पर आधारित है जिसके अनुसार जब कुल आय बढ़ती है तो कुल उपभोग भी बढ़ता है, किन्तु उतना नहीं बढ़ता जितनी कि आय बढ़ती है। कीन्स के शब्दों में, ''साधारणतया लोग आय के बढ़ने पर उपभोग को बढ़ाते है परन्तु उपभोग की यह वृद्धि आय वृद्धि के अनुपात से कम होती है।'' इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आय के बढ़ने पर उपभोग आय – वृद्धि की तुलना में पिछड़ जाता है। आय और व्यय के इस अन्तर को कम करने के लिए दो उपाय किये जाने चाहिए–या तो उपभोग–मात्रा में वृद्धि की जाये अथवा विनियोग की मात्रा में वृद्धि की जाय।

उल्लेखनीय है कि अल्पकाल में आय और व्यय के इस अन्तर को कम नहीं किया जा सकता अर्थात अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति को नहीं बढ़ाया जा सकता। इसलिए स्वयं कीन्स ने उपभोग वृद्धि की कठिनाई को देखते हुए, विनियोग में वृद्धि करने का सुझाव दिया है।

(स.) विनियोग क्रिया अथवा विनियोग प्रेरणा (Investment Function or inducement to investment):–

कीन्स के सामान्य सिद्धान्त में विनियोग का महत्व है। कीन्स के अनुसार विनियोग से आशय सदा वास्तविक विनियोग से है जो लोगों को अतिरिक्त रोजगार प्रदान करता है। वास्तविक विनियोग से अभिप्राय नये भवनों और कारखानों का निर्माण करना, यातायात की सुविधाओं को बढ़ाना, वर्तमान पूंजी–सम्पत्ति में वृद्धि, वस्तुओं के भण्डार में वृद्धि आदि से है।

विनियोग को प्रभावित करने वाले तत्व निम्न हैः–

1. पूंजी की सीमान्त दक्षता 2. ब्याज की दर

1. पूंजी की सीमान्त दक्षता (MEC) :–

पूंजी की सीमान्त उत्पादकता से अभिप्राय नई पूंजी सम्पत्ति द्वारा लागतों को निकालकर प्राप्त होने वाली अधिकतम भावी आय से है। इस परिभाषा से दो तत्वों का पता चलता हैः–

(क.) हमें पूंजी सम्पत्ति की सीमान्त इकाई अथवा अतिरिक्त इकाई पर ध्यान देना चाहिए

(ख.) पूंजी सम्पत्ति की लागत को इसकी भावी आय से घटा देना चाहिए। इस प्रकार पूँजी की सीमान्त दक्षता दो तत्वों पर आधारित है–

(1) पूंजी सम्पत्ति की भावी आय और (2) पूंजी–सम्पत्ति की पूर्ति कीमत।

पूंजी की सीमान्त दक्षता इन दोनों के बीच का अनुपात है।

2. **ब्याज की दर(Rate of Interest) :–**

कीन्स के अनुसार, विनियोग को प्रभावित करने वाला दूसरा तत्व ब्याज की दर है। कीन्स के अनुसार, ''ब्याज एक निश्चित समय के लिए तरलता–परित्याग का पारितोषक है।''

एक व्यक्ति अपनी आय को तरल साधन के रूप में निम्न तीन कारणों से रखना चाहता हैः

1. लेन–देन के उद्देश्य से, 2. संकटकालीन खर्चों के लिए तथा 3. सटट्बाजी के उद्देश्य से।

कीन्स ने कहा है कि इसमें से प्रथम दो उद्देश्य तो बहुत कुछ स्थिर रहते है, किन्तु तीसरा उद्देश्य बहुत अस्थिर है क्योंकि सट्टेबाजी की प्रवृत्ति मुख्यतः ऋणदाताओं की मनोवृत्ति पर निर्भर करती है। इस प्रकार कीन्स ने कहा कि ब्याज की दर के दो निर्धारक तत्व है – 1. सट्टेबाजी की प्रवृत्ति तथा 2. मुद्रा की मात्रा।

(3) पूंजी की सीमान्त दक्षता तथा ब्याज की दर(MEC & Rate of Interest) :–

यह कि पूंजी की सीमान्त दक्षता तथा ब्याज की दर द्वारा विनियोग का निर्धारण होता है। एक उद्यमी विनियोग करते समय पूंजी की सीमान्त दक्षता की ब्याज की दर से तुलना करता है और जब तक पूंजी की सीमान्त दक्षता ब्याज की दर से अधिक होती है, उद्यमी विनियोग करता है। एक समय ऐसा आ जाता है जब पूंजी की सीमांत दक्षता ब्याज की दर के बराबर होती है। यहां विनियोग बन्द कर दिया जाता है। कीन्स का विचार है कि विनियोग पर ब्यज की दर की अपेक्षा पूंजी की सीमांत उत्पादकता का अधिक प्रभाव पड़ता है। केवल ब्याज की दर कम करने से ही विनियोग नहीं बढ़ पाता क्योंकि यदि लाभ की आशा कम है तो शून्य ब्याज की दर पर भी लोग विनियोग करने के लिए तत्पर नहीं होंगे। इसका अभिप्राय है कि मंदी की खाई को पाटने के लिए ब्याज दर कम करके निजी विनियोग में वृद्धि करने की सम्भावना बहुत कम रहती है।

(4) सार्वजनिक विनियोग अथवा सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करना(Public Investment or Increase in Public Expenditure) :–

मन्दी की स्थिति में आय और व्यय के अन्तर को कम करने के लिए न तो उपभोग में वृद्धि करना ही सम्भव है और न ही निजी विनियोग द्वारा इस कमी को पूरा किया जा सकता है। अतः ऐसी स्थिति में मन्दी व बेरोजगारी से लड़ने के लिए सरकारी काम ही एक महत्वपूर्ण अस्त्र बचता है जिसका नियन्त्रण पूर्ण रूप से सरकार के हाथ में रहता है। मन्दी के समय सरकार सार्वजनिक निर्माण कार्य में रूपया व्यय करके प्रभावपूर्ण मांग और रोजगार में वृद्धि कर सकती है।

(5) गुणक प्रभाव (Multiplier Effect):- कीन्स का मत है कि विनियोग में वृद्धि करने पर आय में वृद्धि कई गुना अधिक होती है। विनियोग तथा आय की वृद्धि के इस संबंध को कीन्स ने गुणक (K) कहा है–

$$\Delta Y = K\Delta I$$

$$K = \frac{\Delta y}{\Delta I}$$

यहां Δ (डेल्टा) = परिवर्तन की दर अर्थात वृद्धि या कमी, Δy= राष्ट्रीय आय में वृद्धि , ΔI– विनियोग में वृद्धि K= गुणक ।

मान लीजिये, यदि 2,000 करोड़ रूपये का विनियोग करने से आय बढ़कर 8,000 करोड़ रूपये हो जाती है तो गुणक या K= 8,000 / 2000 = 4 होगा (क्योंकि यहां पर आय विनियोग से चार गुना अधिक है।)

गुणक का आकार सदैव सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। MPC के अधिक होने पर गुणक अधिक होगा और MPC के कम होने पर गुणक भी कम होगा। संक्षेप में, गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति का व्युत्क्रम है।

$$K\frac{I}{I - MPC} = \frac{I}{MPC}$$

1.7 **सारांश(Summary) :–**

1. रोजगार प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करता है।
2. प्रभावपूर्ण मांग कुल पूर्ति क्रिया AS और कुल मांग क्रिया AD से सम्मिलित होती है।
3. कुल पूर्ति क्रिया स्वयं अल्पकाल में स्थिर रहती है, इसलिए प्रभावपूर्ण मांग पर मांग– क्रिया का ही प्रभाव पड़ता है।

4. कुल मांग क्रिया स्वयं उपभोग पर व्यय और विनियोग पर व्यय द्वारा प्रभावित होती है।
5. उपभोग पर व्यय का निर्धारण (अ) आय के आकार और (ब) समुदाय की उपभोग प्रवृत्ति के द्वारा होता है।
6. ऊँची उपभोग प्रवृत्ति रोजगार के लिए बहुत अनुकूल होती है।
7. उपभोग प्रवृत्ति शत – प्रतिशत नहीं होती, इसलिए विनियोग की आवश्यकता पड़ती है।
8. विनियोग दो बातों पर निर्भर होता है– (अ) पूंजी की सीमान्त दक्षता एवं (ब) ब्याज की दर।
9. पूंजी की सीमान्त दक्षता (ब) पूंजी सम्पत्ति की पूर्ति कीमत (ब) पूंजी सम्पत्ति की भावी आय
10. द्वारा निर्धारित की जाती है।

11. ब्याज की दर को दो तत्व प्रभावित करते है– (अ) तरलता पसन्दगी व (ब) मुद्रा की पूर्ति।

तरलता पसन्दगी स्वयं तीन उद्देश्यों से निर्धारित होती हैः

1. लेन–देन के उद्देश्य से,
2. संकटकालीन खर्चों के लिए
3. सट्टेबाजी के उद्देश्य के लिए।
4. ब्याज की दर की अपेक्षा पूंजी की सीमान्त दक्षता का विनियोग पर अधिक प्रभाव पड़ता है।
12. ब्याज की दर की अपेक्षा पूंजी की सीमांब दक्षता का विनियोग पर अधिक प्रभाव पड़ता है।
13. रोजगार बढ़ाना है तो उपभोग व विनियोग दोनों में वृद्धि करनी चाहिए।

1.8 शब्दावली (Keywords) :–

1. रोजगार का प्रारम्भिक बिन्दु (Starting point of Employment)
2. प्रभावपूर्ण (Effective Demand)
3. कुल उत्पादन (Aggregate Production)
4. राष्ट्रीय उत्पादन (National Production)
5. कुल उत्पादन का मूल्य(Value of Aggregate Out put)
6. राष्ट्रीय आय (National Income)
7. कुल व्यय (Total Espenditure)
8. प्रदर्शित (Reflects)
9. निर्धारक (Determinants)
10. फलन (Function)
11. सार्वजनिक उपभोग (Public Consumptions)
12. अनुसूची (Schedule)
13. प्रत्याशित (Expected)
14. रोजगार का स्तर (Level of employments)
15. वक्र (Curve)
16. ब्याज (Interest)

1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :–

1. आहूजा, एच0एल0 : एडवान्स मैक्रोइकोनामिक थीयरी, एस0चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, रामनगर, नई दिल्ली।
2. द्विवेदी, डी0एन0 : मैक्रोइकोनामिक्स थीयरी एण्ड पॉलिसी, टाटा एमसी ग्रा–लि पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड, नई दिल्ली।
3. लाल, एस0एन0 समाष्टिभावी आर्थिक विश्लेषण (सिद्धान्त , समस्याएं तथा नीतियां) शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद।
4. शपीरो, एडवर्ड : मैक्रोइकोनामिक एनालिसिस, गलगोटिया पब्लिकेशन्स प्राइवेट लिमिटेड, दरियागंज, नई दिल्ली।
5. समष्टि अर्थशास्त्र (2011–12) सिन्हा वी0.सी0 एवं कुशवाह एस0बी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाउस आगरा।

1.10 अभ्यास प्रश्न(Practice Questions) :-

1. ''कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का तर्कपूर्ण प्रारम्भिक बिन्दु प्रभावपूर्ण मांग का सिद्धान्त है।'' व्याख्या कीजिए।
2. कीन्स के रोजगार सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. कीन्स के अनुसार एक अर्थव्यवस्था में आय एवं रोजगार के मुख्य निर्धारक तत्व कौन–कौन से है।
4. कीन्स के रोजगार सिद्धान्त को समझाइए। यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर किस प्रकार सुधार है।

1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न उत्तर (Objective Question Answers) :–

1. कीन्स के अनुसार विनियोग से अभिप्राय है–
   क. वास्तविक विनियोग से — ख. वित्तीय विनियोग से
   ग. उपर्युक्त दोनों से — ग. उपर्युक्त में से कोई नहीं।
   (उत्तर क)
2. विनियोग सम्बन्धी निर्णय निर्भर करता हैः
   क. पूंजी की सीमान्त क्षमता — ख. ब्याज की दर
   ग. उपर्युक्त दोनों — घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।
   (उत्तर ग)
3. विनियोग की मात्रा में वृद्धि होने के साथ–साथ पूंजी की सीमांत दक्षता :
   क. बढ़ती रहती है — ख. घटती जाती है
   ग. स्थिर रहती है — घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
4. निम्नलिखित में से वास्तविक विनियोग है :
   क. शेयर बाजार से शेयर खरीदना — ख. बैंक में जमा खाता खोलना
   ग. पुरानी फैक्ट्री खरीदना — घ. भवनों का निर्माण
   (उत्तर घ)
5. जिस बिन्दु पर समग्र मांग, समग्र पूर्ति के बराबर होती है उसे कीन्स ने क्या कहा ?
   क. संस्थिति बिन्दु — ख. प्रभावपूर्ण मांग बिन्दु
   ग. पूर्ण रोजगार स्तर — घ. अधिकतम उपभोग बिन्दु
   (उत्तर ख)
6. प्रभावपूर्ण मांग बिन्दु वह होता है जहां ..... तथा .....बराबर होते है।
   क. समगं मांग, समग्र पूर्ति
   ख. उपभोग , विनियोग
   ग. बचत, विनियोग
   घ. आय, व्यय
   (उत्तर क)
7. निम्न में से किसका सम्बन्ध कीन्स के रोजगार सिद्धान्त से नहीं हैः
   क. उपभोग फलन — ख. बचत फलन
   ग. विनियोग फलन — घ. कल्याण फलन
   (उत्तर घ)
8. कीन्स का रोजगार निर्धारण सिद्धान्त कहलाता है :
   क. विशेष सिद्धान्त — ख. प्रभावपूर्ण मांग सिद्धान्त
   ग. विनियोग सिद्धान्त — घ. सामान्य सिद्धान्त
   (उत्तर ख)
9. समाज में उपभोग फलन निर्भर करता है आय के आकार तथा .....
   क. व्यय की मात्रा पर
   ख. उत्पादन के स्तर पर
   ग. उपभोग प्रवृत्ति पर
   घ. बचत की क्षमता पर
   (उत्तर ग)

इकाई– 04

गुणक तथा त्वरक सिद्धान्त
(Principle of Multiplier and Accelerator)

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 गुणक का अर्थ
1.3 गुणक का स्परूप
1.4 गुणक तथा उपभोग व बचत
1.5 सीमान्त बचत प्रवृत्ति एवं गुणक
1.6 गुणक की ऋणात्मक स्थिति
1.7 सुपर गुणक
1.8 गुणक तथा अर्थव्यवस्था
1.9 गुणक की आवश्यक दशायें
1.10 गुणक फलन की आलोचना
1.11 त्वरक का अर्थ
1.12 त्वरक की आवश्यक दशायें
1.13 त्वरक की क्रियाशीलता
1.14 त्वरक तथा गुणक की अन्तक्रिया
1.15 त्वरक तथा व्यापार चक्र
1.16 त्वरक सिद्धान्त का महत्व
1.17 त्वरक सिद्धान्त की आलोचना
1.18 सारांश
1.19 शब्दावली
1.20 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.21 अभ्यास प्रश्न
1.22 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत गुणक को समझने से पहले निवेश फलन को जानना जरूरी है। निवेश फलन को आप भली–भांति समझने के बाद गुणक को आसानी से समझ सकते है। गुणक क्रिया का मुख्य आधार निवेश ही है जो उपभोग फलन के साथ क्रियाशील होता है। गुणक क्या होता है तथा यह किस प्रकार कार्य करता है। अर्थशास्त्र में गुणक का प्रादुर्भाव प्रो0 एफ0ए0 काहन के रोजगार गुणक से माना जाता है। प्रो0 कीन्स का गुणक सिद्धान्त निवेश गुणक के रूप में जाना जाता है। जिसे कीन्स ने 1929 में विकसित किया था। गुणक की क्रियाशीलता को समझने के लिये धनात्मक तथा ऋणात्मक रूप में गुणक के मान को भी स्पष्ट किया गया है जिसके द्वारा निवेश तथा आय के मध्य वास्तविक सम्बन्ध को समझा जा सकेगा। सुपर गुणक की अवधारणा से भी परिचित हो सकेंगे। इसके साथ गुणक के स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया है। गुणक की आवश्यक दशाओं की मौजूदगी के साथ–साथ अर्थशास्त्रियों द्वारा गुणक की आलोचनाओं से भी आप परिचित हो सकेंगे।

त्वरक सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रांसीसी अर्थशास्त्री अफतेलियन द्वारा 1913 में किया गया । सामान्य रूप से त्वरक सिद्धान्त के साथ प्रथमतः अमरीकी अर्थशास्त्री जे0एम0 क्लार्क का नाम जोड़ा गया है। प्रो0 कीन्स ने अपनी पुस्तक 'रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त' में आय–रोजगार के निर्धारण में गुणक के सिद्धान्त का स्थान दिया तथा गुणक की क्रियाशीलता द्वारा अर्थव्यवस्था में

उत्पादन तथा रोजगार के स्तर पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या की। कीन्स के आर्थिक विश्लेषण में त्वरक की अवधारणा को पूर्णतः दूर रखा गया। आर्थिक विश्लेषण में इस कमी को पूरा करने के लिये सेम्युलसन ने त्वरक की अवधारणा का प्रयोग किया जिसके माध्यम से आय, निवेश तथा उपभोग के आपसी सम्बन्धों की विवेचना की, जिसे निवेश के त्वरक सिद्धान्त के रूप में जाना गया।

त्वरक की अवधारणा के प्रयोग से आय–उत्पत्ति प्रक्रिया को अधिक सुस्पष्ट तथा वैज्ञानिक व तकनीकी दृष्टिकोण से समझने में आसानी होती है। वास्तव में अर्थव्यवस्था के संचालन में गुणक तथा त्वरक एक दूसरे के पूरक है। इन दोनों की अन्तक्रिया ही वास्तव में किसी अर्थव्यवस्था को एक नया मोड़ देने में सक्षम होती है।

1.1 उद्देश्य(Objectives) :–

1. उपभोग में परिवर्तनों के माध्यम से निवेश की मात्रा को किस प्रकार तथा दिशा में परिवर्तित किया जाता है।
2. कीन्स के आर्थिक विश्लेषण की कमी को त्वरक के द्वारा पूरा करने में किस प्रकार से सहायता मिली है।
3. त्वरक एक स्वतंत्र अवधारणा नहीं है बल्कि आपको भली–भांति समझना होगा कि निवेश, गुणक की क्रियाशीलता किस प्रकार आय, उपभोग, बचत तथा रोजगार से सम्बन्धित है।
4. आर्थिक उतार–चढ़ावों की उत्पत्ति तथा अर्थव्यवस्था को सन्तुलन स्थिति में बनाये रखने के लिये त्वरक कितना उपयोगी तथा महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।
5. समझ सकेंगे कि निवेश में होने वाली प्रत्येक वृद्धि राष्ट्रीय आय में किस प्रकार तथा किस सीमा तक वृद्धि करती है जो किसी अर्थव्यवस्था के लिये अत्यन्त उपयोगी है।
6. अर्थव्यवस्था की अनेक समस्याओं के समाधान में गुणक त्वरक कितना महत्वपूर्ण है।
7. इन समस्याओं को हल करने में गुणक तथा त्वरक किस प्रकार कार्य करते है।

1.2 गुणक का अर्थ (Meaning of Multiplier) :–

सामान्यतः गुणक से हमारा तात्पर्य निवेश में होने वाले परिवर्तन के परिणाम स्वरूप आय में होने वाले परिवर्तन के अनुपात से है। अर्थव्यवस्था में जब निवेश के स्तर में वृद्धि करनी होती है तो इस वृद्धि का प्रभाव अर्थव्यवस्था में अन्तिम रूप से आय में वृद्धि के रूप में होता है। आय में होने वाले इस वृद्धि को निवेश में परिवर्तन के गुणा के रूप में व्यक्त किया जाता है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि निवेश में होने वाला परिवर्तन अर्थव्यवस्था की समस्त क्रियाओं को प्रभावित करता है जिससे उपभोग तथा बचत के स्तर तथा आकार में परिवर्तन होता है। उपभोग विभिन्न उद्योगों को प्रभावित करता है और अन्त में आय में वृद्धि के रूप में परिलक्षित होता है।

$$K = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$$

यहाँ पर $K =$ गुणक

$\Delta Y =$ आय में परिवर्तन अथवा (निवेश के बाद आय–निवेश से पूर्व आय)

$\Delta I =$निवेश में परिवर्तन अथवा (कुल निवेश – पूर्व निवेश)

यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह आवश्यक नहीं है कि जितनी मात्रा में नवीन निवेश किया जाता है, आय में यह वृद्धि नवीन निवेश के बराबर हो। यह निवेश से अधिक या कम हो सकती है। गुणक का मान 1 नहीं हो सकता है। जैसे किसी अर्थव्यवस्था में विनियोग में वृद्धि 05 करोड़ रूपये होती है और राष्ट्रीय आय में वृद्धि 20 करोड़ रूपये की होती है तो गुणक 04 होगा।

1.3 गुणक का प्रकृति (Nature of Multiplier) :–

गुणक के अर्थ को स्पष्ट करने के पश्चात गुणक के प्रकृति को भी समझा जाएगा। समयावधि के अनुसार गुणक दो स्वरूपों में क्रियाशील होता है–

1. **स्थैतिक गुणक(Static Multilier)** :– इस प्रकार के गुणक में आय पर निवेश में परिवर्तन का प्रभाव तत्काल होता है जिससे उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन उसी समय होता है तथा उपभोग वस्तुओं पर व्यय भी उसी समय कर दिया जाता है।

2. **प्रावैगिक गुणक(Dynamic Multiplier)** :–व्यवहारिक रूप में स्थैतिक गुणक में क्रियाशीलता नहीं पायी जाती है। वस्तुओं के उपभोग पर व्यय तथा उपभोग वस्तुओं के उत्पादन के

समय में अन्तर पाया जाता है आय तथा उपभोग में समायोजन की श्रृंखला में कई महीने या वर्ष की समयावधि लग जाती है।

1.4 गुणक तथा उपभोग व बचत(Multiplier and Consumption, saving) :–गुणक के अर्थ को समझने के बाद गुणक के उपभोग तथा बचत के साथ सम्बन्ध की व्याख्या करेंगे।

1. **सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति एवं गुणक(Mariginal Propensity to consume and Multiplier)** :– निवेश में होने वाले परिवर्तन का आय पर प्रभाव सीधा न होकर विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के माध्यम से होता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति गुणक के निर्धारण का सबसे प्रमुख महत्वपूर्ण तत्व है। निवेश में वृद्धि होने पर मांग में वृद्धि होती है। परिणाम स्वरूप पूर्ति की भी व्यवस्था करनी होती है। जिससे उद्योगों की आय में वृद्धि होती है। रोजगार में वृद्धि से लोगों की आय में वृद्धि होती है और उनकी क्रयशक्ति बढ़ती है। जिससे उपभोग के स्तर में वृद्धि होती है। उपभोग में यह वृद्धि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के रूप में बढ़ती है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बढ़ने से वस्तुओं की मांग पुनः बढ़ती है तथा पूर्ति में वृद्धि हेतु रोजगार के स्तर तथा मजदूरी में वृद्धि होती है और यह क्रम चलता रहा है। इस प्रकार सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति जितनी अधिक होती है गुणक का मान भी उतना अधिक होता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति जितनी कम होती गुणक का मान भी उतना कम होगा। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के सम्बन्ध में गुणक को निम्न रूप में लिख सकते हैं।

$$K = \frac{1}{1-MPC}$$ (यहाँ पर MPC= सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति)

यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 3/5 है तथा निवेश में परिवर्तन 400 करोड़ रूपये है तो गुणक के मान को निम्न प्रकार निकाल सकते है–

$$K = \frac{1}{1-MPC}$$
$$\boldsymbol{K = \frac{1}{1-3/5}}$$
$$K = \frac{1}{2/5}$$
$$K = \frac{1X5}{2}$$
$$K = 2.5$$

अब यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बढ़कर 3/4 हो जाती है तब–

$$K = \frac{1}{1-MPC}$$
$$\boldsymbol{K = \frac{1}{1-3/4}}$$
$$K = \frac{1}{1/4}$$
$$K = \frac{1X4}{2}$$
$$K = 4$$

इस प्रकार ऊपर दिये गये विवरण से स्पष्ट है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 3/5 होने पर गुणक का मान 2.5 गुना है। अर्थात् 400 करोड़ रूपये के निवेश पर 1000 करोड़ रूपये की आय में वृद्धि होगी। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बढ़कर 3/4 होने पर गुणक का मान 4 गुना हो जाता है अर्थात् 400 करोड़ रूपये के नवीन निवेश के परिणम स्वरूप आय में 1600 रूपये की वृद्धि होगी जो पूर्व की आय परिवर्तन से 600 करोड़ रूपये अधिक है।

1.5 सीमान्त बचत प्रवृत्ति एवं गुणक (Marginal propensity to save and Multiplier):-

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का गुणक के साथ सम्बन्ध के बाद सीमान्त बचत प्रवृत्ति पर भी बात करना अत्यन्त आवश्यक है। सीमान्त बचत प्रवृत्ति का गुणक के आकार के साथ ऋणात्मक सम्बन्ध होता है। अर्थात सीमान्त बचत प्रवृत्ति जितनी अधिक होगी गुणक का मान

उतना ही कम होगा। इसके विपरीत MPS जितनी कम होगी गुणक का मान उतना ही अधिक होगा। सीमान्त बचत प्रवृत्ति तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का योग इकाई के बराबर होता है। इसलिये गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति के व्युत्क्रम केबराबर होता है।

$$K = \frac{1}{1 - MPC}$$

$$K = \frac{1}{1 - (1 - MPS)}$$

$$K = \frac{1}{1-1+MPS} \qquad \therefore \text{MPC + MPS=1}$$

$$\therefore \text{MPC = 1-MPS}$$

$$K = \frac{1}{MPS}$$

सीमान्त बचत प्रवृत्ति तथा गुणक के आकार के रूप के मध्य सम्बन्ध को निम्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि MPS का मान 1/4 है।

तब

$$K = \frac{1}{(MPS)}$$

$$K = \frac{1}{1/4}$$

$$K = \frac{4}{1}$$

K=4

सीमान्त बचत प्रवृत्ति का मान 1/4 होने पर गुणक का मान MPS का व्युत्क्रम अर्थात 4 गुना होगा अब यदि MPS का मान बढ़कर 1/3 हो जाता है तब–

$$K = \frac{1}{1/3}$$

$$K = \frac{1X3}{1}$$

K=3

MPSका मान 1/3 होने पर MPS का व्युत्क्रम अर्थात् 3 गुना गुणक होगा। इसके विपरीत सीमान्त बचत प्रवृत्ति का मान घटकर 1/5 हो जाता है तब–

$$K = \frac{1}{1/5} = \frac{1X5}{1} = 5$$

निवेश में 400 करोड़ की वृद्धि होने पर सीमान्त बचत प्रवृत्ति के 1/4 होने की दशा में आय में वृद्धि 1600 करोड़ रूपये होगी। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि सीमान्त बचत प्रवृत्ति 1/5 होने पर आय में 2000 करोड़ रूपये की वृद्धि होगी तथा सीमान्त बचत प्रवृत्ति बढ़कर 1/3 होने पर आय में वृद्धि केवल 1200 करोड़ रूपये ही होगी।

***MPC*, *MPS*तथा *K*के साथ अर्न्तसम्बन्ध :–**MPS, MPC तथा K के मध्य अर्न्तसम्बन्धों को निम्न तालिका में दर्शाया जा सकता है।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति , सीमान्त बचत प्रवृत्ती तथा गुणक का सम्बन्ध :–

MPC	MPS	K (Multiplier)
0	1	1
0.1	0.9	1.1
0.2	0.8	1.25
0.3	0.7	1.42
0.4	0.6	1.66

½ or 0.5	½ or 0.5	2
0.6	0.4	2.5
0.7	0.3	3.33
0.8	0.2	5.00
0.9	0.1	10.0
1.0	0	∞(अनन्त)

इससे स्पष्ट है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 0 होने पर गुणक का मान 1 के बराबर होगा जैसे–जैसे MPC बढ़ती जाती है MPS घटती जाती है। MPC के बढ़ने तथा MPS के घटने के साथ गुणक का मान बढ़ता चला जाता है। MPC 0 से बढ़कर 0.1 होने पर K का मान 1 से बढ़कर 1.1 हो जाता है। इसी प्रकार MPC बढ़कर 0.5 होने पर K का मान बढ़कर 2 हो जाता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में निरन्तर वृद्धि होने पर गुणक के मान में भी तेजी से वृद्धि होती है। MPC का मान 1 होने पर K का मान अनन्त हो जाता है लेकिन K का मान 1 या अनन्त होना एक सामान्य बात नहीं है। K का मान 1 तथा अनन्त के मध्य ही रहता है।

इससे स्पष्ट होता है कि जैसे–जैसे MPS घटती जाती है गुणक का मान इसके विपरीत बढ़ता जाता है। इस प्रकार गुणक का मान MPC के अनुकूल तथा MPS क विपरीत दिशा में उत्पन्न होता है।

1.6 गुणक की ऋणात्मक स्थिति :–

अर्थशास्त्र में निवेश में होने वाला परिवर्तन आय तथा उत्पादन में वृद्धि के रूप में ही प्रकट होता है तथा गुणक क्रिया की प्रवृत्ति धनात्मक होती है। कुछ विपरीत तथा असामान्य स्थितियों में गुणक की क्रियाशीलता ऋणात्मक दिशा में भी पायी जाती है। निवेश में परिवर्तन धनात्मक होने के साथ–साथ ऋणात्मक भी हो सकता है जिसका राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है तथा उत्पादन का स्तर गिरने लगता है। उत्पादन के स्तर में यह गिरावट गुणक की मात्रा के अनुरूप ही पायी जाती है। गुणक की मात्रा जितनी अधिक होगी उत्पादन तथा रोजगार में उतनी ही अधिक गिरावट आयेगी। गुणक का स्तर जितना कम होगा आय में यह गिरावट उतनी ही कम होगी। यहाँ यह भी ध्यान देना अति आवश्यक है कि निवेश तथा आय में यह कमी निबल रूप में ही होती है।निवेश में कमी होने पर उद्योगों में रोजगार में लगे व्यक्तियों को रोजगार देने में समर्थ नहीं होते तथा व्यक्तियों की छटनी आदि प्रारम्भ होती है जिससे बेरोजगारी बढ़ जाती है और अर्थव्यवस्था में कुल मांग में कमी होती है गुणक की ऋणात्मक दिशा में क्रियाशीलता अधिक समय तक नहीं बनी रहती है क्योंकि ऐसी स्थिति में समस्त आर्थिक क्रियाएं पूर्णरूप से अस्तव्यस्त हो जाती है।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट करना होगा कि निवेश में कमी के परिणामस्वरूप आय में कमी होती है, उस अनुपात के अनुसार उपभोग प्रवृत्ति में गिरावट नहीं होती है क्योंकि एक निश्चित स्तर पर उपभोग के अभ्यस्त हो चुके होते हैं तथा उस स्तर पर उपभोग को बनाये रखते हैं जिससे गुणक के विपरीत दिशा में बहुत थोड़े समय के लिये क्रियाशील होकर उपभोग प्रभाव के कारण धनात्मक दिशा में कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। उपभोग प्रभाव के साथ–साथ सरकारी तथा निजी संस्थाओं द्वारा भी अर्थव्यवस्थाओं को पटरी पर लाने के लिये सार्थक प्रयास किये जाते है।

ऋणात्मक दिशा में गुणक की क्रियाशीलता को स्पष्ट कर सकते है –

$$K = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$$ (धनात्मक रूप)

$$K = \frac{-\Delta Y}{-\Delta I}$$ (ऋणात्मक रूप)

यदि उपभोग प्रवृत्ति को स्थिर मान लिया जाय तथा गुणक का मान 2 है तथा निवेश में परिवर्तन ΔI 100 करोड़ रूपये है तब राष्ट्रीय आय में 200 करोड़ रूपये की कमी आयेगी जिसे $-\Delta Y$ के रूप में दर्शाया जायेगा।

यदि गुणक का मान पुनः बढ़कर 2.5 हो जायेगा तब निवेश में अग्रिम 100 करोड़ की कमी होने पर उपभोग में 250 करोड़ रूपये की कमी होगी जिसे $-\Delta Y$ के रूप में निम्नवत् दर्शाया जायेगा।

$$K = \frac{-\Delta Y}{-\Delta i}$$

$$2.5 = \frac{-\Delta Y}{-100Cr.}$$

$$-\Delta Y = -100X2.5$$

$$-\Delta Y = -250\ Cr.Rs$$

1.7 सुपर गुणक(Super Multiplier) :–

गुणक के सामान्य अर्थ एवं अन्य पक्षों से सम्बन्धित तथ्यों को समझने के बाद अब सुपर गुणक को स्पष्ट करेंगे। सुपर गुणक के अन्तर्गत त्वरक एवं गुणक की अन्तक्रिया द्वारा अन्ततः आय तथा रोजगार पर कई गुना प्रभाव पड़ता है जिसे सुपर गुणक के रूप में व्यक्त किया जाता है।

प्रारम्भिक निवेश में वृद्धि के परिणाम स्वरूप आय में वृद्धि होती है जिससे उपभोग क्रिया में वृद्धि होती है। उपभोग वृद्धि से त्वरक क्रिया के कारण निवेश की वृद्धि होती है जिससे पुनः आय तथा रोजगार में वृद्धि हो जाती है।

$$K = \frac{-\Delta Y}{-\Delta I}$$

$$\Delta Y = \Delta C + \Delta S$$

$$a\frac{\Delta I}{\Delta C}$$

$$\text{Super Multiplier} = \frac{\Delta Y}{\Delta I}$$

ΔYतथाΔI गुणक तथा त्वरक क्रिया के बाद अन्तिम परिवर्तन है।

अति गुणक को प्रेरित उपभोग यासीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $(\Delta C/\Delta Y)$ तथा प्रेरित निवेश या सीमान्त निवेश प्रवृत्ति के दोनों को जोड़कर प्राप्त की जाती है। आय पर गुणक–त्वरक के संयुक्त प्रभाव को नीचे स्पष्ट किया गया है । मान लें कि प्रेरक–उपभोग तथा प्रेरक–विनियोग का योग प्रेरक न्याय (Marginal Propensity to spend, MPX) है, अर्थात्,

MPX = MPC + MPI

जहां MPI = विनियोग की सीमान्त प्रवृत्ति।

ऐसी स्थिति में मिश्रित या सुपर गुणक $= \frac{1}{1-MPX} = \frac{1}{1-(MPC+MPI)}$

1.8गुणक तथा अर्थव्यवस्था(Multiplier and Economy) :–

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था गुणक की क्रियाशीलता से एक बड़ी सीमा तक महत्वपूर्ण रूप में प्रभावित होती है। गुणक का प्रभाव बहुआयामी होता है। जिस प्रकार से सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का मान 0 तथा 1 के मध्य रहता है। ठीक इसी के अनुसार गुणक का मान भी 1 तथा अनन्त के मध्य ही रहता है। गुणक का मान सामान्यतः 1 नहीं रहता । फिर भी K=1 रहने पर आय में निवेश के बराबर ही वृद्धि होगी जिससे रोजगार के स्तर में अधिक वद्धि होना सम्भव नहीं है तथा निवेशकर्ता नवीन निवेश के लिये प्रोत्साहित नहीं होंगे। परिणामस्वरूप गुणक अर्थव्यवस्था को अधिक गति प्रदान नहीं कर सकेगा। जैसे–जैसे गुणक का मान 1 से अधिक होता जाता है अर्थव्यवस्था में आय रोजगार के स्तर में वृद्धि होती जाती है तथा नवीन निवेश को प्रोत्साहन मिलता है। जब गुणक का मान अनन्त के पास होता है। तथा अर्थव्यवस्था में आय का स्तर

तेजी से बढ़ता है तथा अर्थव्यवस्था में मुद्रा स्फीति/तेजी की दशायें उत्पन्न होना प्रारम्भ हो जाती है।

1.9 गुणक की आवश्यक दशायें :– गुणक का अर्थ एवं क्रियाशीलता को समझने के बाद यह भी समझना अति आवश्यक है कि गुणक की क्रियाशीलता के लिये आवश्यक दशायें कौन–कौन सी है जिसके अन्तर्गत गुणक का आकार निर्धारित होता है। यदि ये आवश्यक दशायें मौजूद न हों तो गुणक के मान पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगता है –

1. गुणक की क्रियाशीलता के लिये आवश्यक है कि निवेश में वृद्धि होनी चाहिये। एक क्षेत्र में निवेश में कमी करके दूसरे क्षेत्र में निवेश नहीं बढ़ाना होगा बल्कि कुल निवेश में वृद्धि निबल होनी चाहिए।
2. पूर्ण रोजगार के स्तर पर गुणक का प्रभाव नहीं होगा।
3. निबल विदेशी प्राप्तियां होनी चाहिये। आयातों का मूल्य निर्यात से अधिक न हो।
4. कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि भी गुणक के मात्रा में वृद्धि को रोकता हैं बढ़ी हुई आय का अधिक भाग मांग में वृद्धि की अपेक्षा वस्तुओं की ऊँची कीमतों पर ही व्यय हो जाता है।
5. अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त उत्पादन क्षमता होनी चाहिए।

1.10 गुणक फलन की आलोचना :–

यह कि गुणक फलन का अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है लेकिन विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा गुणक फलन की विभिन्न आधारों पर आलोचनायें की गयी है।

1. प्रो हेनरी हैजलिट कहते कि '' निवेश तथा आय में कोई स्पष्ट , पूर्व निश्चित अथवा यांत्रिक सम्बन्ध नहीं होता है। निवेश में परिवर्तन के परिणामस्वरूप आय के स्तर में होने वाला परिवर्तन अन्य तत्वों का भी परिणाम होता है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।
2. गुणक की क्रियाशीलता के लिये जो आवश्यक दशायें निर्धारित की गयी है वह एक सामान्य अर्थव्यवस्था में निश्चित रूप से नहीं पायी जा सकती है।
3. गुणक स्वयं में एक निष्क्रिय तथ्य है। त्वरक की क्रियाशीलता के बिना गुणक की मात्रा की कल्पना करना सार्थक नहीं है।
4. मार्शल ने गुणक को मनगढंत बताया तथा स्टिग्लर एवं हॉट्रे ने गुणक की अवधारणा को व्यर्थ बताया।

1.11 त्वरक का अर्थ :–

त्वरक सिद्धान्त के अनुसार जब अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है तो इससे उत्पन्न मांग की पूर्ति के लिये निबल निवेश में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय या उत्पादन में वृद्धि होती है तो इसके परिणाम स्वरूप निवेश में निबल वृद्धि होती है जो त्वरक के बराबर होती है। इस आधार पर निबल निवेश को आय या उत्पादन में परिवर्तन का फलन माना जाता है।

$$\text{त्वरक} = \frac{\text{निवेश की मात्रा में परिवर्तन}}{\text{आय या उत्पादन या उपभोग में परिवर्तन}}$$

$$\text{त्वरक } (a) = \frac{\Delta I}{\Delta Y} = \frac{\Delta I}{\Delta C}$$

यहां पर यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक होगा कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि या कमी, व्यक्तियों की मांग को प्रभावित करती है। मांग का सीधा संबंध उपभोग के स्तर से है इसीलिये त्वरक सिद्धान्त के अन्तर्गत निवेश में परिवर्तन पर उपभोग में परिवर्तन के आनुपातिक प्रभाव के रूप में त्वरक को मापा जाता है।

अतः

$$\text{त्वरक} = \frac{\text{निवेश में परिवर्तन}}{\text{उपभोग में परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\Delta I}{\Delta c}$$

आय में कमी या वृद्धि से वस्तुओं की मांग में जो परिवर्तन होता है वह उपभोक्ता तथा पूंजीगत मांग के रूप में होता है लेकिन दोनों का निवेश की मांग से सीधा ही सम्बन्ध है।

1.12 त्वरक की आवश्यक दशायें :–

उपभोक्ता उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता का अभाव एवं पूंजीगत उद्योगों में अतिरिक्त क्षमताका होना त्वरक के कार्यरकण के लिए आवश्यक है। अर्थव्यवस्था में त्वरक का सिद्धान्त निम्न दशाओं की उपस्थिति में ही क्रियाशील होता है। जिन्हें त्वरक सिद्धान्त की मान्यताओं के रूप में भी जाना जाता है –

1. अतिरिक्त क्षमता की स्थिति में त्वरक की आकार अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त क्षमता की स्थिति द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होती है। प्रथमतः यदि उपभोग वस्तु उद्योगों में आधिक्य नहीं है। यदि क्षमता (Excess Capacity) होता तो उपभोग वस्तुओं की मांग में होने वाली वृद्धि की पूर्ति मौजूदा उत्पादन क्षमता से ही की जाती। ऐसी दशा में नई मशीनों की मांग उत्पन्न नहीं होती है। और द्वितीय पूंजीगत उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता मौजूदा रहनी चाहिये ताकि निवेश मांग पर मशीन, उपकरण, आदि पूंजीगत वस्तुओं की पूर्ति बढ़ायी जा सके। इसके विपरीत स्थिति में निवेश में वृद्धि समय से सम्भव नहीं होगी।
2. अर्थव्यवस्था में अन्य अनेक दशायें पायी जाती है जिनके अन्तर्गत ही त्वरक का मान सीमित होता है। जैसे सरकारी निवेश नीति, निवेश पर प्रतिफल की दर। सरकारी निवेश नीति तथा निवेश पर प्रतिफल की दर अनुकूल होने पर त्वरक का मान बढ़ जाता है तथा स्थितियां प्रतिकूल होने पर यह मात्रा कम हो जाती है।
3. पूँजी–उत्पादन अनुपात स्थिर पाया जाता है। यहां यह भी जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उक्त दशायें केवल त्वरक के धनात्मक रूप में होने के लिये ही आवश्यक है। इन दशाओं के न पाये जाने पर भी त्वरक क्रियाशील होगा लेकिन किस रूप में यह इन दशाओं के आकार पर निर्भर करेगा। त्वरक का मान कम हो सकता है तथा ऋणात्मक रूप में भी निर्धारित हो सकता है।

1.13 त्वरक की क्रियाशीलता (Operation of the Accelerator) :–

त्वरक के अर्थ को समझने के बाद अब त्वरक की क्रियाशीलता को समझने में आसानी होगी। त्वरक का सिद्धान्त व्युत्पन्न मांग पर आधारित है। गुणक की क्रियाशीलता के कारण जब आय तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि होती है तो आय तथा रोजगार के इस परिवर्तन का प्रभाव व्यक्तियों के उपभोग में वृद्धि के रूप में होता है। जिससे वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग मे वृद्धि होती है। मांग में वृद्धि की पूर्ति के लिये उत्पादन में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

मांग में वृद्धि दो रूपों में होती है। प्रथम उपभोक्ता वस्तुओं की मांग, द्वितीय पूँजीगत वस्तुओं की मांग। यहां पर यह भी बताना अत्यन्त आवश्यक है कि उपभोग वस्तुओं की पूर्ति करने के लिये पूँजीगत वस्तुओं की मांग में स्वतः वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप निवेश की मांग भी बढ़ जाती है। इस प्रकार उपभोग में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप निवेश की मात्रा परिवर्तन होता है जो उपभोग के परिवर्तन का कई गुना होता है। जिसे त्वरक के रूप में जाना जाता है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट करना है कि मांग में वृद्धि को पूरा करने के

लिये वर्तमान पूँजी स्टॉक के गहन प्रयोग द्वाराउत्पादन को नहीं बढ़ाया जा सकता क्योंकि वर्तमान पूँजी स्टाक में अतिरिक्त उत्पादन क्षमता विद्यमान नहीं है तथा इसका पूर्ण कुशलता के साथ प्रयोग किया जा रहा है। अतः बढ़ी हुई मांग की पूर्ति के लिये नवीन निबल निवेश में वृद्धि आवश्यक हो जाती है। जो त्वरक के बराबर होती है। इस प्रकार त्वरक सिद्धान्त के अन्तर्गत निवल निवेश में जो वृद्धि होती है वह प्रेरित निवेश के रूप में होता है।

त्वरक का मान 1 या 1 से कम या अधिक भी हो सकता है यदि उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में निवेश वस्तु उद्योगों/पूँजीगत उद्योगों में निबल नहीं होता है तो त्वरक का मान शून्य हो जाता है। त्वरक की क्रियाशीलता को सरलता से समझने के लिए उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

1. यह कि उपभोग की 1,000 वस्तुओं के उत्पादन के लिए 100 मशीनों की आवश्यकता है।
2. यह कि प्रत्येक मशीन की आयु 10 वर्ष है। 10 वर्ष के बाद मशीन का प्रतिस्थापन करना पड़ता है। इसका अर्थ यह है कि उपभोग की 1,000 वस्तुओं का निरन्तर उत्पादन करते रहने के लिए प्रति वर्ष 10 नयी मशीनों की आवश्यकता पड़ती रहेगी। मशीनों की इस मांग को हम 'पुनः स्थापन्न' मांग कह सकते है।
3. जब उपभोग वस्तुओं की मांग में वृद्धि हो जाती है तो फलस्वरूप मशीनों की पुनः स्थापन्न मांग के साथ–साथ कुछ अतिरिक्त मशीनों की मांग भी की जायेगी।

त्वरक की कार्य–प्रणालीः–

वर्ष	वस्तुएं	आवश्यक मशीनों की मांग	पुनः स्थापन मांग	अतिरिक्त मांग	नयी मशीन की कुछ मांग	त्वरक
1	2	3	4	5	(4+5)	
0	1,000	100	10	0	10	–
1	1,100	110	10	10	20	10
2	1,300	130	10	20	30	2.75
3	1,500	150	10	20	30	0
4	1,600	160	10	10	20	ऋणात्मक

स्पष्टीकरण (Explanation) :-

1. **t_0 वर्ष :–** मान लीजिए, 0 वर्ष (चालू वर्ष) में वस्तुओं की मांग 1,000 है जिसके बनाने के लिए 100 मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। इस वर्ष के अन्त में 10 मशीनें पुनः स्थापित की जायेंगी क्योंकि प्रत्येक मशीन का 1/10वाँ भाग खराब हो जाता है (यह हमारी मान्यता भी है)

$$\text{अतः } \frac{100X1}{10}=10 \text{ नयी मशीन की कुल माँग होगी}$$

इस चालू वर्ष में त्वरक क्रियाशील नहीं होगा क्योंकि वस्तुओं की मांग में कोई वृद्धि नहीं हुई है।

2. **t_1 वर्ष :–** अब मान लीजिए, अगले वर्ष में वस्तुओं की मांग 1,000 से बढ़कर 1,100 हो जाती है अर्थात् मांग में 10 प्रतिशत की वृद्धि होती है, ऐसी स्थिति में उत्पादन के लिए 10 प्रतिशत मशीनों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार कुल मशीनों की मांग 20 (अतिरिक्त उत्पादन हेतु 10 नयी मशीनों की मांग + 10 मशीनों की पुनः स्थापन्न मांग) हो जायेगी। इस वर्ष के लिए त्वरक का मूल्य इस प्रकार निकाला जायेगा :

$$\Delta C \text{ (उपभोग में वृद्धि)} = \frac{100}{1{,}000} X100 = 10\%$$

(वस्तुओं की मांग वृद्धि = 1,100-1,000=100)

ΔI(विनियोग में वृद्धि) = 100% ∴ मशीनों की कुल मांग 10 से बढ़कर 20 अर्थात् दुगुनी हो जाती है)

अतः त्वरक $= \frac{\Delta I}{\Delta C} = \frac{100}{10} = 10$

3. $\mathbf{t_2}$ वर्ष :– दूसरे वर्ष मान लीजिए वस्तुओं की मांग 1,100 से बढ़कर 1,300 हो जाती है जिसके लिए 20 मशीनों की आवश्यकता होगी (अर्थात् 110 मशीनें 1,100 वस्तुओं का उत्पादन करने लिए और 20 नयी मशीनें 200 वस्तुओं की मांग 'वृद्धि हेतु चाहिए)। अतः 20 मशीनों की नयी मांग + इसके अतिरिक्त 10 मशीनों की पुनः स्थापन्न मांग अर्थात् कुल 30 नयी मशीनों की मांग की जायेगी । त्वरक का मूल्य इस प्रकार होगा :

$$\Delta C \text{ (उपभोग में वृद्धि)} = \frac{200}{1{,}100} X100 = 18.18\%$$

(∴वस्तुओं की मांग वृद्धि = 1,300-100=200)

ΔI(विनियोग में वृद्धि) = 18.18% (∴ मशीनों की कुल मांग 20 से बढ़कर 30 अर्थात् 50% बढ़ जाती है)

अतः त्वरक $= \frac{\Delta I}{\Delta C} = \frac{50}{18.18} = 2.75$

4. $\mathbf{t_3}$ वर्ष :– यदि तीसरे वर्ष में वस्तुओं की मांग 1,300 से बढ़कर 1,500 हो जाती है तो इससे कुल नयी मशीनों की मांग 30 होगी (10 पुनः स्थापन हेतु + 20 अतिरिक्त हेतु)इस स्थिति में यद्यपि उपभोग में 15.38 प्रतिशत वृद्धि होती है परन्तु विनियोग नहीं बढ़ता क्योंकि कॉलम 6 के अनुसार नयी मशीनों की कुल मांग पिछले वर्ष में भी 30 थी और इस वर्ष में भी 30 है अर्थात् विनियोग की मात्रा पूर्ववत् बनी हुई है। अतः त्वरक का मूल्य 0 / 15.38=0 अर्थात् शून्य होगा।
5. $\mathbf{t_4}$ वर्ष :– चौथे वर्ष में उपभोग में 7 प्रतिशत की वृद्धि हुई किन्तु मशीनों की मांग में गिरावट आ गयी, अतः त्वरक ऋणात्मक हो गया।

1.14 त्वरक का गुणक की अन्तक्रिया :–

गुणक तथा त्वरक एक दूसरे के पूरक है।एक दूसरे के सह अस्तित्व के बिना इसकी क्रियाशीलता सम्भव नहीं है। एक ओर गुणक निवेश में परिवर्तन का आय पर प्रभाव को दर्शाता है वही त्वरक उपभोग में परिवर्तन का निवेश पर प्रभाव को दर्शाता है। यहां पर आय में परिवर्तन तथा उपभोग में परिवर्तन का सम्बन्ध ही गुणक तथा त्वरक की क्रियाशीलता को आपस में जोड़ता है। अतः गुणक का आकार सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है जो एक मनोवैज्ञानिक पक्ष में जुड़ा है। वहीं त्वरक की संकल्पना एक तकनीकी पक्ष है, जो उपभोग से प्रभावित है।

त्वरक तथा गुणक की क्रियाशीलता अर्थव्यवस्था में स्वतंत्र निवेश से प्रारम्भ होती है देश में होने वाले गैर आयगत परिवर्तनों के कारण सरकार को भारी मात्रा में स्वतंत्र निवेश करना होता है और यह स्वतंत्र निवेश समयानुसार निरन्तर बढ़ता रहता है। इस स्वतन्त्र निवेश का देश की राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के स्तर पर कई गुना प्रभाव पड़ता है जो गुणक के बराबर होता है। आय तथा रोजगार के बढ़ने पर व्यक्तियों की क्रयशक्ति बढ़ जाती है जो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। वस्तुओं की बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिये अधिक उत्पादन की आवश्यकता होती है। अर्थव्यवस्था में साधनों का गहन प्रयोग सम्भव नहीं है। इसलिये नये निवेश की मांग भी बढ़ जाती है और निवल निवेश में वृद्धि होती है। निवेश में होने वाली यह वृद्धि भी उपभोग में परिवर्तन की कई गुना होती है। निवेश में वृद्धि के परिणाम स्वरूप उत्पादन के साधनों की मांग बढ़ती है जिससे व्यक्तियों की आय तथा रोजगार में वृद्धि होती है। जिसका प्रभाव अर्थव्यवस्था में क्रयशक्ति में वृद्धि के रूप में होता है।

क्रयशक्ति में वृद्धि होने पर उपभोग के स्तर में भी वृद्धि हो जाती है। उपभोग के परिवर्तन से निवेश में पुनः परिवर्तन त्वरक के आकार के बराबर होता है और निवेश की मात्रा बढ़कर ऊँचे स्तर पर पहुंच जाती है।

1.15त्वरक तथा व्यापार चक्र :–

कीन्स ने व्यापार चक्रों की उत्पत्ति के लिये पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में परिवर्तन होना बताया। नये निवेश से प्रत्याशित लाभ की दर में बदलाव से ही आर्थिक उतार–चढ़ाव आते है। मन्दी की स्थिति में प्रत्याशित लाभ की दर गिरने से निवेश की मात्रा कम हो जाती है। फलस्वरूप गुणक विपरीत दिशा में कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। जिसका आय तथा रोजगार पर ऋणात्मक प्रभाव में पड़ता है। मंदी की स्थिति में पूंजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है जिससे गुणक का मान धनात्मक दिशा में कार्य करता है।

कीन्स ने व्यापार चक्रों के विश्लेषण में त्वरक को कोई स्थान नहीं दिया। सैम्युलसन ने व्यापार चक्रों को गुणक तथा त्वरक की अन्तक्रिया द्वारा घटित होना बताया। गुणक अकेला अर्थव्यवस्था में आर्थिक उतार–चढ़ाव पैदा नहीं कर सकता। गुणक की क्रियाशीलता के द्वारा आय में वृद्धि होती है जिससे उपभोग बढ़ता है व मांग में वृद्धि होती है। परिणाम स्वरूप तेजी की स्थिति पैदा होती है। मांग में वृद्धि के कारण त्वरक की क्रियाशीलता निवेश मांग को बढाती है जिससे मांग में और अधिक वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में कीमतों में तीव्र वृद्धि होती है। स्वतंत्र निवेश की क्रियाशीलता मांग को और अधिक बढ़ा देती है। तेजी में निवेश अत्यधिक बढ़ जाता है। पूर्ति की तुलना में मांग में कमी या ऊँची कीमतों के कारण मांग में कमी के कारण गुणक तथा त्वरक की क्रियाशीलता विपरीत दिशा में क्रियाशील होती है और अर्थव्यवस्था में निवेश की कमी के कारण उत्पादन तथा रोजगार का स्तर गिर जाता है जिससे उपभोग के स्तर में भी कमी आती है। तब इस उपभोग में कमी का प्रभाव त्वरक के लागू होने के कारण निवेश पर भी प्रतिकूल दिशा में पड़ता है तथा निवेश की मात्रा घट जाती है और अर्थव्यवस्था में मंदी का दौर शुरू हो जाता है। इस प्रकार गुणक तथा त्वरक की पारस्परिक क्रियाशीलता दिशा तथा प्रतिदिशा में होती रहती है तथा व्यापार चक्रों का दौर चलता रहता है।

सैम्युलसन के साथ–साथ जेआर हिक्स ने भी व्यापार चक्रों की व्याख्या में गुणक तथा त्वरक की अवधारणाओं का प्रयोग किया। व्यापार चक्रों की उत्पत्ति में स्वतंत्र तथा प्रेरित निवेश के प्रभावों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। स्वतंत्र निवेश भी गुणक त्वरक की अन्तर्क्रिया को प्रभावित करता है। इस स्थिति में भी गुणक तथा त्वरक तथा स्वतंत्र निवेश के प्रभावों के कारण राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति ऊपर जाने की होती है तथा रोजगार के स्तर में भी वृद्धि होती है।

1.16 त्वरक सिद्धान्त का महत्व :–

1. त्वरक सिद्धान्त से अर्थशास्त्र में आर्थिक विश्लेषण को एक नई दिशा मिली। कीन्स के आय तथा रोजगार की अपूर्णता को त्वरक सिद्धान्त द्वारा ही पूरा किया गया।
2. त्वरक के माध्यम से अर्थव्यवस्था में आवश्यक निवेश की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है जो आर्थिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है।
3. त्वरक के द्वारा गुणक की मात्रा भी प्रभावित होती है तथा गुणक त्वरक की अन्तक्रिया अर्थव्यवस्था को गतिशीलता प्रदान करती है।
4. त्वरक की क्रियाशीलता निवेश में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों यथा विनिर्माण सेवा, व्यापार को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है जो एक अर्थव्यवस्था के लिये अत्यन्त आवश्यक है।
5. त्वरक फलन के द्वारा हमें उत्पत्ति प्रक्रिया को समझने में वैज्ञानिक एवं तकनीकी रूप से सहायता मिलती है जो वर्तमान में विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

1.17 त्वरक सिद्धान्त की आलोचना :–

1. पूंजी विनियोग :–

यदि बाजार में मांग की जाने वाली वस्तुओं की प्रकृति में स्थायी रूप से वृद्धि की जाती है तब तो त्वरक सिद्धान्त विकासात्मक प्रेरणादायक है परन्तु

इसके विपरीत यदि बाजार में मांग अस्थायी रूप में बढ़ती है, तो विनियोक्ता वर्ग नई पूंजी का विनियोजन नहीं करेगा तथा त्वरक क्रिया निष्क्रिय रहेगी।

2. उत्पादन क्षमता का पहले से ही अतिरक्त होना :–

यदि किसी उद्योग में पहले से ही अप्रयुक्त मशीनें विद्यमान हों तो मांग बढ़ने पर इनका प्रयोग प्रारम्भ हो जायेगा एवं निवेश में वृद्धि नहीं होगी। अतः त्वरक कार्यशील नहीं होगा।

3. सस्ती साख नीति :–

वास्तव में विनियोगों की मात्रा उपलब्ध साख की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि साख की मात्रा कम है तो विनियोग कम होंगे तथा त्वरक की कार्यशीलता में बाधा उत्पन्न होगी।

4. समय–विलम्ब की अवहेलना :–

नवीन विनियोगों एवं उनके परिणामों में कुछ समयावधि लग जाती है। त्वरक सिद्धान्त विनियोग की मात्रा पर तो बल देता है परन्तु विनियोग की अवधि पर उचित प्रकाश नहीं डालता है। वास्तव में समयावधि एक महत्वपूर्ण तत्व है, अतः त्वरक सिद्धान्त का आधार त्रुटिपूर्ण है।

5. अन्य तत्वों की महत्ता को स्वीकार न करना :–

आलोचकों का मत है कि केवल त्वरक ही विनियोगों की मात्रा को प्रभावित नहीं करता बल्कि अन्य तत्व, जैसे–देश में स्थिरता, युद्धों की स्थिति अथवा भय न होना, शान्तिकाल ऐसे है जो स्वयं विनियोग की मात्रा को प्रभावित करते है, जिनका त्वरक सिद्धान्त में विशेष ध्यान नहीं रखा गया है।

6. सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना :–

यदि सरकार द्वारा दीर्घकाल में फल देने वाले उद्योगों की स्थापना की जाती है, तो उद्योगों में होने वाला भय विनियोग स्तर पर आधारित नहीं होता, अतः त्वरक क्रियाशील नहीं होता।

1.18 सारांश (Summary) :–

गुणक का अर्थ निवेश में प्रारम्भिक परिवर्तन के फलस्वरूप आय में अन्तिम रूप से होने वाले आनुपातिक परिवर्तन से लगाया जाता है। इस प्रकार निवेश में होने वाला परिवर्तन आय में धनात्मक या ऋणात्मक परिवर्तन के रूप में भी हो सकता है। निवेश गुणक का सामान्य रूप से सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के साथ धनात्मक तथा सीधा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार गुणक सीमान्त बचत प्रवृत्ति का व्युत्क्रम होता है। जैसे–जैसे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती जाती है वैसे वैसे गुणक की आकार भी बढ़ता जाता है। गुणक का अर्थव्यवस्था में आय पर प्रभाव के साथ–साथ रोजगार की मात्रा पर भी प्रभाव पड़ता है। गुणक की मात्रा अधिक होने पर निवेश को प्रोत्साहन मिलता है तथा कम होने पर नवीन निवेश के लिये प्रेरणा कम होती जाती है। अर्थशास्त्रियों ने गुणक तथा त्वरक की अन्तक्रिया द्वारा आय तथा रोजगार पर पड़ने वाले प्रभाव के संदर्भ में सुपर गुणक की अवधारणा को भी विकसित किया है। गुणक केवल धनात्मक दिशा में ही नहीं बल्कि ऋणात्मक दिशा में भी कार्य करता है। कुछ विपरीत तथा असमान स्थितियों में गुणक विपरीत दिशा में क्रियाशील के समान होता है। ऋणात्मक दिशा में गुणक की क्रियाशीलता ठीक गुणक की धनात्मक दिशा की ओर क्रियाशीलता के समान होती है। निवेश में कमी होने पर आय में जो कमी होती है वह गुणक के आकार पर निर्भर करती है।

त्वरक सिद्धान्त यह बताता है कि आय के बढ़ने पर निवेश की मात्रा में जितने गुणा वृद्धि होती है वह वृद्धि त्वरक के मान के बराबर होती है। वही आय में वृद्धि तथा स्वतन्त्र निवेश के कारण व्यक्तियों के उपभोग में परिवर्तन होता रहता है। इस उपभोग में परिवर्तन का निवेश पर होने वाले परिवर्तन का प्रभाव त्वरक कहलाता है। त्वरक की क्रियाशीलता के लिये गुणक की क्रियाशीलता का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। त्वरक का मान 1 से कम या एक से अधिक भी हो सकता है। एक के बराबर त्वरक का मान होने पर निवेश

में परिवर्तन उपभोग में परिवर्तन के आनुपातिक ही होता है। त्वरक का सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है– स्थायी मांग, अपूर्ण रोजगार, स्थिर पूंजी उत्पादन अनुपात आदि।त्वरक का मान धनात्मक होने के साथ–साथ ऋणात्मक भी हो सकता है त्वरक तथा गुणक की अन्तक्रिया के माध्यम से ही अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्रों की उत्पत्ति होती है। त्वरक की मात्रा का राष्ट्रीय आय तथा रोजगार से सीधा सम्बन्ध है। क्योंकि निवेश में वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पादन तथा रोजगार दोनों में वृद्धि होती है।

त्वरक का विपरीत दिशा में क्रियाशीलता अर्थव्यवस्था को गतिहीनता की ओर ले जाती है। देश में उत्पादन, रोजगार तथा नवीन पूंजीगत वस्तुओं के निर्माण में कमी प्रारम्भ हो जाती है। त्वरक का महत्व अर्थव्यवस्था में विकास की प्रक्रिया तथा जनता के जीवन स्तर से जुड़ा होने के कारण अत्यधिक बढ़ जाता है।

1.19 शब्दावली(Key words) :–

प्रेरित उपभोग (Induced consumption), प्रेरित विनियोग(Induced Investment), पूंजी उत्पाद अनुपात(Capital Output Ratio), त्वरक(Accelerator), सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति(Marginal Propensity to Consum), गुणक(Multiplier) , मान्यताए(Assumptions) , स्थैतिक गुणक(Static Multiplier), प्रावैगिक गुणक(Dynamic Multiplier), सुपर गुणक(Super Multiplier), त्वरक की क्रियाशीलता(Operation of the Accelerator)

1.20 संदर्भित ग्रन्थ सूची(Reference Books) :–

1. आहूजा, एच0एल0 (2010), उच्चतर समष्टि अर्थशास्त्र, एस चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 रामनगर, दिल्ली।
2. सेठ, एम0एल00 (2010), अर्थशास्त्र के सिद्धान्त, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा।
3. सेठी, टी0टी0 (2009),समष्टि अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल प्रकाशन आगरा।
4. आहूजा, एच0एल (2009), उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त, एस चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0, दिल्ली।
5. सिंह, बी0एन0बी0 (2008), इण्डियन इकोनोमी टुडे, दीप एण्ड दीप पब्लिकेशन्स प्रा लि0, नई दिल्ली।
6. पन्त, जे0सी0 एवं डॉ सेठ (2010) आर्थिक विचारों का इतिहास, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, संजय प्लेस, आगरा।
7. सिंह, एस0पी0 (2009), आर्थिक विकास एवं नियोजन, एस0 चन्द एण्ड क0 लि, दिल्ली।

1.21 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions):–

1. त्वरक सिद्धान्त क्या है? इसके आय प्रभाव की व्याख्या कीजिए?
2. त्वरक तथा गुणक की आन्तःक्रिया को स्पष्ट कीजिए।
3. त्वरक के महत्व को स्पष्ट करो?
4. गुणक से आप क्या समझते हैं?
5. सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति तथा गुणक के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करो?
6. त्वरक की क्रियाशीलता को स्पष्ट कीजिए ।
7. गुणक की क्रियाशीलता बताइए।
8. सुपर गुणक की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

1.20 वस्तुनिष्ठ प्रश्न–उत्तर (Objectives Question Answer) :–

1. त्वरक सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया–

   क. कीन्स से ख. मार्शल ग. अफतालियन

घ. कोई नहीं
(उत्तर ग)

2. कौन सा तत्व त्वरक पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है–
क. मांग में अस्थायी वृद्धि　　ख ब्याज की दर
ग. गुणक की मात्रा में वृद्धि　　घ. उक्त सभी
(उत्तर क)

3. त्वरक सिद्धान्त में स्थिर माना गया है–
क. ब्याज की दर　　ख. पूंजी उत्पादन अनुपात
ग. शुद्ध निवेश　　घ. उक्त सभी
(उत्तर ख)

4. व्यापार चक्रों के सिद्धान्त में त्वरक का प्रयोग किया–
क. सैम्युलसन　　ख. कीन्स　　ग. मार्शल　　घ रोविन्स
(उत्तर क)

5. गुणक क्रियाशील रहता है–
क. केवल धनात्मक रूप में　　ख. धनात्मक तथा ऋणात्मक रूप में
ग. केवल विपरीत दिशा में　　घ कोई नही
(उत्तर ख)

6. त्वरक का सूत्र है–
क. प्रेरित विनियोग में परिवर्तन
उपभोग में परिवर्तन
ख. उपभोग में परिवर्तन
प्रेरित विनियोग
ग. कुल राष्ट्रीय आय
विनियोग
घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)

7. सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ऊँची होने पर गुणक–
क. अधिक होगा　　ख. स्थिर होगा
ग. कम होगा　　घ. इनमें से कोई नहीं
(उत्तर क)

8. किसने गुणक की धारणा को आवश्यक तथा व्यर्थ बताया है–
क. कीन्स ने　　ख. स्टिगलर
ग. हाटे　　घ. स्टिगलर एवं हाट्रे
(उत्तर घ)

9. त्वरक के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रयोग किया–
क. जे0 एम0 क्लार्क
ख. कीन्स
ग. हैरोड
घ. हिक्स
(उत्तर क)

खण्ड–5
इकाई–5

कीन्स के सिद्धान्त की अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिए प्रासंगिकता
Relevance of Keynes' theory to underdeveloped economies

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 कीन्स का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशों में लागू न होने के कारण
1.3 कीन्स द्वारा प्रयुक्त उपकरणों की सार्थकता
1.4 अर्द्धविकसित देशों में कीन्स के सिद्धान्त की सार्थकता
1.5 सारांश
1.6 शब्दावली
1.7 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.8 अभ्यास प्रश्न
1.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

कीन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन मुख्यतया विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवथाओं की समस्याओं को ही दृष्टिगत रखकर किया था। अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाओं की समस्याओं पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया था। यह तथ्य इस बात से प्रकट होता है कि केन्सीय विश्लेषण जिन मान्यताओं पर आधारित है, वो व्यवहार में अल्प–विकसित देशों में नहीं पाई जाती। कीन्स का सामान्य सिद्धान्त अर्थशास्त्र का एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्त है परन्तु अर्थशास्त्रियों में इस बात का मतभेद पाया जाता है कि यह सिद्धान्त किस प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में लागू होता है। अधिकतर अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह सिद्धान्त केवल विकसित अर्थव्यवस्थाओं : जैसे–अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि देशों में लागू होता है और अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं में उनकी उपयोगिता सीमित है। इस सम्बन्ध में शुम्पीटर लिखते हैं, '' व्यापारिक कीन्सवाद एक ऐसा पौधा है जिसे विदेशी भूमि में ले जाकर नहीं उगाया जा सकता है। यदि इन पौधों को दूसरे देशों में लगाया जाता है तो वह सूख ही नहीं जाता बल्कि जहरीला बन जाता है।'' इसी प्रकार हैरिस लिखते हैं, ''वे लोग जो प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक समय में सिद्ध होने वाले सार्वभौमिक सत्य की खोज में हैं, अच्छा हो यदि सामान्य सिद्धान्त के अध्ययन पर अपना समय नष्ट न करें।''

1.1 उद्देश्य (Objectives)

1. अल्पविकसित देशों के सम्बन्ध में कीन्स के सिद्धान्त को जान सकेंगे।
2. अल्पविकसित देशों के सम्बन्ध में उनकी सार्थकता की जांच कर सकेंगे।
3. अल्पविकसित देशों के सम्बन्ध में कीन्स के सिद्धान्त की उपयोगिता या अनुपयुक्तता की जांच कर सकेंगे।

1.2 कीन्स का सिद्धान्त अर्द्धविकसित देशों में लागू न होने के कारण (Reasons for not applicability of Keynesian Theory in Under-Developed Countries) :-

1. **मूल समस्या में अन्तर (Difference in Main Problem) :-** विकसित देशों की मुख्य समस्या उनकी आर्थिक अस्थिरता है। इसके विपरीत, अर्द्धविकसित देशों की मुख्य समस्या यह

है कि आर्थिक विकास कैसे किया जाये। दूसरे शब्दों में, अर्द्धविकसित देशों के सामने यह समस्या है कि अपनी आय तथा रोजगार के स्तर को कैसे द्रुतगति से बढ़ाये। यदि हम दोनों देशों की समस्याओं पर विचार करें, तो विदित होगा कि विकसित देशों में समस्या एक दी हुई उत्पादन सम्भावना वक्र पर चलते रहने की है, जबकि अर्द्धविकसित देशों में समस्या उत्पादन सम्भावना वक्र के स्वयं विवर्तित करने की है

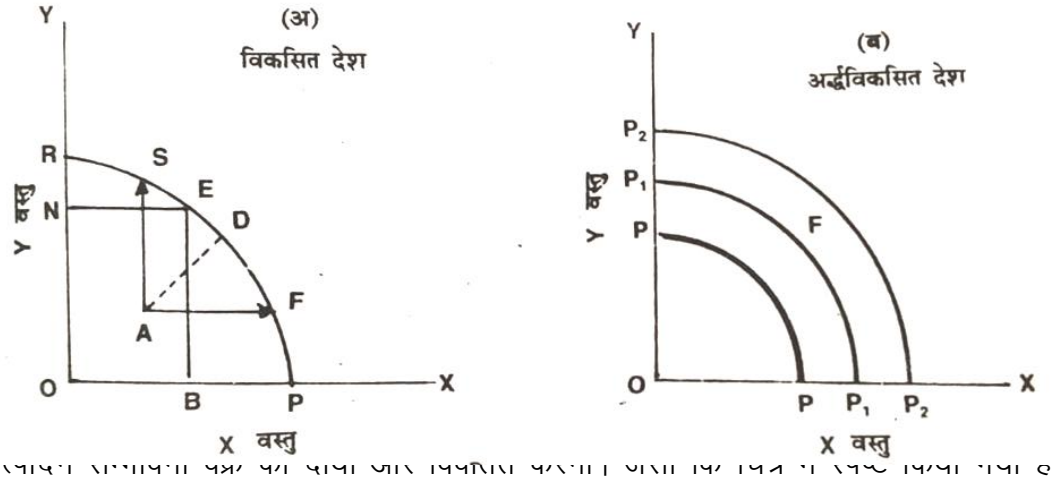

उत्पादन सम्भावना वक्र को दायीं ओर विवर्तित करेगा। जैसा कि चित्र में स्पष्ट किया गया है।

आर्थिक विकास के कारण उत्पादन सम्भावना वक्र को विवर्तित करके PP से P_1P_1व P_2P_2आदि किया जा सकता है। माना कि अर्थव्यवस्था के लिए उत्पादन संभावना वक्र PP है, इस वक्र PP के सन्दर्भ में बिन्दु F वस्तुओं के अप्राप्त संयोगों को बताता है क्योंकि यह PP वक्र के बाहर है। आर्थिक विकास का अर्थ है कि PP उत्पादन सम्भावना वक्र आगे को खिसक कर नयी स्थिति P_1P_1मे आ जाता है और अब वस्तुओं को अप्राप्त संयोगों को बताने वाला बिन्दु F नये उत्पादन सम्भावना वक्र P_1P_1पर आ जाता है।

2. **सिद्धान्त की मान्यताओं (Assumptions) के आधार पर अव्यावहारिक :–** कीन्स का सिद्धान्त कुछ पूर्व–मान्यताओं पर आधारित है : जैसे– 1. बेरोजगारी का अल्पकालिक स्वरूप अर्थात् चक्रीय बेरोजगारी की धारणा, 2. कार्यकुशल श्रमिकों की लोचदार पूर्ति, 3. श्रम के साथ–साथ पूंजी का भी बेरोजगार होना, 4. बचत की कल्पना तथा अल्पकालीन विश्लेषण, 5. बन्द अर्थव्यवस्था अर्द्धविकसित देशों में इन विशेषताओं का सर्वथा अभाव होता है। इन देशों में बेरोजगारी चक्रीय अथवा अल्पकालीन न होकर स्थायी अथवा दीर्घकालीन होती है। कुशल श्रम–शक्ति का अभाव बना रहता है। बेरोजगारी केवल श्रमिकों में ही पायी जाती है, पूंजी में नहीं, क्योंकि पूंजी का इन देशों में सर्वथा अभाव होता है। बचतों में आवश्यकतानुसार वृद्धि करने की सम्भावना शून्य होती है। अतः इन सब बातों के कारण कीन्स का सिद्धान्त पिछड़े हुए, देशों के लिए सर्वथा अव्यावहारिक है।
3. **सिद्धान्त के लागू होने की परिस्थितियों (Circumstances) के आधार पर :–**कीन्स का रोजगार सिद्धान्त कुछ विशेष प्रकार की परिस्थितियों में लागू होता है। उदाहरण के लिए 1. बेरोजगारी का स्वरूप चक्रीय होना चाहिए, 2. बैकिंग, मुद्रा बाजार विकसित हों, 3. अर्थव्यवस्था में सम्भावित उत्पादन क्षमता विद्यमान हों , 4. प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि करके आर्थिक स्थिरता को प्राप्त किया जा सकता हों आदि। जहाँ तक अर्द्धविकसित देशों में इन परिस्थितियों के पाये जाने का सवाल है, यह सभी परिस्थितियों में चक्रीय के स्थान पर अदृश्य बेरोजगारी का पाया जाना, बैकिंग व मुद्रा बाजार का अविकसित बना रहना, उत्पादन क्षमता में सुधार की कम सभावना होना और आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त साधनों का अभाव होने के कारण सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर सन्देह किया जा सकता है। इतना ही इन्हीं, अल्पविकसित देशों की मुख्य समस्या आर्थिक अस्थिरता को दूर करने की नहीं बल्कि आर्थिक विकास को प्रेरित करने की है।
4. **चक्रीय बेरोजगारी :–**कीन्स ने अपना सिद्धान्त चक्रीय बेरोजगारी को ध्यान में रखते हुए, प्रतिपादित किया है जो मन्दी के समय प्रभावपूर्ण मांग में आई कमी के कारण पैदा होती है। अल्प–विकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोजगारी का स्वरूप चक्रीय नहीं होता।

अल्प–विकसित देशों में प्रमुख समस्या अदृश्य तथा चिरकालिक बेरोजगारी की होती है। यह प्रभावपूर्ण मांग में कमी के कारण नहीं, बल्कि पूंजीगत साधनों की कमी के कारण होती है। चिरकालिक तथा अदृश्य अथवा प्रच्छन्न बेरोजगारी का इलाज है आर्थिक विकास, जिस पर कीन्स ने कोई ध्यान नहीं दिया। इस तरह चक्रीय बेरोजगारी की केन्सीय धारणा अल्प–विकसित देशों में नहीं लागू होती।

5. **बन्द अर्थव्यवस्था :–** केन्सीय अर्थव्यवस्था बन्द अर्थव्यवस्था की धारणा पर आधारित है। बन्द अर्थव्यवस्था में विदेशी सौदों का महत्व नहीं होता, परन्तु अल्प–विकसित देशों की अर्थव्यवस्थाएं बन्द नहीं होती। उनका विकास करने में विदेशी व्यापार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वे अर्थव्यवस्थाएं मुख्य रूप से कृषिगत पदार्थों एवं औद्योगिक कच्चे माल के निर्यात तथा मशीनों अन्य पूंजीगत पदार्थों तथा तकनीकी ज्ञान के आयात पर निर्भर करती है। इस तरह, कीन्स की इस मान्यता से अल्प–विकसित देशों का कोई सम्बन्ध नहीं है।
6. **अल्पकालीन विश्लेषण :–** कीन्स का सिद्धान्त अल्पकाल की मान्यता पर आधारित है, क्योंकि विकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या अल्पकालीन होती है जिसे प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि करके दूर किया जा सकता है। इसके विपरीत, अल्प–विकसित देशों की समस्या दीर्घकालीन आर्थिक विकास की होती है।
7. **श्रम एवं अन्य साधनों की अधिकता :–**केन्सीय विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था में श्रम तथा अन्य साधनों का आधिक्य रहता है तथा आवश्यकता पड़ने पर इनका प्रयोग किया जा सकता है। यह मान्यता मन्दीकालीन अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित है। यहां ''उद्योग, मशीनें, प्रबन्धकर्ता तथा श्रमिक एवं उपभोग आदतें सभी केवल इस प्रतीक्षा में रहते है कि अस्थायी रूप से निलम्बित श्रमिक अपने कार्य तथा कार्यभाग को संभाल लें।'' परन्तु अल्प–विकसित देशों में आर्थिक क्रियाओं का अस्थायी निलम्बन होता ही नहीं। यहाँ आर्थिक सक्रियता स्थैतिक होती है तथा पूंजी, कुशलता तथा अन्य साधनों एवं आर्थिक अधः संरचना का अत्यधिक अभाव पाया जाता है।
8. **पूंजी तथा श्रम की बेरोजगारी साथ–साथ होती है :–** केन्सीय विश्लेषण के अनुसार श्रम तथा पूंजी बाजार में साथ–साथ बेरोजगारी पाई जाती है, परन्तु अल्प–विकसित देशों में ऐसा नहीं होता। वहां श्रम तो बेरोजगार रहता है, परन्तु पूंजी के बेरोजगार रहने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि ऐसे देशों में पूंजी की अत्यन्त कमी रहती है। इस तरह, केन्सीय अर्थशास्त्र जिन मान्यताओं पर आधारित है, वे अल्प–विकसित देशों में वर्तमान परिस्थितियों में लागू नहीं होती है।

1.3 कीन्स द्वारा प्रयुक्त उपकरणों की सार्थकता :–

1. **प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand) :–** कीन्स के प्रभावपूर्ण मांग की धारणा अर्द्धविकसित देशों में लागू नहीं होती। कीन्स के अनुसार रोजगार की मात्रा प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करती है। अतः बेरोजगारी दूर करने के लिए प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि की जानी चाहिए, किन्तु अल्प विकसित देशों की प्रमुख समस्या मांग कमी न होकर पूर्ति की कमी होती है। कीन्स का विचार था कि मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने से ब्याज की दर घटेगी, जिससे निवेश एवं रोजगार की मात्रा में वृद्धि होगी, किन्तु अर्द्ध–विकसित देशों में मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने पर रोजगार के बजाय कीमतों में वृद्धि होने लगती है, क्योंकि अर्द्धविकसित देशों में पूंजीगत संसाधनों की कमी के कारण उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती।

9. **गुणक(Multiplier)** :–केन्सीय विश्लेषण में गुणक एक महत्वपूर्ण औजार है जो अर्द्ध–विकसित देशों में सामान्य रूप से कार्य नहीं करता, क्योंकि अर्द्ध–विकसित देश उन पूर्वधारणाओं की सन्तुष्टि नहीं कर पाते जो कि गुणक की क्रियाशीलता के लिए आवश्यक हैं–ये मान्यताएं इस प्रकार हैः
    - गुणक के लिए अनैच्छिक बेरोजगारी की उपस्थिति आवश्यक है, जबकि अर्द्ध–विकसित देशों में अनैच्छिक बेरोजगारी के बजाय अदृष्ट बेरोजगारी पाई जाती है।
    - गुणक की दूसरी शर्त है कि उत्पादन का पूर्ति वक्र मूल्य सापेक्ष होता है अर्थात् जब किसी वस्तु की मांग में वृद्धि होती है तो उसकी पूर्ति बिना किसी कठिनाई के बढ़ाई जा सकती है, परन्तु अर्द्ध–विकसित देशों में पूर्तिवक्र की बेलोचता (Inelasticity) के कारण गुणक सरलतापूर्वक कार्य नहीं करता।

- उपभोग वस्तु उद्योगों में अतिरिक्त क्षमता होना अर्थात उपभोग वस्तुओं की मांग बढ़ने पर उनकी पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है।
- उत्पादन साधनों की लोचदार पूर्ति का होना।

10. **उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume) :–** उपभोग प्रवृत्ति कीन्सवादी अर्थशास्त्र के महत्वपूर्ण औजारों में से एक है। यह उपभोग और आय के बीच सम्बन्ध को बताता है। जब आय बढ़ती है, तो उपभोग भी बढ़ता है, परन्तु आय में हुई वृद्धि की अपेक्षा कम मात्रा में आय बढ़ती है तो बचत में भी वृद्धि होती है। अल्प–विकसित देशों में आय, उपभोग तथा बचत के ये सम्बन्ध टिक नहीं पाते। अल्प–विकसित देशों में सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है, जबकि सीमान्त बचत प्रवृत्ति बहुत कम। केन्सीय अर्थशास्त्र हमें यह बताता है कि जब सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ऊँची रहती है तो आय में वृद्धि होने पर मांग, उत्पादन तथा रोजगार अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ते हैं, परन्तु अल्प–विकसित देशों में जब आय में वृद्धि होने पर उपभोग में वृद्धि होती है तो उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना सम्भव नहीं होता, क्योंकि सहायक साधनों की दुर्लभता रहती है परिणामस्वरूप रोजगार स्तर में वृद्धि के बजाय कीमतों में वृद्धि हो जाती है।

11. **बचत प्रवृत्ति(Propensity to save) :–** कीन्स के अनुसार बचत एक सामाजिक दोष है, क्योंकि बचत की अधिकता से प्रभावपूर्ण मांग में कमी आती है। यह विचार अल्प–विकसित देशों पर नहीं लागू होता, क्योंकि उनके आर्थिक विकास के लिए बचतें बहुत आवश्यक होती है। पूंजी निर्माण आर्थिक विकास की कुंजी है और पूंजी निर्माण तब सम्भव है जब लोग बचत करें। इस प्रकार अल्प–विकसित देशों के लिए बचत दोष नहीं बल्कि एक गुण है।

12. **निवेश प्रेरणा (Inducement to invest):–** कीन्स के अनुसार निवेश प्रेरणा अर्थात निजी निवेश की मात्रा निर्भर करती है–
    1. पूंजी की सीमान्त दक्षता (Marginal Efficiency of Capital)
    2. ब्याज की दर(Rate of Interest)

    निजी निवेश तभी प्रोत्साहित होगा जब पूंजी की सीमान्त दक्षता ब्याज दर से अधिक हो। अल्प–विकसित देशों में पूंजी की सीमान्त दक्षता नीची होने के कारण निवेश में वृद्धि करना कठिन होता है। इसके कई कारण हैं–
    1. देश के सबसे बड़े व्यवसाय कृषि की प्रकृति पर निर्भरता के कारण अनिश्चितता बनी रहती है।
    2. आय का स्तर निम्न होने के कारण मांग सीमित रहती है।
    3. आधारभूत सुविधाएं – बिजली, पानी, यातायात एवं संचार के साधन, वित्तीय संस्थाएं, आदि का अभाव निजी निवेश को हतोत्साहित करता है।
    4. केन्स का ब्याज दर सिद्धान्त भी अल्प–विकसित देशों के लिए अनुपयुक्त है।

13. **पूर्ण रोजगार(Full Employment) :–** केन्स के अनुसार, कोई भी अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति में तब कही जाती है, जबकि प्रभावपूर्ण मांग में होने वाली वृद्धि कुल उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि करने के बजाय कीमतों में स्फीतिजनक वृद्धि उत्पन्न कर देती है। अल्प–विकसित देशों मे उत्पादन की बेलोचदार प्रकृति के कारण प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि होती है तो उत्पादन, मांग वृद्धि के अनुपात में नहीं बढ़ता जिससे कीमतों में स्फीतिक वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार कीन्स ने पूर्ण रोजगार को जिस प्रकार परिभाषित किया है, उससे लगता है कि अर्द्ध–विकसित अर्थव्यवस्थाएं तो पहले से ही पूर्ण रोजगारी की स्थिति में होती है।

    यह कि विकसित एवं अर्द्ध–विकसित अर्थव्यवस्थाओं में आधारभूत अन्तर होते है। यही कारण है कि अर्द्ध–विकसित देशों में कीन्स का रोजगार सिद्धान्त तथा विश्लेषण के यन्त्र ठीक उसी प्रकार कार्यशील नहीं होते जैसे कि विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में कार्य करते है। इस सम्बन्ध में डॉ0 वी0 के0 आर0 वी0 राव का कथन है कि कीन्स ने पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए घाटे के बजट एवं उपभोग व्यय के समर्थन सहित जिस अर्थनीति का प्रतिपादन किया है, वह अर्द्ध–विकसित देशों में लागू नहीं होती। डॉ0 राव का विचार है कि अर्द्ध–विकसित देशों में केन्सीय उपचार विधि का अंधाधुन्ध प्रयोग अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ है तथा स्फीतिक मूल्य वृद्धि का कारण बन गया है। उनके अनुसार

अर्द्ध–विकसित देशों में आर्थिक विकास के लिए लगभग उसी नीति को अपनाया जाना अधिक उपयुक्त है जिसे क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया था।

1.4 अर्द्धविकसित देशों में कीन्स के सिद्धान्त की सार्थकता(Applicability of Keynes's Theory in under-developed countries) :– कीन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की समस्याओं को ध्यान में रखकर किया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कीन्स ने बेरोजगारी तथा मन्दी के निराकरण के लिए जो उपचार विधि बताई है उसे अर्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं में किस हद तक प्रयुक्त किया जा सकता है। केन्सीय विश्लेषण के प्रमुख अंग हैं–

1. राज्य की सक्रिय भूमिका(Active role of the state)
2. सार्वजनिक निर्माण कार्य(Public works)
3. राजकोषीय नीति(Fiscal Policy)
4. मौद्रिक नीति (Monetory Policy)

कीन्स के अनुसार आर्थिक जीवन में राज्य को सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए और इसी के साथ उसने क्लासिकल विचारधारा की 'अबन्ध नीति' (Laissez Faire Policy) का परित्याग कर दिया। अर्द्धविकसित देशों में तो आर्थिक विकास के लिए राज्य की भूमिका और भी महत्वपूर्ण है। इन देशों में आर्थिक जड़ता, राज्य के हस्तक्षेप के बिना दूर नहीं की जा सकती। कल्याणकारी राज्य की स्थापना तथा सदियों से पीड़ित शोषित जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए राज्य को आगे आना होता है। अतः अर्द्धविकसित देशों में नियोजित आर्थिक विकास के कार्यक्रम राज्य द्वारा संचालित एवं क्रियान्वित किए जाते है।

अर्द्धविकसित देशों में स्थायी विकास में सार्वजनिक निर्माण कार्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्मरणीय है कि कीन्स ने सार्वजनिक निर्माण कार्यों का समर्थन प्रभावपूर्ण मांग में कमी को दूर करने के लिए किया था। किन्तु अर्द्धविकसित देशों में इनका उद्देश्य भिन्न होता है। आधारभूत उद्योगों का विकास करने के लिए सार्वजनिक निवेश की आवश्यकता होती है, क्योंकि इन क्षेत्रों में निजी निवेश आकर्षित नहीं होता। इसे अलावा अर्थव्यवस्था में सामाजिक पूंजी निर्माण के लिए सार्वजनिक निर्माण कार्य आवश्यक होते है।

बेरोजगारी एवं मन्दी के निवारण हेतु कीन्स ने जो मौद्रिक एवं राजकोषीय उपाय सुझाए हैं उनका प्रयोग अर्द्धविकसित देशों की समस्याओं को सुलझाने में किया जा सकता है। आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त साधन जुटाने के लिए अर्द्धविकसित देशों को 'घाटे की वित्त व्यवस्था' का सहारा लेना पड़ता है। सार्वजनिक व्यय की पूर्ति के लिए अतिरिक्त कराधान, सार्वजनिक ऋण, घाटे की वित्त व्यवस्था तथा निवेश प्रोत्साहन के लिए सस्ती ब्याज दरों पर अतिरिक्त साख मुद्रा का सृजन भी आवश्यक होता है। इस प्रकार आर्थिक विकास के लिए मौद्रिक एवं वित्तीय नीति एक कारगार उपाय के रूप में अर्द्धविकसित देशों में प्रयुक्त की जाती है।

इसमें संदेह नहीं कि कीन्स के उपकरण समस्याओं की भिन्नता तथा पूर्व धारणाओं की अनुपस्थिति के कारण, अर्द्धविकसित देशों में ठीक उसी प्रकार काम नहीं करता जैसे कि विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में क्रियाशील होते हैं, यह भी सच है कि अर्द्धविकसित देशों में केन्सीय नीतियों के अंधानुकरण ने अनेक नई समस्याओं को जन्म दिया है, लेकिन इसमें केन्सीय उपकरणों का कम, उनके प्रयोग कर्ताओं का दोष अधिक है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि केन्सीय प्रविधि को अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं की विशिष्ट समस्याओं के दृष्टिकोण से संशोधित कर प्रयुक्त किया जाए।

1.5 सारांश (Summary) :-

कीन्स का अर्थशास्त्र भले ही अर्द्ध विकसित राष्ट्रों की मुख्य समस्याओं में अपना महत्व न रखता हो परन्तु उसके बताए गये उपकरण विकासशील राष्ट्रों की जो कि संक्रमणकाल से गुजर रहे हैं, कुछ समस्याओं के निराकरण में उपयोगी हो सकते हैं, जैसे–प्रभावी मांग, राष्ट्रीय आय की गणना, स्फीति अन्तर, मौद्रिक बहाव सभी देशों के लिए उपयुक्त है। इसलिए कीन्स के विचारों को आज की समस्याओं के निराकरण के लिए काम में लिया जा सकता है। प्रो0 के0 एन0 राज कहते है कि ''कीन्स के अर्थशास्त्र को अर्द्ध–विकसित राष्ट्रों में पूर्ण रूप से अनुपयुक्त ठहराना ऐसा ही है जैसे कोई नहाने के पानी के साथ बच्चे को भी बाहर फेंक दें।'' उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि भारत में कीन्स का सिद्धान्त अनुपयुक्त है पर यह कुछ समस्याओं के निराकरण में उपयुक्त हो सकता है।

1.6 शब्दावली (Key words) :-

1. मूल समस्या (Main Problem)
2. मान्यतायें (Assumptions)
3. परिस्थितियों (Circumstances)
4. आर्थिक स्थिरता (Economic Stability)
5. चक्रीय (Cyclical)
6. अदृश्य (Disguised)
7. बचत (Savings)
8. ब्याज की दर (Rate of Interest)
9. गुणक (Multiplier)
10. प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand)
11. उपभोग फलन (Consumption Function)
12. प्रवृत्ति (Propensity)
13. निवेश प्रेरणा (Inducement to invest)
14. उपकरण (Tools)
15. अबन्ध नीति (Laissez Faire Policy)
16. सार्थकता (Applicability)

1.7 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Refference Books):-

1. मौद्रिक अर्थशास्त्र (2000) डॉ0 हरिश्चन्द्र शर्मा एवं0 डॉ0 जी0सी0 सिंघई , साहित्य भवन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लि0 आगरा।
2. समष्टि आर्थिक विश्लेषण (2010) डॉ0 जी0सी0 सिंघई एवं डॉ0 जे0पी0 मिश्रा साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा।
3. समष्टि अर्थशास्त्र (2011–12) एस0वी0पी0डी0 पब्लिशिंग हाऊस, आगरा।
4. Ahuja H.L. (2010) : Principle of Macro Economics, S Chand, New Delhi
5. Jhigan M.L (2004) : Macro Economic Theory, Vrinda Publications Delhi
6. Seth M.L. (2001) : Macroeconomic , Lakshmi Narayan Agrawal Education Publishers : Agra.

1.8 अभ्यास प्रश्न(Practice Questions)

1. प्रो. कीन्स द्वारा प्रतिपादित रोजगार का सिद्धान्त अल्पविकसित देशों पर कहाँ तक लागू होता है?
2. ''कीन्स द्वारा प्रेरित नीतियाँ अल्पविकसित देशों की समस्याओं के लिए अधिक प्रासंगिक नहीं है।'' व्याख्या कीजिए।
3. अर्द्धविकसित देशों में कीन्स का अर्थशास्त्र कहाँ तक लागू होता है?
4. अर्द्धविकसित देशों में प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि का प्रभाव रोजगार पर क्या पड़ता है?
5. अर्द्धविकसित देशों में कीन्स के सिद्धान्त की प्रमुख अवधारणाओं को कहाँ तक लागू किया जा सकता है?

1.9 वस्तुनिष्ठ प्रश्न(Objective Questions)

1. अर्द्धविकसित देशों में पायी जाने वाली बेरोजगारी को कहते हैः
   क. चक्रीय बेरोजगारी — ख. अदृश्य बेरोजगारी
   ग. नगरीय बेरोजगारी — घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
2. अर्द्धविकसित देशों में निम्न प्रभावपूर्ण मांग का प्रमुख कारण है–
   क. अधिक बचत — ख. कम प्रति व्यक्ति आय
   ग. उपभोग प्रवृत्ति — घ. उपर्युक्त में कोई नहीं।

(उत्तर ख)

3. अर्द्धविकसित देशो का विकास सम्भव है :
   क. उपभोग को बढ़ाकर ख. बचतों को बढ़ाकर
   ग. प्रभावपूर्ण मांग को बढ़ाकर घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
4. अर्द्धविकसित देशों में तरलता पसन्दगी के उद्देश्यों में सबसे कम महत्वपूर्ण होता हैः
   क. लेन–देन उद्देश्य ख. सावधानी उद्देश्य
   ग. सट्टा उद्देश्य घ. उपर्युक्त में से कोई नहीं।
   (उत्तर ग)
5. कीन्स के सिद्धान्त के उपकरण है–
   क. प्रभावपूर्ण मांग ख. गुणक
   ग. पूंजी की सीमान्त दक्षता घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)

खण्ड–06
व्यापार चक्र
इकाई–01

व्यापार चक्र, आशय तथा व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाऐं
(Meaning of Trade Cycle and Different Phases of the Trade Cycle)

इकाई की रूपरेखा

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 व्यापार चक्र का आशय
1.3 विभिन्न प्रकार उच्चावचन
1.4 परिभाषाएं
1.5 व्यापार चक्रों प्रकार
1.6 व्यापार चक्रों की विशेषताएं
1.7 व्यापार चक्र की अवस्थाएं की प्रवृत्तियां
1.8 व्यापार चक्रों की अवस्थाओं की प्रवृत्तियां
1.9 व्यापार चक्र को रोकने के सुझाव
1.10 सारांश
1.11 शब्दावली
1.12 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.13 अभ्यास प्रश्न
1.14 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 प्रस्तावना(Introduction) :–व्यापार चक्र को पूंजीवादी प्रणाली का एक अंग माना जाता है। चक्र शब्द से तात्पर्य घटनाओं के एक निश्चित क्रम से है जिनकी पुनरावृत्ति होती रहती है। जब यह पुनरावृत्ति व्यापार के क्षेत्र में होती है तो इसे व्यापार चक्र का नाम दिया जाता है। सामान्य अर्थ में व्यापार चक्र चक्रीय समृद्धि एवं मन्दी की घटनाओं का प्रतीक है। व्यापार चक्र में कुल रोजगार, कुल आय, कुल उत्पादन तथा कीमत स्तर में लहरों के समान उतार–चढ़ाव होते रहते हैं।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :–

1. आर्थिक उच्चावचन को जान सकेंगे।
2. व्यापार चक्र की विशेषताओं की जानकारी हो सकेगी।
3. व्यापार चक्र के प्रमुख प्रकारों को समझ सकेंगे।
4. व्यापार चक्र की अवस्थाओं को समझ सकेंगे।
5. व्यापार चक्रों को रोकने के उपाय को जान सकेंगे।

1.2 व्यापार चक्र का आशय(Meaning of Trade Cycle) :– व्यापार चक्र में घटना–क्रम इस प्रकार चलता है कि जब क्रम ऊपर की ओर चलना आरम्भ होता है तो इसमें सहायक सभी तत्व सम्पूर्ण शक्ति से इसमें सहयोग करते हैं और जब मूल्य तथा रोजगार चरमसीमा तक पहुंच जाते हैं तो चक्र विपरीत दिशा में चलने लगता है और सम्पूर्ण क्रियाएं सर्वथा उलट जाती है। केन्स का कहना है कि ''आर्थिक क्रियाओं में उतार–चढ़ाव के इस क्रम में एक निश्चित नियमितता होती है और एक काम के समाप्त होते ही दूसरा अपने आप आरम्भ होता रहता है।'' आर्थिक क्रियाओं के उतार–चढ़ाव का यह चक्र नियमित रूप से घूमता रहता है। इसीलिए इसे 'चक्र' का नाम दिया गया है।

1.3 विभिन्न प्रकार के उच्चावचन(Different Types Fluctuations) :–आर्थिक जीवन में निरन्तर परिवर्तन होते है और वास्तविक आर्थिक साम्य की स्थिति प्रायः कभी नहीं आने पाती। विभिन्न परिवर्तनों के फलस्वरूप ऐसे अवसर आते रहते हैं जबकि अर्थव्यवस्था साम्य की निकटतम स्थिति में होती है परन्तु कुछ समय पश्चात पुनः साम्य से दूर हो जाती है। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले उतार–चढ़ावों में चार प्रमुख कारण बताये गये हैः

1. **आकस्मिक परिवर्तन(Random Fluctuations) :–** प्रथम प्रकार के तत्वों को आकस्मिक परिवर्तन नाम दिया गया है। ऐसे परिवर्तनों की कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती और ये परिवर्तन भारी अनियमितता एवं अनिश्चितता के साथ यदा–कदा उपस्थित होते रहते है। यह आकस्मिक परिवर्तन अकाल, बाढ़, सूखा ,भूचाल, आदि के कारण उत्पन्न हो सकते हैं और कभी–कभी युद्ध अथवा कोई राजनीतिक विवाद भी इनका कारण बन सकता है।
2. **मौसमी परिवर्तन(SeasonalFluctuations)** :– आर्थिक सन्तुलन बिगड़ने का दूसरा कारण मौसमी तत्व होते हैं। भारत में विवाहों के मुहूर्त कुछ विशेष महीनों में होते है और उन दिनों में अनेक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार भारत में होली, दिवाली तथा पाश्चात्य देशों में क्रिसमस, आदि के अवसरों पर आर्थिक जीवन में कुछ विशेष परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं और मूल्यों का सामान्य क्रम अव्यवस्थित हो जाता है। मौसमी तत्व प्रायः नियमित रूप से आर्थिक जीवन को प्रभावित करते है।
3. **स्थायी परिवर्तन(SecularFluctuations)** :– मौसमी तत्वों के अतिरिक्त कुछ तत्व स्थायी होते हैं जो आर्थिक जीवन में स्थायी अथवा दीर्घकालीन परिवर्तन लाते है। जनसंख्या में वृद्धि, प्राविधिक अथवा तकनीकी प्रगति, नवीन आविष्कार अथवा खोज तथा भूमि सुधार, आदि के कारण अर्थतन्त्र में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं।
4. **चक्रीय परिवर्तन(CyclicalFluctuations** :– उपरोक्त तीनों तत्वों के अतिरिक्त एक अन्य तत्व चक्रीय तत्व– के नाम से विख्यात हैं यह तत्व बहुत नियमित बताया गया है और अर्थशास्त्रियों का मत है कि प्रत्येक मन्दी के पश्चात सामान्य अवस्था, सामान्य अवस्था के पश्चात् तेजी, पुनः सामान्य अवस्था तथा पुनः मन्दी एक निश्चित क्रम को ही व्यापार चक्र अथवा व्यवसाय चक्र के नाम से पुकारा जाता है।

   उपरोक्त चार प्रकार के परिवर्तनों में अर्थशास्त्रियों का सबसे अधिक ध्यान चक्रीय परिवर्तनों की ओर गया है क्योंकि अन्य तत्व या तो बहुत कम प्रभावशाली होते हैं अथवा उनका प्रभाव केवल क्षणिक होता है।

1.4 परिभाषाए(Definations) :–

हेन्सन के मतानुसार 'चक्र' शब्द से तात्पर्य घटनाओं के एक निश्चित क्रम से है जिनकी पुनरावृत्ति होती रहती है। जब यह चक्र व्यावसायिक क्षेत्र में प्रकट होता है तो इसे व्यापार चक्र का नाम दिया जाता है। **प्रो0 केन्स के अनुसार,** ''एक व्यापार चक्र का निर्माण ऐसी अवधियों से होता है जिसमें पहले अच्छे व्यापार के साथ कीमतों में वृद्धि होती है तथा बेरोजगारी का प्रतिशत नीचा होता है तथा इसके बाद की अवधि में बुरे व्यापार के साथ कीमतों में गिरावट होती है एवं बेरोजगारी का प्रतिशत ऊंचा होता है।'' यह घटनाएं उत्तरोत्तर अथवा क्रम से एक – दूसरी के पश्चात घटित होती है।

मिचेल के अनुसार, " व्यापार चक्र संगठित समुदायों की आर्थिक क्रियाओं में उच्चावचन की भांति होते है, व्यापार चक्र में उल्लिखित व्यापार शब्द इसे उन क्रियाओं तक सीमित कर देता है, जिन्हें एक क्रमबद्ध तरीके से वाणिज्यिक स्तर पर संचालित किया जाता है तथा चक्र ऐसे उच्चावचनों के प्रतीक हैं जिनमें एक नियमितता नहीं होती है।

बेन्हम के अनुसार, "व्यापार चक्र की परिभाषा साधारण रूप से ऐसी समृद्धि की अवधि से की जा सकती है जिसके बाद अवसाद की अवधि आती है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि आर्थिक प्रगति अनियमित होनी चाहिए– एक समय व्यापार अच्छा हो और दूसरे समय बुरा हो।''

1.5 व्यापार चक्रों के प्रकार(Types of Trade Cycles) :–

1. **अल्पावधि के किचिन चक्र(Short Kitchin Cycle) :–**इन्हें ''लघु चक्र'' भी कहते है जिनकी अवधि लगभग 40 महीने की होती है। इनका नाम इसलिए किचिन चक्र है क्योंकि एक ब्रिटिश अर्थशास्त्री जोसेफ किचिन ने इनका भेद स्पष्ट किया एवं बताया कि एक प्रमुख चक्र में दो या तीन लघु चक्र होते हैं।
2. **दीर्घ अवधि के जगलर चक्र (Long Jugler Cycles) :–** इन्हें प्रमुख चक्र भी कहा जाता है। इनका नाम जगलर चक्र इसलिए पड़ा क्योंकि एक फ्रेंच अर्थशास्त्री क्लीमेंट जगलर ने 1862 में इनकी खोज की और बताया कि तेजी , मन्दी तथा आर्थिक संकट आकस्मिक घटनाएं नहीं है बल्कि इनका एक निश्चित क्रम है। जो लहर की भांति गतिशील

है। आगे चलकर अर्थशास्त्रियों ने स्पष्ट किया कि जगलर चक्र की अवधि लगभग साढ़े नौ वर्ष की होती है।

3. **अतिदीर्घ अथवा कोन्द्रातीफ चक्र(Very Long or Kondratieff Cycles) :–** रूसी अर्थशास्त्री कोन्द्रातीफ ने 1925 में दीर्घकालीन चक्र का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके मतानुसार 50 वर्ष की अवधि के दीर्घकालीन व्यापार चक्र होते है। इनमें लगभग 6 जगलर चक्रों का समावेश होता है। ये व्यापार चक्र नियमित कारणों से नियमित रूप में उत्पन्न होते हैं।
4. **निर्माण चक्र (Building Cycles):–**इन चक्रों का सम्बन्ध निर्माण कार्यों से होता है, इन्हें निर्माण चक्र कहते है। इन चक्रों की अवधि लगभग 18 वर्ष की होती है तथा ये काफी नियमित अवधि के होते है।
5. **कुजनेट चक्र(Kuznets Cycles) :–**अमेरिकन अर्थशास्त्री साइमन कुजनेट्स ने इस चक्र का प्रतिपादन किया अतः इन्हें कुजनेट्रस चक्र कहते है। उनके अनुसार इनकी अवधि 16 से 22 वर्ष की होती है।

प्रो0 शुम्पीटर ने किचिन चक्र, जगलर चक्र तथा कोन्द्रातीफ चक्र –तीनों चक्रों को मिलाकर एक त्रिचक्रीय सूत्र प्रस्तुत किया और बताया कि ये तीनों चक्र एक दूसरे को प्रभावित करते है।

1.6 व्यापार चक्रों की विशेषताएं(Characteristics of Trade Cycles) :–

1. **नियमितता(Regularity) :–** प्रायः एक व्यापार चक्र 7 से 10 वर्ष तक चलता है और इसके पश्चात् दूसरा तत्काल आरम्भ हो जाता है। संसार का आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि तेजी के एक दशाब्द के पश्चात् मन्दी का एक दशाब्द और मन्दी के दशाब्द के पश्चात् पुनः तेजी का युग बदलता रहा है। इस क्रम में भले ही इतनी स्पष्ट नियमितता न हो परन्तु स्थूल रूप में यह सर्वथा सत्य है।
2. **समकालिकता (Synchronic):–** व्यापारिक लहरों की एक अन्य विशेषता यह है कि वह प्रायः सब व्यवसायों तथा उद्योगों को साथ प्रभावित करती है। यदि तेजी का दौर आरम्भ होता है तो प्रायः सभी क्षेत्रों में तेजी दृष्टिगोचर होती है और मन्दी की लहर अपने आंचल की छाया में सब व्यवसायों को समेटकर उनमें मन्दी उत्पन्न कर देती है। यह वातावरण दो कारणों से होता है। प्रथम, बहुत से व्यवसाय एक दूसरे से सम्बन्धित होते है और एक की उन्नति होने पर दूसरे के कच्चे अथवा अर्द्ध निर्मित माल की मांग बढ़ती है।

   दूसरा कारण सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। एक उद्योग अथवा व्यवसाय में मन्दी आते ही अन्य उद्योगों में संलग्न व्यक्ति सशंकित हो जाते है और अन्य उद्योगों में भी मन्दी व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार तेजी अथवा मन्दी की लहरें एक के बाद दूसरे उद्योग तथा व्यवसाय को प्रभावित कर सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लेती है।
3. **सार्वभौमिकता(International Character) :–**व्यापार चक्रों की विशेषता यह है कि किसी देश से आरम्भ हो और उनका प्रभाव सभी देशों में फैल जाता है। इसका कारण है कि विदेशी व्यापार तथा विदेशी विनिमय के माध्यम से प्रायः सभी देशों की आवश्यकताऐं एक दूसरे से इतनी जुड़ गयी हैं कि एक में व्याप्त मंदी अथवा तेजी का प्रभाव दूसरे पर पड़ना स्वाभाविक है।
4. **विभिन्न क्षेत्रों पर प्रभाव में असमानता :–**

   व्यापार चक्र का प्रभाव सभी क्षेत्रों पर समान रूप से नहीं होता। उपभोग वस्तु उद्योगों की तुलना में पूंजीगत वस्तु उद्योगों पर व्यापार चक्र का प्रभाव समान रूप से नहीं पड़ता इसी प्रकार थोक कीमतों की तुलना में फुटकर कीमतें कम प्रभावित होती है।
5. **निरन्तरता :–**व्यापार चक्रों की एक अन्य विशेषता यह है कि यह निरन्तर गतिशील होते है। और प्रायः एक साथ अनेक चक्र कार्यशील रहते है। एक साथ चलने वाले इन चक्रों के विभिन्न क्षेत्रों में एक सरीखे प्रभाव ही पड़ते हैं परन्तु यह चक्र स्वतन्त्र रूप से काम करते है।
6. **समृद्धि और अवसाद में सम्बन्ध :–**व्यापार चक्र की दो अवस्थाओं – समृद्धि तथा अवसाद में गहरा सम्बन्ध होता है। सामान्य रूप में समृद्धि की अवधि यदि अधिक लम्बी होती है तो अवसाद की अवधि भी उतनी ही अधिक गहन होती है। किन्तु अवसाद के बाद आने वाली समृद्धि में उक्त प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता।

7. **समृद्धि ओर अवसाद की सीमा :–**

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि समृद्धि काल में व्यापारिक गतिविधियां दीर्घकालीन प्रवृत्ति की तुलना में 10 से 25 प्रतिश्त ऊंची होती हैं तथा अवसाद की अवधि में 5 से 25 प्रतिशत नीची होती है।

8. **अन्य विशेषताएं :–**

अमेरीकन आर्थिक संघ द्वारा व्यापार चक्रों की कुछ अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। उनमें से एक है कि रोजगार तथा उत्पादन की मात्रा के अनुसार ही मुद्रा की मात्रा तथा गति में परिवर्तन होता रहता है। यह एक दैनिक अनुभव की बात है। प्रायः तेजी के समय उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि होती है और स्वभावतः बैंकों से विनियोजन एवं उपभोग के लिए मुद्रा की मांग भी बढ़ती है। मन्दी के समय रोजगार की स्थिति बिगड़ जाती है, उत्पादन गिर जाता है और व्यापार तथा उद्योग की ओर से साख की मांग सर्वथा समाप्त हो जाती है। इस प्रकार कुछ चलन मुद्रा तथा साख की मात्रा कम हो जाती है।

1.7 व्यापार चक्र की अवस्थाएं (Phases of Trade Cycle):–

व्यापार चक्रों को उनके विकास के अनुसार अवस्थाओं में विभक्त करना उचित है। स्थूल रूप में प्रत्येक चक्र के दो रूप होते है– 1. आर्थिक विस्तार 2. आर्थिक संकुचन। प्रायः आर्थिक विस्तार, अथवा उन्नति के पश्चात आर्थिक संकुचन की अवस्था आती है और यह क्रम चलता रहता है। वस्तुतः व्यापार चक्र एक निरन्तर गतिशील क्रिया अथवा वातावरण है और इसकी दो प्रमुख अवस्थाओं के अतिरिक्त उनका उपविभाजन करना बहुत कठिन है। परन्तु अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्रों की चार मुख्य अवस्थाएं बताई हैं और प्रत्येक द्वारा प्रायः अलग–अलग अवस्थाओं के अलग – अलग नाम निर्धारित किये गये है। सुविधा एवं उपयुक्तता की दृष्टि से हम शुम्पीटर द्वारा अपनाये गये चार शब्दों का प्रयोग करते है :

1. समृद्धि ,(Prosperity)
2. सुस्ती अथवा प्रतिसार (Recession)
3. अवसाद (Depression)
4. समुत्थान अथवा पुनरूत्थान (Recovery)

शुम्पीटर द्वारा एक सामान्य आर्थिक स्थिति की कल्पना की गयी है जिसमें देश की आर्थिक स्थिति सन्तुलन में अथवा सामान्य होती है। इस बिन्दु से वह व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की कल्पना करते है। समृद्धि अवस्था का तात्पर्य यह है कि देश में सामान्य स्तर से अधिक आर्थिक सम्पन्नता होती है। इस अवधि में पूंजी निर्माण की गति वेगपूर्ण होती है, मूल्य तथा उत्पादन ऊंचे रहते है तथा रोजगार की स्थिति अत्यन्त श्रेष्ठ होती है। इस स्थिति में गिरावट की स्थिति आरम्भ होती है तो इस प्रतिसार की अवस्था कहते है। इस अवस्था में अर्थतन्त्र उच्चस्तरीय विकास से पतित होकर सम–बिन्दु पर आ जाता है, परन्तु गिरावट का क्रम वहां भी रूकता नहीं है। फलतः अवसाद अथवा मन्दी की अवस्था दृष्टिगोचर होने लगती है। किसी समय मन्दी की अवस्था अपनी चरमसीमा अर्थात आर्थिक संकट तक पहुंच जाती है। स्वभावतः अर्थतन्त्र के एक बार पूर्णतः छिन्न–भिन्न होने पर फिर समुत्थान का चक्र चालू हो जाता है। इस प्रकार व्यापार चक्र का 'चक्र'' मानो नियति चक्र की भांति एक अवस्था से प्रारम्भ होकर उसी क्रम के लिए चलने लगता है।

1. **समृद्धि अवस्था :–**

समृद्धि की अवस्था अकस्मात उत्पन्न नहीं होती है बल्कि आर्थिक क्रियाओं का चक्र कुछ इस प्रकार चलता है कि विभिन्न वस्तुओं की मांग बढ़नी आरम्भ हो जाती है। आरम्भ में तो उत्पादक बेकार पड़ी हुई मशीनों को काम में लेने लगते हैं और प्रस्तुत साधनों के ही अधिकतम प्रयोग से मांग की पूर्ति करने की चेष्टा करते हैं परन्तु ज्यों–ज्यों मांग बढ़ती है, मूल्यों में वृद्धि होती है और उत्पादन भी बढ़ता है। इस क्रम में ध्यान देने योग्य बात यह है कि उत्पादन की लागत में विशेष वृद्धि नहीं होती क्योंकि पूंजी पर ब्याज, भूमि पर लगान या मकान का किराया तथा श्रम की मजदूरी में तत्काल वृद्धि नहीं होती। यह सभी व्यय स्थिर रहते है अतः उत्पादक की लाभ की मात्रा में आशातीत वृद्धि होती है।

व्यापार चक्र अवस्थाएँ(Phases of Trade Cycle)

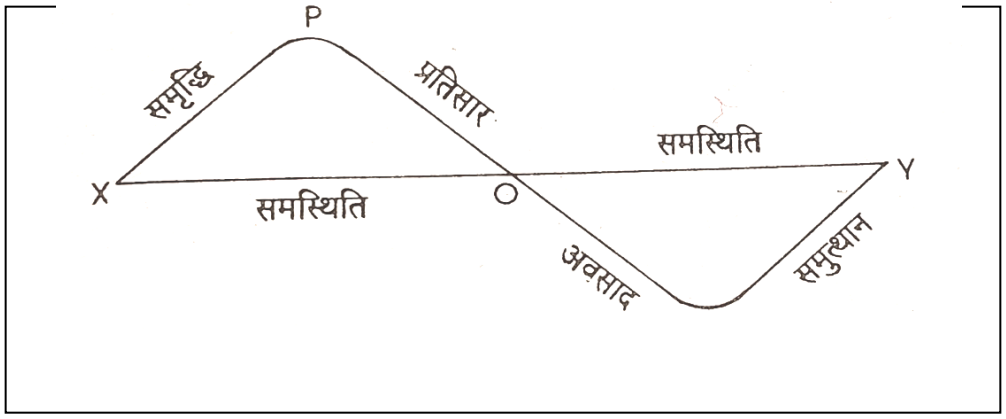

उपर्युक्त परिस्थितियों के परिणामस्वरूप वर्तमान उत्पादक अपने संगठन के स्तर में वृद्धि कर देते है तथा नये उत्पादक व्यवसाय के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते है।इसका परिणाम यह होता है कि अधिक पूंजी का विनियोग होता है, उद्योग एवं व्यवसाय की वृद्धि से अधिक व्यक्तियों को रोजगार मिलने लगता है, जिसके फलस्वरूप समाज की कुल क्रय–शक्ति में वृद्धि हो जाती है। फलतः उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है जिसे पूरा करने के लिए वर्तमान औद्योगिक इकाइयों का विस्तार किया जाता है और नयी इकाइयां स्थापित की जाती है। इस प्रकार मूल्य, रोजगार तथा वस्तुओं की मांग में क्रमिक वृद्धि होती है। यह समृद्धि की अवस्था है।

समृद्धि अवस्था की विशेषताएं :–

(वस्तुओं की मांग – ऊंचा मूल्य स्तर–लाभ–पूंजी विनियोग–उत्पादनरोजगार – राष्ट्रीय आय – वस्तुओं की मांग)

1. **प्रतिसार** :– समृद्धि की एक सीमा आ जाती है, जिसके आगे विकास के प्रगतिशील चरण डगमगाने लगते है और उन्नति की गति स्थिर हो जाती है फिर ढीली पड़ जाती है, और अन्ततः एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे अर्थशास्त्री उद्योगपति प्रतिसार कहते है।

प्रतिसार का क्रम कुछ इस प्रकार आरम्भ होता है। उत्पादन निरन्तर बढ़ने तथा मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होने का परिणाम यह होता है कि उत्पादकों की लागत तथा बाजार मूल्य में अन्तर कम होने लगता है, क्योंकि ब्याज, किराया तथा मजदूरी की दरें भी कालान्तर में बढ़ जाती है और उत्पादन का व्यय बढ़ जाता है। फलतः उत्पादन के शुद्ध लाभ में कमी आ जाती है। दूसरी ओर उद्योगों में घटती हुई उत्पत्ति का नियम लागू होने लगता है। इससे भी व्यवसायियों के लाभ कम हो जाते है। इन दोनों के कारण नवीन पूंजी विनियोजित होनी बन्द होने लगती है। इधर बैंक भी बाजार में दी हुई ऋण राशि बहुत अधिक बढ़ जाने से कुछ सतर्क हो जाते है और आगे से कुछ कम ऋण देने लगते है। फलतः उत्पादन तथा विनियोजन के क्रम में कमी आ जाती है और रोजगार में वृद्धि का क्रम भी एक बार स्थिर होकर क्रमशः गिरने लगता है। यही प्रतिसार अवस्था का आरम्भ है।

प्रतिसार एवं सुस्ती का प्रभाव संचयी होता है अर्थात एक बार प्रारम्भ होने पर ऐसे कारक उपस्थित होते है। जिससे प्रतिसार का प्रभाव बढ़ता जाता है। इसकी तुलना जंगल की आग से की जा सकती है जो स्वयं ही विनाश की शक्तियों का सृजन करती है और आगे बढ़ती जाती है।

2. **अवसाद** :– अवसाद की अवस्था भी उन सब तत्वों के सामूहिक संयोग से उत्पन्न होती है जो समृद्धि का कारण बनते है। अन्तर केवल यह है कि इस बार यह तत्व सर्वथा विपरीत दिशा में कार्य करते है। उद्योगपति मूल्यों की गिरावट के प्रभाव से न केवल अपनी भविष्य की उत्पादन योजनाओं में कमी कर देते है, बल्कि वर्तमान उत्पादन भी घटा देते है। परिणामस्वरूप उनकी कम श्रमिकों की आवश्यकता होती है अतः स्थायी श्रमिकों को कार्य मुक्त होना पड़ता है। यदि मजदूर संघ अधिक शक्तिशाली है और श्रमिकों को हटाना सम्भव नहीं है तो उत्पादन व्यय में कमी न हो सकने के कारण

सीमान्त उत्पादकों को हानि होने लगती है और उन्हें अपने कारखाने बन्द कर देने पड़ते है जिससे बेरोजगारी फैलने लगती है।

अवसाद की इस व्यवस्था में रोजगार की स्थिति खराब होने से उपभोक्ता पदार्थों की मांग में व्यापक कमी आने लगती है और अनेक व्यवसायों तथा औद्योगिक इकाइयों के पास माल के स्टाक जमा हो जाते है फलतः वह बैंको से लिये गये ऋण चुकाने में असमर्थ रहते है और कभी–कभी ऋण देने वाले बैंको की पूंजी इस प्रकार के उद्योग में फंस जाने से उन बैंको को अपने द्वार बन्द कर देने पड़ते है। इस प्रकार क्रमशः व्यवसाय, उद्योग तथा बैंक असफल होने लगते है। और चारों ओर आर्थिक अशान्ति एवं अविश्वास की गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो जाती है।यह स्थिति प्रायः आर्थिक संकट में समाप्त होती है और सरकार को सभी क्षेत्रों में विशेष हस्तक्षेप करना पड़ता है।

3. **समुत्थान :–** समृद्धि की भांति ही अवसाद की भी एक सीमा होती है। जब अनेक कारखानों के बन्द होने से उपभोक्ता पदार्थों की पूर्ति कम हो जाती है तो स्वाभाविक रूप से मांग और पूर्ति का सन्तुलन अब पूर्ति के पक्ष में हो जाता है क्योंकि आवश्यक पदार्थों की मांग, जो कुछ समय के लिए इस आशा में कम हो गयी थी कि मूल्यों में अभी गिरावट आयेगी, पुनः सामान्य स्तर पर आने लगती है क्योंकि मूल्यों में गिरावट चरमसीमा तक पहुंच चुकी है। अतः वस्तु मूल्यों में धीरे–धीरे वृद्धि आरम्भ हो जाती है।मूल्यों में वृद्धि आरम्भ होने पर व्यापार चक्र की गति की दिशा बदल जाती है। बेकार अथवा बेरोजगार बैठे हुए कुछ व्यक्ति मूल्य वृद्धि से प्रभावित होकर धीरे–धीरे उत्पादन क्षेत्र में पुनः प्रविष्ट होने लगते है और बैंक भी अपना व्यवसाय बढ़ाने की उत्सुकता में सरल शर्तों पर ऋण देना आरम्भ कर देते है। इस प्रकार मांग, मूल्य, उत्पादन, नियोजन तथा रोजगार इन सभी की वृद्धि का एक क्रम आरम्भ हो जाता है। यही सुधार अथवा समुत्थान की अवस्था का आरम्भ कहा जाता है।

उपर्युक्त परिस्थितियां अर्थतन्त्र को मन्दी अथवा अवसाद की स्थिति से मुक्त कर पुनः सम अवस्था के निकट ले आती हैं और इस प्रकार समुत्थान से समृद्धि, समृद्धि से प्रतिसार, प्रतिसार से अवसाद और अवसाद से पुनः समुत्थान का क्रम चलता रहता है।

1.8 व्यापार चक्रों की अवस्थाओं की प्रवृत्तियां (Tendencies of the phases of Trade Cycle):–व्यापार चक्रों का क्रम भले ही नियमित हो परन्तु उनके आवर्तन अथवा प्रत्यावर्तन की अवधि प्रायः भिन्न रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यापार चक्र की अवस्थाओं की अवधि एवं प्रभाव समान नहीं होते। बर्न्स तथा मचैल ने व्यापार चक्र की अवधि की दो प्रवृत्तियां बतलायी है। प्रथम, यदि एक व्यापार चक्र को चार अवस्थाओं में विभक्त किया जाए तो प्रतिसार तथा समुत्थान (Revival) की अवस्थाओं की अवधि समृद्धि तथा अवसाद की अवधि से बहुत कम होती है वस्तुतः प्रतिसार तथा समुत्थान तो केवल संक्रमण अवस्थाएं हैं जो अर्थतन्त्र को समृद्धि से अवसाद की ओर अथवा अवसाद से समृद्धि की ओर ले जाने की माध्यमिक कड़ियाँ है। अतः इनका महत्व केवल संक्रमणकालीन होता है।

दूसरी प्रवृत्ति यह है कि यदि व्यापार चक्र को केवल दो अवस्थाओं अर्थात् समृद्धि और अवसाद में विभक्त कर दिया जाय तो समृद्धि तथा अवसाद काल में प्रायः 3:2 का अनुपात होता है, अर्थात् समृद्धि का समय अवसाद की तुलना में डयौढ़ा अथवा कुछ अधिक होता है।

1.9 व्यापार चक्र को रोकने के सुझाव (Suggestion to stop the Trade Cycle) :– व्यापार चक्रों को रोकने अथवा उनका प्रभाव कम करने के लिए अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक सुझाव दिये गये है। इन सुझावों में मौद्रिक, व्यावसायिक, राजकोषीय तथा अन्य सुझाव सम्मिलित हैं :–

1. **मौद्रिक नीति (Monetary Policy) – प्रो0 हॉट्रे तथा शुम्पीटर** का मत है कि केन्द्रीय बैंक चाहे तो व्यापार चक्र के आवर्तन को स्थगित कर सकता है। इसके लिए जब विस्तार की स्थिति हो तो साख तथा मुद्रा की मात्रा को आवश्यकता से अधिक बढ़ने से रोकना चाहिए। इस संबंध में **डॉ0 हेयक** का विचार है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा को ''तटस्थ'' बनाये रखना चाहिए, जिससे मुद्रा स्फीति नहीं होगी, अतः समृद्धि को अत्यधिक बल नहीं मिलेगा तथा प्रतिसार की अवस्था उत्पन्न होने की आशंका उत्पन्न नहीं होगी। इस सम्बन्ध में हेयक ने यह स्पष्ट किया है कि वास्तविक आवश्यकताओं के लिए मुद्रा की मात्रा में साधारण हेर–फेरं किया जा सकता है।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि अवसाद की उत्पत्ति मूलतः समृद्धि से ही होती है अतः समृद्धि पर मुद्रा तथा साख की मात्रा सीमित कर उचित नियन्त्रण रखने से स्थिति पर नियन्त्रण रखा जा सकता है। मन्दी आने पर ब्याज दर घटा कर अथवा खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि की जा सकती है तथा व्यवसाय में पूंजी विनियोजन को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इन क्रियाओं से आर्थिक प्रगति में नवजीवन संचारित होगा और समुत्थान की अवस्था आरम्भ हो जायगी।

2. राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) :– व्यापार चक्र का आवर्तन रोकने में राजकोषीय नीति बहुत सहायक हो सकती है। डगलस का मत है कि वस्तु मूल्यों में वृद्धि रोकने के लिए विक्रेताओं को सहायता (Subsidies) दी जा सकती है । दूसरी ओर जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक लाभांश (Social Devidents) बांटे जा सकते हैं इससे एक ओर तो वस्तुओं के मूल्यों में अधिक वृद्धि नहीं होगी, दूसरी ओर जनता के पास विक्रय के लिए प्रस्तुत कुल माल खरीदने के लिए पर्याप्त धनराशि होगी। अतः समृद्धि की स्थिति बनाये रखना सम्भव होगा।

केन्स ने अपनी पुस्तक 'जनरल थ्योरी' में विशेष रूप से मन्दी को रोकने के लिए राजकोषीय नीति का समर्थन किया है। केन्स का विचार है कि मन्दी के समय प्रभावी मांग बढ़ाकर विनियोग में वृद्धि करके मन्दी को दूर किया जा सकता है। राजकोषीय नीति में करारोपण व्यय तथा लोक ऋण का समावेश किया जाता है। केन्स मन्दी के समय सार्वजनिक व्यय का समर्थन करते है जो लोकनिर्माण के कार्यों में किया जाना चाहिए। इससे लोगों को रोजगार मिलेगा तथा वे अपनी क्रय शक्ति को उपभोग वस्तुओं पर व्यय करेंगे जिससे विनियोग प्रोत्साहित होगा। उपर्युक्त सार्वजनिक व्यय की वित्तीय व्यवस्था बैंको से ऋण लेकर अथवा हीनार्थ प्रबन्धन के द्वारा की जा सकती है। विनियोग बढ़ने से अर्थव्यवस्था में पुनरूत्थान के लक्षण उपस्थित होने लगते हैं।

समृद्धि का अनुचित विस्तार रोकने के लिए अमरीका में टाउनसेंड योजना लागू की गयी, जिसमें जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि के लिए सेवामुक्त कर्मचारियों तथा एक आयु विशेष की सीमा पार करने वाले व्यक्तियों को पेंशन अथवा आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था की गयी। इस योजना का उद्देश्य भी जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि कर उपभोग माल की मांग बनाये रखना था। किन्तु इससे यह आशंका है कि बढ़े हुए व्यय की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना पड़ेगा जिससे मूल्यों में वृद्धि होगी। इस संबंध में हॉब्सन की यह मान्यता है कि व्यापार चक्र में अल्प उपभोग के कारण गति उत्पन्न होती है। इसका कारण यह है कि समृद्धि काल में वृद्धि का अधिकांश भाग धनी वर्ग को प्राप्त होता है। अतः उपभोग का उचित स्तर स्थापित करने के लिए देश की कर नीति इस प्रकार ढालनी चाहिए कि देश की आय का वितरण समान हो सके।

3. विनियोजन नीति(Appropriation Policy) :– व्यापार चक्रों की गति एवं प्रभाव को सीमित करने के लिए सुझाव दिया गया है कि सरकार द्वारा देश में किये जाने वाले विनियोगों को नियन्त्रित रखा जाना चाहिए। इस संबंध में शुम्पीटर ने विनियोजनों के सम्बन्धमें एक और सुझाव दिया है कि–'' अत्यन्त समृद्धि काल में सरकार द्वारा पूंजी विनियोजित नहीं की जानी चाहिए। इसके स्थान पर अवसाद युग में सड़कों, नहरों अथवा अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्यों में पूंजी लगायी जा सकती है। इससे जनता के हाथ में अधिक क्रय शक्ति उत्पन्न होगी और वह वस्तुओं की अधिक मांग करने लगेगी, जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हो जायेगी और समुत्थान की अवस्था प्रारम्भ हो जायेगी। इस संबंध में हेन्सन ने यह सुझाव दिया कि अवसाद का अन्त करने के लिए सरकार को दीर्घकालीन निर्माण योजनाएं कार्यान्वित करनी चाहिए।

4. मूल्य नियन्त्रण(Price Control) :–युद्धकाल में जब वस्तुओं की कमी के कारण मूल्यों में वृद्धि होने लगती तो प्रायः सभी देशों में मूल्य नियन्त्रण लगा दिये गये, क्योंकि नियन्त्रण न लगाने पर उनमें अत्यधिक वृद्धि होती और उत्पादकों के लाभ की कोई सीमा नहीं रहती। परन्तु मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग द्वारा जनता की मांग सीमित रखी गयी, जिससे युद्धोत्तरकाल में मूल्यों को उचित स्तर पर रखा जा सका और मन्दी की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई।

5. रोजगार बीमा (Employment Insurance) :–अवसाद का महत्वपूर्ण कारण तथा प्रभाव यह होता है कि देश में बेरोजगारी फैलने लगती है और जनता की क्रय शक्ति कम होने से वस्तुओं की मांग और कम हो जाती है। फलतः अवसाद की स्थिति अधिकाधिक गम्भीर हो जाती है। इस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए रोजगार बीमा योजना लागू करने का सुझाव दिया गया है ताकि बेरोजगारी की स्थिति या तो उत्पन्न ही न हो और यदि उत्पन्न हो भी जाय तो बेरोजगारों को क्षतिपूर्ति मिलने लग जाती है, जिससे वह अपनी आवश्यकता की वस्तुएं खरीदते हैं और वस्तुओं की कुल मांग में विशेष कमीं नहीं आती।

संक्षेप में व्यापार चक्रों का क्रम व्यवस्थित करने अथवा उन्हें नियन्त्रित करने के लिए किसी भी एक साधन का प्रयोग करने से काम नहीं चल सकता। अतः समय तथा परिस्थिति के अनुसार विभिन्न मौद्रिक तथा अन्य रीतियां एक साथ काम में लायी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में विशेष स्मरणीय तथ्य यह है कि व्यापार चक्रों का प्रभाव केवल स्वतन्त्र अथवा मुक्त अर्थव्यवस्था में दृष्टिगोचर होता है। जिन

देशों में उद्योग तथा व्यापार पूर्णतः सरकारी अधिकार में है वहां मूल्य उत्पादन अथवा विनियोजन का निर्धारण विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से न होकर सरकारी नीति के अनुसार होता है अतः यहां पर समृद्धि अथवा अवसाद की अवस्थाओं की कल्पना करना व्यर्थ है।इस प्रकार विभिन्न उपायों को अपनाकर व्यापार चक्र के दुष्प्रभावों को रोका जा सकता है।

1.10 सारांश(Summary) :–

व्यापार चक्र का अभिप्राय आर्थिक क्रियाओं में होने वाले उतार चढ़ाव से होता है। परन्तु अर्थव्यवस्था में सामान्य उतार–चढ़ाव की स्थिति को व्यापर चक्र के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अर्थव्यवस्था में जब कुछ स्पष्ट विशेषताओं के साथ उतार–चढ़ाव की स्थिति उत्पन्न हो तभी इसे व्यापार चक्र के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए वस्तुतः व्यापार चक्र से उत्पन्न होने वाले उतार–चढ़ाव का स्वरूप चक्रीय होता है और एक चक्र के अन्तर्गत चार अवस्थाएं होती है और ये चार अवस्थाएं है– समृद्धि (Prosperity) सुस्ती अथवा प्रतिसार (Recession) अवसाद (Depression) तथा समुत्थान अथवा पुनरूद्वार (Recovery) । ये चारों अवस्थायें क्रमिक रूप से बार–बार उत्पन्न होती है, जैसे–समृद्धि के बाद प्रतिसार, प्रतिसार के पश्चात मंदी अर्थात अवसाद तथा उसके बाद पुनरूत्थान और पुनः समृद्धि का क्रम चलता रहता है।

1.11 शब्दावली (Keywords) :–

1. चक्र (Cycle)
2. आकस्मिक परिवर्तन (Random Fluctuations)
3. मौसमी (Seasonal)
4. स्थायी परिवर्तन (Secular Fluctuations)
5. चक्रीय (Cyclical)
6. निर्माण (Building)
7. नियमितता (Regularity)
8. समक्रमिकता (Synchornic)
9. सार्वभौमिकता (International Character)
10. चलनमुद्रा (Currency)
11. व्यापार चक्र की अवस्थाए (Phases of Trade Cylces)
12. समृद्धि (Prosperity)
13. सुस्ती (Recession)
14. अवसाद (Depression)
15. समबिन्दु (Point of Equilibrium)
16. क्रय शक्ति (Parchasing power)
17. प्रवृत्तियां (Tendencies)
18. समुत्थान (Recovery)
19. संक्रमणकालीन (Transitional)

1.12 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची(Reference Books) :–

1. सिन्हा , वी0सी0 व सिन्हा, पुष्पा (2011–12) समष्टिगत अर्थशास्त्र, एस0 बीपीडी पब्लिशिंग हाऊस आगरा।
2. शर्मा, हरिश्चन्द्र व सिंघई, जी0सी0 (2000) मौद्रिक अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
3. सिंघई , जी0सी0 व मिश्रा, जे0पी0 (2010) समष्टि आर्थिक विश्लेषण , साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
4. झिंगन, एम0 एल0 (2007) : समृष्टि अर्थशास्त्र, वृन्दा पब्लिकेशन्स दिल्ली।

1.13 अभ्यास प्रश्न(Practice Questions):–

1. व्यापार चक्र से आशय को स्पष्ट कीजिए।
2. व्यापार चक्र में विभिन्न प्रकार के उच्चावचन की व्याख्या कीजिए।

3. व्यापार चक्र के प्रकार बताइऐ।
4. व्यापार चक्रो की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. व्यापार चक्र की अवस्थाओं की व्याख्या कीजिए।
6. व्यापार चक्रों की अवस्थाओं की प्रवृत्तियाँ बताइए।
7. व्यापार चक्र को रोकने के सुझावों को प्रस्तुत कीजिए।

1.14 बहुविकल्पीय प्रश्न उत्तर (Objective Questions Answers):–

1. व्यापार चक्र की प्रमुख विशेषताए है–
   क. सामयिकता ख. समक्रमिकिता ग. उपर्युक्त दोनों
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ग)
2. व्यापार की उत्तम अवस्था है :
   क. पूर्ण रोजगार ख. तेजी की स्थिति ग. पुनरूद्धार
   घ. इनमे से कोई नहीं
   (उत्तर क)
3. व्यापार चक्र की अवस्थाएं है :
   क. चार ख. पांच ग. तीन घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर क)
4. व्यापार चक्र की अवस्था में समृद्धि के बाद कौन सी अवस्था आती है
   क. मंदी ख. समुत्थान ग. प्रतिसार
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ग)
5. व्यापार चक्र में अवसाद के बाद कौन सी अवस्था आयेगी :
   क. समस्थिति ख. समुत्थान ग. समृद्धि
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ख)

व्यापार चक्र का मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary Theory Of Trade Cycles)

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 हॉट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त
1.3 हॉट्रे के सिद्धान्त की आलोचना
1.4 रॉबर्टसन का व्यापार चक्र का सिद्धान्त
1.5 रॉबर्टसन के व्यापार चक्र सिद्धान्त की आलोचना
1.6 व्यापार चक्र का मकड़ीजाला प्रमेय
1.7 मकड़ीजाला प्रमेय के प्रकार
1.8 मकड़ीजाला प्रमेय की मान्यताएं
1.9 मकड़ीजाला प्रमेय की आलोचना
1.10 सारांश
1.11 शब्दावली
1.12 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.13 अभ्यास प्रश्न
1.14 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :–

व्यापार चक्र के मौद्रिक सिद्धान्त के अन्तर्गत कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि व्यापार चक्रों का प्रमुख कारण केवल आर्थिक संगठन जैसे बैंकिग और साख व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। इस पर में आर0 जी0 हॉट्रे का दृढ़ विश्वास है। उसके अनुसार मुद्रा–प्रवाह के परिवर्तन व्यापारिक क्रिया–कलापों के एक मात्र निर्धारक तत्व हैं। इन्हीं के कारण कभी समृद्धि एवं कभी मंदी काल आता है। सूखा, बाढ़, भूकम्प, युद्ध, हड़ताल कुछ उद्योगों का अविकसित विकास आदि केवल आंशिक मंदी पैदा कर सकते है, व्यापक या सामान्य मंदी नहीं। यह भी सत्य है कि बैंक का व्यापारिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण स्थान है। वित्त व्यापार का प्राण है, परन्तु यह कहना सही नहीं कि ये संकट पैदा करते है। हम यही कह सकते है कि वे स्थिति को अधिक बिगाड़ देते है। वे अधिक मात्रा में उधार देकर तेजी की स्थिति में अधिक तेजी लाते है और उधार देना बन्द करके मन्दी को अधिक भीषण बना देते है परन्तु एक मात्र उनके कारण न तो समृद्धि का ही काल आता है और न ही मन्दी का। वर्तमान में मन्दी संसारव्यापी होती है। व्यापार चक्र केवल मुद्रा में व्यवहार के कारण ही उत्पन्न नहीं होते है मुद्रा के अतिरिक्त और भी बहुत से तत्व हैं जिनका व्यापार पर प्रभाव पड़ता है। इस संबंध में हॉट्रे, रॉबर्टसन, मकड़ीजाला प्रमेय का अध्ययन आता है। इनके मौद्रिक सिद्धान्त को इस इकाई में जान सकेंगे।

1.1 उद्देश्य

1. हॉट्रे के मौद्रिक सिद्धान्त को जान सकेगे।
2. मकड़ीजाला प्रमेय को जान सकेगे।
3. रॉबर्टसन के व्यापार चक्र सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

1.2 हॉट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त(R.G Hawtray's Monetary Theory) :-

कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि व्यापार चक्रों का प्रमुख कारण मौद्रिक परिस्थितियां हैं। हॉट्रे तो व्यापार चक्र को विशुद्ध मौद्रिक घटना(A purely monetary phenomena) मानते हैं। इस संबंध में हॉट्रे का विचार है कि व्यापार चक्र वस्तुतः मुद्रा के विस्तार अथवा संकुचन पर निर्भर करते हैं। उनका यह भी मत है कि व्यापार को क्रियाशील बनाने में केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति सहयोग देती है। मान लीजिए किसी समय बाजार में वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा की मांग है तो विक्रेता उसी आधार पर स्टॉक रखेंगे। इस मांग में तनिक सी वृद्धि होने की सम्भावना उत्पन्न होते ही विक्रेता अपने

स्टॉक में वृद्धि करने का प्रयत्न करेंगे क्योंकि अधिक स्टॉक रखने पर अधिक बिक्री को प्रोत्साहन मिलता है। हॉट्रे के विश्लेषण के अनुसार विक्रेता मांग वृद्धि के अनुपात से अधिक स्टॉक रखने का प्रयत्न करते हैं ताकि भविष्य में अधिक लाभ कमा सकें। यह स्टॉक निर्मित करने के लिए उनकी स्वयं की चल पूंजी पर्याप्त नहीं होती अतः उन्हें बैंको से उधार लेना पड़ता है।

व्यापार चक्र के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए हॉट्रे ने समाज को कार्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया है– उपभोक्ता, व्यापारी तथा बैंक। विवेचना से स्पष्ट हो गया है कि उपभोक्ता की मांग से प्रभावित होकर ही व्यापारी वस्तुओं को स्टॉक करते हैं तथा व्यापारियों की मांग से प्रोत्साहित होकर ही बैंक नई मुद्रा का सृजन करते हैं हॉट्रे के अनुसार व्यापार चक्र को कार्यान्वित करने में बैंको की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बैंकों द्वारा प्रदत्त यह उधार ही हॉट्रे के शब्दों में, ''मुद्रा स्फीति का एक विषम चक्र'' (Vicious Circle of Inflation) उत्पन्न कर देता है क्योंकि व्यापारी उधार माल लेकर माल का स्टॉक करते हैं। इससे उत्पादन करने के लिए अधिक पूंजी एवं श्रम का नियोजन करना पड़ता है, जिससे श्रम को अधिक रोजगार मिलता है और समाज की कुल आय बढ़ जाती है। स्वभावतः इससे वस्तुओं की मांग में अधिक वृद्धि होती है और व्यापारी अधिक माल का ऑर्डर देने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार बैंको द्वारा उधार देने से माल के उत्पादन में वृद्धि मांग का आधिक्य तथा अधिक साख की मांग का विषम चक्र आरम्भ हो जाता है जो बहुत समय तक निरन्तर चलता रहता है। यह देश की अर्थव्यवस्था को समृद्धि की ओर ले जाता है।

परन्तु उपरोक्त विस्तार क्रम अनिश्चितकाल तक नहीं चल सकता क्योंकि स्वयं हॉट्रे के शब्दों में, ''साख में जन्मजात अस्थिरता होती है'' और विस्तार अथवा संकुचन के प्रत्येक क्रम का प्रत्यावर्तन होना आवश्यक है। यह प्रत्यावर्तन इस प्रकार होता है :

जब वस्तुओं की मांग तथा साख प्रसार का क्रम निरन्तर चलता है तो एक स्थिति ऐसी आ जाती है जब बैंको के ऋण बहुत बढ़ जाते हैं और उनके तरल कोषानुपात बहुत कम हो जाते हैं। फलतः बैंक अपने तरल कोषा को पुनः उचित मात्रा में निर्मित करने का प्रयत्न करते हैं और ऋणों को भी निक्षेपों के उचित अनुपात में लाने की चेष्टा करते हैं। इन उद्देश्यों को सम्पन्न करने के लिए बैंक अपनी साख नीति को कड़ा कर देते है। ब्याज की दर बढ़ा दी जाती है तथा नये ऋणों पर अन्य कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि साख महंगी हो जाती है और व्यापारियों को अपने कुछ ऋण चुकता करने पड़ते है। फलतः वे अपने वर्तमान स्टॉक जल्दी–जल्दी बेचने लगते हैं तथा नया माल कम खरीदते है। इसका प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है। व्यापारियों की मांग कम होने से, उत्पादन कम किया जाता है, जिससे रोजगार के स्त्रोत संकुचित होने लगते है, जनता द्वारा वस्तुओं की मांग कम हो जाती है और प्रतिसार का यह विषम चक्र मन्दी व अवसाद की ओर अग्रसर होने लगता है।

इस प्रकार मन्दी का प्रमुख लक्षण यह है कि इसमें साख पर अवरोध लग जाता है। उसी सीमा तक ऋणों की मांग होती है जिसके लिए बैंको को पूर्व में ही आदेश दिया गया है। अब उद्यमियों द्वारा ऋणों की अदायगी कर दी जाती है तथा बैंको के पास निक्षेपों की मात्रा बढ़ जाती है। यद्यपि बैंक दर घट जाती है किन्तु मन्दी की स्थिति आ जाने से, उद्यमी ऋण लेने को प्रोत्साहित नहीं होते। इस प्रकार विनियोग बाजार में शिथिलता, साख अवरोध (Credit Deadlock) का कारण बनती हैं तथा मन्दी की स्थिति प्रारम्भ होती है।

1.3 हॉट्रे के सिद्धान्त की आलोचना :–

1. हॉट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त भी इस दृष्टि से अधूरा और दोषपूर्ण है। कि यह व्यापार चक्र को प्रभावित करने वाले अनेक महत्वूपर्ण तत्वों, जैसे अविष्कार, प्राविधिक परिवर्तन कृषि उत्पादन, मनोवैज्ञानिक तत्व तथा अन्य सभी तत्वों को आंख से ओझल कर केवल मौद्रिक कारणों को महत्व देता है। वस्तुतः मौद्रिक कारण भी अनेक कारणों में से एक है , एकमात्र नहीं है।
2. मौद्रिक सिद्धान्त की दूसरी संकीर्णता यह है कि वह उपभोक्ताओं के व्यय मात्र को व्यापार चक्र का कारण बतलाता है। इसके अन्तर्गत विस्तार काल में उत्पन्न होने वाले अन्य परिवर्तनों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।
3. **ब्याज दर की प्रभावशीलता :–** हॉट्रे ने साख की मांग को प्रभावित करने में ब्याज की दर को अत्यधिक महत्व दिया है। आधुनिक वाणिज्य शोध ने यह सिद्ध कर दिया है कि व्यवसायी वर्ग अपने स्टॉक निर्माण में ब्याज की दर से इतना प्रभावित

नहीं होता जितना कि सम्भावित मूल्यों, गोदाम सुविधाओं तथा बाजार की स्थिति से प्रभावित होता है। वस्तुतः ब्याज दर उनकी कुल लागत का एक अत्यन्त साधारण अंश होता है और उसमें परिवर्तन करने से व्यापारी अथवा उद्योगपति पर विशेष असर नहीं पड़ता ।

4. **केन्द्रीय बैंक नीति :–** हॉट्रे की यह मान्यता है कि केन्द्रीय बैंक मौद्रिक उपायों द्वारा समृद्धि अथवा अवसाद की स्थिति पर नियन्त्रण कर सकता है। यह विचार इस दृष्टि से ठीक है कि जब देश में समृद्धि अथवा प्रसार की स्थिति हो तो केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक दर बहुत ऊंची बढ़ाकर, साख प्रसार को रोका जा सकता है, परन्तु अवसाद अथवा मन्दी काल में केन्द्रीय बैंक की साख नियमन नीति प्रायः प्रभावहीन हो जाती है। हॉट्रे स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और इसे '' साख संकट'' (Credit Deadlock) का नाम देते है।
5. **मुद्रा की गति :–** मौद्रिक सिद्धान्त में एक कमी यह है कि इसमें केवल मुद्रा तथा साख की मात्रा को महत्व दिया गया है परन्तु वास्तव में मुद्रा की गति उपभोक्ताओं द्वारा रखे जाने वाले नकद कोषों को बहुत प्रभावित करती है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव बैंको की जमाओं पर पड़ता है और अन्त में उनकी ऋण नीति प्रभावित होती है।
6. हॉट्रे के अनुसार समृद्धि काल की उच्चतम अवस्था में ब्याज की दर में वृद्धि, ऐसा मोड़ बिन्दु है जो आर्थिक संकट का प्रारम्भ है। जबकि आलोचक कहते हैं कि यह अनुभव से मेल नहीं खाता वास्तव में, ब्याज की दर में वृद्धि, संकट के बाद शुरू होती है क्योंकि संकट के फलस्वरूप साख का ढांचा हिल जाता है। इस प्रकार हॉट्रे ने कारण और परिणाम में भ्रम पैदा कर दिया है।

उपरोक्त सब आलोचनाओं के पश्चात् भी यह कहना आवश्यक है कि व्यापार चक्रों का मौद्रिक नीति से गहरा सम्बन्ध है और यथोचित मुद्रा नीति द्वारा व्यापार चक्रों का दुष्प्रभाव बहुत कुछ कम किया जा सकता है।

1.4 रॉबर्टसन का व्यापार चक्र का सिद्धान्त :–

रॉबर्टसन ने वास्तविक लागतों तथा वास्तविक मांग में होने वाले परिवर्तन को व्यापार चक्र का कारण माना है। इन परिवर्तनों से अर्थव्यवस्था सतत् रूप से संचालित नहीं होती वरन् उसमें विषम परिवर्तन होते है। जो प्रगति के लिए जरूरी है पर साथ ही ये अर्थव्यवस्था में अस्थिरता पैदा कर देते है। उक्त परिवर्तन कुछ ऐसे संस्थानिक कारण उपस्थित करते हैं जैसे मजदूरी प्रणाली तथा मुद्रा प्रणाली– जो प्रारम्भिक परिवर्तनों को ही अनावश्यक सिद्ध कर देती है, और यही चक्रीय अवस्थाओं की शुरूआत है।

जब अर्थव्यवस्था में कीमतें बढ़ती हैं तो उद्यमी उत्पादन बढ़ाते है तथा मजदूरी भी बढ़ती है किन्तु प्रारम्भिक अवस्था में वास्तविक मजदूरी में वृद्धि नहीं होती क्योंकि उसमें कीमतों की तुलना में कम वृद्धि होती है। इसी प्रकार आर्थिक संकट के प्रारम्भ में जिस अनुपात में कीमतें घटती हैं उस अनुपात में मजदूरी नहीं घटती अर्थात वास्तविक मजदूरी ऊंची रहती है। जब मजदूरी में कीमत स्तर की तुलना में कम वृद्धि होती है तो उद्यमी अधिक लाभ प्राप्त करने की स्थिति में होते हैं तो वे उत्पादन बढ़ाते है और अधिक व्यय करते हैं जिससे मौद्रिक आय बढ़ती है। प्रश्न यह है कि अतिरिक्त व्यय कैसे किया जाता है– रॉबर्टसन के अनुसार इसकी व्यवस्था बैंक द्वारा साख सृजन से एवं निष्क्रिय मुद्रा को सक्रिय बनाकर की जाती है।

हॉट्रे के समान, रॉबर्टसन भी बैंकिंग प्रणाली को व्यापार चक्र का कारण मानते हैं। इसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। मान लो किसी वर्ष अच्छा कृषि उत्पादन होता है तो उसके उत्पादक माल की बिक्री के पहले ही उसकी आड़ में अल्पकालीन ऋण बैंकों से लेते है। अच्छे कृषि उत्पादन के आधार पर, उद्यमी भी उद्योगों में उत्पादन बढ़ाते है और इसके लिए बैंको से अल्पकालीन ऋण लेते हैं, इससे साख का प्रसार होता है तथा कीमतों में वृद्धि होती है। यह स्थिति अर्थव्यवस्था को समृद्धि की दिशा में ले जाती है। कीमतों के बढ़ने से साख की मांग बढ़ती है तथा अर्थव्यवस्था में व्यापार का अव्यवस्थित प्रसार होने लगता है। इस स्थिति में बैंक साख के विस्तार पर नियन्त्रण लगा देते है। इससे कीमतें गिरती हैं और भविष्य में भी इनके गिरने का अनुमान लगाया जाता है इससे संग्रह किया माल बाहर आने लगता है एवं

उत्पादन गिरने लगता है। अब गिरती हुई ब्याज की दर भी उद्यमियों को बैंको से ऋण लेने को प्रोत्साहित नहीं करती अतः अर्थव्यवस्था में मन्दी की दशाएं उत्पन्न हो जाती है।

रॉबर्टसन के व्यापार सिद्धान्त की आलोचना :– रॉबर्टसन के व्यापार चक्र की निम्न आलोचनाएं की गयी हैं: :

1. यह सिद्धान्त अनुभव द्वारा पुष्ट नहीं होता। ऐसी स्थिति देखने में नहीं आती कि अच्छी कृषि उपज के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में तेजी की दशाएं उत्पन्न हो जाएं।
2. रॉबर्टसन की यह मान्यता है कि ब्याज की दर में होने वाली वृद्धि से तेजी की स्थिति समाप्त होने लगती है। पर इसके लिए कोई विश्वसनीय कारण नहीं है कि ब्याज की दर में वृद्धि क्यों होती है?
3. रॉबर्टसन का सिद्धान्त उसी स्थिति में लागू होता है जब औद्योगिक क्षमता का पूर्ण प्रयोग होता है तथा विनियोग के सब सहयोगी तत्व उपस्थिति रहते हैं किन्तु ये मान्यताएं वास्तविक नहीं है।

1.6 व्यापार चक्र का मकड़ीजाला प्रमेय (The Cobweb Theorem of Trade Cycle) :–

व्यापार चक्र के इस सिद्धान्त को मकड़ी जाला प्रमेय इसलिए कहते हैं क्योंकि जब इसका रेखाचित्रीय चित्रण किया जाता है तो जो चित्र बनता है वह मकड़ी के जाले के समान दिखता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन तीन अर्थशास्त्रियों–इटली के रिक्की, नीदरलैण्ड के शुल्ट्ज तथा अमेरिका के टिंबरजन ने स्वतन्त्र रूप से किया तथा निकोलस काल्डोर ने इसे ''मकड़ी का जाला प्रमेय'' नाम दिया ।

यह सिद्धान्त कृषि पदार्थों के उत्पादन से सम्बन्धित है। सिद्धान्त मानकर चलता है कि किसी समय में कृषि उत्पादन की कीमतों में होने वाले उच्चावचन, अगले समय के कृषि उत्पादन में उच्चावचन पैदा करते हैं तथा वे उच्चावचन अगले समय कृषि पदार्थों की कीमतों में उच्चावचन पैदा करते है। इस प्रकार यह निरन्तर चलता रहता है तथा इससे अर्थव्यवस्था में तेजी की स्थिति आती है। किन्तु यह क्रम निरन्तर नहीं चल पाता। कभी–कभी ऐसी स्थिति आती है कि कृषि उत्पादन की पूर्ति उसकी मांग से अधिक हो जाती है, जिससे उसके मूल्य गिरने लगते है। इसका परिणाम यह होता है कि अगले समय में उत्पादन गिर जाता है। इस प्रकार क्रमशः गिरता हुआ उत्पादन तथा कीमतें अर्थव्यवस्था में मन्दी की स्थिति पैदा कर देती है।

1.7 मकड़जाला प्रमेय के प्रकार (Type of the Cobweb theorem):–

इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:

1. निरन्तर मकड़ीजाला(Continous cobwebs)
2. केन्द्रभिमुख मकड़ीजाला(Convergent cobwebs)
3. बाह्य विवर्तित मकड़ीजाला(Divergent Cobwebs)

1. **निरन्तर मकड़जाला :–**इस प्रकार का मकड़ीजाला निरन्तर चलने वाला होता है। यद्यपि प्रारम्भ में इसमें उत्पादन तथा कीमतों में कुछ समायोजन होता है किन्तु बाद में इसकी पुनरावृत्ति उसी पुराने पथ पर होती रहती है अर्थात एकसमान उत्पादन तथा समान कीमतों का चक्र चलता रहा है। यह उस समय होता है जब मांग तथा पूर्ति वक्र की लोच समान होती तथा मांग वक्र, पूर्ति के विपरीत होता है।

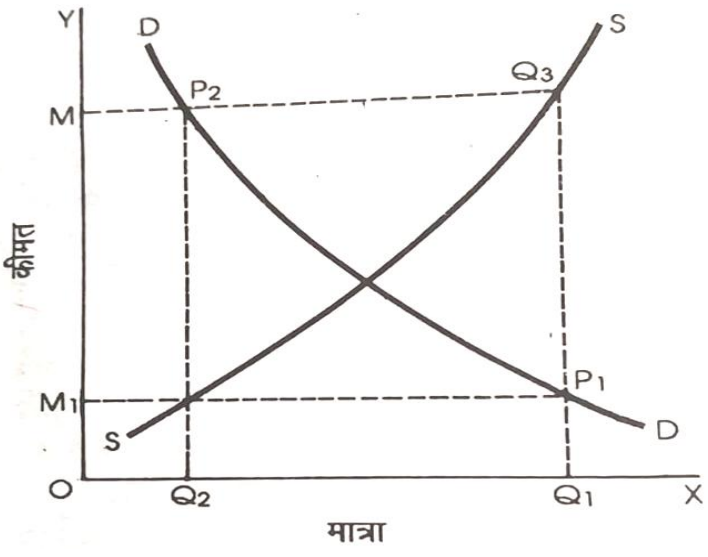

रेर की लोच समान है। QQ_1 मात्रा क नीची है। इन नीची कीमत के उत्पादन गिरने से पूर्ति

घट जाती है, जिससे कीमत बढ़कर Q_2P_2हो जाती है। कीमत बढ़ने से उत्पादन पुनः बढ़ता है जो MQ_3अथवा QQ_1के बराबर हो जाता है, तथा कीमत घटकर P_1Q_1के बराबर हो जाती है। जो पहले थी। इस प्रकार जो चक्र बनता है वह निरन्तर अपने को दुहराता चलता है अर्थात प्रारम्भिक समायोजना के बाद प्रणाली एक निश्चित पथ पर चलती रहती है।

2. **केन्द्राभिमुख मकड़ीजाला :–**इस प्रकार के मकड़ीजाले की रचना उस समय होती है जब मांग की तुलना में पूर्ति कम लोचदार होती है अर्थात कीमत परिवर्तन के प्रत्युत्तर में मांग की अपेक्षा पूर्ति में कम परिवर्तन होते है। ऐसी स्थिति में कीमत तथा उत्पादन में होने वाले परिवर्तन अन्तर्मुखी होते हैं जिससे प्रत्येक मकड़जाला सिकुड़ता जाता है।

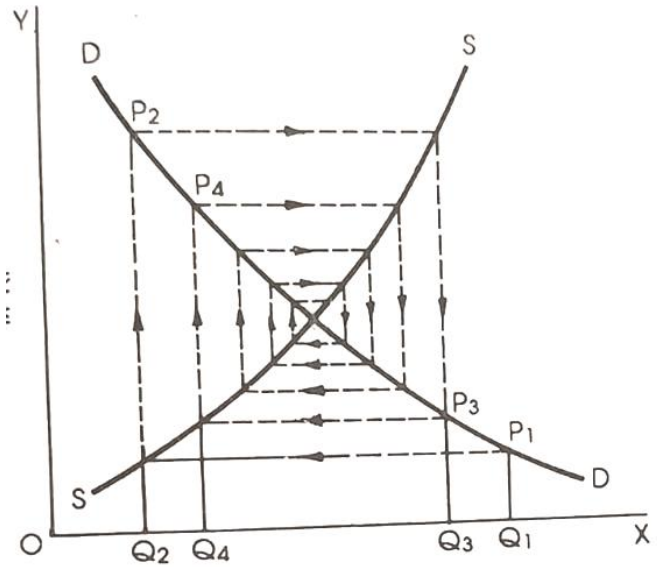

रेखाचित्र में हम अधिक मात्रा में उत्पादन O Q_1से प्रारम्भ करते है। अधिक उत्पादन से पूर्ति बढ़ जाती है, जिससे कीमत Q_1P_1नीची रहती है। चूंकि कीमत कम है अतः आने वाले समय मे उत्पादन O Q_1से घटकर O Q_2रह जाता है। पूर्ति घटने से कीमत बढ़कर O_2P_2हो जाती है। कीमत बढ़ने से उत्पादनO Q_2से बढ़कर O Q_3हो जाता है। अब उत्पादन बढ़ने से कीमत Q_2 P_2से घटकर Q_3 P_3हो जाती है। कीमत घटने से अगले समय में उत्पादन घटकर O Q_4हो जाता है। उत्पादन घटने से कीमत O_3P_3से बढ़कर O_4P_4हो जाती है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है तथा मकड़जाला सिकुड़ते सिकुड़ते कीमत तथा उत्पादन के अन्तर्गत सन्तुलन की अवस्था प्राप्त कर लेता है।

3. **बाह्य विवर्तित मकड़ीजाला :–** इसकी स्थिति केन्द्राभिमुख मकड़ीजाला के ठीक विपरीत होती है। इससे मांग की अपेक्षा पूर्ति अधिक लोचदार होती है तथा कीमत एवं उत्पादन की गतिविधियां आन्तरिक सन्तुलन के बाहर की होती है तथा मकड़जाल क्रमशः विस्तृत होता जाता है।

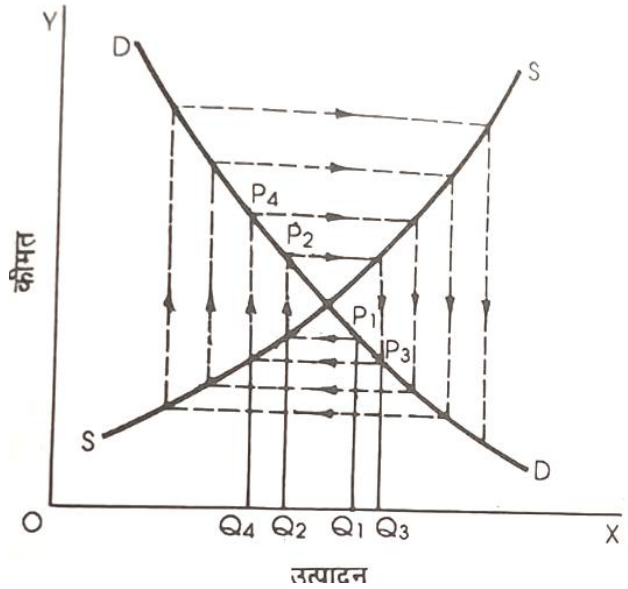

रेखाचित्र में DD मांग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है। हम उत्पादन की मात्रा OQ_1से प्रारम्भ करते हैं जहां कीमत Q_1P_1है। कीमत नीची होने के कारण उत्पादन OQ_1से घटकर OQ_2हो जाता है। अब चूंकि उत्पादन की मात्रा कम है, कीमत बढ़कर Q_2P_2हो जाती है। अब कीमत चूंकि ऊंची है , उत्पादन की मात्रा बढ़कर OQ_3हो जाती है। उत्पादन बढ़ने से कीमत घटकर P_3Q_3हो जाती है। कीमत घटने से उत्पादन घटकर OQ_4हो जाता है तथा उत्पादन घटने से कीमत बढकर Q_4P_4हो जाती है। यह प्रक्रिया अनिश्चित समय तक चलती रहती है।

केन्द्राभिमुख तथा बाह्य विवर्तित मकड़जाला व्यापार चक्र की सतत् रूप में जारी रहने वाली प्रवृत्तियों का सूचक है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अर्थव्यवस्था सन्तुलन में न रहकर , सन्तुलन बिन्दु से दूर हटती जाती है।

1.8 मकड़ीजाला प्रमेय की मान्यताएं :– मकड़ीजाला सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है:–

1. अर्थव्यवस्था में पूर्ण प्रतियोगिता की दशाएं विद्यमान हैं।
2. कीमतें, पूर्व में होने वाले उत्पादन का फलन है।
3. उत्पादन की जाने वाली वस्तु नाशवान हैं यही कारण है कि यह सिद्धान्त कृषि उत्पादन पर लागू होता है।

1.9 मकड़ीजाला प्रमेय की आलोचना (Critism of Cobweb Theory):–

1. सीमान्त क्षेत्र में लागू :– मकड़ीजाला सिद्धान्त को व्यापार चक्र का पूर्ण एवं वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह केवल कृषि क्षेत्र में ही लागू होता है, सम्पूर्ण क्षेत्रों में नहीं।
2. अवास्तविक मान्यताएं :– सिद्धान्त इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि चालू वर्ष के उत्पादन का निर्धारण उस उत्पादन की पिछले वर्ष की कीमतों के आधार पर होता है। वास्तविकता यह है कि उत्पादक, भविष्य की मांग एवं लाभ की आशा से भी प्रभावित होता है। इस दृष्टि से उक्त सिद्धान्त की तीन अवास्तविक मान्यताएं इस प्रकार है:

अ. सिद्धान्त उसी स्थिति में लागू होता है जहां कीमत, पूर्ति की दशाओं से प्रभावित होती है।

ब. सिद्धान्त उसी स्थिति में लागू होता है जहां उत्पादन केवल कीमत से प्रभावित होता है जो केवल पूर्ण प्रतियोगिता में सम्भव है।

स. सिद्धान्त उसी समय लागू होता है जहां अवधि समाप्त होने के पहले उत्पादन में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

वास्तव में, उत्पादन केवल कीमतों से प्रभावित नहीं होता वरन अन्य प्राकृतिक तत्वों एवं उत्पत्ति के साधनों की कीमत भी उत्पादन को प्रभावित करती है।

3. **सन्तुलन के हटने की धारणा :–**सिद्धान्त की यह मान्यता है कि एक बार सन्तुलन भंग हो जाने पर अर्थव्यवस्था बाह्य दिशा में विवर्तित होती रहती है तथा मूल सन्तुलन की प्राप्ति नहीं करती। किन्तु यह मान्यता गलत है। सन्तुलन से बाह्य विवर्तन सतत् रूप में नही होता है जिस प्रकार कि सन्तुलन बिन्दु भी सदैव विद्यमान नहीं रहता।

1.10 सारांश (Summary) :–

व्यापार चक्र के मौद्रिक सिद्धान्त को संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्यापार चक्रों का प्रमुख कारण मौद्रिक माने गये है। हॉट्रे का कहना है कि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से निवेश के लिए बैंक ऋण की उपलब्धता बढ़ जाती है। हॉट्रे तो व्यापार चक्र को विशुद्ध मौद्रिक घटना मानते है। रॉबर्टसन का मानना है कि वास्तविक लागतों तथा वास्तविक मांग में होने वाले परिवर्तन को व्यापार चक्र का कारण माना है। रार्बटसन का कहना है कि साख सृजन से एवं निष्क्रिय मुद्रा को सक्रिय बनाकर व्यापारिक उच्चावचन पैदा किए जा सकते हैं। इस संबंध में व्यापार चक्र का मकड़ीजाला प्रमेय पूर्णतः कृषि पदार्थों के उत्पादन से संबंधित है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी समय में कृषि उत्पादन की कीमतों में होने वाले उच्चावचन अगले समय के कृषि उत्पादन में उच्चावचन पैदा करते हैं तथा वे उच्चावचन अगले समय कृषि पदार्थों की कीमतों में उच्चावचन पैदा करते है। यह क्रम निरन्तर चलता है, और तेजी आती है। क्रम टूटने पर मन्दी आती है।

1.11 शब्दावली (Keywords) :–

विशुद्ध मौद्रिक घटना (Purely monetary phenomena), मुद्रा स्फीति का विषम चक्र (Vicious circle of inflation), साख अवरोध(Credit deadlock), निरन्तर मकड़जाला (Continous cobwebs), केन्द्राभिमुख (Convergent), बाह्य विवर्तित (Divergent), वास्तविक लागतें (Real costs),वास्तविक मांग (Real demand), अस्थिरता (Instability),

1.12 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books)

1. सिन्हा , वी0सी0 व सिन्हा, पुष्पा (2011–12) समष्टिगत अर्थशास्त्र, एस0 बीपीडी पब्लिशिंग हाऊस आगरा।
2. शर्मा, हरिश्चन्द्र व सिंघई, जी0सी0 (2000) मौद्रिक अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
3. सिंघई , जी0सी0 व मिश्रा, जे0पी0 (2010) समष्टि आर्थिक विश्लेषण , साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
4. झिंगन, एम0 एल0 (2007) : समृष्टि अर्थशास्त्र, वृन्दा पब्लिकेशन्स दिल्ली।

1.13 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions):-

1. हॉट्रे के मौद्रिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए
2. हॉट्रे के मौद्रिक सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. रॉबर्टसन के सिद्धान्त से आप क्या समझते है।
4. रॉबर्टसन के व्यापार चक्र सिद्धन्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. व्यापार चक्र के मकड़ीजाला प्रमेय की व्याख्या कीजिए।
6. मकड़ीजाला प्रमेय की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
7. मकड़ीजाला प्रमेय की मान्यताएं लिखिए।

1.14 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Questions):–

1. हॉट्रे ने समाज के कार्यात्मक संबंध के आधारों को कितने भागों में विभाजित किया है –
(क) 03 (ख) 02 (ग) 04 (घ) 05
उत्तर– (क)

2. हॉट्रे के अनुसार मौद्रिक सिद्धान्त के प्रमुख आधार है –
(क) उपभोक्ता , (ख) व्यापारी (ग) बैंक (घ) उपर्युक्त सभी
उत्तर– (घ)

3. ''मुद्रा स्फीति का एक विषम चक्र है'' यह कथन किसका है ?
(क) सैम्युएलसन (ख) हॉट्रे (ग) कीन्स (घ) हिक्स

उत्तर– (ख)
4. ''साख में जन्मजात अस्थिरता होती है'' यह कथन किसका है?
(क) हेयक (ख) सैम्युएलसन (ग) हॉट्रे (घ) कीन्स
उत्तर– (ग)
5. राबर्टसन के व्यापार चक्र सिद्धान्त के प्रमुख कारण है –
(क) वास्तविक लागत में परिवर्तन (ख) वास्तविक मांग में परिवर्तन
(ग) उपर्युक्त दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर– (ग)
6. व्यापार चक्र के सिद्धान्त को मकड़ीजाला प्रमेय नाम क्यों दिया –
(क) मकड़ी के जाले के समान रेखीय चित्र
(ख) वृत्त के समान रेखीय चित्र
(ग) शंकु के समान रेखीय चित्र
(घ) इनमें से कोई नहीं
उत्तर– (क)
7. मकड़ीजाला प्रमेय का प्रतिपादन किसने किया है –
(क) इटली के रिक्की (ख) नीदरलैण्ड के शुल्ट्ज
(ग) अमेरिका के टिंबरजन (घ) उपर्युक्त सभी
उत्तर– (घ)
8. मकड़ी का जाला प्रमेय का नाम किसने दिया था?
(क) हिक्स (ख) काल्डोर (ग) सैम्युएलसन (घ) कीन्स
उत्तर– (ख)
9. मकड़जाला प्रमेय को कितने भागों में बांटा गया है –
(क) 03 (ख) 02(ग) 04 (घ) 06
उत्तर–(क)
10. मकड़ीजाला प्रमेय का प्रमुख संबंध है –
(क) कृषि पदार्थों के उत्पादन से
(ख) रासायनिक पदार्थों के उत्पादन
(ग) आद्यौगिक पदार्थों के उत्पादन
उत्तर– (क)

हेयक का सिद्धान्त
Theory of Hayek

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय :–
1.1 उद्देश्य
1.2 हेयक के सिद्धान्त की मान्यताऐं
1.3 हेयक के सिद्धान्त की आधारभूत उपधारणाऐं
1.4 हेयक के अति–विनियोग सिद्धान्त की व्याख्या
1.5 हेयक के अति–विनियोग सिद्धान्त की समीक्षा
1.6 हेयक के अति–विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाऐं
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 अभ्यास प्रश्न
1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :-

मौद्रिक सिद्धान्त का एक अन्य रूप हेयक के द्वारा प्रतिपादित अति–निवेश सिद्धान्त (Hayek's over-investment Theory) है। हेयक के अनुसार कृत्रिम रूप में निम्न ब्याज – दरों पर किया गया बैक–साख का अति–निर्गम (Over-issue) ही व्यापक–चक्र की कार्यशीलता के लिए उत्तरदायी होता है। हेयक ने अपने उस सिद्धान्त को प्रो0 विकसैल द्वारा किये गये विश्लेषण के आधार पर निर्मित किया है। हेयक ब्याज की प्राकृतिक दर (Natural rate of interest) एवं ब्याज की बाजार दर (Market rate of interest) में भेद करते हैं जब तक ब्याज की बाजार–दर ब्याज प्राकृतिक दर समान रहती है तब तक कुछ भी गड़बड़ नहीं होती और देश की अर्थव्यवस्था सन्तुलनावस्था में ही रहती है। लेकिन कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब ब्याज की बाजार–दर एवं ब्याज की प्राकृतिक दर में असमानता उत्पन्न होती है।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :-

1. हेयक के सिद्धान्त में वर्णित ब्याज की प्राकृतिक दर एवं ब्याज की बाजार–दर को जान सकेंगे।
2. हेयक के सिद्धान्त की सार्थकता को समझ सकेंगे।
3. हेयक के सिद्धान्त की उपयोगिता तथा अनुपयुक्तता को समझ सकेंगे।

1.2 हेयक के अति–विनियोग सिद्धान्त की मान्यताऐं :–

- पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली स्वयं अवस्थायी होती है। यदि कभी अर्थव्यवस्था में असन्तुलन की दशा उत्पन्न हो जाती है तो अर्थव्यवस्था में कुछ शक्तियां उत्पन्न हो जाती हैं जिसमें अर्थव्यवस्था स्वयमेव सन्तुलित हो जाती है।
- अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति रहती है।
- मुद्रा तटस्थ रहती है अर्थात् उसकी पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। मुद्रा के सक्रिय होते ही उसकी विघ्नकारी भूमिका प्रारम्भ हो जाती है जिससे आर्थिक प्रणाली का स्वयं सन्तुलनकारी यन्त्र बिगड़ जाता है। असन्तुलन संचयी हो जाता है जिससे साम्य भंग हो जाता है और व्यापार चक्र की घटना उत्पन्न हो जाती है।

- हेयक का साम्य विश्लेषण उत्पादन के ढांचे तथा बचतों की पूर्ति के मध्य सन्तुलन पर विशेष जोर देता है। इन दोनों के बीच सन्तुलन, ब्याज दर द्वारा स्थापित किया जाता है।
- उत्पादन के ढांचे को यथावत बनाए रखने के लिए बचतों की पूर्ति, निवेश की मांग के बराबर होती है।
- प्राकृतिक ब्याज दर तथा बाजार ब्याज दर में भेद नहीं है।
- ब्याज दर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है।

1.3 हेयक के सिद्धान्त की आधार भूत उपधारणायें :–

(अ) ब्याज दर की भूमिका :– हेयक के अनुसार, मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होने के कारण अर्थव्यवस्था में निवेश के आकार में सहसा अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। ऐसा उस समय होता है जब कृत्रिम रूप से कम ब्याज दर पर बैंक अधिक साख का सृजन करते है। ऐसी दशा में, साम्य भंग हो जाता है। उत्पादन के ढांचे में परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। जिससे पूंजीगत वस्तु उद्योगों तथा उपभोक्ता वस्तु उद्योगों के बीच असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। हेयक के अनुसार, व्यापार चक्र मुद्रा की पूर्ति में शुद्ध वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन प्रक्रियाओं के लम्बा अथवा छोटा हो जाने का परिणाम है। चूंकि हेयक के व्यापार चक्र विश्लेषण में उत्पादन ढांचे की अवधारणा का केन्द्रीय महत्व है अतः हेयक के उत्पादन ढांचे की अवधारणा का अध्ययन करना आवश्यक होगा।

(ब) उत्पादन का ढांचा :– एक प्राथमिक अथवा अविकसित अर्थव्यव्था में उत्पादन , साधनों के प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा किया जाता है उत्पादन की प्रक्रिया सरल होती है तथा उत्पादन में कम समय लगता है। परन्तु ज्यों–ज्यों आर्थिक विकास होता जाता है, उत्पादन प्रक्रिया अधिकाधिक अप्रत्यक्ष तथा चक्करदार होती जाती है। उत्पादन की एक से अधिक अवस्थाएं होती है, जैसे–पहली अवस्था में पूंजीगत माल का उत्पादन होता है दूसरी अवस्था में यही माल उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में काम में लाया जाता है। इस तरह उत्पादन प्रणाली ज्यों–ज्यों पूंजीवादी होती जाती है वह उतनी ही अप्रत्यक्ष अथवा चक्करदार भी होती जाती है। उत्पादन में समय अधिक लगने लगता है, परन्तु उत्पादकता में वृद्धि होती जाती है। बाजार में विक्रय योग्य अन्तिम वस्तुओं के निर्माण तक उत्पादन की जितनी विभिन्न प्रक्रियाएं पूरी करनी पड़ती हैं, सभी मिलकर उत्पादन का ढांचा कहलाती है। प्रत्येक प्रक्रिया से उत्पादन की एक प्रक्रिया का निर्माण होता है। उत्पादन की ये सभी अवस्थाएं परस्पर सम्बन्धित होती हैं और इनमें से किसी एक अवस्था को अलग करना या नई अवस्था जोड़ना सदैव सम्भव नहीं होता। उत्पादन के ढांचे को तभी लम्बा किया जा सकता है जब उत्पादन की ऐसी तकनीक या विधि अपनाई जाए जिसमें अधिक उत्पादन अवस्थाएं हों। इसके विपरीत, कम उत्पादन अवस्थाओं वाली उत्पादन की तकनीक या विधि अपनाकर उत्पादन के ढांचे को छोटा किया जा सकता है। हम जानते हैं, उपभोक्ता वस्तुओं की मांग समाज के उपभोग व्यय द्वारा तथा पूंजीगत वस्तुओं की मांग निवेश की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। साम्य की दशा में बचतों की पूर्ति, निवेश के बराबर होती है। अन्य शब्दों में, समाज की कुल बचतें इतनी होती हैं कि उनके पूर्णतया निवेशित किए जाने पर उत्पादन के ढांचे को यथावत रखा जा सकता है।

(स) ऐच्छिक बतच तथा बलात बचत :– जब व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार अपनी आय का कुछ अंश उपभोग से बचाता है तब उसे ऐच्छिक बचत कहते हैं जबकि वस्तु की कीमतों में वृद्धि के कारण जब व्यक्ति उपभोग की पहले से भी कम वस्तुओं को खरीदने लगता है तो उसे बलात बचत कहते है। अधिविनियोजन के लिए बलात बचत मुख्य रूप से उत्तरदायी होती है।

(द) तटस्थ मुद्रा का विचार :– हेयक की धारणा थी कि प्रभावपूर्ण मुद्रा की पूर्ति के लगभग सभी परिवर्तन आर्थिक प्रणाली को अस्त–व्यस्त कर देते है। मुद्रा पूर्ति को व्यापार चक्र का कारण बनने से रोकने के लिए, हेयक 'तटस्थ मुद्रा' का विचार प्रस्तुत करते है। उनका सुझाव था कि मुद्रा का प्रबन्ध इस तरह किया जाना चाहिए ताकि वह आर्थिक घटना क्रम के प्रति तटस्थ रहे। हेयक के विचारानुसार अर्थव्यवस्था में उच्चावचनों की समस्या को कीमत स्तर के स्थायित्व द्वारा हल नहीं किया जा सकता,

इसके लिए मुद्रा की पूर्ति में स्थिरता लाना आवश्यक है। तभी मुद्रा को आर्थिक घटनाक्रम के प्रति तटस्थ रखा जा सकता है।

1.4 हेयक के अति–विनियोग का सिद्धान्त की व्याख्या (Over-investment Theory of Hayek Explanation) :–

हेयक ने यह मत प्रतिपादित किया है कि अति विनियोग के कारण व्यापार चक्र की अवस्थाएं पैदा होती हैं। हेयक ने ब्याज की प्राकृतिक दर अथवा स्वाभाविक दर तथा बाजार दर में अन्तर किया है। इन दोनों में अन्तर के कारण ही या तो कीमतों में वृद्धि होती है अथवा कमी होती है और इसी के फलस्वरूप विनियोग में परिवर्तन होते हैं।

हेयक अपने सिद्धान्त का आरम्भ ब्याज की ''स्वाभाविक दर'' की कल्पना से करते है। स्वाभाविक दर वह है जिस पर विनियोजन की मांग तथा पूर्ति समान होती है अर्थात समाज की सम्पूर्ण बचत तथा विनियोजन के लिए पूंजी की मांग में अन्तर नहीं होता है। मुद्रा बाजार में ब्याज की दर इस स्वाभाविक दर के समान रहने पर तो बचत एवं विनियोजन में समानता रहती है, परन्तु ऋण के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि साख निर्माण द्वारा बैंक वास्तविक बचत से अधिक ऋण दे सकते हैं और ब्याज की दर में परिवर्तन किये बिना मांग के अनुसार पूर्ति करना सम्भव नहीं है। बाजार में ब्याज दर जब सामान्य दर से कम होती है तो उद्योगपति एवं व्यापारी अधिकाधिक मात्रा में उधार लेते हैं एवं विनियोग की मात्रा बढ़ाते है।

अधिकाधिक विनियोजन का यह क्रम तब तक निरन्तर चलता रहता है जब तक कि बाजार में ब्याज दर स्वाभाविक दर से नीची रहती है। ज्यों–ज्यों मूल्य बढ़ते हैं उत्पादकों को अधिक ऋण लेने तथा उत्पादन बढ़ाने का प्रोत्साहन रहता है। इस सम्पूर्ण क्रिया के फलस्वरूप मुद्रा स्फीति होती रहती है। हेयक के मतानुसार यह अधिविनियोजन की स्थिति है, क्योंकि जितनी नयी पूंजी विनियोजित हो रही है वह जनता की बचत में से नहीं बल्कि बैंकों द्वारा साख प्रसार कर उत्पन्न की जा रही है।

ऋण विनियोजन, उत्पादन तथा मूल्यों का यह विस्तार स्पष्टतः व्यापारिक बैंको की उदार ऋण नीति के कारण होता है और इसका अन्त भी बैंको की क्रियाओं के कारण होता है। बाजार में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब बैंको की ऋण राशि तथा जमा के अनुपात अत्यधिक बढ़ जाते हैं और उनके नकद कोष बहुत कम हो जाते है। ऐसी स्थिति में बैंक ब्याज की दरें बढ़ाने लगते है। फलतः सीमान्त व्यावसायिक इकाइयों को हानि होने लगती है क्योंकि वह बढ़ी हुई ब्याज दर चुकाने में असमर्थ होते है। इस प्रकार उद्योगों में पूंजी विनियोजन, उत्पादन तथा रोजगार की मात्रा घटने लगती है और प्रतिसार प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि बैंकों की नीति का क्रमशः व्यवसायों पर प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार हेयक के अनुसार मन्दी का युग सर्वथा अति विनियोजन के कारण आरम्भ होता है। उनका मत है कि प्रतिसार अथवा मन्दी की अवस्था में अधिविनियोजन की स्थिति समाप्त हो जाती है क्योंकि कुछ व्यवसायी तो ऋण चुका देते हैं और कुछ असफल हो जाते हैं।

हेयक का सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि बैंकिंग प्रणाली काफी समय तक कम ब्याज पर आवश्यकतानुसार पूंजी देती रहती है, जिससे व्यवसायियों को अधिक विनियोजन का अवसर मिल जाता है। किन्तु बैंको के साधन कम हो जाने पर अकस्मात साख विस्तार कम हो जाता है। फलतः बहुत सी मशीनें तथा अन्य माल बिना बिके रह जाता है क्योंकि साख महंगी होने से व्यापारी कम ऋण लेना चाहते है। इससे अर्थतन्त्र में अविश्वास तथा असन्तोष उत्पन्न हो जाता है और अर्थव्यवस्था प्रतिसार की ओर अग्रसर होने लगती है।

उपरोक्त मान्यताओं तथा उपधारणाओं को समझने के उपरान्त अब हम हेयक के अधि विनियोजन अथवा साख–अधिनिर्गमन सिद्धान्त की व्याख्या कर सकते है। हम जानते है कि सन्तुलन की दशा में ब्याज दर तथा लाभ की दर समान होती है। परन्तु इनकी समानता में दो तरह से बाधा पड़ सकती है– (1) लाभ की दर किसी कारण से बढ़ जाय अथवा (2) ब्याज की दर में कमी आ जाय।

यदि लाभ की दर ऊँची होती है तो उत्पादन का ढांचा, लम्बा होने लगता है। पूंजीगत वस्तु उद्योगों में निवेश की मांग बढ़ जाएगी, फलस्वरूप ऐच्छिक बचतों की मात्रा में

वृद्धि आवश्यक होगी। परन्तु ऐच्छिक बचतों को बढ़ाने के लिए ब्याज दर में वृद्धि करनी होगी। इस तरह ब्याज दर बढ़ने लगेगी जो शीघ्र ही लाभ की दर के बराबर हो जाएगी और पुनः साम्य स्थापित हो जाएगा। हेयक का कथन है कि ऐसी दशा में, अर्थव्यवस्था में चक्रीय उतार चढ़ाव नहीं होंगे क्योंकि निवेश की बढ़ी हुई मांग को ऐच्छिक बचतें बढ़ाकर पूरा किया गया है, मुद्रा की पूर्ति बढ़ाकर नहीं।

हेयक के अनुसार व्यापार चक्र की घटना उस समय उत्पन्न होती है जब सन्तुलन ब्याज दर तथा लाभ की दर के मध्य असन्तुलन इस कारण उत्पन्न हो जाता है क्योंकि बैंक साख का निर्माण करके नीची ब्याज दर पर ऋण देय कोषों की पूर्ति करने लगते हैं।

(अ) अभिवृद्धि या विस्तार की अवस्था :– जब ब्याज की दर गिर जाती है और बैंक साख का विस्तार होता है तब व्यवसायी बैंक से अधिक रूपए उधार लेंगे तथा अधिक राशियां उत्पादन के साधनों में वृद्धि के लिए प्रयुक्त करेंगे। निवेश के आकार में वृद्धि होने से उत्पादन का ढांचा लम्बा होने लगता है तथा उत्पादन की विधि अधिक पूंजी प्रधान हो जाती है। परिणामस्वरूप पूंजीगत वस्तुओं की मांग बढ़ती है जिससे उनकी कीमतें बढ़ने लगती है। इसका परिणाम यह होता है। कि पूंजीगत वस्तुओं का उत्पादन, उभोक्ता वस्तु के उत्पादन से अधिक फायदेमन्द होने लगता है। फलस्वरूप उत्पत्ति के साधन उपभोक्ता वस्तु उद्योगों से पूंजीगत वस्तु उद्यागों की ओर जाने लगते हैं। इससे उपभोक्ता वस्तुअ उद्योगों में संसाधनों की कमी हो जाती है। संसाधनों की कमी से उनका उत्पादन घट जाएगा तथा कीमतें बढ़ेंगी। कीमतों के बढ़ने के कारण अब उपभोक्ता पहले की तुलना में कम–वस्तुओं का उपभोग करेंगे। उपभोक्ता वस्तु उद्योगों में मांग और कम होगी जिससे उत्पादन और कम होगा तथा साधनों का पूंजीगत उद्योगों में स्थानान्तरण जारी रहेगा। इस तरह अभिवृद्धि अथवा विस्तार की अवस्था में, संसाधन उत्पादन ढांचे की निम्नतर अवस्था से उच्चतर अवस्था की ओर प्रास्थित होते है। हेयक का विचार है कि उत्पादन ढांचे की लम्बाई में हुई यह वृद्धि जो ऐच्छिक बचत पर आधारित न होकर साख मुद्रा के विस्तार पर आधारित होती है, प्रकृति से अस्थिर होती है तथा कुछ समय पश्चात् अनिवार्य रूप से मंदी को जन्म देती है।

(ब) मंदी अथवा अवसाद :– अभिवृद्धि काल में, जब पूंजीगत वस्तु उद्योगों में मुद्रा की अतिरिक्त पूर्ति के द्वारा निवेश बढ़ाया जाता है, तो साधन स्वामियों की आय में वृद्धि होती है जिससे वे उपभोग की मात्रा बढ़ा देते है। फलस्वरूप उपभोक्ता वस्तुओं की मांग में वृद्धि होने लगती है। ऐसा होने पर उनकी कीमतें भी बढ़ने लगती है। परिणामस्वरूप उपभोक्ता वस्तु उद्योग संसाधनों को प्राप्त करने के लिए पूंजीगत वस्तु उद्योगों से प्रतियोगिता करने लगते है। चूंकि साधनों की पूर्ति सीमित होती है अतः इनकी मांग में वृद्धि होने से कीमतें बढ़ने लगती है। इससे पूंजीगत, उद्योगों में लागतें बढ़ जाती हैं और लाभ की दर गिरने लगती है। इस स्थिति के उत्पन्न होने के साथ–साथ एक संकट और उत्पन्न हो जाता है। बैंक अब तक अपनी साख निर्माण क्षमता से अधिक साख का निर्माण कर चुके होते हैं अतः वे साख संकुचन की नीति अपनाने लगते हैं। ब्याज दर ऊंची होने लगती है और शीघ ही सन्तुलन ब्याज दर से ऊंची हो जाती है। फलस्वरूप निवेशकर्ता निवेश की मात्रा में कमी कर देते है। उत्पादन प्रक्रिया छोटी होने लगती है और मंदी की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। दूसरी तरफ, जब उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बढ़ने के कारण कीमतें बढ़ती हैं तो उद्यमकर्ता शीघ्रता से उत्पादन बढ़ाने के लिए उन उत्पादन विधियों को अपनाने लगते हैं जो श्रम प्रधान हो तथा जिसमें समय कम लगे, भले ही कार्य कुशलता की दृष्टि से वे उपयुक्त न हों। फलस्वरूप उत्पादन का ढांचा छोटा होने लगता है तथा मंदी का दौर प्रारम्भ हो जाता है।

(स) पुनरूद्धार :– जब मंदी की अवस्था लम्बी अवधि तक चलती रहती है तब व्यापारियों में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि अब बुरा समय समाप्त हो गया है तथा भविष्य की दशा इससे खराब नहीं होगी। धीरे–धीरे बैंक का नकद कोष भी बढ़ जाता है क्योंकि एक तो व्यापारियों द्वारा पुराने ऋणों का भुगतान किया जाता है, दूसरे लोग बैंकों मे अपनी बचतों को भी जमा कर देते हैं। अब बैंक उत्पादकों को पूंजी उधार देने के लिए तत्पर हो जाते है। वे ब्याज की दर घटा देते हैं। बैंक दर के नीची होने पर व्यापारियों में आशावाद का जन्म होता है। तथा वे पुनः ऋण लेने लगते हैं और धीरे–धीरे मंदी की दशा समाप्त होकर अभिवृद्धि की दशाएं प्रारम्भ हो जाती है।

1.5 हेयक के अति–विनियोग सिद्धान्त की समीक्षा :–

- हाट्रे के सिद्धान्त की ही तरह यह सिद्धान्त भी व्यापार–चक्र की व्याख्या केवल कुछ ही कारकों के आधार पर करता है। इसलिए इस सिद्धान्त को भी केवल आशिंक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।
- निवेश निर्धारण की प्रक्रिया में ब्याज दर को ही प्रमुख घटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो उचित नहीं है। क्योंकि निवेश के निर्धारण में कई अन्य घटकों जैसे–अनुमानित लाभ, व्यापार संभावनायें इत्यादि की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है।
- सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।
- पूंजीगत उद्योगों तथा उपभोक्ता उद्योगों के बीच प्रतिस्पर्धा की मान्यता सही नहीं है। क्योंकि वस्तुतः ये दोनों उद्योग एक दूसरे के पूरक होते हैं, न कि प्रतिस्पर्धी।

1.6 हेयक के अति–विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाऐं :– हेयक का अधि–विनियोजन सिद्धान्त व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों दृष्टिकोणों से दोषपूर्ण है।

1. **वास्तविक आधार –** हेयक यह मानकर चलते हैं कि अर्थतन्त्र में मन्दी की स्थिति के अतिरिक्त सदा पूर्ण रोजगार की स्थिति रहती है। किन्तु सामान्य अनुभव इस बात का प्रमाण है कि संसार में समृद्धि की वह चरम सीमा कभी नहीं आ सकी है जबकि पूर्ण रोजगार की स्थिति रही हो। अतः इस प्रकार की मान्यता सर्वथा सैद्धान्तिक एवं भ्रमपूर्ण है। हेयक का सिद्धान्त इस अवास्तविक मान्यता पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था में साम्य की दशा में संसाधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त रहता है। जैसा कि कीन्स ने स्पष्ट किया है कि साम्य की स्थिति में भी संसाधन को पूर्ण रोजगार प्राप्त होना आवश्यक नहीं है।
2. **ब्याज की दर का स्थान :–** केन्स के अनुसार ब्याज की दर मात्र मौद्रिक तत्व नहीं है क्योंकि ब्याज की दर पर अन्य कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है। हेयक द्वारा ब्याज की दर का विनियोजन से जो सम्बन्ध जोड़ा गया है वह सत्य प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टि से हेयक का विचार हॉट्रे के मत से अवश्य ही श्रेष्ठ है क्योंकि ब्याज दर का प्रभाव स्टॉक करने की नीति पर भले ही सामान्य हो, परन्तु पूंजीगत माल सम्बन्धी कारखाने स्थापित करने में बहुत अधिक पड़ता है। हेयक की धारणा है कि बचत तथा निवेश के मध्य सनतुलन ब्याज दर द्वारा स्थापित होता है। परन्तु कीन्स ने इस परम्परावादी विचारधारा का खण्डन करते हुए स्पष्ट किया है कि बचत तथा निवेश में सन्तुलन ब्याज की दर द्वारा नहीं बल्कि आय के स्तर द्वारा प्राप्त किया जाता है।
3. **साधनों का प्रयोग :–** हेयक यह मानकर चलते हैं कि बैंको द्वारा साख स्फीति होने पर समृद्धि चक्र आगे बढ़ता है तथा स्फीति तभी होती है जबकि बैंक जनता की वास्तविक बचत में से ऋण न देकर केवल अपनी साख प्रसार शक्तियों द्वारा उधार देते है। यह निर्णय करना सर्वथा असम्भव है कि किसी बैंक द्वारा कौन से ऋण जनता की वास्तविक बचतों में से तथा कौन–से केवल साख वृद्धि द्वारा दिये जा रहे हैं।
4. **पूंजीगत वस्तुओं तथा उपभोग की वस्तुओं में प्रतियोगिता :–** हेयक की मान्यता है कि पूंजीगत वस्तुओं की मांग उपभोग वस्तुओं की मांग से प्रतियोगिता करती है। किन्तु आलोचकों के अनुसार यह मत उचित नहीं है। पूंजीगत वस्तुओं की मांग, व्युत्पादित मांग है अर्थात उपभोग वस्तुओं की मांग के कारण ही पूंजीगत वस्तुओं की मांग होती है। अतः उक्त दोनों वस्तुओं के उद्योगों में प्रतियोगिता का सवाल ही पैदा नही होता।

हेयक की मान्यता यह है कि अपने साधनों का अधिकतम उपयोग कर लेने पर बैंक साख को महंगी कर देते हैं जिससे अर्थतन्त्र मन्दी की ओर अग्रसर होने लगता है। यह ''अधिकतम सीमा'' काल्पनिक है तथा बैंको की साख नीति में स्वयं किये गये परिवर्तन प्रायः क्रमिक एवं धीरे–धीरे होते हैं, जिनका प्रभाव अर्थव्यवस्था पर बहुत व्यापक नहीं पड़ता। अतः इस धारणा से व्यापार चक्र की गति की पृष्टि नहीं होती।

1.6 सारांश (Summary) :–

हेयक का अधि–विनियोग सिद्धान्त भले ही व्यापार चक्रों की अवस्थाओं की शत प्रतिशत समीक्षा करने में सफल नहीं हुआ , परन्तु पूंजी विनियोजन की मात्रा प्रत्येक अर्थतन्त्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है और इसका व्यापार चक्र की गति पर बहुत प्रभाव पड़ता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

हेयक के सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है कि अवसाद की स्थिति से बचने के लिए अत्यधिक समृद्धि पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है।

हेयक का सिद्धान्त बताता है कि कभी–कभी निवेश इतना बढ़ जाता है और फलस्वरूप पूंजी–पदार्थ उद्योगों का इतना विस्तार हो जाता है कि अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता (Productive Capacity) बहुत अधिक बढ़ जाती हैं परन्तु उपभोक्ता वस्तुओं की मांग इतनी नहीं बढ़ती जितनी कि उत्पादन क्षमता बढ़ गई होती है। परिणामस्वरूप उत्पादन क्षमता अप्रयुक्त रहने लगती है। इससे निवेश हतोत्साहित होता है। निवेश के घटने से उत्पादन, रोजगार आदि घटने लगते हैं और मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अति निवेश सिद्धान्त का यह कहना उचित ही है कि निवेश की दर में उतर–चढ़ाव व्यापारिक चक्रों के मुख्य कारण है। यद्यपि यह सिद्धान्त इस बात की ठीक–ठीक व्याख्या नहीं कर पाता कि निवेश में इतने नियमित रूप से क्यों उतार–चढ़ाव होते रहते है। कई अर्थशास्त्री निवेश के उतार–चढ़ाव के लिए बैंकों को उत्तदायी ठहराते हैं, परन्तु यह संतोषजनक उत्तर नहीं है।

1.8 शब्दावली (Keywords) :-

ब्याजदर (Rate of Interest), अधि–विनियोजन (Over-investment), प्राकृतिक दर (Natural Rate), ब्याज की बाजार दर (Market Rate of Interest), ऐच्छिक बचत (Voluntary Saving), तटस्थ मुद्रा (Neutral Money), अति–निर्गम (Over issue), भेद (Distinction), व्यापार चक्र की अवस्थाएं (Phases of Trade cycles), अभिवृद्धि (Prosperity), सुस्ती अथवा प्रतिसार (Recession), अवसाद (Depression), पुनरूत्थान (Recovery)

1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books) :-

8. सिन्हा , वी0सी0 व सिन्हा, पुष्पा (2011–12) समष्टिगत अर्थशास्त्र, एस0 बीपीडी पब्लिशिंग हाऊस आगरा।
9. शर्मा, हरिश्चन्द्र व सिंघई, जी0सी0 (2000) मौदिक अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
10. सिंघई , जी0सी0 व मिश्रा, जे0पी0 (2010) समष्टि आर्थिक विश्लेषण , साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
11. झिंगन, एम0एल0 (2007) : समृष्टि अर्थशास्त्र, वृन्दा पब्लिकेशन्स दिल्ली।

1.10 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions) :-

1. हेयक के अधि–विनियोजन सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. हेयक के अधि–विनियोजन सिद्धान्त की मान्यताएं बताइयें।
3. हेयक के अधि–विनियोजन सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. हेयक के अधि–विनियोजन सिद्धान्त की आधारभूत उपधारणाओं को बताइए।

1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objectives Questions):-

1. हेयक के अधि–विनियोजन सिद्धान्त की आधारभूत उपधारणा है–
   क. ब्याज दर — ख. उत्पादन का ढांचा
   ग. ऐच्छिक बचत तथा बलात बचत — घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
2. हेयक के अनुसार कीमतों में वृद्धि होने से व्यक्ति उपभोग की पहले से कम वस्तुयें क्रय करता है, तो उसे क्या कहा जाता है–
   क. ऐच्छिक बचत — ख. बलात बचत
   ग. तटस्थ मुद्रा — घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
3. हेयक के अनुसार जब व्यक्ति अपनी इच्छा से अपनी आय का कुछ अंश उपभोग से बचा लेता है तो उसे क्या कहा जाता है–
   क. बलात बचत — ख. ऐचिछक बचते
   ग. मुद्रा — घ. पूंजी
   (उत्तर ख)
4. हेयक के अधि–विनियोजन सिद्धान्त की मान्यताएं हैं–
   क. ब्याज दर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है।
   ख. प्राकृतिक ब्याज दर तथा बाजार (वास्तविक) ब्याज दर में भेद नहीं है।
   ग. अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति रहती है।
   घ. उपर्युक्त सभी।

(उत्तर घ)

5. हेयक के अनुसार लाभ की दर ऊँची होने पर –
   क. पूंजीगत वस्तु उद्योगों में निवेश की मांग में वृद्धि होती है
   ख. ऐचिछक बचतों की मात्रा मे वृद्धि होती है
   ग. उपर्यृक्त दोनों
   घ. इनमें से कोई नहीं।
   (उत्तर ग)
6. हेयक के अनुसार–निवेश की बढ़ी हुई मांग को किस तत्व को बढ़ाकर पूरा किया जाता है–
   क. ऐच्छिक बचतों में वृद्धि करके
   ख. बलात बचतों में वृद्धि करके
   ग. सावधि जमा में वृद्धि करके
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर क)
7. हेयक के अनुसार व्यापार चक्र की घटना किस समय उत्पन्न होती है?
   क. जब ब्याज दर तथा लाभ की दर के मध्य असन्तुलन
   ख. जब ब्याज दर तथा लाभ की दर के मध्य सन्तुलन
   ग. उपयुक्त दोनों
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर क)
8. ब्याज दर तथा लाभ की दर के मध्य असन्तुलन के कारण है–
   क. बैंक साख का निर्माण कर ऊँची ब्याज दर पर ऋण देय कोषों की पूर्ति करें।
   ख. बैंक साख का निर्माण कर नीची ब्याज पर ऋण देय कोषों की पूर्ति करें।
   ग. उपर्युक्त दोनों।
   घ. इनमें से कोई नहीं।
   (उत्तर ख)
9. हेयक के अनुसार अर्थव्यवस्था में उच्चावचनों की समस्या को कीमत स्तर के स्थायित्व द्वारा हल किया जा सकता है?
   क. हाँ ख. नहीं ग. उपर्युक्त सभी घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
10. हेयक के अनुसार जब निवेशकर्ता निवेश की मात्रा में कमी कर देते हैं–
    क. उत्पादन प्रक्रिया छोटी होने लगती है।
    ख. मंदी की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।
    ग. उपर्युक्त दोनों
    घ. इनमें से कोई नहीं
    (उत्तर ग)

कीन्स एवं हिक्स का सिद्धान्त
Theory of Keynes & Hicks

इकाई की रूपरेखा

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 प्रो0 केन्स का बचत–विनियोग सिद्धान्त
1.3 प्रो0 केन्स का बचत–विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाएं
1.4 हिक्स का गुणक एवं त्वरक सिद्धान्त
1.5 मान्यताएं
1.6 हिक्स के गुणक एवं त्वरक सिद्धान्त की आलोचनाएं
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.10 अभ्यास प्रश्न
1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 परिचय (Introduction) :-

1950 में प्रकाशित प्रो0 जे0 आर0 हिक्स की पुस्तक '' A Contribution to the Theory of Trade cycles" में व्यापार चक्र की सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। हिक्स द्वारा प्रतिपादित व्यापार चक्र की व्याख्या भी गुणक एवं त्वरक की अन्तःक्रिया पर आधारित है। विकासशील अर्थव्यवस्था अर्थात् एक ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें राष्ट्रीय आय में बढ़ती हुई प्रवृत्ति (Rising Trend) पाई जाती है, में गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया व्यापारिक चक्रों के घटने तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं, मोड बिन्दुओं तथा उच्चतम सीमाओं (Ceilings) एवं निम्नतम सीमा (Flour) की व्याख्या करती है। प्रो0 केन्स के द्वारा बचत–विनियोग का सिद्धान्त के प्रतिपादित किया गया है। केन्स ने पृथक व्यापार चक्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। व्यापार संबंधी उनके विचार उनकी पुस्तक ''रोजगार ब्याज एवं मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त'' में मिलते है और उनके इस विचार की ही सह–उपज हैं। प्रो0 केन्स के अनुसार व्यापार चक्र में परिवर्तन विनियोग की दर में परिवर्तन के के कारण होते है। साथ ही विनियोग की दर, पूंजी की सीमान्त दक्षता और ब्याज की दर पर निर्भर होती है। इन दोनों के कारण से चक्रीय उच्चावचनों में उल्लेखनीय प्रभाव देखने को मिलता है।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :-

- प्रो0 केन्स के बचत–विनियोग सिद्धान्त को जान सकेंगे।
- प्रो0 हिक्स के गुणक एवं त्वरक के संयुक्त प्रभाव को जान सकेंगे।

1.2 प्रो0 केन्स का बचत–विनियोग सिद्धान्त (Saving-Investment Theory of Prof. Keynes) :–

बचत विनियोग सिद्धान्त केन्स द्वारा प्रतिपादित किया गया है। केन्स ने पृथक रूप से व्यापार चक्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया वरन् उनके व्यापार चक्र सम्बन्धी विचार उनकी पुस्तक (General Theory) में मिलते हैं और उनके इस विचार की ही सह–उपज है कि किसी अवधि में रोजगार और आय का निर्धारण किस प्रकार होता है।

केन्स के अनुसार व्यापार चक्र के परिवर्तन विनियोग की दर में परिवर्तन से होते हैं और विनियोग में परिवर्तन, पूंजी की सीमान्त दक्षता में चक्रीय परिवर्तन के कारण होते है।

यह हम देख चुके हैं कि विनियोग की दर का निर्धारण पूंजी की सीमान्त दक्षता एवं ब्याज की दर से होता है, किन्तु इन दोनों में ब्याज की दर का प्रभाव चक्रीय उच्चावचनों में अधिक नहीं होता। इसी प्रकार उपभोग प्रवृत्ति भी सामान्य रूप से स्थिर रहती है और चक्रीय उच्चावचनों में उल्लेखनीय प्रभाव नहीं डालती। इस प्रकार रोजगार के निर्धारक तीन तत्वों MEC एवं ब्याज दर, (तरलता पसन्दगी) और उपभोग प्रवृत्ति, इन तीनों में MEC का व्यापार चक्र पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है

(अ) समृद्धि (Prosperity) :– केन्स के अनुसार पूंजी की सीमान्त दक्षता (MEC) में परिवर्तन के कारण अर्थव्यवस्था पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। वस्तुतः पूंजी की सीमान्त दक्षता ऊंची होने पर निजी पूंजी का विनियोजन तीव्र गति से होता है जिससे आय तथा रोजगार की मात्रा में आशातीत वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, प्रतिभूति बाजार में अंश अथवा प्रतिभूतियां बेचने से जो पूंजीगत लाभ होता है उससे भी उपभोग की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है जिससे समृद्धि की अवस्था आने में प्रोत्साहन मिलता है। दोनों तत्व अर्थात पूंजी की सीमान्त दक्षता तथा अंशों और प्रतिभूतियों पर लाभ तो समुत्थान तथा समृद्धि की अवस्था लाने में सहायक होते हैं परन्तु एक तीसरा तत्व इसमें बाधक होता है। केन्स के अनुसार आय वृद्धि के साथ–साथ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में कमी आती है। अतः आय तेजी से बढ़ रही है तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में भी बहुत कमी आयेगी अतः इससे समृद्धि की गति में कुछ शिथिलता आ सकती है।

(ब) प्रतिसार (Recession) :–

आर्थिक समृद्धि की स्थिति का अन्त तभी होगा जबकि पूंजी की सीमान्त कुशलता में कमी आ जाती है। केन्स के अनुसार यह परिवर्तन साहसियों की आशाओं में परिवर्तन होने के कारण होता है। इसका मूल कारण यह है कि अधिक विनियोजन के कारण पूंजीगत माल का स्टॉक आवश्यकता से अधिक हो जाता है जिससे स्वभावतः आगामी इकाइयों की उपयोगिता अथवा कुशलता गिर जाती है। इसके अतिरिक्त, विनियोजन के कारण पूंजी की शुद्ध लाभ दर भी कम हो जाती है तथा तीसरा कारण यह है कि आर्थिक विस्तार के कारण ब्याज की दरों में भी वृद्धि हो जाती है जिससे अतिरिक्त पूंजी कम लाभदायक रह जाती है।

विनियोक्ताओं की निराशावादिता के कारण विनियोजन की क्रिया शिथिल होने लगती है और समय पश्चात् बन्द हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप रोजगार की स्थिति बिगड़ जाती है। प्रतिभूति बाजार में अंशों तथा प्रतिभूतियों पर हानि होने लगती है जिससे उपभोग की क्रिया में और कमी आ जाती है। अन्ततः अवसाद का प्रभाव सारे अर्थतन्त्र का आच्छादित कर देता है।

(स) समुत्थान (Recovery) :–

केन्स के अनुसार आर्थिक व्यवस्था का समुत्थान भी पूंजी की सीमान्त कुशलता में सुधार होने से होता है। मन्दी की अवस्था में पुरानी, घिसी हुई तथा अन्य प्रकार की घटिया मशीनों का प्रयोग बन्द हो जाता है तथा अतिरिक्त स्टॉक जिनके कारण प्रतिसार आरम्भ हुआ था, लुप्त हो जाते हैं और लाभ की सम्भावनाएं प्रकट होने लगती है। फलतः अर्थतन्त्र में समुत्थान को नवीन क्रम दृष्टिगोचर हो जाता है।

1.3 प्रो0 केन्स को बचत–विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाएं (Criticism of Prof Keynes's Saving-Investment Theory) :-

1. **MEC की धारणा स्पष्ट नहीं :–** केन्स का व्यापार चक्र सिद्धान्त ''पूंजी की सीमान्त कुशलता'' के चारों ओर चक्कर लगाता है और इस तत्व को आर्थिक उत्थान तथा पतन का कारण घोषित करता है। यह स्पष्ट नहीं है कि पूंजी की सीमान्त कुशलता किन तत्वों पर आधारित हैं। यदि यह 'मनोवैज्ञानिक' मान्यता पर ही आधारित हैं तो इस सिद्धान्त में और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में क्या अन्तर है?
2. **मौलिकता का अभाव :–** केन्स के सिद्धान्त के विश्लेषण से विशेषकर मन्दी से समुत्थान की क्रिया से ऐसा आभास होता है मानो यह अधि विनियोजन सिद्धान्त का ही प्रतिरूप हो। वस्तुतः ''अतिरिक्त पूंजी'' तथा ''अतिरिक्त स्टॉक'' बहुत कुछ अधिविनियोजन तथा अल्प उपभोग सिद्धान्तों का स्मरण दिलाते है। इस दृष्टि से कुछ नये शब्दों का प्रयोग करने के अतिरिक्त केन्स के सिद्धान्त में कोई मौलिकता दिखलायी नहीं पड़ती है।

3. **अवधि स्पष्ट नहीं :–** केन्स के व्यापार चक्र विश्लेषण से व्यापार चक्र की अवधि सीमा स्पष्ट नहीं होती।
4. **आय के पुनर्वितरण पर बल नहीं :–** केन्स ने मन्दी को दूर करने के लिए विनियोग की वृद्धि पर बल दिया है ताकि प्रभावपूर्ण मांग को बढ़ाया जा सके। इसके लिए केन्स सामाजिक ढांचे और आय के वितरण में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। किन्तु समाजवादी विचारधारा वाले हॉब्सन न्यून उपभोग को संकट का कारण मानते है और आर्थिक प्रणाली में आय का पुनर्वितरण कर उपभोग को बढ़ाना चाहते है ताकि अवसाद की स्थिति को दूर किया जा सके। केन्स का विचार है कि ''पूर्ण विनियोग'' के बिन्दु के बाद आय का वितरण अपने आप ठीक हो जायेगा। ''यद्यपि केन्स इस बात को स्वीकार करते हैं कि 'पूर्ण विनियोग' बिन्दु के पूर्व उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि करने के लिए आय के पुनर्वितरण की बहुत आवश्यकता है, किन्तु केन्स के इस विचार की अपना केन्द्रीय विषय नहीं बनाया है।''

1.3 हिक्स का गुणक एवं त्वरक का सिद्धान्त (Hick's theory of Multiplier and Accelerator) :–

आधुनिक वर्षों में व्यापार चक्र का एक नया सिद्धान्त विकसित किया गया है जिसे गुणक एवं त्वरक का सिद्धान्त कहते हैं जिसका अर्थ यह है कि मन्दी तथा तेजी की अवस्थाएं – गुणक एवं त्वरक की पारस्परिक क्रियाओं के फलस्वरूप जन्म लेती हैं। इस सिद्धान्त को केन्स के व्यापार चक्र के सिद्धान्त पर संशोधन कहा जाता सकता है। पहले इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कालेकी ने किया तथा फिर इसकी विस्तृत व्याख्या हिक्स ने की। अतः सिद्धान्त को हिक्स एवं कालेकी का सिद्धान्त भी कहा जाता है। हेन्सन, हैरड, सैम्युएलसन, आदि इस सिद्धान्त के समर्थक हैं।

केन्स ने बताया था कि विनियोग पर किया गया प्रारम्भिक व्यय उपभोग प्रवृत्ति के माध्यम से गुणक को प्रभावशील बनाता है। गुणक, विनियोग की प्रारम्भिक और आय की अन्तिम वृद्धि के सम्बन्ध को व्यक्त करता है तथा त्वरक विनियोग पर होने वाले उपभोग के परिवर्तनों के प्रभाव को व्यक्त करता है। कालेकी ने भी व्यापार चक्र की अवस्थाओं का चित्रण करने के लिए अपना ध्यान गुणक और त्वरक पर केन्द्रित किया है। उन्होंने बताया कि विनियोग में होने वाले परिवर्तन, उपभोग प्रवृत्ति के अनुरूप, आय और रोजगार में तत्काल वृद्धि नहीं करते परन्तु इसमें विलम्ब लगता है अर्थात कुल आय में धीमी गति से परिवर्तन होता है। इसके फलस्वरूप गुणक का प्रभाव भी धीमें–धीमें दृष्टिगोचर होता है। यह एक तथ्य है कि वास्तविक जगत में विनियोग में होने वाली वृद्धि नियमित एवं समान रूप से नहीं होती। चक्रीय परिवर्तन इसलिए होता है कि क्रमशः विनियोग से होने वाली आय की वृद्धि घटती जाती है। आय कम होने का परिणाम यह होता है कि विनियोग भी घटने लगता है।

जहां तक त्वरक का प्रश्न है, इसे अमेरीकन अर्थशास्त्री क्लार्क ने प्रतिपादित किया तथा रॉबर्टसन, हैरड एवं हिक्स ने इसे विकसित किया। त्वरक विश्लेषण में यह मान्यता निहित है कि व्यापार चक्र में उपभोग वस्तुओं के उत्पादन की तुलना में विनियोग वस्तुओं के उत्पादन में अधिक परिवर्तन होता है। इसका कारण यह है कि उपभोग वस्तुओं की मांग परिवर्तित होकर विनियोग वस्तुओं की मांग बढ़ा देती है।

हिक्स ने व्यापार चक्र के सिद्धान्त का विश्लेषण करने में गुणक और त्वरक को संयुक्त कर दिया है जिनकी अन्तःक्रिया (Interaction) द्वारा व्यावसायिक उच्चावचन पैदा होते हैं। गुणक और त्वरक के संयुक्त प्रभाव को Leverage कहते है। अपनी व्याख्या प्रारम्भ करने के पहले हिक्स ने विनियोग को दो भागों में विभक्त किया है–

1. स्वायत्त विनियोग (Autonomous Investiment)
2. उत्प्रेरित विनियोग (Induced Investment)

स्वायत्त विनियोग उत्पादन में होने वाले परिवर्तनों से स्वतन्त्र होता है अर्थात आर्थिक तत्वों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सार्वजनिक विनियोग एवं दीर्घकालीन विनियोग इस श्रेणी में आते है। स्वायत्त निवेश द्वारा ही उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि होती है तथा इसकी शक्ति गुणक द्वारा व्यक्त होती है। उत्प्रेरित निवेश, वह निवेश है जिस पर उत्पादन में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है जैसे यदि उपभोग में परिवर्तन होता है तो इसके फलस्वरूप अन्य उद्योगों में भी निवेश में परिवर्तन होता है।

(अ) **तेजी की स्थिति की व्याख्या (Explanation of Prosperity Situation):–**

अर्थव्यवस्था में जब विनियोजन किया जाता है तो गुणक कार्यशील होने के कारण प्रारम्भिक निवेश की तुलना में आय में कई गुनी वृद्धि होती है। आय बढ़ने से उपभोक्ता वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है। अन्य शब्दों में, उपभोग मांग बढ़ती है। बढी हुई मांग की पूर्ति के लिए अधिक निवेश किया जाता है– यह उत्प्रेरित निवेश का उदाहरण है जो त्वरक के माध्यम से कार्यशील होता है। अधिक निवेश के फलस्वरूप आय में फिर कई गुनी वृद्धि होती है। आय बढ़ने से उपभोग वस्तुओं की मांग बढ़ती है तथा त्वरक के माध्यम से प्रेरित निवेश प्रोत्साहित होता है। इस प्रकार गुणक एवं त्वरक की अन्तःक्रिया के द्वारा अर्थव्यवस्था में तेजी की अवस्था आती है। गुणक एवं त्वरक की अन्तःक्रिया उसके मूल्यों पर निर्भर रहती है।

(ब) मन्दी की स्थिति की व्याख्या (Explanation of Recession situation):–

गुणक और त्वरक की सीधा दिशा में क्रियाशीलता के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में समृद्धि की स्थिति आती है, किन्तु कुछ सीमाओं के कारण, यह तेजी सदैव नहीं बनी रहती। केन्स ने यह स्पष्ट कर दिया है कि आय में वृद्धि के साथ उपभोग में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि उपभोग पर व्यय की दर घटती जाती है। उपभोग में कमी होने से, निवेश उसकी तुलना में अधिक घट जाता है अर्थात त्वरक विपरीत दिशा में कार्य करने लगता है। अब गुणक भी विपरीत दिशा में कार्य करने लगता है, जिससे जिस अनुपात में निवेश में कमी होती है उसकी तुलना में आय में ज्यादा कमी हो जाती है। पुनः विपरीत त्वरक से निवेश और भी कम हो जाता है। इस प्रकार गुणक और त्वरक की विपरीत क्रियाशीलता के कारण अर्थव्यवस्था में मन्दी के लक्षण प्रकट होने लगते है।

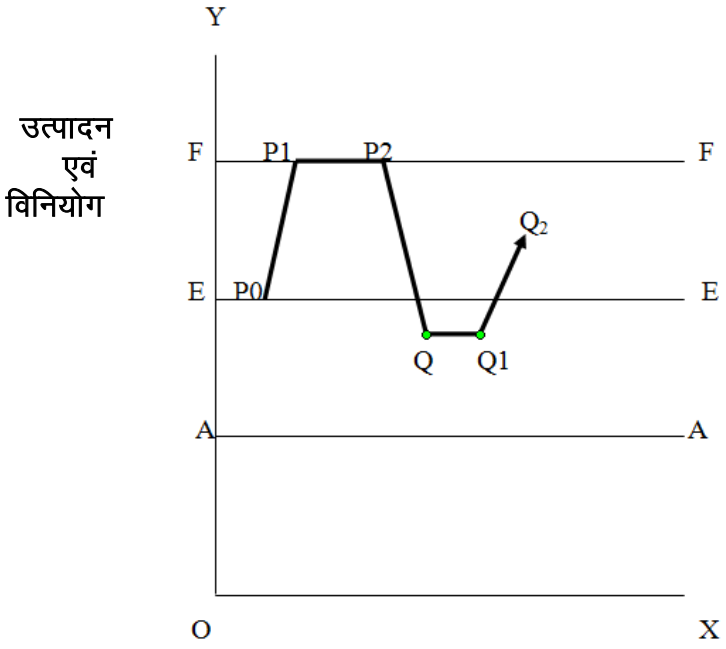

अवधि

रेखाचित्रण द्वारा स्पष्टीकरण :–

रेखाचित्र में रेखा AA स्वायत्त निवेश में होने वाली वृद्धि को दिखाती है, EE रेखा स्वायत्त निवेश से सम्बन्ध रखने वाली आय अथवा उत्पादन रेखा है। AA तथा EE के बीच का अन्तर गुणक एवं त्वरक की शक्ति पर निर्भर रहता है। FF रेखा पूर्ण रोजगार की उच्चतम सीमा को दिखाती है। P_0 सन्तुलन का बिन्दु है। स्वायत्त निवेश में वृद्धि होने पर सन्तुलन स्थिति में ज्यादा परिवर्तन नहीं होता। किन्तु उत्प्रेरित निवेश में एक बार वृद्धि होने पर वह रूकता नहीं है तथा सन्तुलन बिन्दु P_0 से हटकर P_1 की दिशा में बढ़ता है जहाँ पूर्ण रोजगार रेखा FF तक जाता है। हिक्स के अनुसार जब उत्प्रेरित निवेश बढ़ता है तो वह FF रेखा के आगे नहीं जा सकता केवल P_1 बिन्दु से P_2 बिन्दु की दिशा में जा सकता है। उच्चतम सीमा पर पहुँचने के बाद उत्प्रेरित निवेश नीचे की दिशा में आता है। हिक्स के शब्दों में, ''उत्प्रेरित

निवेश इतनी मात्रा में होता है कि उत्पादन अपने सन्तुलन बिन्दु से हटकर तेजी की दिशा में बढ़ता है और इस प्रक्रिया में वह रोजगार की उच्चतम सीमा तक पहुंचता है तथा इस सीमा पर उत्पादन सन्तुलन बिन्दु से हटकर बहुत समय तक स्थिर नहीं रह सकता। जिस गति से उच्च्तम सीमा बढ़ती है, उससे अधिक उत्पादन नहीं बढ़ सकता। अब उत्प्रेरित निवेश की दर इतनी अधिक नहीं होती कि FF रेखा के ऊपर उत्पादन बढ़ सके। अतः उत्पादन FF रेखा से टकराकर वापस EE रेखा पर आ जाता है। इससे स्पष्ट है कि अब निवेश में ह्रास होता है और गुणक विपरीत दिशा में कार्य करने लगता है– आय में कमी होने लगती है, जो EE रेखा के नीचे भी Q बिन्दु तक पहुंचती है। किन्तु आय इस बिन्दु के नीचे नहीं पहुंचती अर्थात अर्थव्यवस्था Q बिन्दु के नीचे जाकर समान्तर दिशा में Q_1 बिन्दु तक बढ़ती है। जहां राष्ट्रीय आय में जरा वृद्धि होती है। अब निवेश में वृद्धि होती है तथा गुणक तथा त्वरक की अन्तःक्रिया से अर्थव्यवस्था तेजी की ओर Q_2 दिशा में बढ़ती है और अन्त में FF रेखा पर पहुंच जाती है।

1.5 मान्यताएं (Assumption) :–

- वर्तमान उपभोग पिछली आय का फलन है।
- बचत और विनियोग गुणक इस रूप में है कि अर्थव्यवस्था में सन्तुलन पथ से दूर आर्थिक क्रियाओं से सीधे चक्रहीन रूप में जाना सम्भव है।
- गुणक तथा त्वरक के मूल्य स्थिर है।
- अर्थव्यवस्था प्रगतिशील है जिसमें स्वायत्त विनियोग स्थिर दर से इस तरह बढ़ता है, ताकि अर्थव्यवस्था गतिमान सन्तुलन की स्थिति में बनी रहे।
- अर्थव्यवस्था उत्पादन के पूर्ण रोजगार स्तर से आगे नहीं विस्तार कर सकती है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार सीमा अर्थव्यवस्था के ऊपर की ओर गति पर प्रत्यक्ष नियंत्रण का कार्य करती है।
- आर्थिक क्रियाओं के संकुचन (Contraction) की दशा में त्वरक की क्रियाशीलता विस्तार अवस्था की क्रियाशीलता से भिन्न होती है और यह भिन्नता आर्थिक क्रियाओं के चढ़ाव और उतार के लिए महत्वपूर्ण है।
- उपभोग तथा प्रेरित विनियोजन समयान्तर के साथ कार्य करते हैं, इसलिए गुणक तथा त्वरक के बीच संबंध समयान्तर ढंग पर ग्रहण किया जाता है।
- औसत पूंजी उत्पाद–अनुपात इकाई से अधिक माना गया है।
- उत्पादन और आय को सदैव वास्तविक रूप में ही मापा गया है।

1.6 प्रो0 हिक्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त की आलोचनाएं (Criticism of Hicks's Trade Cycle theory) :–

1. **गुणक का मूल्य स्थिर नहीं (Value of Multiplier not constant) :–** प्रो0 हिक्स की यह मान्यता है कि व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में गुणक का मूल्य स्थिर रहता है। यह मान्यता केन्स की स्थिर उपभोग फलन (Consumption Function) का परिणाम है। किन्तु आलोचकों के अनुसार यह मान्यता सही नहीं है क्योंकि आय में परिवर्तन के साथ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति में परिवर्तन होता है तथा गुणक का मूल्य भी स्थिर नहीं रहता।
2. **स्वायत्त विनियोग में परिवर्तन (Changes in Autonomous Investment) :–** प्रो0 केन्स की यह भी मान्यता है कि व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाओं में स्वायत्त विनियोग स्थिर (Steady) गति से होता है। किन्तु आलोचकों ने इस मान्यता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए कहा है कि मन्दी के समय स्वायत्त विनियोग में कमी हो सकती है। प्रो0 शुम्पीटर के अनुसार तकनीकी नव–प्रवर्तन के कारण स्वायत्त विनियोग में परिवर्तन हो सकता है।
3. **त्वरक सिद्धान्त की अनुपयुक्तता (Unsuitability of Acceleration Principle) :–** आलोचकों का मत है कि हिक्स का व्यापार चक्र का सिद्धान्त कठोर रूप में त्वरक सिद्धान्त का प्रयोग करता है जो उसे अनुपयुक्त सिद्ध करता है। प्रो0 काल्डोर के शब्दों में, ''हिक्स के व्यापार चक्र मॉडल की वास्तविक कमजोरी त्वरक सिद्धान्त के प्रयोग में है, जो व्याख्या

के लिए सर्वथा अनुपयुक्त अस्त्र है और साथ ही कालातीत (Obsolete) भी । हिक्स सरीखे अर्थशास्त्री को काफी पहले ही इसका परित्याग कर देना चाहिए था।

4. **मौद्रिक तत्वों की अवहेलना (Neglect of Monetary Factors):–** हिक्स ने व्यापार चक्र में मौद्रिक तत्वों की भूमिका को पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया है किन्तु उन्होंने मौद्रिक तत्वों को आवश्यक महत्व नहीं दिया।
5. **आर्थिक विकास और स्वायत्त विनियोग का सम्बन्ध (Relation between Economic Growth and Autonomous Investment):–** हिक्स की मान्यता है कि आर्थिक विकास, स्वायत्त विनियोग के परिवर्तनों पर निर्भर रहता है। सन्तुलन बिन्दु से हटकर स्वायत्त विनियोग की वृद्धि , आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करती है। किन्तु प्रो0 स्मिथीज के अनुसार हिक्स ने विकास को बाह्य तत्वों पर आरोपित कर व्यापार चक्र की पूर्ण व्याख्या नहीं की है।
6. **व्यापार चक्र की उच्च बिन्दु की व्याख्या (Explanation of Upper Limit of Trade Cycle) :–** आलोचकों ने हिकस की उच्च बिन्दु की व्याख्या की आलोचना की है क्योंकि इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि अवसाद का प्रारम्भ कैसे होता है। इससे विकास तो रूक सकता है, किन्तु अवसाद शुरू नहीं हो सकता। साधनों की कमी से विनियोग अचानक अवरूद्ध नहीं होता और न ही अवसाद प्रारम्भ होता है।
7. **पूर्ण रोजगार और उत्पादन का सम्बन्ध (Relation Between Full Employment and output) :–** प्रो0 हिक्स ने अपनी व्याख्या में पूर्ण रोजगार के उच्च बिन्दु को उत्पादन से स्वतन्त्र रूप से निरूपित किया है। किन्तु प्रो0 डर्नबर्ग और मेक्डूगाल का कहना है कि पूर्ण रोजगार का स्तर, उपलब्ध साधनों पर निर्भर रहता है। उत्पादन में होने वाली वृद्धि की दर, पूंजी स्टॉक के परिवर्तन की दर को निर्धारित करती है अतः उत्पादन की उच्च सीमा, उत्पादन की प्रकृति पर निर्भर रहती है। अतः यह मान्यता अवास्तविक है कि उच्चतम सीमा समान गति से बढ़ती रहती है।
8. **निम्न मोड़ बिन्दु की व्याख्या असन्तोषजनक (Explanation of Lower Turning Point not satisfactory):–** प्रो0 हिक्स के अनुसार अवसाद के निम्न बिन्दु पर , स्वायत्त विनियोग में होने वाली वृद्धि अवसाद से पुनरूत्थान की ओर ले जाती है जिसे निम्न मोड़ बिन्दु कहा गया है। इसकी आलोचना करते हुए हैरड कहते हैं कि यह सन्देहपूर्ण है कि अवसाद के निम्न बिन्दु पर स्वायत्त विनियोग में वृद्धि होगी।
9. **संकुचन और विस्तार की अवस्था (Phase of deflation and Expansion) :–** हिक्स ने व्यापार चक्र की व्याख्या में यह मत प्रतिपादित किया है कि इसकी संकुचन की अवस्था, विस्तार अवस्था से लम्बी होती है, किन्तु युद्धोत्तर काल की प्रवृत्ति ने स्पष्ट किया है कि विस्तार (Expanstionery Phases) की अवस्था तुलनात्मक रूप से अधिक लम्बी होती है।

1.7 सारांश (Summary) :-

हिक्स का व्यापार चक्र का सिद्धान्त पूर्व प्रतिपादित किए गए अन्य सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है। प्रो0 डर्नवर्ग के अनुसार–हिक्स का माडल, विश्लेषण का एक उपयोगी ढांचा है जो संशोधन के साथ विकास के ढांचे में, चक्रीय उच्चावचन की सही तस्वीर प्रस्तुत करता है। प्रो0 हिक्स ने व्यापार चक्र के सिद्धान्त का विश्लेषण करने में गुणक और त्वरक को संयुक्त कर दिया है, जिनकी अन्तः क्रिया द्वारा व्यावसायिक उच्चावचन पैदा होते है। हिक्स ने विनियोग को दो भागों में बांटा है एक स्वायत्व विनियोग दूसरा उत्प्रेरित विनियोग है। स्वायत्त एवं उत्प्रेरित विनियोग परिवर्तन से व्यापार चक्र में परिवर्तन आता है। जबकि प्रो0 कीन्स के अनुसार व्यापार चक्र के परिवर्तन विनियोग की दर में परिवर्तन से होते है। विनियोग में परिवर्तन, पूंजी की सीमान्त दक्षता चक्रीय परिवर्तन के कारण होते है। विनियोग की दर का निर्धारण पूंजी की सीमान्त क्ष्दाता तथा ब्याज की दर पर होता है। कीन्स के बचत विनियोग सिद्धान्त में तरलता पसन्दगी और उपभोग प्रवृत्ति तथा पूंजी की सीमान्त दक्षता का व्यापार चक्र पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। उपरोक्त कमियों के बावजूद हिक्स का व्यापार चक्र का सिद्धान्त, इसके पूर्व प्रतिपादित किये गये अन्य सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है।,

प्रो0 डर्नबर्ग के शब्दों में, ''हिक्स का मॉडल, विश्लेषण का एक उपयोगी ढांचा है जो संशोधन के साथ, विकास के ढांचे में, चक्रीय उच्चावचन की सही तस्वीर प्रस्तुत करता है।''

1.8 शब्दावली (Keywords) :-

स्वायत्त विनियोग (Autonomous Investment) , उत्प्रेरित विनियोग (Induced Investment) , अन्तःक्रिया (Interaction), परिवर्तन (changes), स्थिर (Steady) , उपभोग फलन (Consumption Function) , अनुपयुक्तता (Unsuitability), कालातीत (Obsolete), विस्तार की अवस्था (Expansionery Phase), बचत–विनियोग (Saving-Investment)

1.9 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books):-

12. सिन्हा , वी0सी0 व सिन्हा, पुष्पा (2011–12) समष्टिगत अर्थशास्त्र, एस0बीपीडी पब्लिशिंग हाऊस आगरा।
13. शर्मा, हरिश्चन्द्र व सिंघई, जी0सी0 (2000) मौदिक अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
14. सिंघई , जी0सी0 व मिश्रा, जे0पी0 (2010) समष्टि आर्थिक विश्लेषण , साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा।
15. झिंगन, एम0एल0 (2007) : समष्टि अर्थशास्त्र, वृन्दा पब्लिकेशन्स दिल्ली।

1.10 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions):-

1. प्रो0 केन्स के बचत–विनियोग सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
2. प्रो0 केन्स के बचत–विनियोग सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. प्रो0 हिक्स के गुणक व त्वरक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
4. प्रो0 हिक्स के गुणक व त्वरक सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

1.11 वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objectives Questions) :-

1. विनियोग दर का निर्धारण किन तत्वों पर निर्भर करता है?
   क. पूंजी की सीमान्त दक्षता ख. ब्याज की दर
   ग. उपर्युक्त दोनों घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ग)
2. कीन्स के अनुसार व्यापार चक्र में परिवर्तन किस तत्व के कारण होता है?
   क. विनियोग दर ख. सुपर गुणक
   ग. त्वरक घ. गुणक
   (उत्तर क)
3. कीन्स के व्यापार चक्र संबंधी विचार किस पुस्तक में मिलते है–
   क. इंडियन करेंसी एंड फाइनेंस
   ख. रोजगार, ब्याज एवं मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त
   ग. उपर्युक्त दोनों
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ख)
4. प्रो0 हिक्स के अनुसार मंदी व तेजी की अवस्थाएं किन तत्वों के कारण होती है?
   क. गुणक ख. त्वरक ग. उपर्युक्त दोनो
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ग)
5. हिक्स के गुणक एवं त्वरक का सिद्धान्त के समर्थक अर्थशास्त्री है–
   क. हेन्सन ख. हैरड ग. सेम्युएलसन
   घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
6. प्रो0 हिक्स ने विनियोग को कितनें भागों में बांटा है–
   क. 04 ख. 02 ग. 06 घ. 03
   (उत्तर ख)

7. ''तकनीकी नव – प्रवर्तन के कारण स्वायत्त विनियोग में परिवर्तन हो सकता है।'' यह कथन किसका है?
   क. हिक्स ख. कालेकी ग. हेन्सन घ. शुम्पीटर
   (उत्तर घ)
8. व्यावसायिक उच्चावचन पैदा होने के कारण है–
   क. गुणक व त्वरक का संयुक्त प्रभाव
   ख. गुणक का प्रभाव
   ग. त्वरक का प्रभाव
   घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर क)

वैश्विक वित्त संकट
(Global Financial Crisis)

इकाई की रूपरेखा

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 संकट की उत्पत्ति
1.3 संकटों का विस्तार
1.4 संकटों का जाल
1.5 संकट की जड़े
1.6 वित्तिय संकट से आशय
1.7 संकट का प्रभाव
1.8 वित्तीय संकट के कारण, उपाय व सुझाव
1.9 वैश्विक वित्तीय संकट के उदाहरण
1.10 वित्तीय उपकरण
1.11 कार्यवाही की आवश्यकता
1.12 अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय क्रियाशीलता की आवश्यकता
1.13 भारत पर प्रभाव
1.14 भविष्य के लिए नीति
1.15 राजकोषीय विस्तार
1.16 सारांश
1.17 शब्दावली
1.18 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची
1.19 अभ्यास प्रश्न
1.20 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1.0 प्रस्तावना(Introductions) :–

1930 के दशक की महामंदी के बाद इस समय विश्व सबसे गंभीर वित्तीय संकट के दलदल में फंसा हुआ है। 2007 के मध्य एक वर्ष से थोड़ा अधिक समय में संयुक्त राज्य अमेरिका में उपमूलबंधक के आकस्मिक विध्वंस से विश्वव्यापी आर्थिक संकट पैदा हुआ और विश्व अर्थव्यवस्था मंदी में प्रवेश करने लगी। संयुक्त राज्य अमेरिका में आक्रामक मुद्रा नीति कार्यवाही और प्रमुख विकसित देशों के केन्द्रीय बैंकों द्वारा प्रदत्त विशाल नकदी इस संकट को टालने में असमर्थ रहे। संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप में कई प्रमुख वित्तीय संस्थाएँ असफल रही है और स्टॉक मार्केट तथा वस्तु बाजार ढह गए तथा अत्यधिक ह्रासमान हो गए। सबसे अधिक विकसित अर्थव्यवस्थाऐं भी 2008 के उत्तरार्ध के दौरान मंदी में आ गई और आर्थिक मंदी विकासशील देशों और संक्रमण से गुजरती अर्थव्यवस्थाओं में फैली।

1.1 उद्देश्य (Objectives) :-

1. विश्वव्यापी वित्तीय संकट की उत्पत्ति जान सकेंगे।
2. भारत जैसे विकासशील अर्थव्यवस्था पर संकट के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे।
3. वैश्विक वित्तीय संकट से निपटने के लिए उपाय एवं सुझाव को जान सकेंगे।
4. संकट के समय अर्न्तराष्ट्रीय समन्वित कार्यवाही के तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.2 संकट की उत्पत्ति (Origins of the Crisis) :–

वर्तमान विश्वव्यापी संकट का मूल संयुक्त राज्य अमेरिका में उपमुख्य बंधक बाजार में ज्ञात किया जा सकता है। उपमुख्य बंधक(Sub – Prime) आवासीय ऋण हैं जो ''मुख्य''

बंधकों (Mortgages) के मानदण्ड के अनुरूप नहीं होते है और इसलिए पूरे पुनः भुगतान की कम प्रत्याशित संभावना होती है। चूक होने की उनकी अत्यधिक जोखिम होने के कारण उपमुख्य बंधक ऋणकर्ताओं से मूल ऋणकर्ताओं की अपेक्षा उच्चतर ब्याज दरें ली जाती है। उपमुख्य ऋणों के प्रतिभूति के बिना दिया गया है, जैसे जमानती ऋणों (Collaterised Debt Obligations)(CDO) । संस्थागत निवेशक जैसे हैज निधियाँ, पेंशन निधियाँ और बैंक ऐसी प्रतिभूति में निवेश कर रहे है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में उपमुख्य ऋणदाता क्षेत्र में संकट के पहले चिन्ह 'यथासमय भुगतान घाटे' (Early payment deficits) (या चूकों) की अत्यधिक मात्रा से संबद्ध था जिनमें ऋणी अपनी एक या दो पहली तीन मासिक भुगतानों की चूक करता है आवासीय संपत्ति बाजार में मंदी के अलावा ऋणदाताओं द्वारा प्रस्तावित समायोज्य ब्याज दर ऋण भी चूकों और अपचारों के लिए उत्तरदायी कारक है। जैसे ही ब्याज दरें बढ़ी और मकानों की कीमतों में मंदी आ गई और तब कई क्षेत्रों में वृद्धि ऋणात्मक हुई। बहुत से ऋणकर्ताओं के पास पुनर्भुगतान में चूक करने के आलावा कोई विकल्प नहीं रहा क्योंकि पुनर्वित्तीयन विकल्प के बहुत कम या कोई आवासन इक्विटी न होने के साथ व्यावहार्य नहीं थे।

उपमुख्य ऋण में संकट ने वित्त प्रणाली के अन्य भागों के माध्यम से प्रगामी तरंगे भेजी। बहुत से संरचित ऋण और बंधकित बाजार उत्पाद गंभीर व्यापार दबाव में आए। चिन्तित प्रतिपक्षों से सीमांत मांग का सामना करने वाले बहुत से निवेशक नकदी उत्पन्न करने के लिए होल्डिंग बेचने में असमर्थ थे क्योंकि ऐसे खरीददार नहीं थे जो मुद्रा बाजार से नकदी लेने के लिए बाध्य करें। हैज फंडों को भी जो संरचित उत्पादों में निवेशक है भारी निकासी और सीमांत माँगों का सामना करना पड़ा। इसके फलस्वरूप कई बैंको को जोखिमी संपत्ति ऋणों से भारी हानि हुई।

1.3 संकटों का विस्तार (Expansion of crisises) :–

संकट जिसका मूल संयुक्त राज्य अमेरिका में उपमुख्य बंधक बाजार में था, उसने वित्त बाजारों में समस्याएं, अर्थव्यवस्था में अनुभव किए जाने से पहले कुछ समय लिया। परन्तु 2008 के उत्तरार्ध तक अधिकांश विकसित अर्थव्यवस्थाएं विकासशील देशों तथा अंतरणाधीन अर्थव्यवस्थाओं में फैलती हुई, आर्थिक सुस्ती के प्रभाव से मंदी में आई। इसके बाद बहुत बड़ी संख्या में देश जो 2002–2007 की अवधि के दौरान दर्ज की गई प्रबल वृद्धि में तेजी से उत्क्रमण अनुभव कर रहे थे। उदाहरण के लिए विश्व में 160 अर्थव्यवस्थाओं में जिनके आँकड़ें उपलब्ध है उन अर्थव्यवस्थाओं 3 प्रतिशत या अधिक की सकल घरेलू उत्पाद में वार्षिक वृद्धि का अनुमान लगाया था। 2007 में 108 से गिरकर 2008 में 83 हो गई। 107 विकासशील देशों में इस संख्या का अनुमान 2007 में 70 से गिरकर 2008 में 57 और 2009 में 29 लगाया गया है। प्रवृत्ति से प्रतीत होता है कि पिछले कुछ वर्षों के दौरान बहुत से विकासशील देशों में गरीबी अल्पीकरण में की गई प्रगति को काफी धक्का लग सकता है।

स्पष्ट सुदृढ़ वृद्धि पैटर्न जो 2000 की शताब्दी के प्रारंभ से उत्पन्न हुआ था, बड़े जोखिम में आ गया। वृद्धि संयुक्त राज्य अमेरिका में सुदृढ़ उपभोक्ता मांग द्वारा काफी हद तक संचालित हुई थी, यह आसान ऋण द्वारा निवेश मांग की बहुत ऊँची दरों तथा कुछ विकासशील देशों, विशेष रूप से चीन में निर्यात वृद्धि द्वारा प्रोत्साहित हुआ। इस अवधि में संयुक्त राज्य अमेरिका के बढ़ते हुए घाटे का वित्त पोषण चीन , जापान और अन्य देशों में बढ़ते हुए व्यापार अधिशेष द्वारा विशाल विदेशी मुद्रा भंडार का संचयन और डालर प्रमुख परिसम्पत्तियों को खरीदने की इच्छा द्वारा किया गया। इसी समय बढ़ती हुई वित्तीय प्रपत्रों और जोखिम प्रबंधन तकनीकों ने वित्तीय परिसम्पत्तियों के आधार पर संचयन को प्रोत्साहित किया, इसका परिणाम यह हुआ कि घरेलू कम्पनी और सार्वजनिक क्षेत्रों में ऋण का स्तर बढ़ने लगा। कुछ देशों में, विकसित और विकासशील दोनों, 1980 के दशक के प्रारंभ से घरेलू वित्तीय ऋण राष्ट्रीय आय के रूप में चार से पांच गुणा बढ़ गया। इस तीव्र विस्फोटक स्थिति ने परम्परागत ''खरीदों और रखे रहो''(Buy and held) बैंकिंग मॉडल से गतिशील ''बेचने के लिए निर्माण'' व्यापारिक मॉडल (प्रभूतिकरण Securitisation) में अंतरण द्वारा संभव बनाया। कुछ संस्थाओं का उत्तोलन अनुपात 30 प्रतिशत ऊँचाई तक पहुंच गया। जो जमा बैंकों पर साधारणतया लगाए गए 10 प्रतिशत की उच्चतम सीमा से काफी अधिक है।

सभी पार्टियों विशेषकर धनी देशों में प्रमुख वित्तीय अभिकर्ता इस संवृद्धि से लाभान्वित प्रतीत हुए, जबकि बार–बार चेतावनियों के बावजूद जोखिमों की सहजता से अनदेखी की गई कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सभी देशों में बढ़ता हुआ घरेलू सार्वजनिक क्षेत्र और वित्त क्षेत्र का भार कालांतर में वहनीय नहीं हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के बंधक बाजारों में दबाव अधिक व्यापक वित्तीय क्षेत्र में संप्रेषित किए गए थे, इसलिए विश्व–भर में इसके फैलने को भय बढ़ गया।

संक्षेप में वर्तमान विश्वव्यापी वित्तीय संकट की उत्पत्ति और विस्तार निम्नलिखित से ज्ञात किया जा सकता है।

1. लाभ की अंधी दौड़ में वित्तीय प्रवाहों का अत्यधिक विस्तार
2. वित्तीय क्षेत्र की सरकारी पर्यवेक्षण की विफलता
3. दीर्घकालिक कम बचत और अधिक खपत विभेदीकृत विकास का अस्थिर मॉडल

1.4 संकटों का जाल :–

विश्वव्यापी आर्थिक संकट तीन संकटों का जाल है :

पहला : उपभोक्ता क्रयशक्ति समाप्त होना , अमरीकी उपभोक्ता अर्थव्यवस्था का 70 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करते है। गृह मूल्यों और स्टॉक कीमतों द्वारा आहत जिन लोगों ने लगभग 7 ट्रिलियन डॉलर मूल्य की वैयक्तिक धन संपत्ति बचाई है– उन्होंने व्यय करना नियंत्रित कर दिया है और बचत बढ़ाई है। इससे प्रत्यक्ष रूप से संयुत राज्य अमेरिका में मंदी और कामबंदी हुई है।

दूसरा : वित्तीय संकट : ऋण की वापसी व्यापार और महँगी उपभोक्ता खरीदो (जैसे कार, उपकरण) की वित्त व्यवस्था के लिए ऋण से अर्थव्यवस्था को वंचित करता है।

तीसरा :व्यापार संकट :–विश्वव्यापी व्यय और बचत पैटर्न बहुत अधिक पेंचीदे है। अधिक बचत करने वाले एशियाई देश निर्यातोन्मुखी वृद्धि पर निर्भर करते है जिसके लिए बदले में अपनी आय का बड़ा भाग व्यय करने वाले अमरीकी उपभोक्ताओं की आवश्यकता होती है। विशाल व्यापार असंतुलन के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका का घाटा और एशियाई अधिशेष कम हुआ, जिसने एशिया को भी मंदी में डाल दिया

1.5 संकट की जड़ें(Roots of the Crisis) :–

संकट की जड़े कई परिवर्तनों के पारस्परिक प्रभावों में हैं जिन्होंने वित्तीय पूंजीवाद के मूलभूत रूप से रूपांतरित किया है जो 1930 की महामंदी की अवधि या उससे लगभग ठीक दशक पहले विद्यमान थी–

प्रथम : परम्परागत रूप से, बैक अपने खातों पर ऋण केवल विश्वसनीय ग्राहकों के बहुत सावधानी के साथ प्रदान करते है। नई वित्त प्रणालियों में मुख्य बल के रूप में उभरती हुई प्रतिभूतिकरण ऋणदाता ऋणों को पूल करते हैं और उन्हें प्रतिभूति समर्थित प्रतिभूति के रूप में उन्हें पुनः बेचते है। तब इन प्रतिभूति को पुनः पैक किया जाता है , उत्तोलक किया जाता है तथा बाद में कई बार बेचे जाते है।

द्वितीय : अत्यधिक जटिल कृत्रिम उत्पाद उत्पन्न हुए है। विशेष कर इस समय उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण ऋण चूक विनिमय है। परिसम्पत्ति समर्थित प्रतिभूतियों और नकली उत्पाद जोखिम को व्यापक रूप से फैलाते है। परन्तु वे शीघ्र संक्रमण की नींव रखने का जोखिम बढ़ाते है।

तृतीय :अत्याधिक उत्तोलनयुक्त निवेश बैंको का भी अविर्भाव हुआ है। वाणिज्यिक बैंको की उत्तोलन शक्ति कठोर पूंजी पर्याप्त मानदंडों से सीमित की जाती है। इसके विपरीत निवेश बैंक निर्मित होते हैं और अपनी इक्विटी आधार के 30 गुणा तक फंड निवेश करते है।

चतुर्थ : वित्तीय प्रणाली का भूमंडलीकरण हुआ है। इसका एक पहलू आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के बीच बहुत असंतुलन है। एशिया और मध्य पूर्व में चीन, भारत और उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएं अब पश्चिम, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका की ऋणी है। इस पर भी विश्वव्यापी वित्तीय संरचना में उनके अधिकार कम है। इसका दूसरा पहलू प्रौद्योगिकी है। अरबों डॉलर अब लगातार विश्व के आर–पार संप्रेषित किया जा सकते है। परन्तु इसी प्रकार बाजार सूचना और बाजार का रूख भी संप्रेषित होते हैं जो धनात्मक और ऋणात्मक दोनों हो सकते है। (धनात्मक पक्ष पर बहुलता और ऋणात्मक पक्ष में निवेशकों में भय)।

संक्षेप में प्रतिभूतिकरण, कृत्रिम उत्पाद, उत्तोलन और भूमंडलीकरण ने विश्व अर्थव्यवस्था को 1929 के विश्व से अधिक ह्यसमान और जोखिम भरा बना दिया है।

1.6 वित्तीय संकट से आशय (Concept of Financial Crisis) :-

वित्तीय संकट में, सम्पत्ति की कीमतों में भारी गिरावट देखी जाती है, व्यवसाय और उपभोक्ता अपने ऋण का भुगतान करने में असमर्थ होते हैं, और वित्तीय संस्थान तरलता की कमी का अनुभव करते है। वित्तीय संकट अक्सर घबराहट या बैंक के भागने से जुड़ा होता है, जिसके दौरान निवेशक संपत्ति बेच देते हैं या बचत खातों से पैसे निकाल लेते हैं क्योंकि उन्हें डर होता है कि अगर वे वित्तीय संस्थान में रहेंगे तो उन संपत्तियों का मूल्य गिर जाएगा।

वित्तीय संकट की मुख्य बातें :–

1. बैंकिंग घबराहट 19 वीं , 20 वीं और 21वीं सदी के कई वित्तीय संकटों की उत्पत्ति में थी, जिनमें से कई मंदी या अवसाद का कारण बनी।
2. स्टॉक मार्केट क्रैश, क्रेडिट संकट, वित्तीय बुलबुले का फूटना, सॉवरेन डिफॉल्ट और मुद्रा संकट सभी वित्तीय संकट के उदाहरण है।
3. वित्तीय संकट किसी एक देश का वित्तीय सेवाओं के एक खंड तक सीमित हो सकता है, लेकिन क्षेत्रीय या वैश्विक स्तर पर फैलने की अधिक संभावना है।

1.7संकट का प्रभाव (Effect of the Crisis):–

विकसित अर्थव्यवस्थाएं विश्वव्यापी मंदन में सबसे आगे है। इसी दौरान अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और वित्तीय चैनल के माध्यम से निम्नलिखित परिणामों से कमजोरियाँ तेजी से विकसित देशों में फैली है :

1. रोजगार की स्थिति विश्वव्यापी ढंग से खराब हुई है। हाल ही के वर्षों में भारत जैसे विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के निर्यात में बढ़ोतरी के कारण प्राप्त हुए रोजगार के अधिकांश लाभ समाप्त होते देखे गए हैं।
2. विश्व व्यापार ठहराव पर आ रहा है। यह बहुत बड़ी चिंता है क्योंकि युद्धोत्तर आर्थिक प्रगति में विश्व अर्थव्यवस्था इस आधार पर निर्मित की गई है कि राष्ट्रों के बीच मुक्त व्यापार समग्र दक्षता सुधारता है और धन संपत्ति का विस्तार करता है। अब बहुत से देश सितम्बर 2008 से अपने निर्यात में तेजी से गिरावट सूचित कर रहे है। इनमें प्रमुख अर्थव्यवस्थाएं , जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका , जर्मनी, चीन, भारत आदि शामिल है। विश्व बैंक कहता है कि बहुत से दशकों के बाद पहली बार 2009 के दौरान विश्व व्यापार में गिरावट आने की संभावना है।

   सूक्ष्म स्तर पर राष्ट्रीय सीमाओं के आर–पार वस्तुओं के संचालन में गिरावट विश्वव्यापी आपूर्ति कड़ियों के जटिल जाल पर भारी दबाव उत्पन्न करेगा जिन्हें कम्पनियों ने हाल ही के दशकों में निर्मित किए है। समष्टि स्तर पर मंदी और मंदन से व्यापार युद्ध हो सकते हैं क्योंकि देश आयात से घरेलू विनिर्माताओं की सुरक्षा करने का प्रयास कर सकते है।घरेलू लॉबियों को शांत करने के लिए संरक्षणवादी होने के लिए हानिकारक प्रतिक्रिया हो सकती है।
3. वित्त बाजार वृद्धि के नीचे गिरने की उनकी कठिनाइयों के साथ दबाव में बने रहेंगे, जिसे अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने 'हानिकारक प्रतिपुष्टि पाश'(a pernicious feedback loop) के रूप में कहा है। मंदी अशोध्य ऋणों में बढ़ोतरी कर रही है और विश्वव्यापी बैंको के तुलनपत्र विश्व स्तर पर बिगड़ती हुई वित्तीय संकट दिखा रहे है।
4. अनिश्चितता दूर करने में नीतियाँ असफल रही है। इसलिए वित्तीय संकट बने रहने के कारण उन्नत और उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं में परिसम्पत्ति के मूल्य तेजी से गिरे है। इसके परिणामस्वरूप घरेलू धन संपत्ति घटी है और उपभोक्ता मांग पर अधोगामी दबाव बना हुआ है। इसके अलावा, अनिश्चितता से जुड़े हुए उच्च स्तर ने घरेलू और व्यापार व्यय स्थगित करने के लिए विवश किया और उपभोक्ता और पूंजीगत वस्तु की मांग में कमी आई। इसी समय ऋण में व्यापक विघटन घरेलू व्यय पर बाधक हो रहे हैं तो बदले में उत्पादन और व्यापार घट रहा है।
5. उभरती हुई अर्थव्यवस्था में निवल पूंजी प्रवाह में तीव्र गिरावट भी हो रही है। विश्वव्यापी दृष्टि से यह अनुमान लगाया गया है कि उभरते हुए बाजारों के निबल पूंजी प्रवाह 2008 में 46.6 बिलियन डॉलर और 2007 में 92.9 बिलयन डॉलर था। उभरते हुए एशिया के लिए भी

निजी वित्त व्यवस्था 2008 में 96 बिलियन डॉलर से गिरकर 2009 में 65 बिलियन डॉलर होने की संभावना हैं क्योंकि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में भी गिरावट की संभावना देखी गई है।

1981–86 और 1996–2002 की दो पिछली संकट की घटनाओं की तुलना में उभरते हुए बाजारों के लिए निबल निजी पूंजी अंतर्वाह में मांग के अभाव में बाजार में आने वाली मंदी सबसे अधिक खराब है। उदाहरण के लिए निवल निजी पूंजी अंतर्वाह 1981 में उभरते हुए बाजार संकल घरेलू उत्पाद के 3.5 प्रतिशत के शिखर से 1986 में सकल घरेलु उत्पाद के 0.3 प्रतिशत के निम्न स्तर पर गिरा है। पुनः 1996–2002 के दौरान 1996 में सकल घरेलू उत्पाद के 5.7 प्रतिशत के शिखर से 2002 के निम्न स्तर 2 प्रतिशत पर गिरा है। यद्यपि इस समय निबल निजी पूंजी अंतर्वाह 2007 में 6.9 प्रतिशत सकल घरेलू उत्पाद के शिक्षर से 2009 में सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 1.1 प्रतिशत में गिरने की संभावना व्यक्त की गई है।

6. लम्बे समय तक चलती रही मंदन का अभिप्राय होगा कि ऋण चुकाने के लिए कम्पनियों की क्षमता से आय में रूकावट आ सकती है। इससे निर्यातोन्नमुखी क्षेत्रों में इकाईयों के साथ अशोध्य ऋण की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और उनके लिए भी जो ब्याज दर संवेदी है बहुत अधिक दबाव अनुभव कर रहे है।

नकदी प्रवाह समस्याओं का सामना कर रही कम्पनियों से बैंकरों को भय है कि वे फंड को एक व्यापार से दूसरे में लगा सकते हैं, यह आशा करते हुए कि वे ऋण को चुका सकेंगे जब स्थिति जाएगी। बैंको की चिंता ऐसे जोखिमों, विशेषकर बहुलेखाधारी कम्पनियों के मामले में लगातार बढ़ रही है।

अब आशा की एक बात यह है कि विश्व आर्थिक व्यवस्था में तेज अधोमुखी और वस्तुओं की कीमतों में गिरावट ने मुद्रा स्फीति दबावों को कम किया है जो 2008 में मध्य में चिंता जनक हो गई थी।

1.8वित्तीय संकट के कारण, उपाय एवं सुझाव (Reasons, remedies, Suggestions of the financial crisis):-

1. अधिक गहरा आर्थिक संकट रोकना और यथा संभव अधिक से अधिक उत्पाद की वास्तविक अर्थव्यवस्था तथा रोजगार पथ पर रखना दो समस्याएं जुड़ी हुई है। जैसे ही वृद्धि में गिरावट बैंक तुलन पत्रों के आगे और क्षति करेगी जो ऋण संकट को अधिक खराब करेगी और इसका परिणाम आर्थिक कार्यकलाप में तेजी से गिरावट होगी। इसलिए सरकारों और केन्द्रीय बैंको को वित्त क्षेत्र को अपने पांव पर रखने के लिए तेजी से आगे बढ़ना चाहिए, भले ही मांग की सहायता करने के लिए सार्वजनिक व्यय एवं मुद्रा पूर्ति में वृद्धि करनी पड़े।

   परन्तु इस पर कम स्पष्टता है, यह सब कैसे किया जाना चाहिए। हम पहले ही नीतिगत प्रतिक्रिया परिवर्तन देख चुके हैं– संयुक्त राज्य अमेरिका के फेडरेल बैंक द्वारा विश्वव्यापी वित्त बाजारों में दी गई अस्थायी नकदी से सरकारी प्रतिभूति को प्रत्यक्ष खरीद, संकटग्रस्त परिसम्पत्तियाँ खरीदने के लिए महंगी योजनाएं , बैंको और वित्तीय संस्थाओं का अर्धराष्ट्रीयकरण परन्तु वित्तीय संकट अक्षुण जारी रहा।
2. कई बिलियन डॉलरों में चाह रहे अत्यधिक राजकोषीय प्रोत्साहनों की घोषणाएं हुई है। यह दीर्घकालिक शाखा विस्तार सहित अल्पकालिक निर्धारण है। उनसे सरकार घाटा और सार्वजनिक ऋण बढ़ने की बहुत अधिक संभावना है। इसी बीच मंदी अधिक गहरा गई। इस समय पर खरे उतरे समाधानों के बावजूद विश्व अर्थव्यवस्था अधिक संकट में है। यह हमें संभावित अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही की आवश्यकता के विकल्प पर ले जाती है।
3. वित्तीय संकट के कई कारण हो सकते हैं। आम तौर पर, संकट तब उत्पन्न हो सकता है जब संस्थानों या परिसंपत्तियों का मूल्य अधिक हो और निवेशकों के अतार्किक या झुंड जैसे व्यवहार से संकट और बढ़ सकता है। उदाहरण के लिए, बिकवाली की तीव्र श्रृंखला के परिणामस्वरूप परिसंपत्ति की कीमतें कम हो सकती हैं, जिससे बैंक विफलता की अफवाह होने पर व्यक्तियों को परिसंपत्तियों को डंप करने या बड़ी बचत निकासी के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

4. वित्तीय संकट में योगदान देने वाले कारकों में प्रणालीगत विफलताएं , अप्रत्याशित या अनियंत्रित मानव व्यवहार, बहुत अधिक जोखिम लेने के लिए प्रोत्साहन, विनियामक की अनुपस्थिति या विफलताएं , या संक्रामक रोग शामिल हैं जो एक संस्थान या देश से दूसरे देश में समस्याओं के वायरस की तरह फैलने का कारण बनते हैं। यदि अनियंत्रित छोड़ दिया जाए, तो किसी संकट के कारण अर्थव्यवस्था मंदी या अवसाद में जा सकती है। यहां तक कि जब वित्तीय संकट को टालने के लिए उपाय किए जाते हैं, तब भी वे घटित हो सकते हैं, तेज हो सकते हैं या गहरा सकते है।

1.9 वैश्विक वित्तीय संकट के उदाहरण (Examples of Global Financial Crisis) :-

1. **टयूलिप उन्माद (1637)** – कुछ इतिहासकारों का तर्क है कि इस उन्माद का डच अर्थव्यवस्था पर इतना प्रभाव नहीं पड़ा, और इसलिए इसे वित्तीय संकट नहीं माना जाना चाहिए, यह बुबोनिक प्लेग के प्रकोप के साथ मेल खाता था जिसका देश पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इसे ध्यान में रखते हुए, यह बताना मुश्किल है कि संकट अत्यधिक अटकलों के कारण उत्पन्न हुआ या महामारी के कारण।
2. **1772 का ऋण संकट** – तेजी से बढ़ते ऋण की अवधि के बाद, यह संकट मार्च/अप्रैल में लंदन में शुरू हुआ। एक बड़े बैंक में भागीदार अलेक्जेंडर फोर्डिस ने ईस्ट इंडिया कंपनी के शेयर कम करने पर बड़ी रकम गंवा दी और पुनर्भुगतान से बचने के लिए फ्रांस भाग गए। अंग्रेजी बैंकों में दहशत फैल गई जिससे 20 से अधिक बड़े बैंकिंग घराने या तो दिवालिया हो गए या जमाकर्ताताओं और लेनदारों को भुगतान रोक दिया। संकट तेजी से यूरोप के अधिकांश हिस्सों में फैल गया। इतिहासकार इस संकट से लेकर बोस्टन टी पार्टी के कारण तक एक रेखा खींचते है। उपनिवेशों में अलोकप्रिय कर कानून–और परिणामी अशांति जिसने अमेरिकी क्रांति को जन्म दिया।
3. **1929 का स्टॉक क्रैश** – 24 अक्टूबर , 1929 को शुरू हुई इस गिरावट में बेतहाशा अटकलों और शेयर खरीदने के लिए उधार लेने के दौर के बाद शेयर की कीमतों में गिरावट देखी गई। इसके कारण महामंदी हुई, जिसे दुनिया भर में एक दर्जन से अधिक वर्षों तक महसूस किया गया। इसका सामाजिक प्रभाव काफी लंबे समय तक रहा, दुर्घटना का एक कारण कमोडिटी फसलों की अत्यधिक आपूर्ति थी, जिसके कारण कीमतों में भारी गिरावट आई। दुर्घटना के परिणामस्वरूप नियमों और बाजार प्रबंधन उपकरणों की एक विस्तृत श्रंखला पेश की गई।
4. **1973 ओपेक तेल संकट** – ओपेक सदस्यों ने अक्टूबर 1973 में योम किपपुर युद्ध में इजराइल का समर्थन करने वाले देशो को लक्ष्य करते हुए एक तेल प्रतिबंध शुरू किया। प्रतिबंध के अंत तक, तेल की बैरल की कीमत 3 डॉलर से बढ़कर 12 डॉलर हो गई। यह देखते हुए कि आधुनिक अर्थव्यवस्थाएं तेल पर निर्भर हैं, ऊँची कीमतों और अनिश्चितता के कारण 1973–74 में शेयर बाजार में गिरावट आई, जब जनवरी 1973 से दिसम्बर 1974 तक मंदी का बाजार बना रहा और डॉ. जोन्स इंडस्ट्रियल एवरेज ने अपने मूल्य का लगभग 45 प्रतिशत खो दिया।
5. **1997–1998 का एशियाई संकट** – यह संकट जुलाई 1997 में थाई बाहर के पतन के साथ शुरू हुआ। विदेशी मुद्रा की कमी के कारण, थाई सरकार को अपने अमेरिकी डॉलर खूंटी को छोड़ने और बाहत को तैरने देने के लिए मजबूर होना पड़ा। इसका परिणाम एक बड़ा अवमूल्यन था जो पूर्वी एशिया के अधिकांश हिस्सों में फैल गया, जिसका असर जापान पर भी पड़ा , साथ ही ऋण–से–जीडीपी अनुपात में भारी वृद्धि हुई। इसके मद्देनजर, संकट के कारण बेहतर वित्तीय विनियमन और पर्यवेक्षण हुआ।
6. **2007–2008 वैश्विक वित्तीय संकट** – यह वित्तीय संकट 1929 के स्टॉक मार्केट क्रैश के बाद सबसे खराब आर्थिक आपदा थी। इसकी शुरूआत 2007 में सबप्राइम बंधक ऋण संकट से हुई और सितम्बर 2008 में निवेश बैंक लेहमैन ब्रदर्स की विफलता के साथ एक वैश्विक बैंकिंग संकट में बदल गया। भारी राहत पैकेज और

अन्य उपाय क्षति के प्रसार को सीमित करने का उद्देश्य विफल रहा और वैश्विक अर्थव्यवस्था मंदी में गिर गई।

7. **कोविड–19 महामारी**–वैश्विक शेयर बाजार में गिरावट फरवरी 2020 में शुरू हुई। 20 फरवरी से 23 मार्च, 2020 तक एसएंडपी 500 ने अपने मूल्य को 30 प्रतिशत से अधिक खो दिया । यह कोविड–19 महामारी का परिणाम था, जिससे वैश्विक अर्थव्यवस्था के भविष्य के बारे में व्यापक घबराहट और अनिश्चितता पैदा हुई। गंभीर होने और वैश्विक पहुंच के बावजूद, बाजारों और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में तेजी से सुधार हुआ और अप्रैल 2020 की शुरूआत में, एसएंडपी 500 ने एक निर्णायक वृद्धि शुरू कर दी थी, जो अगस्त 2020 में अपने पूर्व–महामारी के उच्च स्तर को पार कर गया था।

1.10 वित्तीय उपकरण (Financial Tools) :-

इस बीच, डॉट–कॉम मंदी और 2001 की मंदी के मद्देनजर आसान मुनाफे की तलाश में निवेश बैंकों ने द्वितीयक बाजार पर खरीदे गए बंधक से संपार्श्विक ऋण दायित्व बनाए। क्योंकि सब प्राइम बंधक प्राइम बंधक के साथ बंडल किया गया था, निवेशकों के लिए उत्पाद से जुड़े जोखिमों को समझने का कोई तरीका नहीं था। जब सीडीओ के लिए बाजार गर्म होने लगा, तो कई वर्षों से बन रहा आवास बुलबुला आखिरकार फूट गया। जैसे ही आवास की कीमतें गिरीं, सबप्राइम उधारकर्ताओं ने उन ऋणों पर चूक करना शुरू कर दिया जो उनके घरों से अधिक मूल्य के थे, जिससे कीमतों में गिरावट तेज हो गई।

जब निवेशकों को एहसास हुआ कि सीडीओ उनके द्वारा प्रतिनिधित्व किए गए विषाक्त ऋण के कारण बेकार थे, तो उन्होंने दायित्वों को उतारने का प्रयास किया। हालांकि, सीडीओ के लिए कोई बाजार नहीं था। सबप्राइम ऋणदाताओं की विफलताओं के बाद के सिलसिले ने तरलता का संक्रमण पैदा किया जो बैंकिंग प्रणाली के ऊपरी स्तरों तक पहुंच गया। दो प्रमुख निवेश बैंक, लेहमैन ब्रदर्स और बियर स्टर्न्स, सबप्राइम ऋण के जोखिम के कारण ढह गए और अगले पांच वर्षों में 450 से अधिक बैंक विफल हो गए। कई प्रमुख बैंक विफल हो गए। कई प्रमुख बैंक विफलता के कगार पर थे और करदाता–वित्त पोषित बेलआउट द्वारा उन्हें बचाया गया था।

1.11 कार्यवाही की आवश्यकता(Action required) :–

वित्तीय बाजारों का स्थिरीकरण और विश्व अर्थव्यवस्था की प्रेरणा के लिए विश्व के राष्ट्रों में अधिक नीति समन्वय की आवश्यकता होगी। अलग–अलग राष्ट्रों के उपाय ऐसे संबंधित अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लाभों के अनुकूल नहीं हो सकते है। इन लाभों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है।

1. यह कि कुछ वास्तविक और मनोवैज्ञानिक लाभ है। एक देश से प्रोत्साहन उपाय उनके व्यापार भागीदारों, अतिरिक्त बढ़ावा उत्पन्न करने के लिए हो सकते है। समन्वित प्रयास मुद्रा और बॉण्ड बाजारों में अस्थिरता कम करने में सहायता करते हैं जो समान्यता असमन्वित नीतियों के परिणाम है।
2. यह कि समन्वय 'बैगर–दी–नेबर' नीतियों के विरूद्ध महत्वपूर्ण सुरक्षा है। संरक्षणवाद में प्रारंभिक लूटमार पहले ही की जा रही है। टैरिफ की धीरे–धीरे बढोतरी हुई है। यहां तक कि उनके विश्व व्यापार संगठन बचनबद्ध के अन्तर्गत देशों क लिए टैरिफ बढ़ाने के लिए गुंजाइश है। यदि सभी राष्ट्र अपने–अपने टैरिफ सीमा दर (उनकी विश्व व्यापार संगठन बचनबद्धता की सुसंगत उच्चतम दर) में रखते है, मध्यम और उच्च आय वर्ग के देशों से निर्यातक दो बार टैरिफ का सामना कर सकते है जो वर्तमान स्तर से ऊँचा हो सकता है।
3. यह कि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक है क्योंकि विकासशील देशों के लिए संकट का महत्वपूर्ण प्रभाव है क्योंकि वे इस संकट को पैदा नहीं करते है परन्तु इससे बुरी तरह से आहत हुए है। उन्नत देशों में विश्वव्यापी मंदी ने उभरते हुए देशों के लिए निर्यात के अवसर कमजोर किए है। इसके अलावा वित्तीय संकट ने विकासशील देशों को ऋण के संकट के साथ ऋण प्रवाह सीमित कर दिया है।

4. यह कि संकट निम्नतर कार्बन अर्थव्यवस्था में रूपांतरण तेज करने तथा विश्वव्यापी उत्पादकता वृद्धि उठाने के लिए दीर्घकालिक आवश्यक सहित संवृद्धि और रोजगार बढ़ाने से अल्पकालिक प्रोत्साहन की आवश्यकता को जोड़ने के अप्रत्याशित अवसर प्रस्तुत करता है।

इस अवधि में विकसित, विकासशील राष्ट्रों की आवश्यकता होगी :–

1. अर्थव्यवस्था में प्रत्याशित संकुचन का प्रतितुलन करने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन की मात्रा और रोजगार पर परिणामी प्रभाव का परिकलन करना।
2. अल्प और दीर्घकालिक आर्थिक आवश्यकताओं का संतुलन करने के लिए प्रोत्साहन नीतियों का इष्टतम मात्रा पर सहमत होना
3. इन उपायों का समन्वयन और क्रियान्वयन
4. यह सुनिश्चित करने के लिए मध्यावधि विकास रणनीति विकसित करना कि इस संकट से उबरने के दौरान दीर्घकालिक मुद्रा स्फीति से विश्व अर्थव्यवस्था नहीं बाधित होती है।

1.12अंतराष्ट्रीय वित्तीय क्रियाशीलता की आवश्यकता (The need for international Financial functionality) :–

यह कि बढ़ी हुई आर्थिक और राजनीतिक अन्योन्याश्रिता के वर्तमान विश्व में आय और रोजगार में व्यापक आधार त्वरित और टिकाऊ वृद्धि प्राप्त करने में विगत की अपेक्षा अधिक जटिल नीतिगत चुनौतियाँ अंतर्निहित है। अल्पकाल में पर्याप्त प्रति चक्रीय नीतियां लागू करने के लिए मध्यकाल में उपयुक्त नियामक सुधार के लिए वैश्विक आर्थिक शासन व्यवस्था का वास्तविक समावेशी प्रणाली सृजन करने में विफलता में वर्तमान संकट का सामना करने के समन्वित व्यापक और समावेशी अंतराष्ट्रीय क्रियाशीलता को हतोत्सहित कर दिया है। इसलिए नई अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय क्रियाशीलता की आवश्यकता बढ़ रही है।

1. नीति समन्वय की प्रक्रिया और वैश्विक शासन व्यवस्था में विकासशील देशों की पर्याप्त सहभागिता और प्रतिनिधित्व से अधिक समावेशी प्रक्रिया का मार्गदर्शन करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय नीति समन्वय की विश्वसनीय और प्रभावकारी क्रियाविधि की स्थापना।
2. वित्तीय विनियमन और पर्यवेक्षण की विद्यमान प्रणालियों के आधारभूत सुधार जिनसे नए अंतर्राष्ट्रीय रूप से समन्वित ऐसा ढांचा बन सके जो विगत की ज्यादतियों को दूर कर सके।
3. संयुक्त राज्य अमेरिका के डॉलर के प्रायः समावेशी विश्वास से पृथक वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली का सुधार बहुपक्षीय रूप से समर्थित बहुमौद्रिक प्रणाली हो जो संभवतः कालांतर में एक ही, विश्व मुद्रा समर्थित प्रणाली में विकसित हो सके,
4. नकदी व्यवस्था और प्रतिपूर्ति वित्तीयन क्रियाविधि के सुधार, इनका समर्थन अन्य बातों के अलावा राष्ट्रीय विदेशी मुद्रा भंडारों के बहुपक्षीय क्षेत्रीय पूलिंग द्वारा होना चाहिए– जो विद्यमान क्रियाविधि से संबद्ध भारी नीतिगत प्रतिबंधों को दूर करता है।
5. अमेरिकी सरकार ने ब्याज दरों को लगभग शून्य तक कम करके, बंधक और सरकारी ऋण को वापस खरीदकर और कुछ संघर्षरत वित्तीय संस्थानों को सहायता देकर वित्तीय संकट का जवाब दिया। दरें इतनी कम होने के कारण, शेयरों की तुलना में बांड की पैदावार निवेशकों के लिए बहुत कम आकर्षक हो गई। सरकार की प्रतिक्रिया से शेयर बाजार में हलचल मच गई, मार्च 2013 तक, एसएंडपी संकट से उबर गया और 2009 से 2019 तक अपने 10 साल के तेजी के दौर को जारी रखते हुए लगभग 20 प्रतिशत तक चढ़ गया। अधिकांश प्रमुख शहरों में अमेरिकी आवास बाजार में सुधार हुआ और बेरोजगारी दर में गिरावट आई क्योंकि व्यवसायों ने लोगों को नियुक्त करना और अधिक निवेश करना शुरू कर दिया।
6. वित्तीय बाजारों का अधिक व्यापक विनियमन, जिसमें डेरिवेटिव्स की अधिक निगरानी शामिल है, जिन्हें एक्सचेंजों में लाया गया था।
7. नियामक एजेंसियां, जो असंख्य और कभी–कभी अनावश्यक थी, को समेकित किया गया।

8. प्रणालीगत जोखिम की निगरानी के लिए एक नई संस्था, वित्तीय स्थिरता निरीक्षण परिषद, तैयार की गई थी।

1.13भारत पर प्रभाव (Effect of the india) :–

भारत जैसे देश पर विश्वव्यापी आर्थिक संकट की गहराई का अनुमान लगाना कठिन है जिसने ऐसे समय में अभी भी 2008–09 के दौरान 6 से 7 प्रतिशत रिकार्ड वृद्धि की है, जब अधिकांश विकसित देश ऋणात्मक वृद्धि से ग्रस्त हो रहे है। कुछ क्षेत्र जैसे निर्यात, भूमि, भवन, कपड़ा उद्योग, सूचना प्रौद्योगिकी और परिवहन उपकरण गंभीर रूप से प्रभावित हुए है परन्तु कुल मिलाकर मुख्यतया भारतीय रिजर्व बैंक और सरकार द्वारा तुरंत और टिकाऊ उपाय करने के कारण प्रभाव सीमित हुआ है।

बाजार स्थिर हो गए हैं और रूपये की गिरावट रूक गई है। पूंजी बाजारों से संसाधन संग्रहण के रूप में वाणिज्यिक क्षेत्र का वित्तीय संसाधनों में मामूली गिरावट हुई है और ई सी एफ प्रभावित हुआ ।

यद्यपि प्रोत्साहन पैकेज के भाग के रूप में प्रणाली में डाली गई प्रचुर नकदी आपूर्ति और मांग दोनों पक्षों में दबाव के कारण अनिश्चित बैंक ऋण में क्रियान्वित नहीं हो सका। बढ़ते हुए वाणिज्यिक ऋण के बावजूद निराशाजनक आर्थिक परिदृश्य में बैंकों ने सरकारी प्रतिभूति में और द्वितीयक बाजार प्रचालनों में भारी निवेश के वरीयता दी। उनमें भारतीय रिजर्व बैंक के बैचमार्क दरों में भारी कमी के बावजूद ऊँची ब्याज दरें रखने की प्रवृत्ति रहीं राजकोषीय दबाव पर उच्चतर उत्पादनकारी व्यय आत्मसात करने की प्रशासन की क्षमता को हाल ही के वर्षों में क्षति पहुंची।

1.14 भविष्य के लिए नीति (Policy for the future) :–

यह कि अर्थव्यवस्था के भावी मार्ग से संबंधित कई मुद्दे उत्पन्न हुए संभावित महत्व के दो बिन्दुओं पर नीति निर्माताओं द्वारा विशेष ध्यान देना आवश्यक है :–

पहला, राजकोषीय स्थिति है, जो आर्थिक संकट के दौरान पर्याप्त रूप में से गंभीर रूप से अनवरत अवस्था में चला गया है। प्रधानमंत्री के आर्थिक सलाहकार परिषद ने अनुमान किया है कि केन्द्र और राज्यों का प्रभावकारी संयुक्त राजकोषीय घाटा 2008–09 मे सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 8 प्रतिशत होगा। बहुत से निजी पूर्वानुमानकर्ताओं ने संख्या पर्याप्त ऊँची रखी है, 6 प्रतिशत के राजकोषीय उत्तरदायित्व अधिषेश से अशोध्य विचलन हो सकता है। विश्व पूंजी बाजार की वर्तमान अवस्था आने वाले कुछ समय तक बड़ा पूंजी अंतर्वाह की आशाएं नहीं करती है। यह सरकार पर बहुत से उन निवेशों के लिए संसाधन प्रदान करने के लिए दबाव डालेगा। जिन्हें पहले विदेशी निवेश के द्वारा वित्त घोषित किए जाने की आशा थी साथ ही वृद्धि दर पिछले कुछ वर्षों के उच्चतर स्तरों पर नहीं आती है। तो राजस्व वृद्धि धीमी हो जाएगी। हम केवल टिकाऊ संवृद्धि और राजकाषीय अनुशासन के बीच प्रयास कर सकते है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि राजकोषीय प्रबंधन का मुद्दा नीति निरूपण में मुख्य स्थिति पुनः प्राप्त करेगा।

दूसरा, भुगतान संतुलन परिदृश्य है जो अंतर्वाहों और बहर्वाहों के विभिन्न घटकों के संकटों द्वारा स्पष्ट है। अदृश्य घटनाएं प्रेषणों और सेवा निर्यातों दोनों घटी हुई संभावनाओं का सामना करते है, जो गिरती हुई या अवरूद्ध वस्तु निर्यातों के साथ वर्तमान लेखा घाटा अधिक बढ़ने की चिंताएं उत्पन्न करते है। वास्तव में धीमी ऊर्जा और वस्तु कीमतें कुछ सीमा तक दबाव नियंत्रित करने में सहायता करेंगे परंतु पूंजी प्रवाह कहीं भी समयोपयोगी राहत प्रदान करने जा रहा है। भले ही विश्वव्यापी वित्तीय प्रणाली के आशावादी प्रेक्षक विश्वास नहीं करते है कि उभरते हुए बाजारों में फंडों का अंतर्वाह कहीं भी संकटपूर्व स्तरों के निकट वापस आएगा। यद्यपि विदेशी मुद्रा राजस्व की स्थिति पर्याप्त रूप में सुदृढ़ रहती है, फिर भी समय स्थिति उस ''पर्याप्त की समस्या'' से दूर की कौड़ी है जो 2007 में विद्यमान थी।

राजकोषीय और भुगतान संतुलन दोनों स्थिति, यद्यपि ह्रास के दौरान पूर्वानुमेय के तरीके में विकसित होते समय सामान्य रूप से पुनरूत्थान होने वाली अर्थव्यवस्था के लिए भी पर्याप्त जोखिम खड़ा करते है, क्षति करने की उनकी संभावना को भी अर्थव्यवस्था सुधारना प्रारंभ होने के समय में भी उपेक्षित नहीं होनी चाहिए।

नीतिगत आवश्यकताएं मांग को पुनः बढ़ाना और पुनः उत्तेजित करना है। यद्यपि मुद्रा नीति पर्याप्त ढीली की गई है, परन्तु अभी भी इसे ढीला करने की काफी गुजांइश है। उदाहरण के लिए अल्पकालिक नीति दरें अभी भी बहुत ऊँची है क्योंकि भारत में कीमतें अभी और गिरनी निश्चित है, इससे भवन भूमि ऋण अभी भी क्षेत्र में सबसे ऊँचे है। बैंक ऋण दरों को और समग्र कार्य नीति को संप्रेषित करने में काफी लम्बा अंतराल होने के कारण शीघ्रातिशीघ्र नीति दरें कम लाई जा सकती है।

फिर भी, मुद्रा नीति पर्याप्त नहीं है। इसकी प्रभाविकता बढ़ते हुए ऋण जोखिम के कारण प्रभावित होती है जो नीति तथा ऋण दरों के बीच अंतर उत्पन्न करता है। इसलिए नीति दरें काटना आवश्यक है परंतु मांग प्रोत्साहित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

तब उत्तरदायित्व राजकोषीय नीति पर आता है। विशेषकर आने वाले वर्षों में अतिरिक्त प्रोत्साहन देना आवश्यक है। यह तर्क दिया जाता है कि आगे अब प्रतिचक्रीय नीति के लिए राजकोषीय गुंजाइश नहीं है क्योंकि इससे निजी क्षेत्र में भीड़ हो सकती है तथा हमारा ऋण भार दुर्वहनीय हो सकता है–

पहला यह कि वर्तमान असामान्य वातावरण में निजी क्षेत्र पहले दुर्बल हो चुका है क्योंकि उच्च ऋण जोखिम के कारण बैंक उन्हें ऋण नहीं दे रहा है। चिंता का विषय क्या है कि कम्पनी बॉण्ड से आय सरकारी बॉण्ड की आय से बहुत अधिक होती है। यदि मुद्रा नीति को आगे और ढीला किया गया तो सरकारी आय आगे और गिर सकती है। इस प्रकार अतिरिक्त राजकोषीय प्रोत्साहन समस्या का भाग नहीं है बल्कि कम्पनियों के लिए समाधान का भाग है।

दूसरा यह कि भारत का ऋण भार बढ़ेगा, ऋण की दीर्घकालिक स्थिरता के लिए अधिक चिंता का मामला सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि और ब्याज दरों के बीच अंतर है। यह हमारे ऋण अनुपात के लिए काफी अधिक हानिकर हो सकता है, यदि ऋणात्मक आघात के कारण वृद्धि दरें पर्याप्त मात्रा में कम की जाती है। जब तक राजकोषीय विस्तार अस्थायी है, और वृद्धि बढ़ाने में सहायक है, यह स्थिरता के लिए कोई खतरा नहीं है। भारत की अनुकूल जनसांख्यिकीय ऋण भार को नीचे लाने में भी सहायता करेगी। फिर भी विस्तार की गणना घाटा नीचे लाने के लिए मध्यकालिक वचनबद्धता से सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए जब अधिक अनुकूल दशाएं लौटती है।

1.15राजकोषीय विस्तार (Expansion of the Fiscal)

सरकार द्वारा अधिक व्यय करने से दो समस्याएं उत्पन्न होती है – इसे नीचे आने तक लम्बा समय लगता है और क्रियान्वयन क्षमता में गंभीर समस्याएं है। कर कटौंती बेहतर है जो तुरंत , युक्ति संगत है और नकदी दबाव उपभोक्ताओं से घरेलू मांग खुल सकती है।8 प्रतिशत वृद्धि पर वापस आने के लिए दीर्घकालिक नीति सुधार अधिक संरचनात्मक सुधार होने चाहिए। परन्तु अल्पकालिक में , जहां गिरती हुई घरेलु मांग भारत की वृद्धि प्रक्रिया को प्रभावित कर सकती है, मौद्रिक और राजकोषीय दोनों नीति को ढीला करते हुए अनुक्रिया तत्काल प्रतिचक्रीय होनी चाहिए।

आर्थिक वृद्धि क्षेत्र धुंधली होने के बावजूद जब एक बार विश्वव्यापी पुनरूत्थान प्रारंभ होता है, भारत का अपने सुदृढ़ आधारभूत और प्रयुक्त संभावना के कारण अधिक तेजी और सुस्त वापसी होगी।

1.16 सारांश (Summary) :–

विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था अप्रत्याशित संकट में है। विकसित विश्व ऋणात्मक वृद्धि अनुभव कर रहे है, जबकि विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में वृद्धि दर काफी धीमी हुई है। वर्तमान आर्थिक संकट का मूल ज्ञात किया जा सकता है जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका उपमुख्य बंधक संकट के रूप में जाना गया है। यह शीघ्र ही अन्य वित्त बाजारों में फैला। एक बार जब विश्व गंभीर संकट के पकड़ में आया यह बहुत देर नहीं हुई कि भवन, भूमि अर्थव्यवस्था भी क्षतिग्रस्त हो गई। अधिकांश विकसित विश्वमंदी की चपेट में है और अवमंदन में गिरने से बचने का भरसक प्रयास कर रहा है लगातार बढ़ती हुई भूमंडलीकरण होती हुई अर्थव्यवस्था के भाग के रूप में, भारत भी संकट से अछूता नहीं रह सका, यद्यपि, भारत अपेक्षाकृत कम मात्रा में क्षतिग्रसत हुआ। इसके अलावा भारत में पुनरूत्थान की प्रक्रिया शेष विश्व की अपेखा अधिक तेजी से हो सकती है। इस संकट से निकलने के लिए विश्व को अन्तर्राष्ट्रीष्य दृष्टि से सुविचारित कार्रवाई की आवश्यकता है।

1.17 शब्दावली (Key words) :-

1. यथासम्भव भुगतान घाटे (Early Payment Deficits)
2. मुख्य बंधको (Prime Mortgages)
3. प्रतिभूतिकरण (Secritisation)
4. खरीदों और रखे रहों (Buy-And- Hold)
5. हानिकारण प्रतिपुष्टि पाश (Pernicious Feedback Loop)
6. बढ़ोतरी (Leveragin)
7. उपमुख्य बंधक (Sub-Prime Mortgages)

1.18 सन्दर्भित ग्रन्थ सूची (Reference Books)

1. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया रिपोर्ट
2. रिवर्ज बैंक ऑफ आस्ट्रेलिया
3. www.ncbi-nim-nin-gov
4. www.drishtias.com
5. www.investopedia.com

1.19 अभ्यास प्रश्न(Practice Questions)

1. वैश्विक वित्तीय संकट की अवधारणा समझाइऐ।
2. वैश्विक वित्तीय संकट के कारणों को बताइऐ।
3. वैश्विक वित्तीय संकट के उदाहरणों को स्पष्ट कीजिए।
4. संकट की उत्पत्ति व संकटों के विस्तार को बताइए।
5. संकटों के जाल एवं संकट की जड़ो की व्याख्या कीजिए।
6. वैश्विक वित्तीय संकट के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।
7. वैश्विक वित्तीय संकट के उपाय व सुझाव लिखिए।

1.20 वस्तुनिष्ठ प्रश्न(Objectives Question Answers)

1. वैश्विक वित्तीय संकट है–
   क. सट्टा वित्तीय बुलबुले का फूटना — ख. शेयर बाजार में गिरावट
   ग. वित्तीय संस्थानों में तरलता की कमी — घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
2. वैश्विक वित्तीय संकट के उदाहरण है–
   क. टयूलिप उन्माद (1637) — ख. 1772 का ऋण संकट
   ग. 1929 का स्टॉक क्रैश — घ. उपर्युक्त सभी
   (उत्तर घ)
3. वैश्विक वित्तीय संकट के कारण है–
   क. परिसंपत्तियों का मूल्य अधिक — ख. बैंक विफलता
   ग. विनियामक विफलताएं — घ. उपर्युकत सभी
   (उत्तर घ)
4. वैश्विक वित्तीय संकट से एक अर्थव्यवस्था की स्थिति होगी–
   क. मंदी — ख. समृद्धि
   ग. सम–बिन्दु — घ. समुत्थान
   (उत्तर क)
5. 2008 वैश्विक वित्तीय संकट का मूल संयुक्त राज्य अमेरिका के किस बाजार से ज्ञात किया जा सकता है–
   क. उपमुख्य बंधक आवासीय ऋण — ख. विदेशी ऋण
   ग. विश्व बैंक ऋण — घ. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऋण
   (उत्तर क)
6. भारत में वैश्विक वित्तीय संकट से निपटने के लिए कौन सी नीति का प्रयोग किया जाता है–
   क. राजकोषीय नीति — ख. मौद्रिक नीति
   ग. उपर्युक्त दोनों — घ. इनमें से कोई नहीं
   (उत्तर ग)